आचार्य-श्री-विजयदानसूरीश्वरजी-जैन-ग्रन्थमाला

सुरत

इति पञ्चवस्तुप्रकरणं समाप्तम् ॥

इति श्रेष्ठि देवचन्दलालभाई-जैनपुस्तकोद्धारे-ग्रन्थाङ्कः ६९.

गाहग्गं पुण इत्थं णवरं गणिऊण ठाविअं एयं । सीसाण हिअट्ठाए सत्तरस सयाणि माणेण ॥ १७१४ ॥

॥ इति सूरिपुरन्दरश्रीमद्धरिभद्रसूरीश्वरविरचितं पञ्चवस्तुप्रकरणं समाप्तम् ॥

इति श्रेष्ठि देवचन्दलालभाई जैनपुस्तकोद्धारे-ग्रन्थाङ्कः ६९.

एयाणि पंच वत्थू आराहित्ता जहागमं सम्मं । इण्हिंपि हु संखिज्जा सिज्झंति विवक्खिए काले ॥ १७०२ ॥
एयाणि पंच वत्थू आराहित्ता जहागमं सवं । एसद्धाएऽणंता सिज्झिस्संती धुवं जीवा ॥ १७०३ ॥
एयाणि पंच वत्थू एमेव विराहिउं तिकालंमि । एत्थ अणेगे जीवा संसारपवड्ढगा भणिआ ॥ १७०४ ॥
णाऊण एवमेअं एआणाराहणाएँ जइअवं । न हु अण्णो पडियारो होइ इहं भवसमुद्दंमि ॥ १७०५ ॥
एत्थवि मूलं णेअं एगंतेणेव भवसत्तेहिं । सद्धाइभावओ खलु आगमपरतंतया णवरं ॥ १७०६ ॥
जम्हा न धम्ममग्गे मोत्तूणं आगमं इह पमाणं । विज्जइ छउमत्थाणं तम्हा एत्थेव जइअवं ॥ १७०७ ॥
सुअवज्झायरणरया पमाणयंता तहाविहं लोअं । भुवणगुरुणो वरागा पमाणयं नावगच्छंति ॥ १७०८ ॥
सुत्तेण चोइओ जो अण्णं उद्दिसिअ तं ण पडिवज्जे । सो तत्तवायवज्झो न होइ धम्मंमि अहिगारी ॥ १७०९ ॥
तीअबहुस्सुयणायं तक्किरिआदरिसणा कह पमाणं ? । वोच्छिज्जंती अ इमा सुद्धा इह दीसई चेव ॥ १७१० ॥
आगमपरतंतेहिं तम्हा णिच्चंपि सिद्धिकंखीहिं । सवमणुट्ठाणं खलु कायवं अप्पमत्तेहिं ॥ १७११ ॥
एवं करिंतेहि इमं सत्तणुरूवं अणुंपि किरियाए । सद्धाणुमोअणाहिं सेसंपि कयंति दट्ठवं ॥ १७१२ ॥
इअ पंचवत्थुगमिणं उद्धरिअं रुद्दसुअसमुद्दाओ । आयाणुसरणत्थं भवविरहं इच्छमाणेणं ॥ १७१३ ॥

मिच्छद्दिट्ठीआवि हु केई इह होंति दवलिंगधरा । ता तेसिं कह ण हुंती किलिट्ठचित्ताइआ दोसा ॥ १६८८ ॥
एत्थ य आहारो खलु उवलक्खणमेव होइ णायवो । वोसिरइ तओ सवं उवउत्तो भावसल्लंपि ॥ १६८९ ॥
अण्णंपिव अप्पाणं संवेगाइसयओ चरमकाले । मण्णइ विसुद्धभावो जो सो आराहओ भणिओ ॥ १६९० ॥
सवत्थापडिबद्धो मज्झत्थो जीविए अ मरणे अ । चरणपरिणामजुत्तो जो सो आराहओ भणिओ ॥१६९१॥
सो तप्पभावओ च्चिअ खविउं तं पुवदुक्कडं कम्मं । जायइ विसुद्धजम्मो जोगो अ पुणोऽवि चरणस्स ॥ १६९२ ॥
एसो अ होइ तिविहो उक्कोसो मज्झिमो जहण्णो अ । लेसादारेण फुडं वोच्छामि विसेसमेएसिं ॥ १६९३ ॥
सुक्काए लेसाए उक्कोसगमंसगं परिणमित्ता । जो मरइ सो हु णिअमा उक्कोसाराहओ होइ ॥ १६९४ ॥
जे सेसा सुक्काए अंसा जे आवि पम्हलेसाए । ते पुण जो सो भणिओ मज्झिमओ वीअरागेहिं ॥ १६९५ ॥
तेऊलेसाए जे अंसा अह ते उ जे परिणमित्ता । मरइ तओऽवि हु णेओ जहण्णमाराहओ इत्थ ॥ १६९६ ॥
एसो पुण सम्मत्ताइभंगओ चेव होइ विण्णेओ । ण उ लेसामित्तेणं तं जमभवाणवि सुराणं ॥ १६९७ ॥
आराहगो अ जीवो तत्तो खविऊण दुक्कडं कम्मं । जायइ विसुद्धजम्मा जोगोऽवि पुणोवि चरणस्स ॥१६९८॥
आराहगो अ जीवो तत्तो खविऊण दुक्कडं कम्मं । जायइ विसुद्धजम्मा जोगोऽवि पुणोवि चरणस्स ॥१६९८॥
आराहिऊण एवं सत्तट्ठभवाणमारओ चेव । तेलुक्कमत्थअत्थो गच्छइ सिद्धिं णिओगेणं ॥ १६९९ ॥
सवण्णुसवदरिसी निरुवमसुहसंगओ उ सो तत्थ । जम्माइदोसरहिओ चिट्ठइ भयवं सया कालं ॥ १७०० ॥
एयाणि पंच वत्थू आराहिंता जहागमं सम्मं । तीअद्धाए अणंता सिद्धा जीवा धुअकिलेसा ॥ १७०१ ॥

इहरा छेवट्ठम्मी संघयणे थिरधिईएँ रहिअस्स । देहस्सऽसमाहीए कत्तो सुहझाणभावोत्ति ? ॥ १६७५ ॥
तयभावम्मि अ असुहा जायइ लेसावि तस्स णियमेणं। तत्तो अ परभवम्मि अ तल्लेसेसुं तु उववाओ ॥ १६७६॥
तम्हा उ सुहं झाणं पच्चक्खाणिस्स सव्वजत्तेणं । संपाडेअव्वं खलु गीअत्थेणं सुआणाए ॥ १६७७ ॥
सो चिअ अप्पडिबद्धो दुल्लहलंभस्स विरइभावस्स । अप्परिवडणत्थं चिअ तं तं चिट्ठं करावेइ ॥ १६७८ ॥

तहवि तया अद्दीणो जिणवरवयणंमि जायबहुमाणो ।
संसाराओं विरत्तो जिणेहिं आराहओ भणिओ ॥ १६७९ ॥

जं सो सयावि पायं मणेण संविग्गपक्खिओ चेव । इअरो उ विरइरयणं न लहइ चरमेऽवि कालम्मि ॥ १६८० ॥
संविग्गपक्खिओ पुण अण्णत्थ पयट्टिओऽवि काएणं। धम्मे चिअ तल्लिच्छो दढरतित्थिव्व पुरिसम्मि ॥ १६८१॥
तत्तो च्चिअ भावाओ णिमित्तभूअंमि चरमकालम्मि । उक्करिसविसेसेणं कोई विरइंपि पावेइ ॥ १६८२ ॥
जो पुण किलिट्ठचित्तो णिरविक्खोऽणत्थदंडपडिबद्धो। लिंगोवघायकारी ण लहइ सो चरमकालेऽवि ॥ १६८३॥
चोएइ कहं समणो किलिट्ठचित्ताइदोसवं होइ । गुरुकम्मपरिणईओ पायं तह दव्वसमणो अ ॥ १६८४ ॥
गुरुकम्मओ पमाओ सो खलु पावो जओ तओऽणेगे। चोद्दसपुव्वधरावि हु अणंतकाए परिवसंति ॥ १६८५ ॥
दुक्खं लब्भइ नाणं नाणं लद्धूण भावणा दुक्खं । भाविअमईवि जीवो विसएसु विरज्जई दुक्खं ॥ १६८६ ॥
अन्ने उ पढमगं चिअ चरित्तमोहक्खओवसमहीणा । पव्वइआ ण लहंती पच्छावि चरित्तपरिणामं ॥ १६८७ ॥

एयाओ भावणाओ भाविता देवदुग्गइं जंति। तत्तोऽवि चुआ संता प (रिं) ति भवसागरमणंतं ॥ १६६१ ॥
एयाओ विसेसेणं परिहरई चरणविग्घभूआओ। एअनिरोहाओ चिअ सम्मं चरणंपि पावेइ ॥ १६६२ ॥
आह ण चरणविरुद्धा एआओ एत्थ चेव जं भणिअं। जो संजओऽवि भइओ चरणविहीणो अ इच्चाई॥ १६६३ ॥
ववहारणया चरणं एआसुं जं असंकिलिट्ठोऽवि। कोई कंदप्पाई सेवइ ण उ णिच्छयणएणं ॥ १६६४ ॥
अक्खंडं गुणठाणं इट्ठं एअस्स णियमओ चेव। सइ उचियपवित्तीए सुत्तेऽवि जओ इमं भणियं ॥ १६६५ ॥
जो जहवायं न कुणइ मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अण्णो ?। वड्ढेइ अ मिच्छत्तं परस्स संकं जणेमाणो ॥ १६६६ ॥
कंदप्पाईचाओ न चेह चरणम्मि सुघइ कहंचि (हिंवि)। ता एअसेवणंपि हु तव्वायविराहगं चेव ॥ १६६७ ॥
किंतु असंखिज्जाइं संजमठाणाइं जेण चरणेऽवि। भणियाइं जाइभेया तेण न दोसो इहं कोइ ॥ १६६८ ॥
एआण विसेसेणं तच्चाओ तेण होइ कायव्वो। पुव्विं तु भाविआणवि पच्छायावाइजोएणं ॥ १६६९ ॥
कयमित्थ पसंगेणं पगयं वोच्छामि सव्वनयसुद्धं। भत्तपरिण्णाए खलु विहाणसेसं समासेणं ॥ १६७० ॥
वियडण अब्भुट्ठाणं उचिअं संलेहणं च काऊणं। पच्चक्खइ आहारं तिविहं च चउविहं वावि ॥ १६७१ ॥
उव्वत्तइ परिअत्तइ सयमण्णेणावि कारवइ किंचि। जत्थ समत्थो नवरं समाहिजणगं अपडिबद्धो ॥ १६७२ ॥
मेत्तादी सत्ताइसु जिणिंदवयणेण तह य अच्चत्थं। भावेइ तिव्वभावो परमं संवेगमावण्णो ॥ १६७३ ॥
सुहझाणाओ धम्मो तं देहसमाहिसंभवं पायं। ता धम्मापीडाए देहसमाहिम्मि जइअव्वं ॥ १६७४ ॥

तिविहं होइ णिमित्तं तीएँ पडुप्पण्ण णागयं चेव। एत्थ सुभासुभभेअं अहिगरणेतर विभासाए ॥ १६४७ ॥
एयाणि गारवट्ठा कुणमाणो आभिओगिअं बंधे। बीअं गारवरहिओ कुव्वइ आराह उच्चं च ॥ १६४८ ॥ दारं ॥
अणुबद्धवुग्गहोच्चिअ संतत्ततवो णिमित्तमाएसी। णिक्किव निराणुकंपो आसुरिअं भावणं कुणइ ॥ १६४९ ॥
णिच्चं विग्गहसीलो काऊण य णाणुतप्पई पच्छा। ण य खामिओ पसीअइ अवराहीणं दुविण्हंपि ॥१६५०॥ दारं॥
आहारउवहिसिज्जासु जस्स भावो उ निच्चसंसत्तो। भावोवहओ कुणइ अ तवोवहाणं तयट्ठाए ॥ १६५१ ॥
तिविहं हवइ निमित्तं एक्किक्कं छव्विहं तु विण्णेअं। अभिमाणाभिनिवेसा वागरिअं आसुरं कुणइ ॥१६५२॥ दारं॥
चंकमणाईसत्तो सुणिक्किवो थावराइसत्तेसुं। काउं व णाणुतप्पइ एरिसओ णिक्किवो होइ ॥ १६५३ ॥ दारं ॥
जो उ परं कंपंतं दट्ठूण ण कंपए कढिणभावो। एसो उ णिरणुकंपो पण्णत्तो वीअरागेहिं ॥ १६५४ ॥ दारं ॥
उम्मग्गदेसओ मग्गदूसओ मग्गविप्पडीवत्ती। मोहेण य मोहित्ता सम्मोहं भावणं कुणइ ॥१६५५॥ पडिदार ॥
नाणाइ अ दूसिंतो तव्विवरीअं तु उद्दिसइ मग्गं। उम्मग्गदेसओ एस होइ अहिओ अ सपरेसिं ॥ १६५६ ॥
णाणाइ तिविहमग्गं दूसइ जो जे अ मग्गपडिवण्णे। अबुहो जाईए खलु भण्णइ सो मग्गदूसोत्ति॥१६५७॥दारं॥
जो पुण तमेव मग्गं दूसिउं पंडिओ सतक्काए। उम्मग्गं पडिवज्जइ विप्पडिवन्नेस मग्गस्स ॥ १६५८ ॥ दारं ॥
तह २ उवहयमइओ मुज्झइ णाणचरणंतरालेसु। इड्ढीओ अ बहुविहा दट्ठुं जत्तो तओ मोहो ॥ १६५९ ॥
जो पुण मोहेइ परं सब्भावेणं च कइअवेणं वा। समयंतरम्मि सो पुण मोहित्ता घेप्पइ सऽणेणं ॥ १६६० ॥

भासं अवण्ण माई किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥१६३६॥ पडि.
नाणस्स केवलीणं धम्मायरिआण सव्वसाहूणं। भासं अवण्ण माई किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥१६३७॥दारं
काया वया य ते च्चिअ ते चेव पमाय अप्पमाया य। मोक्खाहिआरिआणं जोइसजोणीहिं किं कज्जं?॥१६३८॥दा०
सव्वेऽवि ण पडिबोहेइ ण याविसेसेण देइ उवएसं। पडितप्पइ ण गुरूणवि णाओ अइणिट्ठिअट्ठो उ ॥१६३९॥ दारं॥
जच्चाईहिं अवण्णं विहसइ वट्टइ णयावि उववाए। अहिओ छिद्दप्पेही पगासवाई अणणुलोमो ॥ १६३९ ॥ दारं ॥
अविसहणा तुरियगई अणाणुवित्ती अ अवि गुरूणंपि ।
खणमित्तपीइरोसा गिहिवच्छलगा य संचइआ ॥ १६४० ॥ दारं ॥
गूहइ आयसहावं छायइ अ गुणे परस्स संतेऽवि। चोरो व सव्वसंकी गूढायारो हवइ मायी ॥ १६४१ ॥ दारं ॥
कोउअ भूईकम्मे पसिणा इअरे णिमित्तमाजीवी ।
इड्ढिरससायगुरुओ अभिओगं भावणं कुणइ ॥ १६४२ ॥ पडिदारं ॥
विस्सवणहोमसिरपरिरयाइ खारडहणाणि धूमे अ। असरिसवेसग्गहणा अवयासण थंभणं बंधं ॥१६४३॥ दारं॥
भूईअ मट्टिआए सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु। वसहीसरीरभंडगरक्खा अभिओगमाईआ ॥ १६४४ ॥ दारं ॥
पण्हो उ होइ पसिणं जं पासइ वा सयं तु तं पसिणं।
अंगुट्ठुच्छिट्ठपए दप्पणे अ असितोअकुड्डाई (कुड्डाई ॥ पा.) ॥ १६४५ ॥ दारं ॥
पसिणापसिणं सुमिणे विज्जासिट्ठं कहेइ अण्णस्स। अहवा आइंखणिआ घंटिअसिट्ठं परिकहेइ ॥१६४६॥ दारं॥

इंगिणिमरणविहाणं आपवज्जं तु विअडणं दाउं । संलेहणं च काउं जहासमाही जहाकालं ॥ १६२३ ॥
पच्चक्खइ आहारं चउविहं णियमओ गुरुसमीवे । इंगिअदेसम्मि तहा चिट्ठंपि हु इंगिअं कुणइ ॥ १६२४ ॥
उव्वत्तइ परिअत्तइ काइअमाईसु होइ उ विभासा । किच्चंपि अप्पणच्चिअ जुंजइ नियमेण धिइबलिओ ॥ १६२५ ॥
भत्तपरिण्णाएवि हु आपवज्जं तु विअडणं देइ । पुव्विं सीअलगोवि हु पच्छा संजायसंवेगो ॥ १६२६ ॥
वज्जइ अ संकिलिट्ठं विसेसओ णवर भावणं एसो । उल्लसिअजीवविरिओ तओ अ आराहणं लहइ १६२७
कंदप्पदेवकिब्बिस अभिओगा आसुरा य सम्मोहा । एसा उ संकिलिट्ठा पंचविहा भावना भणिआ १६२८
जो संजओऽवि एआसु अप्पसत्थासु वट्टइ कहंचि । सो तव्विहेसु गच्छइ सुरेसु भइओ चरणहीणो ॥१६२९॥
कंदप्पे कुक्कुइए दवसीले आवि हासणपरे अ । विम्हाविंतो अ परं कंदप्पं भावणं कुणइ ॥१६३०॥ पडिदारगाहा ॥
कहकहकहस्सहसणं कंदप्पो अणिहुआ य संलावा । कंदप्पकहाकहणं कंदप्पुवएस संसा य ॥१६३१॥ दारं ॥

भमुहणयणाइएहिं वयणेहि अ तेहिं तेहिं तह चिट्ठं ।
कुणइ जह कुक्कुअं चिअ हसइ परो अप्पणा अहसं ॥ १६३२ ॥ दारं ॥

भासइ दुअं दुअं गच्छई अ दपिअव्व गोविसो सरए । सव्वदवद्दवकारी फुट्टइव ठिओवि दप्पेणं ॥ १६३३ ॥ दा.
वेसवयणेहि हासं जणयंतो अप्पणो परेसिं च । अह हासणोत्ति भण्णइ घयणोव्व छले णिअच्छंतो ॥१६३४॥ दा.
सुरजालमाइएहिं तु विम्हयं कुणइ तव्विहजणस्स । तेसु ण विम्हयइ सयं आहट्टकुहेडएसुं च ॥ १६३५ ॥ दारं ॥

सो चेव भावणाओ कयाइ उल्लसिअविरिअपरिणामो । पावइ सेढिं केवलमेवमओ णो पुणो मरई ॥ १६०९ ॥
जइवि न पावइ सेढिं तहावि संवेगभावणाजुत्तो । णिअमेण सोगइं लहइ तहय जिणधम्मबोहिं च ॥ १६१० ॥
जमिह सुहभावणाए अइसयभावेण भाविओ जीवो । जम्मंतरेऽवि जायइ एवंविहभावजुत्तो अ ॥ १६११ ॥
एसेव बोहिलाभो सुहभावबलेण जो उ जीवस्स । पेच्चावि सुहो भावो वासिअतिलतिल्लनाएणं ॥ १६१२ ॥
संलिहिऊणऽप्पाणं एवं पच्चप्पिणित्तु फलगाई । गुरुमाइए अ सम्मं खमाविउं भावसुद्धीए ॥ १६१३ ॥
उववूहिऊण सेसे पडिबद्धे तंमि तह विसेसेणं । धम्मे उज्जमिअव्वं संजोगा इह विओगंता ॥ १६१४ ॥
अथ वंदिऊण देवे जहाविहिं सेसए अ गुरुमाई । पच्चक्खाइत्तु तओ तयंतिगे सव्वमाहारं ॥ १६१५ ॥
समभावम्मि ठिअप्पा सम्मं सिद्धंतभणिअमग्गेण । गिरिकंदरं तु गंतुं पायवगमणं अह करेइ ॥ १६१६ ॥
सव्वत्थापडिबद्धो दंडाययमाइठाणमिह ठाउं । जावज्जीवं चिट्ठइ णिच्चिट्ठो पायवसमाणो ॥ १६१७ ॥
पढमिल्लुगसंघयणे महाणुभावा करिंति एवमिणं । एअं सुहभावच्चिअ णिच्चलपयकारणं परमं ॥ १६१८ ॥
णिव्वाघाइममेअं भणिअं इह पक्कमाणुसारेणं । संभवइ अ इअरंपिहु भणियमिणं वीअरागेहिं ॥ १६१९ ॥
सीहाईअभिभूओ पायवगमणं करेइ थिरचित्तो । आउंमि पहुप्पंते विआणिउं नवर गीअत्थो ॥ १६२० ॥
संघयणाभावाओ इअ एवं काउ जो उ असमत्थो । सो पुण थेवयरागं कालं संलेहणं काउं ॥ १६२१ ॥
इंगिणिमरणं विहिणा भत्तपरिण्णं व सत्तिओ कुणइ । संवेगभाविअमणो काउं णीसल्लमप्पाणं ॥ १६२२ ॥

जम्मजरामरणजलो अणाइमं वसणसावयाइण्णो । जीवाण दुक्खहेऊ कट्ठं रोद्दो भवसमुद्दो ॥ १५९५ ॥
धण्णोऽहं जेण मए अणोरपारम्मि नवरमेअंमि । भवसयसहस्सदुलहं लद्धं सद्धम्मजाणंति ॥ १५९६ ॥
एअस्स पहावेणं पालिज्जंतस्स सइ पयत्तेणं । जम्मंतरेऽवि जीवा पावंति ण दुक्खदोगचं ॥ १५९७ ॥
चिंतामणी अपुव्वो एअमपुव्वो य कप्परुक्खोत्ति । एअं परमो मंतो एअं परमामयं एत्थ ॥ १५९८ ॥
इच्छं वेआवडिअं गुरुमाईणं महाणुभावाणं । जेसि पहावेणेअं पत्तं तह पालिअं चेव ॥ १५९९ ॥
तेसि णमो तेसि णमो भावेण पुणो पुणोऽवि तेसि णमो । अणुवकयपहिअरया जे एयं दिंति जीवाणं ॥ १६०० ॥
नो इत्तो हिअमण्णं विज्जइ भुवणेऽवि भव्वजीवाणं । जाअइ अओच्चिअ जओ उत्तरणं भवसमुद्दाओ ॥ १६०१ ॥
एत्थ उ सव्वे थाणा तय्यण्णसंजोगदुक्खसयकलिया । रोद्दाणुबंधजुत्ता अच्चंतं सव्वहा पावा ॥ १६०२ ॥
किं एत्तो कट्ठयरं ? पत्ताण कहिंचि मणुअजम्मंमि । जं इत्थवि होइ रई अच्चंतं दुक्खफलयंमि ॥ १६०३ ॥
तह चेव सुहुमभावे भावइ संवेगकारए सम्मं । पवयणगब्भब्भूए अकरणनिअमाइसुद्धफले ॥ १६०४ ॥
परसावज्जचावणजोएणं तस्स जो सयं चाओ । संवेगसारगरुओ सो अकरणणियमवरहेऊ ॥ १६०५ ॥
परिसुद्धमणुट्ठाणं पुव्वावरजोगसंगयं जं तं । हेमघडत्थाणीअं सयावि णिअमेण इट्ठफलं ॥ १६०६ ॥
जं पुण अप्परिसुद्धं मिम्मयघडतुल्लमो तयं णेअं । फलमित्तसाहगं चिअ ण साणुबंधं सुहफलंमि ॥ १६०७ ॥
धम्मंमि अ अइआरे सुहुमेऽणाभोगसंगएऽवित्ति । ओहेण चयइ सव्वे गरहा पडिवक्खभावेण ॥ १६०८ ॥

आहऽप्पवहणिमित्तं एसा कह जुज्जई जइजणस्स । समभावविचिणो तह समयत्थविरोहओ चेव ? ॥ १५८३ ॥

तिविहाऽतिवायकिरिआ अप्पपरोभयगया जओ भणिया ।
वहुसो अणिट्ठफलया धीरेहिं अणंतनाणीहिं ॥ १५८४ ॥

भण्णइ सच्चं एअं ण उ एसा अप्पवहणिमित्तंति । तल्लक्खणविरहाओ विहिआणुट्ठाणभावेण ॥ १५८५ ॥

जा खलु पमत्तजोगा णिअमा रागाइदोससंसत्ता । आणाओ वहिभूआ सा होअइवायकिरिआ य ॥ १५८६ ॥

जा पुण एअविउत्ता सुहभावविवड्ढणा अ नियमेणं । सा होइ सुद्धकिरिआ तल्लक्खणजोगओ चेव ॥ १५८७ ॥

पडिवज्जइ अ इमं जो पायं किअकिच्चिमो उ इह जम्मे ।
सुहमरणमित्तकिच्चो तस्सेसा जायइ जहुत्ता ॥ १५८ ॥ १५८८ ॥

मरणपडिआरभूआ एसा एवं च ण मरणनिमित्ता । जह गंडछेअकिरिआ णो आयविराहणारूवा ॥ १५८९ ॥

अन्भत्था सुहजोगा असवत्ता पायसो जहासमयं । एसो इमस्स उचिओ अमरणधम्मेहिं निद्दिट्ठो ॥ १५९० ॥

ता आराहेसु इमं चरमं चरमगुणसाहगं सम्मं । सुहभावविवड्ढी खलु एवमिह पवत्तमाणस्स ॥ १५९१ ॥

उचिए काले एसा समयंमिवि वण्णिआ जिणिंदेहिं । तम्हा तओ ण दुट्ठा विहिआणुट्ठाणओ चेव ॥१५९२॥

भावम्मवि संलिहेई जिणप्पणीएण झाणजोएणं । भूअत्थभावणाहिं परिवड्ढइ बोहिमूलाइं ॥ १५९३ ॥

भावेइ भाविअप्पा विसेसओ नवरि तम्मि कालम्मि । पयईए निग्गुणत्तं संसारमहासमुद्दस्स ॥ १५९४ ॥

अन्नाओऽगीआणं असमत्तो पणगसत्तगा हिट्ठा । उववासासुं भणिओ जहक्कमं वीअरागेहिं ॥ १५६९ ॥
पडिसिद्धवज्जगाणं थेरविहारो अ होइ सुद्धोत्ति । इहरा आणाभंगो संसारपवड्ढणो णियमा ॥ १५७० ॥
कयमित्थ पसंगेणं सविसयणिअया पहाणया एवं । दट्ठवा बुद्धिमया गओ अ अब्भुज्जयविहारो ॥ १५७१ ॥
अब्भुज्जयमरणं पुण अमरणधम्मेहिं वण्णिअं तिविहं । पायवइंगिणिमरणं भत्तपरिण्णा य धीरेहिं ॥ १५७२ ॥
संलेहणापुरस्सरमेअं पाएण वा तयं पुव्विं । वोच्छं तओ कमेणं समासओ उज्जयं मरणं ॥ १५७३ ॥
चत्तारि विचित्ताइं विगईणिज्जूहिआइं चत्तारि । संवच्छरे उ दोण्णि उ एगंतरिअं च आयामं ॥ १५७४ ॥
णाइविगिट्ठो अ तवो छम्मासे परिमिअं च आयामं । अण्णेऽवि अ छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ १५७५ ॥
वासं कोडीसहिअं आयामं तह य आणुपुव्वीए । संघयणादणुरूवं एत्तो अद्धाइनिअमेण ॥ १५७६ ॥
देहम्मि असंलिहिए सहसा धाऊहिं खिज्जमाणेहिं । जायइ अट्टज्झाणं सरीरिणो चरमकालम्मि ॥ १५७७ ॥
विहिणा उ थेवथेवं खविज्जमाणेहिं संभवइ णेअं । भवविडविवीअभूअं इत्थ य जुत्ती इमा णेआ ॥ १५७८ ॥
सइ सुहभावस्स तहा थेवविवक्खत्तणेण नो वाहा । जायइ वलेण महया थेवस्सारंभभावाओ ॥ १५७९ ॥
ओवक्कमणं एवं सप्पडिआरं महावलं णेअं । उचिआणासंपायण सइ सुहभावं विसेसेणं ॥ १५८० ॥
थेवसुवक्कमणिज्जं वज्झं अब्भिंतरं च एअस्स । जाइ इअ गोअरत्तं तहा तहा समयभेएणं ॥ १५८१ ॥
जुगवं तु खविज्जंतं उदग्गभावेण पायसो जीवं । चावइ सुहजोगाओ वहुगुरुसेण्णं व सुहडंति ॥ १५८२ ॥

केई भणंति एसो गुरुसंजमजोगओ पहाणोत्ति । थेरविहाराओऽवि हु अचंतं अप्पमायाओ ॥ १५५५ ॥
अण्णे परत्थविरहा नेवं एसो अ इह पहाणोत्ति । एअस्सवि तदभावे पडिवत्तिणिसेहओ चेव ॥ १५५६ ॥
अब्भुज्जयमेगयरं पडिवज्जिउकामो सोवि पव्वावे । गणिगुणसलद्धिओ खलु एमेव अलद्धिजुत्तोऽवि ॥ १५५७ ॥
एव पहाणो एसो एगंतेणेव आगमा सिद्धो । जुत्तीएऽवि अ नेओ सपरुवगारो महं जम्हा ॥ १५५८ ॥
ण य एत्तो उवगारो अण्णो णिव्वाणसाहणं परमं । जं चरणं साहिज्जइ कस्सइ सुहभावजोएण ॥ १५५९ ॥
अचिंतिअसुहहेऊ एअं अण्णेसि णिअमओ चेव । परिणमइ अप्पणोऽवि हु कीरंतं हंदि एमेव ॥ १५६० ॥
गुरुसंजमजोगोऽवि हु विण्णेओ सपरसंजमो जत्थ । सम्मं पवड्ढमाणो थेरविहारे अ सो होइ ॥ १५६१ ॥
अचंतमप्पमाओऽवि भावओ एस होइ णायव्वो । जं सुहभावेण सया सम्मं अण्णेसि तक्करणं ॥ १५६२ ॥
जइ एवं कीस मुणी थेरविहारं विहाय गीआवि? । पडिवज्जंति इमं नणु कालोचिअमणसणसमाणं ॥ १५६३ ॥
तक्काले उचिअस्सा आणा आराहणा पहाणेसा । इहरा उ आयहाणी निप्फलसत्तिक्खया णेआ ॥ १५६४ ॥
अहवाऽऽणाभंगाओ एसो अहिगगुणसाहणसहस्स । हीणकरणेण आणा सत्तीए सयावि जइअव्वं ॥ १५६५ ॥
एत्तो अ इमं एवं जं दसपुव्वीण सुव्वई सुत्ते । एअस्स पडिस्सेहो तयण्णहा अहिगगुणभावा ॥ १५६६ ॥
एवं तत्तं नाउं विसेसओ एव सत्तिरहिएहिं । सपरुवगारे जत्तो कायव्वो अप्पमत्तेहिं ॥ १५६७ ॥
सो य ण थेरविहारं मोत्तुं अन्नत्थ होइ सुद्धो व । एत्तो च्चिअ पडिसिद्धो अजायसम्मत्तकप्पो अ ॥ १५६८ ॥

लग्गादिसुत्तरंते तो पडिवज्जित्तु खित्तवाहि ठिआ । गिण्हंति जं अगहिअं तत्थ य गंतूण आयरिओ ॥ १५४३ ॥
तेसिं तयं पयच्छइ खित्तं एन्ताण तेसिमे दोसा । वन्दतमवंदंते लोगम्मी होइ परिवाओ ॥ १५४४ ॥
ण तरिज्ज जई गंतुं आयरिओ ताहे एइ सो चेव । अंतरपल्लीपडिवसभगामवहि अण्णवसही वा ॥ १५४५ ॥
तीए अ अपरिभोए ते वंदंती ण वंदई सो उ । तं घित्तुमपडिबंधा ताएँ जहिच्छाएँ विहरंति ॥ १५४६ ॥

जिणकप्पिआ व तहिअं किंचि तिगिच्छं तु ते उ न करिंति ।
णिप्पडिकम्मसरीरा अवि अच्छिमलंपि णऽवणिंति ॥ १५४७ ॥

थेराणं णाणत्तं अतरंते अप्पिणंति गच्छस्स । तेऽवि अ सि फासुएणं करिंति सव्वं तु परिकम्मं ॥ १५४८ ॥
एक्किक्कपडिग्गहगा सप्पाउरणा हवंति थेरा उ । जे पुणऽमी जिणकप्पे भय तेसिं वत्थपायाई ॥ १५४९ ॥

गणमाणओ जहण्णा तिण्णि गणा सयग्गसो अ उक्कोसा ।
पुरिसपमाणं पण्णरस सहस्ससो चेव उक्कोसो ॥ १५५० ॥

पडिवज्जमाणगा वा एक्कादि हविज्ज ऊणपक्खेवे । होंति जहण्णा एए सयग्गसो चेव उक्कोसा ॥ १५५१ ॥
पुव्वपडिवन्नगाणवि उक्कोस जहण्णओ परीमाणं । कोडिपुहत्तं भणिअं होइ अहालंदिआणं तु ॥ १५५२ ॥
कयमित्थ पसंगेणं एसो अब्भुज्जओ इह विहारो । संलेहणासमो खलु सुविसुद्धो होइ णायव्वो ॥ १५५३ ॥
पाएण चरमकाले जमेस भणिओ सयाणमणवज्जो । भयणाए अण्णया पुण गुरुकज्जाईहिं पडिवद्धा ॥ १५५४ ॥

खित्ते भरहेरवए होंति साहरणवज्जिआ णिअमा । एत्तो च्चिअ चिण्णेअं जमित्थ कालेऽवि णाणत्तं ॥ १५२९ ॥
तुल्ला जहण्णठाणा संजमठाणाण पढमबिइआणं । तत्तो असंखलोए गंतुं परिहारिअट्ठाणा ॥ १५३० ॥
ताणवि असंखलोगा अविरुद्धा चेव पढमबीआणं । उवरिंपि तओ संखा संजमठाणा उ दोण्हंपि ॥ १५३१ ॥
सट्ठाणे पडिवत्ती अण्णेसुवि होज्ज पुव्वपडिवन्नो । तेसुवि वट्टंतो सो तीअणयं पप्प वुच्चइ उ ॥ १५३२ ॥
ठिअकप्पम्मी णिअमा एमेव य होइ दुविहलिंगेऽवि । लेसा झाणा दोण्णिवि हवंति जिणकप्पतुल्ला उ ॥ १५३३ ॥
गणओ तिण्णेव गणा जहण्णपडिवत्ति सयसमुक्कोसा । उक्कोसजहण्णेणं सयसो च्चिअ पुव्वपडिवण्णा ॥ १५३४ ॥
सत्तावीस जहण्णा सहस्स उक्कोसओ अ पडिवत्ती । सयसो सहस्ससो वा पडिवण्ण जहण्ण उक्कोसा ॥ १५३५ ॥
पडिवज्जमाण भइया इक्कोऽवि हु होज्ज ऊणपक्खेवे । पुव्वपडिवन्नयावि हु भइआ एगो पुहुत्तं वा ॥ १५३६ ॥ दारं ॥
एअं खलु णाणत्तं एत्थं परिहारिआण जिणकप्पा । अहलंदिआण एत्तो णाणत्तमिणं पवक्खामि ॥ १५३७ ॥
लंदं तु होइ कालो सो पुण उक्कोस मज्झिम जहण्णो । उदउल्लकरो जाविह सुक्काइ ता होइ उ जहण्णो ॥ १५३८ ॥
उक्कोस पुव्वकोडी मज्झे पुण होंति णेगठाणा उ । एत्थ पुण पंचरत्तं उक्कोसं होअहालंदं ॥ १५३९ ॥
जम्हा उ पंचरत्तं चरंति तम्हा उ हुंतऽहालंदी । पंचेव होइ गच्छो तेसिं उक्कोसपरिमाणं ॥ १५४० ॥
जा चेव य जिणकप्पे मेरा सच्चेव लंदिआणंपि । णाणत्तं पुण सुत्ते भिक्खाचरि मासकप्पे अ ॥ १५४१ ॥
पडिबद्धा इअरेऽवि अ एक्किक्का ते जिणा य थेरा य । अत्थस्स उ देसम्मी असमत्ते तेऽवि पडिबंधो ॥ १५४२ ॥

जम्हा उत्तरकप्पो एसोऽभत्तट्ठमाइसरिसो उ। एगग्गयापहाणो तब्भंगे गुरुअरो दोसो ॥ १५१६ ॥ दारं ॥
कारणमालंवणमो तं पुण नाणाइअं सुपरिसुद्धं। एअस्स तं न विज्जइ उचियं तव (प) साहणा पायं ॥ १५१७ ॥
सव्वत्थ निरवयक्खो आढत्तं चिअ दृढं समाणिंतो। वट्टइ एस महप्पा किलिट्ठकम्मक्खयणिमित्तं ॥ १५१८ ॥
णिप्पडिकम्मसरीरो अच्छिमलाईवि णावणेइ सया। पाणंतिएवि अ तहा वसणंमि न वट्टई वीए ॥ १५१९ ॥
अप्पवहुत्तालोअणविसयाईओ उ होइ एसोत्ति। अहवा सुभभावाओ वहुअंपेअं चिअ इमस्स ॥ १५२० ॥
तइआए पोरुसीए भिक्खाकालो विहारकालो अ। सेसासु तु उस्सग्गो पायं अप्पा य णिद्दत्ति ॥ १५२१ ॥
जंघावलम्मि खीणे अविहरमाणोऽवि णवर णावज्जे। तत्थेव अहाकप्पं कुणइ अ जोगं महाभागो ॥ १५२२ ॥ दारं ॥
एसेव गमो णिअमा सुद्धे परिहारिए अहालंदे। नाणत्ती उ जिणेहिं पडिवज्जइ गच्छऽगच्छे वा ॥ १५२३ ॥
तवभावणणाणत्तं करिंति आयंविलेण परिकम्मं। इत्तरिअ थेरकप्पे जिणकप्पे आवकहिआ उ ॥ १५२४ ॥
पुण्णे जिणकप्पं वा अइंती तं चेव वा पुणो कप्पं। गच्छं वा यंति पुणो तिण्णिवि ठाणा सिमविरुद्धा ॥ १५२५ ॥
इत्तरिआणुवसग्गा आयंका वेयणा य ण भवंति। आवकहिआण भइआ तहेव छग्गामभागा उ ॥ १५२६ ॥
खित्ते कालचरित्ते तित्थे परिआगमागमे वेए। कप्पे लिंगे लेसा झाणे गणणा अभिग्गहा य ॥ १५२७ ॥

पव्वावण मुंडावण मणसाऽऽवण्णेऽवि से अणुग्घाया।
कारणणिप्पडिकम्मा भत्तं पंथो अ तइआए ॥ १५२८ ॥ दारगाहा ॥

णचंतसंकिलिट्ठासु थेवकालं व हंदि इअरासु। चित्ता कम्माण गई तहावि विरिअं फलं देइ ॥ १५०४ ॥ दारं॥
झाणंमिवि धम्मेणं पडिवज्जइ सो पवड्ढमाणेणं। इअरेसुवि झाणेसुं पुव्वपवण्णो ण पडिसिद्धो ॥ १५०५ ॥
एवं च कुसलजोगे उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा। रोदट्टेसुवि भावे इमस्स पायं निरणुबंधो ॥ १५०६ ॥ दारं ॥
गणणत्ति सयपुहुत्तं एएसिं एगदेव उक्कोसा। होइ पडिवज्जमाणे पडुच इअरा उ एगाई ॥ १५०७ ॥
पुव्वपडिवन्नगाण उ एसा उक्कोसिआ ऊचिअखित्ते। होइ सहस्सपुहुत्तं इअरा एवंविहा चेव ॥ १५०८ ॥ दारं॥
दव्वाईआभिग्गह विचित्तरूवा ण होंति इत्तिरिआ। एअस्स आवकहिओ कप्पो च्चिअभिग्गहो जेण ॥ १५०९ ॥
एयम्मि गोअराई णिअया णिअमेण णिरववाया य। तप्पालणं चिअ परं एअस्स विसुद्धिठाणं तु ॥१५१०॥ दारं॥
पव्वावेइ ण एसो अण्णं कप्पट्ठिओत्ति काऊणं। आणाउ तह पयट्टो चरमाणसणिव्व णिरविक्खो ॥ १५११ ॥

उवएसं पुण विअरइ धुवपव्वावं विआणिउं कंची।
तंपि जहाऽऽसण्णेणं गुणओ ण दिसाद्दविक्खाए ॥ १५१२ ॥ दारं ॥

मुंडावणावि एवं विण्णेआ एत्थ चोअगो आह। पव्वज्जाणंतरमो णिअमा एसत्ति कीस पुढो ? ॥ १५१३ ॥

गुरुराहेह ण णिअमो पव्वइअस्सवि इमीएँ पडिसेहो।
अजोग्गस्साइस्सई [पलिभग्गादोवि] होइ जओ अओ पुढो दारं ॥ १५१४ ॥

आवण्णस्स मणेणऽवि अइआरं निअमओ अ सुहुमंपि। पच्छित्तं चउगुरुगा सव्वजहण्णं तु णेअव्वं ॥ १५१५ ॥

अहिअगयरं गुणठाणं होइ अतित्थंमि एस किं ण भवे?। एसा एअस्स ठिई पण्णत्ता वीअरागेहिं ॥ १४९२ ॥
परिआओ अ दुभेओ गिहिजइभेएहिं होइ णायव्वो। एक्केक्को उ दुभेओ जहण्णउक्कोसओ चेव ॥ १४९३ ॥

एअस्स एस णेओ गिहिपरिआओ जहण्ण गुणतीसा।
जइपरिआए वीसा दोसुवि मुक्कोस देसूणा ॥ १४९४ ॥ दारं।

अप्पुव्वं णाहिज्जइ आगममेसो पडुच्च तं जम्मं। जमुचिअपगिट्ठजोगाराहणओ चेव कयकिच्चो ॥ १४९५ ॥
पुव्वाहीअं तु तयं पायं अणुसरइ निच्चमेवेस। एगग्गमणो सम्मं विस्सोअसिगाइखयहेऊ ॥ १४९६ ॥
वेओ पवित्तिकाले इत्थीवज्जो उ होइ एगयरो। पुव्वपडिवन्नगो पुण होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥ १४९७ ॥
उवसमसेढीए खलु वेए उवसामिअंमि उ अवेओ। न उ खविए तज्जम्मे केवलपडिसेहभावाओ ॥ १४९८ ॥ दारं॥
ठिअमट्ठिए अ कप्पे आचेलक्काइएसु ठाणेसुं। सव्वेसु ठिआ पढमो चउ ठिअ छसु अट्ठिआ चिइओ ॥ १४९९ ॥
आचेलक्कु[1]द्देसिअ[2]सिज्जायर[3]रायपिंडे[4] किइकम्मे[5]। वय[6]जिट्ठ[7]पडिक्कमणे[8] मासंपज्जोसवणकप्पे ॥ १५०० ॥
लिंगम्मि होइ भयणा पडिवज्जइ उभयलिंगसंपन्नो। उवरिं तु भावलिंगं पुव्वपवण्णस्स णिअमेण ॥ १५०१ ॥

इअरं तु जिणभावाइएहिं सययं न होइवि कयाइं।
ण य तेण विणावि तहा जायइ से भावपरिहाणी ॥ १५०२ ॥ दारं ॥

लेसासु विसुद्धासुं पडिवज्जइ तीसु न पुण सेसासु। पुव्वपडिवन्नओ पुण होज्जा सव्वासुवि कहंचि ॥ १५०३ ॥

एएसिं सत्त वीही एत्तो चिअ पायसो जओ भणिआ। कह नाम अणोमाणं? इचिज्ज गुणकारणं णिअमा ॥१४८०॥
अइसइणो अ जमेए वीहिविभागं अओ विआणंति । ठाणाईएहिं धीरा समयपसिद्धेहिं लिंगेहिं ॥ १४८१ ॥
एसा समायारी एएसि समासओ समक्खाया । एत्तो खित्तादीअं ठिइमेएसिं तु वक्खामि ॥ १४८२ ॥
खित्ते कालचरित्ते तित्थे परिआएँ आगमे वेए । कप्पे लिंगे लेसा झाणे गणणा अभिगहा य ॥ १४८३ ॥

पव्वावण मुंडावण मणसाऽऽवण्णेऽवि से अणुग्घाया ।
कारण णिप्पडिकम्मे भत्तं पंथो अ तइआए ॥ १४८४ ॥ द्वारगाथाद्वयं

खित्ते दुहेह मग्गण जम्मणओ चेव संतिभावे अ । जम्मणओ जहिं जाओ संतीभावो अ जहिं कप्पो ॥१४८५॥
जम्मणसंतीभावेसु होज्ज सव्वासु कम्मभूमीसु। साहरणे पुण भइओ कम्मे व अकम्मभूमे वा ॥ १४८६ ॥ द्वारं॥
उस्सप्पिणिए दोसुं जम्मणओ तिसु अ संतिभावेणं। उस्सप्पिणि विवरीओ जम्मणओ संतिभावेण॥ १४८७॥
णोसप्पिणिउस्सप्पिणि होइ पलिभागसो चउत्थम्मि। काले पलिभागेसु अ संहरणे होइ सव्वेसुं॥ १४८८॥ द्वारं
पढमे वा बीए वा पडिवज्जइ संजमम्मि जिणकप्पं । पुव्वपडिवन्नओ पुण अण्णयरे संजमे हुज्जा ॥ १४८९ ॥
मज्झिमतित्थयराणं पढमे पुरिमंतिमाण बीअम्मि । पच्छा विसुद्धजोगा अण्णयरं पावइ तयं तु ॥ १४९० ॥
तित्थेत्ति नियमओ च्चिय होइ स तित्थम्मि न पुण तद्भावे। विगएऽणुप्पण्णे वा जाईस रणाइएहिं तु ॥ १४९१ ॥

पढमंदिवसम्मि कम्मं तिण्णि अ दिवसाणि पूइअं होइ। पूईसु तिसु ण कप्पइ कप्पइ तइए कए कप्पे ॥१४६६॥
उग्गाहिमए अज्जं नवि आए कल्ल तस्स दाहामो। दोण्णि दिवसाणि कम्मं तइआई पूइअं होइ ॥ १४६७ ॥
तिहिं कप्पेहिं न कप्पइ कप्पइ तं छट्ठसत्तमदिणम्मि। अकरणदिअहो पढमो सेसा जं एक्क दोण्णि दिणा ॥१४६८॥
अह सत्तमम्मि दिअहे पढमं वीहिं पुणोऽवि हिंडंतं। दट्ठूण सा य सड्ढी तं मुणिवसभं भणिज्जाहि ॥१४६९॥
किं णागयऽत्थ तइआ? असवओ मे कओ तुह निमित्तं। इति पुट्ठो सो भयवं विइआए से इमं भणइ ॥१४७०॥
अणिआओ वसहीओ इच्चाइ जमेव वण्णिअं पुव्विं। आणाए कम्माई परिहरमाणो विसुद्धमणो ॥ १४७१ ॥
चोएई पढमदिणे जइ कोइ करिज्ज तस्स कम्माई। तत्थ ठिअं णाऊणं अजंपिउं चेव तत्थ कहं ॥ १४७२ ॥
चोअग! एवंपि इहं जइ उ करिज्जाहि कोइ कम्माई। ण हि सो तं ण विआणइ सुआइसयजोगओ भयवं ॥१४७३॥
एसो उण से कप्पो जं सत्तमगम्मि चेव दिवसम्मि। एगत्थ अडइ एवं आरंभविवज्जणणिमित्तं ॥ १४७४ ॥
इअ अणिअयविंत्तिं तं दट्ठुं सड्ढाणवी तदारंभे। अणिअयमो ण पवित्ती होइ तहा वारणाओ अ ॥ १४७५ ॥
इअरेऽवाऽऽणाउच्चिअ गुरुमाइनिमित्तओ पइदिणंपि। दोसं अपिच्छमाणा अडंति मज्झत्थभावेण ॥ १४७६ ॥
एवं तु ते अडंता वसही एक्काए कइ वसिज्जाहि!। वीहीए अ अडंता एगाए कइ अडिज्जाहि ॥ १४७७ ॥
एगाए वसहीए उक्कोसेणं वसंति सत्त जणा। अवरोप्परसंभासं वज्जिंता कहवि जोएणं ॥ १४७८ ॥
वीहीए एक्काए एक्को च्चिअ पइदिणं अडइ एसो। अण्णे भणंति भयणा सा य ण जुत्तिक्खमा णेआ ॥ १४७९ ॥

विण्णेअं ॥ १४५३ ॥ दारं ॥
लेवालेवंति इहं लेवाडेणं अलेवडं जं तु। अण्णेण असंमिस्सं दुगंपि इह होइ विण्णेअं ॥ १४५४ ॥ दारं ॥
अह्लेवं पयईए केवलगंपि हु न तस्सरूवं तु। अण्णे उ लेवकारी अलेवमिति सूरओ बिंति ॥ १४५५ ॥ दारं ॥
णायंबिलमेअंपि हु अइसोसपुरीसभेअदोसाओ। उस्सग्गिअं तु किं पुण पयईए अणुगुणं जं से ॥ १४५६ ॥ दारं ॥
पडिमत्ति अ मासाई आईसद्दा अभिग्गहा सेसा। णो खलु एस पवज्जइ जं तत्थ ठिओ विसेसेणं ॥ १४५७ ॥ दारं ॥
जिणकप्पत्ति अ दारं असेसदाराण विसयमो एस। एअंमि एस मेरा अववायविवज्जिआ णिअमा ॥ १४५८ ॥ दारं ॥
मासं निवसइ खित्ते छवीहीओ अ कुणइ तत्थविअ। एगेगमडइ कम्माइवज्जणत्थं पइदिणं तु ॥ १४५९ ॥
कह पुण होज्जा कम्मं एत्थ पसंगेण सेसयं किंपि। वोच्छामि समासेणं सीसजणविबोहणट्ठाए ॥ १४६० ॥
आभिग्गहिए सद्धा भत्तोगाहिमग बीय तिअ पुढे।
चोअग निग्गमणंति अ उक्कोसेणं च सत्त जणा ॥ १४६१ ॥ [सरछोडगाहा]
जिणकप्पाभिग्गहिअं दट्ठुं तवसोसिअं महासत्तं। संवेगागयसद्धा काई सड्ढी भणिज्जाहि ॥ १४६२ ॥
किं काहामि अहण्णा ? एसो साहू ण गिण्हए एअं। णत्थि महं तारिसयं अण्णं जमलज्जिआ दाहं ॥ १४६३ ॥
सघपयत्तेण अहं कल्लं काऊण भोअणं विउलं। दाहामि पयत्तेणं ताहे भणई अ सो भयवं ॥ १४६४ ॥
सघपयत्तेण ... समणाणं सवणाणं सारहआणं च मेहाणं ॥ १४६४ ॥
अणिआओ वसहीओ भमरकुलाणं च गोउलाणं च। समणाणं सवणाणं सारहआणं च मेहाणं ॥ १४६५ ॥
तीए अ उवक्खडिअं मुद्धा वीही अ तेण धीरेण। अदीणमपरितंतो बिइअं च पहिंडिओ वीहिं ॥ १४६६ ॥

पाहुडिआ जीऍ बली कज्जइ ओसक्कणाइअं तत्थ ।
विक्खिरिअ ठाण सउणाअग्गहणे अंतरायं च ॥ १४४५ ॥ दारं ॥
अग्गित्ति साऽग्गिणी जा पमज्जणे रेणुमाइवाघाओ ।
अपमज्जणे अकिरिआ जोईफुसणंमि अ विभासा ॥ १४४६ ॥ दारं ॥
दीवत्ति सदीवा जा तीऍ विसेसो उ होइ जोइम्मि । एत्तो चिअ इह भेओ सेसा पुव्वोइआ दोसा ॥ १४४७ ॥ दारं
ओहाणं अम्हाणवि गेहस्सुवओगदायगो तंसि ।
होहिसि भणंति ठंते जीए एसावि से ण भवे ॥ १४४८ ॥ दारं ।
तह कइ जणत्ति तुम्हे वसाहिह एत्थंति एवमवि जीए ।
भणइ गिहीऽणुण्णाए परिहरए णवरमेअंपि ॥ १४४९ ॥ दारं ।
सुहुममवि हु अचिअत्तं परिहरएसो परस्स निअमेणं ।
जं तेण तुसद्दाओ वज्जइ अण्णंपि तज्जणणीं ॥ १४५० ॥ दारं ।
भिक्खाअरिआ णियमा तइआए एसणा अभिग्गहिआ ।
एअस्स पुव्वभणिआ एक्काविअ होइ भत्तस्स ॥ १४५१ ॥ दारं ।
पाणगगहणं एवं ण सेसकालं पओअणाभावा । जाणइ सुआइसयओ सुद्धमसुद्धं च सो सव्वो ॥ १४५२ ॥ दारं ।

उच्चारे पासवणे उस्सग्गं कुणइ थंडिले पढमे। तत्थेव य परिजुण्णे कयकिच्चो उज्झई वत्थे ॥ १४३५॥ दारं॥

अप्पमत्ताऽपरिकम्मा दारबिलंभंगजोगपरिहीणा।
जिणवसही थेराणवि मोत्तूण पमज्जणमकज्जे ॥ १४३६ ॥ दारं ॥

केच्चिरकालं वसहिह एवं पुच्छंति जायणासमए। जत्थ गिही सा वसही ण होइ एअस्स णिअमेण ॥१४३७॥

नो उच्चारो एत्थं आयरिअव्वो कयाइदवि जत्थ। एवं भणंति साविहु पडिकुट्ठा चेव एअस्स ॥१४३८॥ दारं॥

पासवणंपि अ एत्थं इमंमि देसंमि ण उण अन्नत्थ।
कायव्वंति भणंती हु जाए एसावि णो जोग्गा ॥ १४३९ ॥ दारं ॥

ओवासोऽवि हु एत्थं एसो तुज्झंति न पुण एसोत्ति।
ईअवि भणंति जहिअं सावि ण सुद्धा इमस्स भवे ॥ १४४० ॥ दारं ॥

एवं तणफलगेसु अ जत्थ विआरो तु होइ निअमेणं। एसावि हु दट्ठव्वा इमस्स एवंविहा चेव ॥ १४४१ ॥ दारं॥

सारक्खणत्ति तत्थेव किंचि वत्थुमहिगिच्च गोणाई। जाए तस्सारक्खणमाह गिही सावि हु अजोगा ॥१४४२॥

संठवणा सक्कारो पडमाणीए णुवेहमो भंते।।
कायव्वंति अ जीएवि भणइ गिही सा वऽजोग्गत्ति ॥ १४४३ ॥ दारं ॥

अण्णं वा अभिओगं चसदसंसूइअं जहिं कुणइ। दाया चित्तसरूवं जोगा णेसावि एअस्स ॥ १४४४ ॥ दारं॥

आवस्सिणिसीहिमिच्छापुच्छणमुवसंपयंमि गिहिएसु। अण्णा सामायारी ण होइ से सेसिआ पंच ॥ १४२३ ॥
आवस्सिअं निसीहिअ मोत्तुं उवसंपयं च गिहिएसु। सेसा सामायारी ण होइ जिणकप्पिए सत्त ॥१४२४॥
अहवावि चक्कवाले सामायारी उ जस्स जा जोग्गा। सा सवा वत्तवा सुअमाईआ इमा मेरा ॥ १४२५ ॥
सुअसंघयणुवसग्गे आयंके वेअणा कइ जणा उ। थंडिल्ल वसहि केच्चिर उच्चारे चेव पासवणे ॥ १४२६ ॥
ओवासे तणफलए सारक्खणया य संथवणया य। पाहुडिअ अग्गिदीवे ओहाण वसे कइ जणाओ ॥ १४२७॥
भिक्खायरिआ पाणय लेवालेवे अ तह अलेवे अ। आयंबिलपडिमाई जिणकप्पे मासकप्पे उ॥१४२८॥दारगाहा।
आयारवत्थु तइयं जहण्णयं होइ नवमपुवस्स। तहियं कालण्णाणं दस उक्कोसेण भिण्णाइं ॥ १४२९ ॥ दारं॥
पढमिल्लुयसंघयणा धिईएँ पुण वज्जकुड्डसामाणा। पडिवज्जंति इमं खलु कप्पं सेसा ण उ कयाइ ॥ १४३० ॥ दारं।

दिवाई उवसग्गा भइआ एअस्स जइ पुण हवंति।
तो अवहिओ विसहइ णिचलचित्तो महासत्तो ॥ १४३१ ॥ दारं ॥
आयंको जरमाई सोऽवि हु भइओ इमस्स जइ होइ।
णिप्पडिकम्मसरीरो अहिआसइ तंपि एमेव ॥ १४३२ ॥ दारं ॥

अब्भुवगमिआ उवक्कमा य तस्स वेअणा भवे दुविहा। धुवलोआई पढमा जराविवागाइआ वीआ ॥ १४३३ ॥
एगो अ एस भयवं णिरवेक्खे सवहेव सवत्थ। भावेण होइ निअमा वसहीओ दवओ भइओ ॥ १४३४ ॥ दारं॥

सव्वासु भावणासुं एसो उ (य) विही उ होइ ओहेणं । एत्थं चसद्दगहिओ तयंतरं चेव केइत्ति ॥ १४१० ॥
जिणकप्पिअपडिरूवी गच्छे ठिअ कुणइ दुविह परिकम्मं । आहारोवहिमाइसु ताहे पडिवज्जई कप्पं ॥ १४११ ॥
तइआए अलेवाडं पंचण्णयरीएँ भयइ आहारं । दोण्हऽण्णयरीएँ पुणो उवहिं च अहागडं चेव ॥ १४१२ ॥

पाणिपडिग्गहपत्तो सचेल (सचेलऽचेल) भेएण वावि दुविहं तु ।
जो जहरूवो होही सो तह परिकम्मए अप्पं ॥ १४१३ ॥ दारं ॥

निम्माओ अ तहिं सो गच्छाई सव्वहाऽणुजाणित्ता । पुव्वोइआण सम्मं पच्छा उववूहिओ विहिणा ॥ १४१४ ॥
खामेइ तओ संघं सबालवुड्ढं जहोचिअं एवं । अच्चंतं संविग्गो पुव्वविरुद्धे विसेसेण ॥ १४१५ ॥
जं किंचि पमाएणं ण सुट्ठु भे वट्टिअं मए पुव्विं । तं भे खामेमि अहं णिस्सल्लो णिक्कसाओत्ति ॥ १४१६ ॥
दव्वाई अणुकूले महाविभूईएँ अह जिणाईणं । अब्भासे पडिवज्जइ जिणकप्पं असइ वडरुक्खे ॥ १४१७ ॥ दारं ॥
दाराणुवायमो इह सो पुण तइआए भावणासारं । काऊण तं विहाणं णिरविक्खो सव्वहा वयइ ॥ १४१८ ॥
पक्खीपत्तुवगरणे गच्छारामा विणिग्गए तम्मि । चक्खुविसयं अईए अयंति आनंदिया साहू ॥ १४१९ ॥
आभोएउं खेत्तं णिव्वाघाएण मासणिव्वाहिं । गंतूण तत्थ विहरइ एस विहारो समासेण ॥ १४२० ॥
एत्थ य सामायारी इमस्स जा होइ तं पवक्खामि । भयणाएँ दसविहाए गुरूवएसाणुसारेण ॥ १४२१ ॥
इच्छा मिच्छ तहकार आवस्सि निसीहिया य आपुच्छा । पडिपुच्छ छंदण णिमंतणा य उवसंपया चेव १४२२

एएण सो कमेणं डिंभगतकरसुराइकयमेअं। जिणिऊण महासत्तो वहइ भरं निब्भओ सयलं ॥ १३९७ ॥
अह सुत्तभावणं सो एगग्गमणो अणाउलो भयवं। कालपरिमाणहेउं सऽब्भत्थं सयहा कुणइ ॥ १३९८ ॥
उस्सासाओ पाणू तओ अ थोवो तओऽविअ मुहुत्तो। एएहिं पोरिसीओ तारिंपि णिसाइ जाणेइ ॥ १३९९ ॥
एत्तो उवओगाओ सदेव सोऽमूढलक्खयाए उ। दोसं अपावमाणो करेइ किच्चं अविवरीअं ॥ १४०० ॥
मेहाइच्छण्णेसुं उभओकालं अहव उवसग्गे। पेहाइ भिक्खपंथे जाणइ कालं विणा छायं ॥ १४०१ ॥
एगत्तभावणं तह गुरुमाइसु दिट्ठिमाइपरिहारा। भावइ छिण्णममत्तो तत्तं हिअयम्मि काऊणं ॥ १४०२ ॥

एगो आया संजोगिअं तुऽसेसं इमस्स (पिमं तु) पाएणं।
दुक्खणिमित्तं सवं मोत्तुं (एयं) मज्झत्थभावं तु ॥ १४०३ ॥

इय भाविअपरमत्थो समसुहदुक्खोऽवहीअरो होइ। तत्तो अ सो कमेणं साहेइ जहिच्छिअं कज्जं ॥ १४०४ ॥
एगत्तभावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा। सज्जइ वेरग्गगओ फासेइ अणुत्तरं करणं ॥ १४०५ ॥ दारं ॥
इअ एगत्तसमेओ सारीरं माणसं च दुविहंपि। भावइ बलं महप्पा उस्सग्गधिइसरूवं तु ॥ १४०६ ॥
पायं उस्सग्गेणं तस्स ठि (धि) ई भावणाबला एसो। संघयणेवि हु जायइ इणिंह भाराइबलतुल्लो ॥ १४०७ ॥
सइ सुहभावेण तहा जं ता सुहभावथिज्जरूवा उ। एत्तो च्चिअ कायबा धिई णिहाणाइलाभेब ॥ १४०८ ॥
धिइबलणियद्धकच्छो कम्मजयट्ठाएँ उज्जओ मइमं। सबत्था अविसाई उवसग्गसहो दढं होइ ॥ १४०९ ॥ दारं ॥

आणा इत्थ पमाणं विण्णेआ सवहा उ परलोए । आराहणाएँ तीए धम्मो वज्झं पुण निमित्तं ॥ १३८४ ॥
उवगरणं उवगारे तीए आराहणस्स वट्टंतं । पावइ जहत्थनामं इहरा अहिगरणमो भणिअं ॥ १३८५ ॥ दारं ॥
परिकम्मं पुण इह इंदियाइविणिअमणभावणा णेआ । तमवायादालोअण विहिणा सम्मं तओ कुणइ ॥ १३८६ ॥
इंदिअकसायजोगा विणियमिआ तेण पुव्वमेव णणु । सच्चं तहावि जयई तज्जय सिद्धिं गणंतो उ ॥ १३८७ ॥
इंदिअजोगेहिं तहा णेहऽहिगारो जहा कसाएहिं । एएहिं विणा णेए दुहवुड्ढीवीअभूआउ ॥ १३८८ ॥

जेण उ तेऽवि कसाया णो इंदिअजोगविरहओ हुंति ।
तव्विणिअमणंपि तओ तयत्थमेवेत्थ कायव्वं ॥ १३८९ ॥ दारं ।

इअ परिकम्मिअभावोऽणब्भत्थं पोरिसाइ तिगुणतवं । कुणइ छुहाविजयट्ठा गिरिणइसीहेण दिट्ठंतो ॥ १३९० ॥
इक्किक्कं ताव तवं करेइ जह तेण कीरमाणेणं । हाणी ण होइ जइआवि होइ छम्मासुवसग्गो ॥ १३९१ ॥
अप्पाहारस्स ण इंदिआइं विसएसु संपयट्टंति । नेअ किलम्मइ तवसा रसिएसु न सज्जई आवि ॥ १३९२ ॥
तवभावणाएँ पंचिंदिआणि दंताणि जस्स वसमेंति । इंदिअजोग्गायरिओ समाहिकरणाइं कारेइ ॥ १३९३ ॥
इअ तवणिम्माओ खलु पच्छा सो सत्तभावणं कुणइ । निद्दाभयविजयट्ठा तत्थ उ पडिमा इमा पञ्च ॥ १३९४ ॥
पढमा उवस्सयम्मी वीया बाहिं तइया चउक्कंमि । सुन्नघरम्मि चउत्थी तह पंचमिआ मसाणंमि ॥ १३९५ ॥
एआसु थेवथेवं पुव्वपवत्तं जिणेइ णिद्दं सो । मूसगछिक्का उ तहा भयं च सहसुब्भवं अजिअं ॥ १३९६ ॥

अव्वोच्छित्तीमण पंच तुलण उवगरणमेव परिकम्मो ।
तवसत्तसुएगत्ते उवसग्गसहे अ वडस्क्खे ॥ १३७१ ॥ दारगाहा ॥

सो पुव्वावरकाले जागरमाणो उ धम्मजागरिअं । उत्तमपसत्थझाणो हिअएण इमं विचिंतेइ ॥ १३७२ ॥
अणुपालिओ उ दीहो परिआओ वायणा तहा दिण्णा । णिप्फाइआ य सीसा मज्झं किं संपयं जुत्तं? ॥ १३७३ ॥
किं णु विहारेणऽब्भुज्जएण विहरामऽणुत्तरगुणेणं । आऊ अब्भुज्जयसासणेण विहिणा अणुमरामि ॥ १३७४ ॥
पारद्धावोच्छित्ती इणिंह उचिअकरणा इहरहा उ । विरसावसाणओ णो इत्थं दारस्स संपाओ ॥ १३७५ ॥ दारं
जिणसुद्धजहालंदा तिविहो अब्भुज्जओ इह विहारो । अब्भुज्जयमरणंपि अ पाउगमे इंगिणि परिण्णा ॥ १३७६ ॥
सयमेव आउकालं णाउं पुच्छित्तु वा बहुं सेसं । सुबहुगुणलाभकंखी विहारमब्भुज्जयं भयई ॥ १३७७ ॥
गणिउवज्झायपवित्ती थेरगणच्छेइआ इमे पंच । पायमहिगारिणो इह तेसिमिमा होइ तुलणा उ ॥ १३७८ ॥
गणणिक्खेवित्तिरिओ गणिस्स जो वा ठिओ जहिं ठाणे । जो तं अप्पसमस्स उ णिक्खिवई इत्तरं चेव ॥ १३७९ ॥
पिच्छामु ताव एए केरिसया होंतिमस्स ठाणस्स? । जोग्गाणवि पाएणं णिव्वहणं दुक्करं होइ ॥ १३८० ॥
ण य बहुगुणचाएणं थेवगुणपसाहणं बुहजणाणं । इट्ठं कयाइ कज्जं कुसला सुपइट्ठिआरंभा ॥ १३८१ ॥ द्वारं ॥
उवगरणं सुद्धेसणमाणजुअं जमुचिअं सकप्पस्स । तं गिण्हइ तयभावे अहागडं जाव उचिअं तु ॥ १३८२ ॥
जाए उचिए अ तयं वोसिरइ अहागडं विहाणेण । इअ आणानिरयस्सिह विण्णेअं तंपि तेण समं ॥ १३८३ ॥

णाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते अ । धण्णा आवकहाए गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥ १३५८ ॥
एवं चिअ वयिणीणं अणुसट्ठिं कुणइ एत्थ आयरिओ । तह अज्जचंदणमिगावईण साहेइ परमगुणे ॥ १३५९ ॥
भणइ सलद्धीअंपि हु पुपं तुह गुरुपरिक्खिआ आसि । लद्धी वत्थाईणं णिअमा एगंतनिद्दोसा ॥ १३६० ॥
इण्हिं तु सुआयत्तो जाओसि तुमंति एत्थ वत्थुम्मि । ता जह बहुगुणतरयं होइ इमं तह णु कायपं ॥ १३६१ ॥
उट्ठित्तु सपरिवारो आयरिअं तिप्पदक्खिणीकाउं । वंदइ पवेयणम्मी ओसरणे चेव य विभासा ॥ १३६२ ॥
अह समयविहाणेणं पालेइ तओ गणं तु मज्झत्थो । णिप्फाएइ अ अण्णे णिअगुणसरिसे पयत्तेणं ॥ १३६३ ॥
अणुओगगणाणुण्णा एवेसा वण्णिआ समासेणं । संलेहणत्ति दारं अओ परं कित्तइस्सामि ॥ १३६४ ॥

अणुओगगणाणुण्णा कयाए तयणुपालणं विहिणा ।
जं ता करेइ (धीरो) सम्मं जाऽऽवइओ चरमकालो उ ॥ १३६५ ॥

संलेहणा इहं खलु तवकिरिया जिणवरेहिं पण्णत्ता । जं तीए संलिहिज्जइ देहकसायाइ णिअमेणं ॥ १३६६ ॥
ओहेणं सवच्चिअ तवकिरिआ जइवि एरिसी होइ । तहवि अ इमा विसिट्ठा घिप्पइ जा चरिमकालम्मि ॥१३६७॥
परिवालिऊण विहिणा गणिमाइपयं जईणमिअमुचिअं । अब्भुज्जुओ विहारो अहवा अब्भुज्जुअं मरणं ॥ १३६८ ॥
एसो अ विहारोवि हु जम्हा संलेहणासमो चेव । ता ण विरुद्धो णेओ एत्थं संलेहणादारे ॥ १३६९ ॥
भणिऊण इमं पढमं लेसुद्देसेण पच्छओ वोच्छं । दाराणुवाइगं चिअ सम्मं अब्भुज्जुअं मरणं ॥ १३७० ॥

सीसम्मि पक्खिवंतो भण्णइ तं गुरुगुणेहिं वड्ढाहि । एवं तु तिण्णि वारा उवविसइ तओ गुरू पच्छा ॥१३४४॥
सेसं जह सामइए दिसाइअणुजाणणाणिमित्तं तु । णवरं इह उस्सग्गो उवविसइ तओ गुरुसमीवे ॥ १३४५ ॥
दिंति अ तो वंदणयं सीसाइ तओ गुरुवि अणुसट्टिं । दोण्हवि करेइ तइ जह अण्णोऽवि अ वुज्झई कोई ॥१३४६॥
उत्तममिअं पयं जिणवरेहिं लोगुत्तमेहिं पण्णत्तं । उत्तमफलसंजणयं उत्तमजणसेविअं लोए ॥ १३४७ ॥
धण्णाण णिवेसिज्जइ धण्णा गच्छंति पारमेअस्स । गंतुं इमस्स पारं पारं वच्चंति दुक्खाणं ॥ १३४८ ॥
संपाविऊण परमे णाणाई दुहिअतायणसमत्थे । भवभयभीआण दढं ताणं जो कुणइ सो धण्णो ॥१३४९॥
अण्णाणवाहिगहिआ जइवि न सम्मं इहाउरा होंति । तहवि पुण भावविज्जा तेसिं अवणिंति तं वाहिं ॥१३५०॥
ता तंऽसि भावविज्जो भवदुक्खनिवीडिया तुहं एए । हंदि सरणं पवण्णा मोएअव्वा पयत्तेणं ॥ १३५१ ॥
मोएइ अप्पमत्तो परहिअकरणम्मि णिच्चमुज्जुत्तो । भवसोक्खापडिवद्धो पडिवद्धो मोक्खसोक्खम्मि ॥ १३५२॥
ता एरिसो च्चिअ तुमं तहवि अ भणिओऽसि समयणीईए । णिअयावत्थासरिसं भवया णिच्चंपि कायव्वं ॥१३५३॥
तुब्भेहिंपि न एसो संसाराडविमहाकडिल्लंमि । सिद्धिपुरसत्थवाहो जत्तेण खणंपि मोत्तव्वो ॥ १३५४ ॥
ण य पडिकूलेअव्वं वयणं एअस्स नाणरासिस्स । एवं गिहवासचाओ जं सफलो होइ तुम्हाणं ॥ १३५५ ॥
इहरा परमगुरूणं आणाभंगो निसेविओ होइ । विहला य होंति तम्मी निअमा इहलोअपरलोआ ॥१३५६॥
ता कुलवहुणाएणं कज्जे निब्भत्थिएहिवि कहिंचि । एअस्स पायमूलं आमरणंतं न मोत्तव्वं ॥ १३५७ ॥

उउवद्धे वासासु उ सत्त समत्तो तदूणगो इअरो । असमत्ताजायाणं ओहेण ण होइ आहवं ॥ १३३० ॥
हवइ समत्ते कप्पे कयम्मि अण्णोऽण्णसंगयाणंपि । गीअजुआणाभवं जहसंगारं दुवेण्हंपि ॥ १३३१ ॥
वइणीवि गुणगणेणं जा अहिआ होइ सेसवइणीणं । दिक्खासुआइणा परिणया य जोगा सलद्धीए ॥ १३३२ ॥
केइ ण होइ सलद्धी वयणीणं गुरुपरिक्खियं तासिं । जं सव्वमेव पायं लहुसगदोसा य णिअमेणं ॥ १३३३ ॥
तं च ण सिस्सिणिगाओ उचिए विसयम्मि होइ उवलद्धी । कालायरणाहिं तह पत्तंमि ण लहुत्तदोसावि ॥ १३३४ ॥
जायसमत्तविभासा बहुतरदोसा इमाण कायव्वा । सुत्ताणुसारओ खलु अहिगाइ कयं पसंगेणं ॥ १३३५ ॥
एत्थाऽणुजाणणविही सीसं काऊण वामपासम्मि । देवे वंदेइ गुरू सीसो वंदित्तु तो भणइ ॥ १३३६ ॥
इच्छाकारेणऽम्हं दिसाइ अणुजाणहत्ति आयरिओ । इच्छामोत्ति भणित्ता उस्सग्गं कुणइ उ तयत्थं ॥ १३३७ ॥
चउवीसत्थय नवकार पारणं कड्ढिउं थयं ताहे । नवकारपुव्वयं चिअ कड्ढइ अणुण्णणंदित्ति ॥ १३३८ ॥
सीसोऽवि भाविअप्पा सुणेइ जह वंदिउं पुणो भणइ । इच्छाकारेणऽम्हं दिसाइ अणुजाणह तहेव ॥ १३३९ ॥
आह गुरू खमासमणाणं हत्थेणिमस्स साहुस्स । अणुजाणिअं दिसाइ सीसो वंदित्तु तो भणइ ॥ १३४० ॥
संदिसह किं भणामो वंदित्तु पवेअहा गुरू भणइ । वंदित्तु पवेअयई भणइ गुरू तत्थ विहिणा उ ॥ १३४१ ॥
वंदित्तु तओ तुब्भं पवेइअं संदिसहत्ति साहूणं । पवेएमि भणइ सीसो गुरुराह पवेअय तओ उ ॥ १३४२ ॥
वंदित्तु णमोक्कारं कहुंतो से गुरुं पयक्खिणइ । सोऽवि अ देवाईणं व वासे दाऊण तो पच्छा ॥ १३४३ ॥

गीअत्था कयकरणा कुलजा परिणामिआ य गंभीरा ।
चिरदिक्खिआ य वुड्ढा अज्जावि पवित्तिणी भणिआ ॥ १३१७ ॥

एअगुणविप्पमुक्के जो देइ गणं पवित्तिणिपयं वा । जोऽवि पडिच्छइ नवरं सो पावइ आणमाईणि ॥ १३१८ ॥
वूढो गणहरसद्दो गोअमपमुहेहिं पुरिससीहेहिं । जो तं ठवइ अपत्ते जाणंतो सो महापावो ॥ १३१९ ॥
कालोचिअगुणरहिओ जो अ ठवावेइ तह निविट्ठंपि । णो अणुपालइ सम्मं विसुद्धभावो ससत्तीए ॥ १३२० ॥
एव पवत्तिणिसद्दो जो वूढो अज्जचंदणाईहिं । जो तं ठवइ अपत्ते जाणंतो सो महापावो ॥ १३२१ ॥
कालोचिअगुणरहिआ जा अ ठवावेइ तह णिविट्ठंपि । णो अणुपालइ सम्मं विसुद्धभावा ससत्तीए ॥ १३२२ ॥
लोगम्मि अ उवघाओ जत्थ गुरू एरिसा तहिं सीसा । लट्ठयरा अण्णेसिं अणायरो होइ अ गुणेसु ॥ १३२३ ॥
गुरुअरगुणमलणाए गुरुअरबंधोत्ति ते परिचत्ता । तदहिअनिओअणाए आणाकोवेण अप्पावि ॥ १३२४ ॥
तम्हा तित्थयराणं आराहिंतो जहोइअगुणेसु । दिज्ज गणं गीअत्थे णाऊण पवित्तिणिपयं वा ॥ १३२५ ॥
दिक्खावएहिं पत्तो धिइमं पिंडेसणाइविण्णाआ । पेढाइधरो अणुवत्तओ अ जोगो सलद्धीए ॥ १३२६ ॥
एसोऽवि समं गुरुणा पुढो व गुरुदत्तजोग्गपरिवारो । विहरइ तयभावम्मी विहिणा उ समत्तकप्पेणं ॥ १३२७ ॥
जाओ अ अजाओ अ दुविहो कप्पो उ होइ णायव्वो । एक्किक्कोऽवि अ दुविहो समत्तकप्पो अ असमत्तो ॥ १३२८ ॥
गीअत्थ जायकप्पो अगीओ खलु भवे अजाओ उ । पणगं समत्तकप्पो तदूणगो होइ असमत्तो ॥ १३२९ ॥

जं सो उक्किट्टयरं अविक्खई वीरिअं इहं णिअमा । णहि पलसयंपि वोढुं असमत्थो पव्वयं वहई ॥ १३०४ ॥
जो वज्झचाएणं णो इत्तिरिअंपि णिग्गहं कुणइ । इह अप्पणो सया से सव्वचाएण कह कुज्जा ? ॥ १३०५ ॥
आरंभचाएणं णाणाइगुणेसु वड्ढमाणेसु । दव्वट्टयहाणीवि हु न होइ दोसाय परिसुद्धा ॥ १३०६ ॥
एत्तोच्चिय णिद्दिट्ठो धम्मम्मि चउव्विहम्मिवि कमोऽअं। इह दाणसीलतवभावणामए अण्णहाऽजोगा॥ १३०७॥
संतं वज्झमणिच्चं थाणे दाणंपि जो ण विअरेइ । इय खुड्डगो कहं सो सीलं अइदुद्धरं धरइ ? ॥ १३०८ ॥
अस्सीलो अ ण जायइ सुद्धस्स तवस्स हंदि विसओऽवि ।
जहसत्तीऍऽतवस्सी भावइ कह भावणाजालं ? ॥ १३०९ ॥
इत्थं च दाणधम्मो दव्वत्थयरूवमो गहेअव्वो । सेसा उ सुपरिसुद्धा णेआ भावत्थयसरूवा ॥ १३१० ॥
इअ आगमजुत्तीहि अ तं तं सुत्तमहिगिच्च धीरेहिं । दव्वत्थयादिरूवं विवेइयव्वं सबुद्धीए ॥ १३११ ॥
एसेह थयपरिण्णा समासओ वण्णिआ मए तुब्भं । वित्थरओ भावत्थो इमीऍ सुत्ताओं णायव्वो ॥१३१२॥
एवंविहमण्णंपि हु सो वक्खाणेइ नवरमायरिओ । णाऊण सीससंपयमुज्जुत्तो पवयणहिअम्मि ॥ १३१३ ॥
इअ अणुओगाणुण्णा लेसेण णिदंसिअत्ति इयरा उ । एअस्स चेव कज्जइ कयाइ अण्णस्स गुणजोगा॥ १३१४॥
सुत्तत्थे णिम्माओ पिअदढधम्मोऽणुवत्तणाकुसलो । जाईकुलसंपण्णो गंभीरो लद्धिमंतो अ ॥ १३१५ ॥
संगहुवग्गहनिरओ कयकरणो पवयणाणुरागी अ । एवंविहो उ भणिओ गणसामी जिणवरिंदेहिं ॥ १३१६ ॥

तत्तो अ आगमो जो विणेअसत्ताण सोऽवि एमेव । तस्स पओगो चेवं अणिवारणगं च णिअमेणं ॥ १२९० ॥
णेवं परंपराए माणं एत्थ गुरुसंपयाओऽवि । रूवविसेसट्ठवणे जह जचंधाण सव्वेसिं ॥ १२९१ ॥
भवओऽवि अ सव्वण्णू सव्वो आगमपुरस्सरो जेणं । ता सो अपोरुसेओ इअरो वाऽणागमा जो उ ॥ १२९२ ॥
नोभयअवि जमणाई बीअंकुरजीवकम्मजोगसमं । अहचऽत्थतो उ एवं ण वयणउ वत्तहीणं तं ॥ १२९३ ॥
वेयवयणम्मि सव्वं णाएणासंभवंतरूवं जं । ता इअरवयणसिद्धं वत्थू कह सिज्झई तत्तो ? ॥ १२९४ ॥
ण हि रयणगुणाऽरयणे कदाचिदवि होंति उवलसाधम्मा । एवं वयणंतरगुणा ण होंति सामण्णवयणम्मि ॥१२९५
ता एवं सण्णाओ ण वुहेणऽट्ठाणठावणाए उ । सइ लहुओ कायव्वो चासप्पंचासणाएणं ॥ १२९६ ॥
तह वेए च्चिअ भणिअं सामण्णेणं जहा ण हिंसिज्जा । भूआणि फलुद्देसा पुणो अ हिंसिज्ज तत्थेव ॥ १२९७ ॥
ता तस्स पमाणत्तेऽवि एत्थ णिअमेण होइ दोसोत्ति । फलसिद्धीएवि सामण्णदोसविणिवारणाभावा ॥१२९८॥
जह विज्जगम्मि दाहं ओहेण निसेहिउं पुणो भणिअं । गंडाइखयनिमित्तं करिज्ज विहिणा तयं चेव ॥ १२९९ ॥
तत्तोऽवि कीरमाणे ओहणिसेहुब्भवो तहिं दोसो । जायइ फलसिद्धीअवि एअं इत्थंपि विण्णेअं ॥ १३०० ॥
कयमित्थ पसंगेणं जहोचिआवेव दव्वभावथया । अण्णोऽण्णसमणुविद्धा निअमेणं होंति नायव्वा ॥ १३०१ ॥
अप्पविरिअस्स पढमो सहकारिविसेसभूअमो सेओ । इअरस्स वज्झचाया इअरोच्चिअ एस परमत्थो ॥ १३०२ ॥
दव्वत्थयंपि काउं ण तरइ जो अप्पवीरिअत्तेणं । परिसुद्धं भावथयं काही सोऽसंभवो एस ॥ १३०३ ॥

अप्पेह जयणाए ॥ १२७६ ॥
ता एअगया चेवं हिंसा गुणकारिणित्ति विन्नेआ। तह भणिअणायओ च्चिय एसा अप्पेह जयणाए ॥ १२७६ ॥
तह संभवंतरूवं सव्वं सव्वण्णुवयणओ एअं। तं णिच्छिअकहिआगमपउत्तगुरुसंपयाएहिं ॥ १२७७ ॥
वेअवयणं तु नेवं अपोरसेअं तु तं मयं जेणं। इअमच्चंतविरुद्धं वयणं च अपोरसेअं च ॥ १२७८ ॥
जं वुच्चइत्ति वयणं पुरिसाभावे अ नेअमेअंति। ता तस्सेवाभावो णिअमेण अपोरसेअत्ते ॥ १२७९ ॥
तव्वावारविउत्तं ण य कत्थइ सुव्वईह तं वयणं। सवणेऽवि अ णासंका अदिस्सकत्तुब्भवाऽवेइ ॥ १२८० ॥
अदिस्सकत्तिगं णो अण्णं सुवइ कहं णु आसंका ?। सुवइ पिसायवयणं कयाइ एअं तु ण सदेव ॥ १२८१ ॥
वण्णायपोरसेअं लोइअवयणाणवीह सव्वेसिं। वेअम्मि को विसेसो? जेण तहिं एसऽसग्गाहो ॥ १२८२ ॥
ण य णिच्छओवि हु तओ जुज्जइ पायं कहिंचि सण्णाया। जं तस्सऽत्थपगासणविसएह अइंदिया सत्ती ॥१२८३॥
नो पुरिसमित्तगम्मा तदतिसओऽविहु ण बहुमओ तुम्हं। लोइअवयणेहिंतो दिट्ठं च कहिंचि वेहम्मं ॥ १२८४॥
ताणिह पोरसेआणि अपोरसेआणि वेयवयणाणि। सग्गुवसिअमुहाणं दिट्ठो तह अत्थभेओऽवि ॥ १२८५॥
न य तं सहावओ च्चिय सत्थपगासणपरं पईओव्व। समयविभेआजोगा मिच्छत्तपगासजोगा य ॥ १२८६ ॥
इंदीवरम्मि दीवो पगासई रत्तयं असंतंपि। चंदोऽवि पीअवत्थं धवलं न य निच्छओ तत्तो ॥ १२८७ ॥
एवं नो कहिआगमपओगगुरुसंपयायभावोऽवि। जुज्जइ सुहो इहं खलु णाएणं छिण्णमूलत्ता ॥ १२८८ ॥
ण कयाइ इओ कस्सइ इइ णिच्छयमो कहिंचि वत्थुम्मि। जाओत्ति कहइ एवं जं सो तत्तं स वामोहो ॥१२८९॥

जयणेह धम्मजणणी जयणा धम्मस्स पालणी चेव । तव्वुड्ढिकरी जयणा एगंतसुहावहा जयणा ॥ १२६२ ॥
जयणाए वट्टमाणो जीवो सम्मत्तणाणचरणाणं । सद्धाबोहासेवणभावेणाराहओ भणिओ ॥ १२६३ ॥
एसा य होइ नियमा तयहिगदोसविणिवारणी जेण । तेण णिवित्तिपहाणा विन्नेआ बुद्धिमंतेणं ॥ १२६४ ॥
सा इह परिणयजलदलविसुद्धरूवाओँ होइ विण्णेआ । अत्थवओ महंतो सव्वो सो धम्महेउत्ति ॥ १२६५ ॥
एत्तो चिअ निद्दोसं सिप्पाइविहाणमो जिणिंदस्स । लेसेण सदोसंपि हु बहुदोसनिवारणत्तेणं ॥ १२६६ ॥
वरबोहिलाभओ सो सव्वुत्तमपुण्णसंजुओ भयवं । एगंतपरहिअरओ विसुद्धजोगो महासत्तो ॥ १२६७ ॥
जं बहुगुणं पयाणं तं णाऊणं तहेव देसेइ । ते रक्खंतस्स तओ जहोचिअं कह भवे दोसो ? ॥ १२६८ ॥
तत्थ पहाणो अंसो बहुदोसनिवारणेह जगगुरुणो । नागाइरक्खणे जह कड्ढणदोसेऽवि सुहजोगो ॥ १२६९ ॥
एव णिवित्तिपहाणा विण्णेआ तत्तओ अहिंसेअं । जयणावओ व (उ) विहिणा पूआइगयावि एमेव ॥ १२७० ॥
सिअ पूआउवगारो ण होइ इह कोइ पूयणिज्जाणं । कयकिच्चत्तणओ तह जायइ आसायणा चेवं ॥ १२७१ ॥
तअहिगनिवत्तीए गुणंतरं णत्थि एत्थ निअमेणं । इअ एअगया हिंसा सदोसमो होइ णायव्वा ॥ १२७२ ॥
उवगाराभावेऽवि हु चिंतामणिजलणचंदणाईणं । विहिसेवगस्स जायइ तेहिंतो सो पसिद्धमिणं ॥ १२७३ ॥
इअ कयकिच्चेहिंतो तब्भावे णत्थि कोइवि विरोहो । एत्तोच्चिअ ता (ते) पुज्जा का खलु आसायणा तीए ?॥१२७४॥
अहिगणिवित्तीवि इहं भावेणाहिगरणा णिवित्तीओ । तद्दंसणसुहजोगा गुणंतरं तीएँ परिसुद्धं ॥ १२७५ ॥

सइ सघत्थाभावे जिणाण भावावयाएँ जीवाणं । तेसिं णित्थरणगुणं णिअमेणिह ता तदायतणं ॥ १२४८ ॥
तब्बिंबस्स पइट्ठा साहुनिवासो अ देसणाईआ । एक्किक्कं भावावयणित्थरणगुणं तु भव्वाणं ॥ १२४९ ॥
पीडागरीवि एवं इत्थं पुढवाइहिंस जुत्ता उ । अण्णेसिं गुणसाहणजोगाओ दीसइ इहेव ॥ १२५० ॥
आरंभवओ य इमा आरंभंतरणिवत्तिआ पायं । एवंपि हु अणिआणा इट्ठा एसावि मोक्खफला ॥ १२५१ ॥
ता एईएँ अहम्मो णो इह जुत्तंपि विज्जणायमिणं । हंदि गुणंतरभावा इहरा विज्जस्सवि अधम्मो ॥ १२५२ ॥
ण य वेअगया एवं सम्मं आवयगुणण्णिआ एसा । ण य दिट्ठगुणा तज्जुयतयंतरणिविवित्तिआ नेव ॥ १२५३ ॥
ण अ फलुद्देसपवित्तिउ इअं मोक्खसाहिगावित्ति । मोक्खफलं च सुवयणं सेसं अत्थाइवयणसमं ॥ १२५४ ॥
अग्गी मा एआओ एणाओ मुंचउत्ति अ सुईवि । तप्पावफला अंधे तमंमि इच्चाइ अ सईवि ॥ १२५५ ॥
अत्थि जओ ण य एसा अण्णत्था तीरई इहं भणिअं । अविणिच्छया ण एवं इह सुवइ पाववयणं तु ॥ १२५६ ॥
परिणामे अ सुहं णो तेसिं इच्छिज्जइ ण य सुहंपि । मंद्रापत्थकयसमं ता तमुवण्णासमित्तं तु ॥ १२५७ ॥
इअ दिट्ठेट्ठविरुद्धं जं वयणं एरिसा पवित्तस्स । मिच्छाइभावतुल्लो सुहभावो हंदि विण्णेओ ॥ १२५८ ॥
एगिंदिआइभेओऽवित्थं णणु पावभेअहेउत्ति । इट्ठो तहावि समए तह सुद्दादिआइभेएणं ॥ १२५९ ॥
सुद्दाण सहस्सेणवि ण बंभवज्झेह घाइएणंति । जह तह अप्पबहुत्तं एत्थवि गुणदोसचिंताए ॥ १२६० ॥
अप्पा य होति एसा एत्थं जयणाएँ वट्टमाणस्स । जयणा य धम्मसारो विन्नेआ धम्म (सव) कज्जेसु ॥ १२६१ ॥

सिअ तं न सम्म वयणं इअरं सम्मवयणंति किं माणं ?। अह लोगो च्चिअ नेअं तहा अपाढा विगाणा य ॥ १२३४ ॥
अह पाढोऽभिमउच्चिअ विगाणमवि एत्थ थोवगाणं तु। इत्थंपि णप्पमाणं सव्वेसि विदंसणाओ उ ॥ १२३५ ॥
किं तेसि दंसणेणं अप्पबहुत्तं जहित्थ तह चेव। सव्वत्थ समवसेअं णेवं वभिचारभावाओ ॥ १२३६ ॥
अग्गाहारे बहुगा दीसंति दिआ तहा ण सुद्दत्ति। ण य तद्दंसणओ च्चिअ सव्वत्थ इमं हवइ एवं ॥ १२३७ ॥
ण य बहुगाणवि एत्थं अविगाणं सोहणंति निअमोऽअं। ण य णो थेवाणं हु मूढेअरभावजोगेण ॥ १२३८ ॥
ण य रागाइविरहिओ कोऽवि पन्नाया विसेसकारित्ति। जं सव्वेऽविअ पुरिसा रागाइजुआ उ परपक्खे ॥ १२३९ ॥
एवं च वयणमित्ता धम्मादोसा ति मिच्छगाणंपि। घाएंताण दिअवरं पुरओ णणु चंडिकाईणं ॥ १२४० ॥
ण य तेसिंपि ण वयणं एत्थ निमित्तंति जं ण सव्वे उ। तं तह घायंति सया असुअतच्चोअणा वच्चा ॥ १२४१ ॥
अह तं ण एत्थ रूढं एअंपि ण तत्थ तुल्लमेवेयं। अह तं थेवमणुचिअं इमंमि एआरिसं तेसिं ॥ १२४२ ॥
अह तं वेअंगं खलु न तंपि एमेव इत्थवि ण माणं। अह तत्थासवणमिणं सिएअमुच्छण्णसाहं तु ॥ १२४३ ॥
ण य तव्वयणाओ च्चिअ तदुभयभावोत्ति तुल्लभणिईओ। अण्णावि कप्पणेवं साहम्मविहम्मओ दुट्ठा ॥ १२४४ ॥
तम्हा ण वयणमित्तं सव्वत्थऽविसेसओ वुहजणेणं। एत्थ पवित्तिनिमित्तंति एअ दट्ठव्वं होइ ॥ १२४५ ॥
किं पुण विसिट्ठगं चिअ जं दिट्ठिट्ठाहि णो खलु विरुद्धं। तह संभवंस (त) रूवं विआरिउं सुद्धबुद्धीए ॥ १२४६ ॥
जह इह दव्वथयाओ भावावयकप्पगुणजुआ सेओ। पीडुवगारो जिणभवणकारणादित्ति न विरुद्धं ॥ १२४७ ॥

एअस्स उ संपाडणहेउं तह हंदि वंदणाएवि । पूअणमाउच्चारणमुववण्णं होइ जइणोऽवि ॥ १२२० ॥
इहरा अणत्थगं तं ण य तयणुच्चारणेण सा भणिआ । ता अभिसंधारणमो संपाडणमिट्ठमेअस्स ॥ १२२१ ॥
सक्खा उ कसिणसंजमदव्वाभावेहिं णो अयं इट्ठो । गम्मइ तंतठिईए भावपहाणा हि मुणउत्ति ॥ १२२२ ॥
एएहिंतो अण्णे धम्महिगारीह जे उ तेसिं तु । सक्खं चिअ विण्णेओ भावंगतया जओ भणिओ ॥ १२२३ ॥
अकसिणपवत्तयाणं विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणो दव्वथए कूवदिट्ठंतो ॥ १२२४ ॥
सो खलु पुप्फाईओ तत्थुत्तो ण जिणभवणमाईऽवि । आईसद्दा वुत्तो तयभावे कस्स पुप्फाई? ॥ १२२५ ॥
णणु तत्थेव य मुणिणो पुप्फाइनिवारणं फुडं अत्थि । अत्थि तयं सयकरणं पडुच्च णऽणुमोअणाईवि ॥ १२२६ ॥
सुव्वइ अ वयररिसिणा कारवणंपिहु अणुट्ठियमिमस्स । वायगगंथेसु तहा एअगया देसणा चेव ॥ १२२७ ॥
आहेवं हिंसावि हु धम्माय ण दोसयारिणित्ति ठिअं । एवं च वेअविहिआ णिच्छिज्जइ सेहवामोहो ॥ १२२८ ॥
पीडागरत्ति अह सा तुल्लमिणं हंदि अहिगयातेऽवि । ण य पीडाओं अधम्मो णिअमा विज्जेण वभिचारो ॥ १२२९ ॥
अह तेसिं परिणामे सुहं तु तेसिंपि सुव्वई एवं । तज्जणणेऽवि ण धम्मो भणिओ परदारगाईणं ॥ १२३० ॥
सिअ तत्थ सुहो भावो तं कुणमाणस्स तुल्लमेअंपि । इअरस्सवि अ सुहो चिअ णेओ इअरं कुणंतस्स ॥ १२३१ ॥
एगिंदिआइ अह ते इअरे थोवत्ति ता किमेएणं? । धम्मत्थं सव्वच्चिअ वयणा एसा ण दुट्ठत्ति ॥ १२३२ ॥
एअंपि न जुत्तिखमं ण वयणमित्ताउ होइ एवमिअं । संसारमोअगाणऽवि धम्मादोसप्पसंगाओ ॥ १२३३ ॥

आराहगो अ जीवो सत्तट्ठभवेहिँ सिज्झई णिअमा। संपाविऊण परमं हंदि अहक्खायचारित्तं ॥ १२०८ ॥

दव्वत्थयभावत्थयरूवं एअम्मि (एअमिह) होइ दट्ठव्वं।
अण्णोण्णसमणुविद्धं णिच्छयओ भणियविसयं तु ॥ १२०९ ॥

जइणोऽवि हु दव्वत्थयभेओ अणुमोअणेण अत्थित्ति। एअं च इत्थ णेअं इय सिद्धं तंतजुत्तीए ॥ १२१० ॥

तंतम्मि वंदणाए पूअणसक्कारहेउमुस्सग्गो। जइणोऽवि हु निद्दिट्ठो ते पुण दव्वत्थयसरूवे ॥ १२११ ॥

मल्लाइएहिं पूआ सक्कारो पवरवत्थमाईहिं। अण्णे विवज्जओ इह दुहावि दव्वत्थओ एत्थ ॥ १२१२ ॥

ओसरणे बलिमाई ण वेह जं भगवयाऽवि पडिसिद्धं। ता एस अणुण्णाओ उचिआणं गम्मई तेण ॥ १२१३ ॥

ण य भयवं अणुजाणइ जोगं मोक्खविगुणं कयाइ (ई) वि [पणेअं]।
तयणुगुणोऽवि अ जोगो ण बहुमओ होइ अण्णेसिं ॥ १२१४ ॥

जो चेव भावलेसो सो चेव य भगवओ बहुमओ उ। न तओ विणेअरेणंति अत्थओ सोऽवि एमेव ॥ १२१५ ॥

कज्जं इच्छंतेणं अणंतरं कारणंपि इट्ठं तु। जह आहारजतत्तिं इच्छंतेणेह आहारो ॥ १२१६ ॥

जिणभवणकारणादिऽवि भरहाईणं न वारिअं तेणं। जह तेसिं चिअ कामा सल्लविसाईहिं वयणेहिं ॥ १२१७ ॥

ता तंपि अणुमयं चिअ अप्पडिसेहाओ तंतजुत्तीए। इअ सेसाणवि एत्थं अणुमोअणमाइ अविरुद्धं ॥ १२१८ ॥

जं च चउद्धा भणिओ विणओ उवयारिओ उ जो तत्थ। सो तित्थयरे निअमा ण होइ दव्वत्थया अन्नो ॥ १२१९ ॥

एवं दिट्ठंतगुणा सज्झम्मिवि एत्थ होंति णायव्वा । ण हि साहम्माभावे पायं जं होइ दिट्ठंतो ॥ ११९५ ॥
चउकारणपरिसुद्धं कसछेअत्तावताडणाए अ । जं तं विसघाइरसायणाइगुणसंजुअं होइ ॥ ११९६ ॥
इअरम्मि कसाईआ विसिट्ठलेसा तहेगसारत्तं । अवगारिणि अणुकंपा वसणे अइनिच्चलं चित्तं ॥ ११९७ ॥
तं कसिणगुणोवेअं होइ सुवण्णं न सेसयं जुत्ती । णवि णामरूवमित्तेण एवं अगुणो हवइ साहू ॥ ११९८ ॥
जुत्तीसुवण्णयं पुण सुवण्णवण्णं तु जइवि कीरिज्ञा (ज्जा) ।
णहु होइ तं सुवण्णं सेसेहिँ गुणेहिऽसंतेहिं ॥ ११९९ ॥
जे इह सुत्ते भणिआ साहुगुणा तेहिं होइ सो साहू । वण्णेणं जच्चसुवण्णयं व संते गुणणिहिम्मि ॥ १२०० ॥
जो साहू गुणरहिओ भिक्खं हिंडइ ण होइ सो साहू । वण्णेणं जुत्तिसुवण्णयं वऽसंते गुणणिहिम्मि ॥ १२०१ ॥
उद्दिट्ठकडं भुंजइ छक्कायपमद्दणो घरं कुणइ । पच्चक्खं च जलगए जो पिअइ कहण्णु सो साहू ? ॥ १२०२ ॥
अण्णे उ कसाईआ किर एए एत्थ होइ णायव्वा । एआहिँ परिक्खाहिं साहुपरिक्खेह कायव्वा ॥ १२०३ ॥
तम्हा जे इह सत्थे साहुगुणा तेहिं होइ सो साहू । अच्चंतसुपरिसुद्धेहिँ मोक्खसिद्धित्ति काऊणं ॥ १२०४ ॥
अलमित्थ पसंगेणं एवं खलु होइ भावचरणं तु । पडिवुज्झिस्संतऽण्णे भावज्जिअकम्मजोएणं ॥ १२०५ ॥
अपरिवडिअसुहचिंताभावज्जियकम्मपरिणईओ उ । एअस्स जाइ अंतं तओ स आराहणं लहइ ॥ १२०६ ॥
निच्छयणया जमेसा चरणपडिवत्तिसमयओ पभिई । आमरणंतमजस्सं संजमपरिपालणं विहिणा ॥ १२०७ ॥

गीअस्स ण उस्सुत्ता तज्जुत्तस्सेयरस्सवि तहेव । णिअमेण चरणवं जं न जाउ आणं विलंघेइ ॥ ११८१ ॥
न य गीअत्थो अण्णं ण णिवारइ जोग्गयं मुणेऊणं । एवं दोण्हवि चरणं परिसुद्धं अण्णहा णेव ॥ ११८२ ॥
ता एव विरइभावो संपुण्णो एत्थ होइ णायव्वो । णिअमेणं अट्ठारससीलंगसहस्सरूवो उ ॥ ११८३ ॥
ऊणत्तं ण कयाइवि इमाण संखं इमं तु अहिगिच्च । जं एअधरा सुत्ते णिद्दिट्ठा वंदणिज्जा उ ॥ ११८४ ॥
ता संसारविरत्तो अणंतमरणाइरूवमेअं तु । णाउं एअविउत्तं मोक्खं च गुरूवएसेणं ॥ ११८५ ॥
परमगुरूणो अ अणहे आणाएँ गुणे तहेव दोसे अ। मोक्खत्थी पडिवज्जिअ भावेण इमं विसुद्धेणं ॥ ११८६ ॥
विहिआणुट्ठाणपरो सत्तणुरूवमिअरंपि संधंतो । अण्णत्थ अणुवओगा खवयंतो कम्मदोसेऽवि ॥ ११८७ ॥
सव्वत्थ निरभिसंगो आणामित्तंमि सव्वहा जुत्तो । एगग्गमणो धणिअं तम्मि तहाऽमूढलक्खो अ ॥ ११८८ ॥
तह तिल्लपत्तिधारयणायगयो राहवेहगगओ वा । एअं चएइ काउं ण तु अण्णो खुद्दसत्तोत्ति ॥ ११८९ ॥
एत्तोच्चिअ णिद्दिट्ठो पुव्वायरिएहिँ भावसाहुत्ति । हंदि पमाणठिअत्थो तं च पमाणं इमं होइ ॥ ११९० ॥
सत्थुत्तगुणी साहू ण सेस इइ णो पइण्ण इह हेऊ। अगुणत्ता इति णेओ दिट्ठंतो पुण सुवण्णं च ॥ ११९१ ॥
विसघाइरसायणमंगलत्थविणए पयाहिणावत्ते । गुरुए अडज्झऽकुत्थे अट्ट सुवण्णे गुणा हुंति ॥ ११९२ ॥
इअ मोहविसं घायइ सिवोवएसा रसायणं होइ। गुणओ अ मंगलत्थं कुणइ विणीओ अ जोगत्ति ॥ ११९३॥
मग्गणुसारि पयाहिण गंभीरो गुरुअओ तहा होइ। कोहग्गिणा अडज्झो अकुत्थ सइ सीलभावेण॥११९४॥

इय मद्दवाइजोगा पुढविक्काए हवंति दस भेआ। आउक्कायाईसुवि इअ एअं पिंडिअं तु सयं ॥ ११६७ ॥
सोइंदिएण एअं सेसेहिवि जं इमं तओ पंच। आहारसण्णजोगा इअ सेसाहिं सहस्सदुगं ॥ ११६८ ॥
एवं मणेण वइमाइएसु एअंति छस्सहस्साइं। न करण सेसेहिंपि अ एए सव्वेऽवि अट्ठारा ॥ ११६९ ॥
एत्थ इमं विण्णेअं अइअंपज्जं तु वुद्धिमंतेहिं। एक्कंपि सुपरिसुद्धं सीलंगं सेससब्भावे ॥ ११७० ॥
एक्को वाऽऽयपएसो संखेअपएससंगओ जह उ। एअंपि तहा णेअं सतत्तचाओ इहरहा उ ॥ ११७१ ॥
जम्हा समग्गमेअंपि सव्वसावज्जजोगविरईओ। तत्तेणेगसरूवं ण खंडरूवत्तणमुवेइ ॥ ११७२ ॥
एअं च एत्थ एवं विरईभावं पडुच दट्ठव्वं। ण उ वज्झंपि पवित्तिं जं सा भावं विणावि भवे ॥ ११७३ ॥
जह उस्सग्गंमि ठिओ खित्तो उदगम्मि केणवि तवस्सी। तव्वहपवित्तकाओ अचलिअभावोऽपवत्तो अ ॥ ११७४ ॥
एवं चिअ मज्झत्थो आणाई कत्थई पयट्टंतो। सेहगिलाणादिऽट्ठा अपवत्तो चेव नायव्वो ॥ ११७५ ॥
आणापरतंतो सो सा पुण सव्वण्णुवयणओ चेव। एगंतहिआ विज्जगणाएणं सव्वजीवाणं ॥ ११७६ ॥
भावं विणावि एवं होइ पवित्ती ण बाहए एसा। सव्वत्थ अणभिसंगा विरईभावं सुसाहुस्स ॥ ११७७ ॥
उस्सुत्ता पुण बाहइ समइविगप्पसुद्धावि णिअमेणं। गीअणिसिद्धपवज्जणरूवा णवरं णिरणुबंधा ॥ ११७८ ॥
इअरा उ अभिणिवेसा इअरा ण य मूलछिज्जविरहेणं। होएसा एत्तोच्चिअ पुव्वायरिआ इमं चाहु ॥ ११७९ ॥
गीअत्थो उ विहारो विइओ गीअत्थमीसिओ भणिओ। एत्तो तइअ विहारो णाणुण्णाओ जिणवरेहिं ॥ ११८० ॥

जइणो अदूसिअस्सा हेआओ सव्वहा णिअत्तस्स । सुद्धो अ उवादेए अकलंको सव्वहा सो उ ॥ ११५३ ॥
अस्सुहतरंडुत्तरणप्पाओ दव्वत्थओऽसमत्थो अ । णइमाइसु इअरो पुण समत्तबाहुत्तरणकप्पो ॥ ११५४ ॥
कडुगोसहाइजोगा मंथररोगसमसण्णिहो वावि । पढमो चिणोसहेणं तक्खयतुल्लो उ बीओ उ ॥ ११५५ ॥
पढमाउ कुसलबंधो तस्स विवागेण सुगइमाईआ । तत्तो परंपराए बिइओऽवि हु होइ कालेणं ॥ ११५६ ॥
जिणबिंबपइट्ठावणभावज्जिअकम्मपरिणइवसेणं । सुगईअ पइट्ठावणमणहं सइ अप्पणो जम्हा ॥ ११५७ ॥
तत्थवि अ साहुदंसणभावज्जिअकम्मओ उ गुणरागो । काले अ साहुदंसण जहक्कमेणं गुणकरं तु ॥ ११५८ ॥
पडिबुज्झिस्संतऽण्णे भावज्जिअकम्मओ उ पडिवत्ती । भावचरणस्स जायइ एअं चिअ संजमो सुद्धो ॥११५९॥
भावत्थओ अ एसो थोअव्वोचिअपवित्तिओ णेओ । णिरवेक्खाणाकरणं कयकिच्चे ऍदि उचिअं तु ॥ ११६० ॥
एअं च भावसाहू विहाय णऽण्णो चएइ काउं जे । सम्मं तग्गुणणाणाभावा तह कम्मदोसा य ॥ ११६१ ॥
जं एअं अट्ठारससीलंगसहस्सपालणं णेअं । अचंत भावसारं ताइं पुण होंति एआइं ॥ ११६२ ॥
जोए करणे सण्णा इंदिअ भोमाइ समणधम्मे अ । सीलंगसहस्साणं अट्ठारसगस्स णिप्फत्ती ॥ ११६३ ॥
करणाइ तिण्णि जोगा मणमाइणि उ भवंति करणाइं । आहाराई सन्ना चउ सोत्ताइंदिआ पंच ॥ ११६४ ॥
भोमाई णव जीवा अजीवकाओ अ समणधम्मो अ । खंताइ दसपगारो एव ठिए भावणा एसा ॥ ११६५ ॥
ण करेइ मणेणाहारसन्नविप्पजढगो उ णियमेण । सोइंदियसंवुडो पुढविकायारंभ खंतिजुओ ॥ ११६६ ॥

जिणपूआएँ विहाणं सुईभूओ तीइ चेव उवउत्तो। अण्णंगमच्छिवंतो करेइ जं पवरवत्थूहिं ॥ ११४० ॥
सुहगंधधूवपाणिअसव्वोसहिमाइएहिं ता णवरं। कुंकुमगाइविलेवणमइसुरहिं मणहरं मल्लं ॥ ११४१ ॥
विविहणिवेअणमारत्तिगाइ धूव थय वंदणं विहिणा। जहसत्ति गीअवाइअणच्चणदाणाइअं चेव ॥ ११४२ ॥
विहिआणुट्ठाणमिणंति एवमेअं सया करिंताणं। होइ चरणस्स हेऊ णो इहलोगादविक्खाए ॥ ११४३ ॥
एवं चिअ भावथए आणाआराहणाय राओऽवि। जं पुण इअविवरीअं तं दव्वथओऽवि णो होइ ॥ ११४४ ॥
भावे अइप्पसंगो आणाविवरीअमेव जं किंचि। इह चित्ताणुट्ठाणं तं दव्वथओ भवे सव्वं ॥ ११४५ ॥
जं वीअरागगामी अह तं णणु सिट्ठणाइवि स एव। सिअ उचिअमेव जं तं आणाआराहणा एवं ॥ ११४६ ॥

जं पुण एअविउत्तं एगंतेणेव भावसुण्णंति।
तं विसअंमिवि ण तओ भावथयाहेउओ निअमा (उचिओ) ॥ ११४७ ॥

भोगाइफलविसेसो उ अत्थि एत्तोऽवि विसयभेएणं। तुच्छो अ तओ जम्हा हवइ पगारंतरेणावि ॥ ११४८ ॥
उचियाणुट्ठाणाओ विचित्तजइजोगतुल्लमो एस। जं ता कह दव्वथओ? तद्दारेणऽप्पभावाओ ॥ ११४९ ॥
जिणभवणाइविहाणद्दारेणं एस होइ सुहजोगो। उचियाणुट्ठाणं चिअ तुच्छो जइजोगओ णवरं ॥ ११५० ॥
सव्वत्थ णिरभिसंगत्तणेण जइजोगमो महं होइ। एसो उ अभिस्संगा कत्थऽवि तुच्छेऽवि तुच्छो उ ॥ ११५१ ॥
जम्हा उ अभिस्संगो जीवं दूसेइ नियमओ चेव। तद्दूसिअस्स जोगो विसघारिअजोगतुल्लोत्ति ॥ ११५२ ॥

पडिबुज्झिस्संति इहं दट्टूण जिणिंदबिंबमकलंकं । अण्णेऽवि भवसत्ता काहिंति तओ परं धम्मं ॥ ११२७ ॥
ता एअमेव वित्तं जमित्थमुवओगमेइ अणवरयं । इअ चिंताऽपरिवडिआ सासयवुद्धी उ मोक्खफला ॥ ११२८ ॥
णिप्फाइअ जयणाए जिणभवणं सुंदरं तहिं बिंबं । विहिकारिअमह विहिणा पइट्ठविज्जा असंभंतो ॥ ११२९ ॥
जिणबिंबकारणविही काले संपूइऊण कत्तारं । विहवोचिअमुल्लप्पणमणहस्स सुहेण भावेण ॥ ११३० ॥
तारिसयस्साभावे तस्सेव हिअत्थमुज्जओ णवरं । णिअमेइ बिंबमोल्लं जं उचिअं कालमासज्ज ॥ ११३१ ॥
णिप्फण्णस्स य सम्मं तस्स पइट्ठावणे विही एसो । सट्ठाणे सुहजोगे अभिवासणमुचिअपूजाए ॥ ११३२ ॥

चिइवंदण थुइवुड्ढी उस्सग्गो साहु सासणसुराए ।
थयसरण पूअकाले ठवणा मंगलगपुव्वा उ ॥ ११३३ ॥ दारगाहा ॥

सत्तीए संघपूआ विसेसपूआउ बहुगुणा एसा । जं एस सुए भणिओ तित्थयराणंतरो संघो ॥ ११३४ ॥
गुणसमुदाओ संघो पवयण तित्थंति होंति एगट्ठा । तित्थयरोऽविअ एअं णमए गुरुभावओ चेव ॥ ११३५ ॥
तप्पुव्विआ अरहया पूइअपूआ य विणयकम्मं च । कयकिच्चोऽवि जह कहं कहेइ णमए तहा तित्थं ॥ ११३६ ॥
एअम्मि पूइअम्मी णत्थि तयं जं न पूइअं होइ । भुवणेऽवि पूयणिज्जं न गुणट्ठाणं तओ अण्णं ॥ ११३७ ॥
तप्पूआपरिणामो हंदि महाविसयमो मुणेअव्वो । तद्देसपूअओऽवि हु देवयपूआइणाएणं ॥ ११३८ ॥
तत्तो अ पइदिणं सो करिज्ज पूअं जिणिंदठवणाए । विहवाणुसारगुरुई काले निअयं विहाणेणं ॥ ११३९ ॥

दधे भावे अ तहा सुद्धा भूमी पएसऽकीला य । दधेऽपत्तिगरहिआ अन्नेसिं होइ भावे उ ॥ १११३ ॥
धम्मत्थमुज्जएणं सव्वस्स अपत्तिअं न कायव्वं । इअ संजमोऽवि सेओ एत्थ य भयवं उदाहरणं ॥ १११४ ॥
सो तावसासमाओ तेसिं अप्पत्तिअं मुणेऊणं । परमं अबोहिबीअं तओ गओ हंतऽकालेऽवि ॥ १११५ ॥
इय सव्वेणऽवि सम्मं सक्कं अप्पत्तिअं सइ जणस्स । नियमा परिहरिअव्वं इअरम्मि सतत्तचिंताओ ॥ १११६ ॥ दा-
रुट्ठाईवि दलं इह सुद्धं जं देवयाइ अ (पावय) वणाओ । नो अविहिणोवणीअं सयं च काराविअं जं नो ॥१११७॥
तस्सवि अ इमो नेओ सुद्धासुद्धपरिजाणणोवाओ । तक्कहगहणाओ जो सउणेअरसन्निवाओ उ ॥ १११८ ॥
नंदाइ सुहो सद्दो भरिओ कलसोत्थ सुंदरा पुरिसा । सुहजोगाइ अ सउणो कंदिअसद्दाइ इअरो उ ॥ १११९ ॥
सुद्धस्सऽवि गहिअस्सा पसत्थदिअहम्मि सुहमुहुत्तेणं । संकामणम्मिवि पुणो विन्नेआ सउणमाईआ ॥११२०॥ दारं
कारवणेऽवि अ तस्सिह भिअगाणऽइसंधणं न कायव्वं । अविआहिगप्पयाणं दिट्ठादिट्ठप्फलं एअं ॥ ११२१ ॥
ते तुच्छगा वराया अहिएण दढं उविंति परितोसं । तुट्ठा य तत्थ कम्मं तत्तो अहियं पकुव्वंति ॥ ११२२ ॥
धम्मपसंसाए तह केइ निबंधंति बोहिबीआइं । अन्ने उ लहुअकम्मा एत्तो चिअ संपवुज्झंति ॥ ११२३ ॥
लोए अ साहुवाओ अतुच्छभावेण सोहणो धम्मो । पुरिसोत्तमप्पणीओ पभावणा एव तित्थस्स ॥११२४॥ दारं॥
आसयवुड्ढीवि इहं भुवणगुरुजिणिंदगुणपरिन्नाए । तब्बिंबठावणत्थं सुद्धपवित्तीइ नियमेण ॥ ११२५ ॥
पिच्छिस्सं एत्थं इह वंदणगनिमित्तमागए साहू । कयपुन्ने भगवंते गुणरयणनिही महासत्ते ॥ ११२६ ॥

एवं चिअ देहवहे उवयारे चावि पुण्णपावाइं । इहरा वहाइभंगाइनायओ नेव जुज्जंति ॥ ११०१ ॥
तयभेअम्मि अ निअमा तन्नासे तस्स पावई नासो । इअ परलोआभावा पंथाईणं अभावाओ ॥ ११०२ ॥
देहेणं देहम्मि अ उवघायाणुग्गहेहिं बंधाई । ण पुण अमुत्तोऽमुत्तस्स अप्पणो कुणइ किंचिदवि ॥ ११०३ ॥
अकरिंतो अ ण बज्झइ अइप्पसंगा सदेव बंधाओ । तम्हा भेआभेए जीवसरीराण बंधाई ॥ ११०४ ॥

मोक्खोऽवि अबद्धस्सा तयभावे स कह कीस वा ण सया ? ।
किं वा हेऊहि तहा कहं च सो होइ पुरिसत्थो ? ॥ ११०५ ॥

तम्हा बद्धस्स तओ बंधोऽवि अणाइमं पवाहेण । इहरा तयभावम्मी पुव्वं चिअ मोक्खसंसिद्धी ॥ ११०६ ॥
अणुभूअवत्तमाणो बंधो कयगोत्तिऽणाइमं कह णु ? । जह उ अईओ कालो तहाविहो तह पवाहेण ॥ ११०७ ॥
दीसइ कम्मावचओ संभवई तेण तस्स विगमोऽवि । कणगमलस्स व तेण उ मुक्को मुक्कोत्ति नायव्वो ॥ ११०८ ॥
एमाइभाववाओ जत्थ तओ होइ तावसुद्धोत्ति । एस उवाएओ खलु बुद्धिमया धीरपुरिसेण ॥ ११०९ ॥
एअमिहमुत्तमसुअं आईसद्दाओ थयपरिण्णाई । वण्णिज्जइ जीए थउ दुविहोऽवि गुणाइभावेण ॥ १११० ॥

दव्वे भावे अ थओ दव्वे भावे अ (भावथय) रागओ विहिणा ।
जिणभवणाइविहाणं भावथओ संजमो सुद्धो ॥ ११११

जिणभवणकारणविही सुद्धा भूमी दलं च कट्ठाई । भिअगाणऽतिसंधाणं सासयवुड्ढी समासेणं ॥ १११२ ॥

ण विसिट्ठकज्जभावो अणईअविसिट्ठकारणत्ताओ । एगंतऽभेअपक्खे निअमा तह भेअपक्खे अ ॥ १०८७ ॥
पिंडो पडोव्व ण घडो तप्फलमणईअपिंडभावाओ । तयईअत्ते तस्स उ तहभावा अघयाइत्तं ॥ १०८८ ॥
एवंविहो उ अप्पा मिच्छत्ताईहिँ बंधई कम्मं । सम्मत्ताईएहि उ मुच्चइ परिणामभावाओ ॥ १०८९ ॥
सकडुवभोगोऽवेवं कडंमि एगाहिकरणभावाओ । इहरा कत्ता भोत्ता उभयं वा पावइ सयावि ॥ १०९० ॥
वेएइ जुवाणकयं वुड्ढो चोराइफलमिहं कोई । ण य सो तओ ण अण्णो पच्चक्खाईपसिद्धीओ ॥ १०९१ ॥
ण य णाणण्णो सोऽयं किं पत्तो ? पावपरिणइवसेणं । अणुहवसंधाणाओ लोगागमसिद्धिओ चेव ॥ १०९२ ॥
इअ मणुआइभवकयं वेअइ देवाइभगवओ अप्पा । तस्सेव तहाभावा सयमिणं होइ उववण्णं ॥ १०९३ ॥
एगंतेण उ निच्चोऽणिच्चो वा कह णु वेअई सकयं ? । एगसहावत्तणओ तयणंतरनासओ चेव ॥ १०९४ ॥
जीवसरीराणंपि हु भेआभेओ तहोवलंभाओ । मुत्तामुत्तत्तणओ छिक्कम्मि पवेअणाओ अ ॥ १०९५ ॥
उभयकडोभयभोगा तब्भावाओ अ होइ नायव्वो । बंधाइविसयभावा इहरा तयसंभवाओ अ ॥ १०९६ ॥
एत्थ सरीरेण कडं पाणवहासेवणाएँ जं कम्मं । तं खलु चित्तविवागं वेएइ भवंतरे जीवो ॥ १०९७ ॥
न उ तं चेव सरीरं णरगाइसु तस्स तह अभावाओ । भिन्नकडवेअणम्मि अ अइप्पसंगो बला होइ ॥ १०९८ ॥
एवं जीवेण कडं कूरमणपयट्टएण जं कम्मं । तं पइ रोगविवागं वेएइ भवंतरसरीरं ॥ १०९९ ॥
णं उ केवलओ जीवो तेण विसुपास्स वेयणाभावो । ण य सो चेव तयं खलु लोगाइविरोहभावाओ ॥ ११०० ॥

एएण न बाहिज्जइ संभवइ अ तं दुगंपि निअमेण । एअवयणेण सुद्धो जो सो छेएण सुद्धोत्ति ॥ १०७३ ॥
जह पंचसु समिईसुं तीसु अ गुत्तीसु अप्पमत्तेणं । सयं चिअ कायव्वं जइणा सइ काइगाईवि ॥ १०७४ ॥
जे खलु पमायजणगा वसहाई तेवि वज्जणिज्जाउ । महुअरवित्तीअ तहा पालेअव्वो अ अप्पाणो ॥ १०७५ ॥
जत्थ उ पमत्तयाए संजमजोएसु विविहभेएसु । नो धम्मिअस्स वित्ती अणुट्ठाणं तयं होइ ॥ १०७६ ॥
एएणं बाहिज्जइ संभवइ अ तदुगं न णिअमेण । एअवयणोवचेओ जो सो छेएण नो सुद्धो ॥ १०७७ ॥
जह देवाणं संगीअगाइकज्जम्मि उज्जमो जइणो । कंदप्पाईकरणं असब्भवयणाभिहाणं च ॥ १०७८ ॥
तह अन्नधम्मिआणं उच्छेओ भोअणं गिहेगऽण्णं । असिधाराइ अ एअं पावं वज्झं अणुट्ठाणं ॥ १०७९ ॥
जीवाइभाववाओ जो दिट्ठेटाहिं णो खलु विरुद्धो । बंधाइसाहगो तह एत्थ इमो होइ तावोत्ति ॥ १०८० ॥
एएण जो विसुद्धो सो खलु तावेण होइ सुद्धोत्ति । एएण वा असुद्धो सेसेहिवि तारिसो नेओ ॥ १०८१ ॥
संतासंते जीवे णिच्चाणिच्चायणेगधम्मे अ । जह सुहबंधाईआ जुज्जंति न अण्णहा निअमा ॥ १०८२ ॥
संतस्स सरूवेणं पररूवेणं तहा असंतस्स । हंदि विसिट्ठत्तणओ होंति विसिट्ठा सुहाईआ ॥ १०८३ ॥
इहरा सत्तामित्ताइभावओ कह विसिट्ठया एसिं ? । तयभावम्मि तयत्थे हन्त पयत्तो महामोहो ॥ १०८४ ॥
निच्चो वेगसहावो सहावभूअम्मि कह णु सो दुक्खे ? । तस्सुच्छेअनिमित्तं असंभवाओ पयट्टिज्जा ॥ १०८५ ॥
एगंतानिच्चोऽवि अ संभवसमणंतरं अभावाओ । परिणामहेउविरहा असंभवाओ उ तस्सत्ति ॥ १०८६ ॥

ण य सेसाणवि एवं कम्माईणं अणंतया एत्थं । तं चिअ तहासहावं जं तेऽवि अविकखइ तहेव ॥ १०६० ॥
तस्समुदायाओ च्चिअ तत्तो तहा विचित्तरूवाओ । इअ सो सिअवाएणं तहाविहं वीरिअं लहइ ॥ १०६१ ॥
तत्तो अ दव्वसम्मं तओ अ से होइ भावसम्मं तु । तत्तो चरण कमेणं केवलनाणाइसंपत्ती ॥ १०६२ ॥
जिणवयणमेव तत्तं एत्थ रुई होइ दव्वसम्मत्तं । जहभावा णाणसद्धा परिसुद्धं तस्स सम्मत्तं ॥ १०६३ ॥
सम्मं अवायगुणे सुंदररयणम्मि होइ जा सद्धा । तत्तोऽणंतगुणा खलु विण्णायगुणम्मि बोद्धव्वा ॥ १०६४ ॥
तम्हा उ भावसम्मं एवंविहमेव होइ नायव्वं । पसमाइलिंगजणगं निअमा एवंविहं चेव ॥ १०६५ ॥

तत्तो अ तिव्वभावा परिसुद्धो हेउ (होइ) चरणपरिणामो ।
तत्तो दुक्खविमोक्खो सासयसोक्खो तओ मोक्खो ॥ १०६६ ॥

सुअधम्मस्स परिक्खा तओ कसाईहिं होइ कायव्वा । तत्तो चरित्तधम्मो पायं हेउ (होइ) त्ति काऊणं ॥ १०६७ ॥
सुहुमो असेसविसओ सावज्जे जत्थ अत्थि पडिसेहो । रागाइविअडणसहं झाणाइ अ एस कससुद्धो ॥ १०६८ ॥
जह मणवयकाएहिं परस्स पीडा दढं न कायव्वा । झाएअव्वं च सया रागाइविवक्खजालं तु ॥ १०६९ ॥
थूलो ण सव्वविसओ सावज्जे जत्थ होइ पडिसेहो । रागाइविअडणसहं न य झाणाईवि तह (य) सुद्धो ॥ १०७० ॥
जह पंचहिं वहूएहिं व एगा हिंसा मुसं विसंवाए । इच्चाओ झाणम्मि अ झाएअव्वं अगाराइं ॥ १०७१ ॥
सइ अप्पमत्तयाए संजमजोएसु विविहभेएसु । जा धम्मिअस्स वित्ती एअं बज्झं अणुट्ठाणं ॥ १०७२ ॥

आहेवं परिचत्तो भवया णिअगोऽत्थ कम्मवाओ उ। भणिअपगाराओ खलु सहावयायम्मुवगमेणं ॥ १०४६ ॥
भण्णइ एगंतेणं अम्हाणं कम्मवाय नो इट्टो । ण य णो सहाववाओ सुअकेवलिणा जओ भणिअं ॥ १०४७॥
आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्टिअजसेणं । दूसमणिसादिवागरकप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥ १०४८ ॥
कालो सहाव निअई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता । मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं ॥ १०४९ ॥
सवेऽवि अ कालाई इअ समुदाएण साहगा भणिआ । जुज्जंति अ एमेव य सम्मं सवस्स कज्जस्स ॥१०५०॥
नवि कालाईहिंतो केवलएहिं तु जायए किंचि । इह मोग्गरंधणाइवि ता सवे समुदिया हेऊ ॥ १०५१ ॥
एत्थंपि ता सहावो इट्टो एवं तओ ण दोसो णं । सो पुण इह विन्नेओ भवत्तं चेव चित्तं तु ॥ १०५२ ॥
एअं एगंतेणं तुल्लं चिअ जइ उ सवजीवाणं । ता मोक्खोऽवि हु तुल्लो पावइ कालाइभेएणं ॥ १०५३ ॥
ण य तस्सेगंतेणं तहासहावस्स कम्ममाईहिं । जुज्जइ फले विसेसोऽभवाणवि मोक्खसंगं च ॥ १०५४ ॥
कम्माइ तस्सभावत्तणंपि नो तस्स तस्सभावत्ते । फलभेअसाहगं हंदि चिंतिअवं सुबुद्धीए ॥ १०५५ ॥
अह देसणाइ णेवंसहावओ (भो) जं तओ अभवाणं। नो खलु मोक्खपसंगो कहं तु अमत्थ तं एवं ?॥ १०५६॥
भवत्ते सइ एवं तुल्ले एअंमि कम्ममाईण । तमभवदेसणासममित्थं निअमेण दट्ठवं ॥ १०५७ ॥
अह एअदोसभया ण मयं सइ तस्स तस्सभावत्तं । एवं च अत्थओ णणु इट्टो अ मईअपक्खोत्ति ॥ १०५८ ॥
जं तमणाइसरूवं एक्कंपि हु तं अणाइमं चेव । सो तस्स तहाभावोऽवि अप्पभूओत्ति काऊण ॥ १०५९ ॥

ण य अत्थि कोइ अन्नो एत्थं हेऊ अपत्तपुव्वोत्ति । जमणादौ संसारे केण समं णप्पडि(णं सद्धिं ण पडि)जोगो १०३३
पच्छावि तस्स घडणे किं कारणमह अकारणं तं तु । निच्चं तब्भावाई कारणभावे अ णाहेऊ ॥ १०३४ ॥
तस्सवि एवमजोगा कम्मायत्ता य सव्वसंजोगा । तंपुक्कोसट्ठिईओ गंठिं जाऽणंतसो पत्तं ॥ १०३५ ॥
ण य एयभेयओ तं अन्नं कम्मं अणेण चरियत्थं । सइभावाऽणाइमया कह सम्मं कालभेएणं ? ॥ १०३६ ॥
किं अन्नेण तओ च्चिअ पायमिअं जं च कालभेएणं । एत्थवि तओऽवि हेऊ नणु सो पत्तो पुरा बहुहा ॥ १०३७ ॥
सव्वजिआणं च्चिअ जं सुत्ते गेविज्जगेसु उववाओ । भणिओ ण य सो एअं लिंगं मोत्तुं जओ भणियं ॥ १०३८ ॥
जे दंसणवावन्ना लिंगग्गहणं करिंति सामण्णे । तेसिं पिअ उववाओ उक्कोसो जाव गेविज्जा ॥ १०३९ ॥
लिंगे अ जहाजोग्गं होइ इमं सुत्तपोरिसाईअं । जं तत्थ निच्चकम्मं पन्नत्तं वीअरागेहिं ॥ १०४० ॥
एवं पत्तोऽयं खलु न य सम्मत्तं कहं तओ एअं ? । कह वेसोच्चिअ एअस्स कालभेएण हेउत्ति ॥ १०४१ ॥
भण्णइ पत्तो सो ण उ उल्लसिअं जीववीरिअं कहवि । होउल्लसिए अ तयं तंपि अ पायं तओ चेव ॥ १०४२ ॥
जह खाराईहिंतो असइंपि अपत्तवेहपरिणामो । विज्झइ तेहिंतो च्चिअ जच्चमणी सुज्झइ तओ उ ॥ १०४३ ॥

तह सुअधम्माओच्चिय असइंपि अपत्तविरिअपरिणामो ।
उल्लसई तत्तो च्चिअ भव्वो जीवो विसुज्झइ अ ॥ १०४४ ॥

तस्सेव य (वे) स सहावो जं तावइएसु तह अईएसु । सुअसंजोएसु तओ तहाविहं वीरिअं लहइ ॥ १०४५ ॥

सिस्से वा णाऊणं जोग्गयरे केइ दिट्ठिवायाई । तत्तो वा निज्जूढं सेसं ते चेव विअरंति ॥ १०१९ ॥
सम्मं धम्मविसेसो जहिअं कसछेअतावपरिसुद्धो । वण्णिज्जइ निज्जूढं एवंविहमुत्तमसुआइ ॥ १०२० ॥
पाणवहाईआणं पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो । झाणज्झयणाईणं जो अ विही एस धम्मकसो ॥ १०२१ ॥
वज्झाणुट्ठाणेणं जेण न बाहिज्जई तयं नियमा । संभवइ अ परिसुद्धं सो उण धम्मम्मि छेउत्ति ॥ १०२२ ॥
जीवाइभाववाओ बंधाइपसाहगो इहं तावो । एएहिं सुपरिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥ १०२३ ॥
एएहिं जो न सुद्धो अन्नयरंमि उ ण सुट्ठु निवडिओ । सो तारिसओ धम्मो नियमेण फले विसंवयइ ॥ १०२४ ॥
एसो उ उत्तमो जं पुरिसत्थो इत्थ वंचिओ नियमा । वंचिज्जइ सयलेसुं कल्लाणेसुं न संदेहो ॥ १०२५ ॥
एत्थ य अवंचिए ण हि वंचिज्जइ तेसु जेण तेणेसो । सम्मं परिक्खिअव्वो वुहेहिमइनिउणदिट्ठीए ॥ १०२६ ॥
कल्लाणाणि अ इहइं जाइं संपत्तमोक्खबीअस्स । सुरमणुएसु सुहाइं नियमेण सुहाणुबंधीणि ॥ १०२७ ॥
सम्मं च मोक्खबीअं तं पुण भूअत्थसद्दहणरूवं । पसमाइलिंगगम्मं सुहायपरिणामरूवं तु ॥ १०२८ ॥
तम्मि सइ सुहं नेअं अकलुसभावस्स हंदि जीवस्स । अणुबंधो अ सुहो खलु धम्मपवत्तस्स भावेण ॥ १०२९ ॥
भूअत्थसद्दहाणं च होइ भूअत्थवायगा पायं । सुअधम्माओ सो पुण पहीणदोसस्स वयणं तु ॥ १०३० ॥
जम्हा अपोरिसेअं नेगंतेणेह विज्जई वयणं । भूअत्थवायगं न य सव्वं अपहीणदोसस्स ॥ १०३१ ॥
आह तओऽवि ण नियमा जायइ भूअत्थसद्दहाणं तु । जं सोऽवि पत्तपुव्वो अणंतसो सव्वजीवेहिं ॥ १०३२ ॥

सपेऽवि उ उस्सग्गं करिंति सवे पुणोऽवि वंदंति । नासन्ने नाइदूरे गुरुवयणपडिच्छगा होंति ॥ १००५ ॥
निद्दाविगहापरिवज्जिएहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं । भत्तिबहुमाणपुवं उवउत्तेहिं सुणेअवं ॥ १००६ ॥
अहिकंखंतेहिं सुभासिआइं वयणाइं अत्थमहुराइं । विम्हिअमुहेहिं हरिसागएहिं हरिसं जणंतेहिं ॥ १००७ ॥
गुरुपरिओसगएणं गुरुभत्तीए तहेव विणएणं । इच्छिअसुत्तत्थाणं खिप्पं पारं समुवयंति ॥ १००८ ॥
वक्खाणसमत्तीए जोगं काऊण काइआईणं । वंदंति तओ जिट्ठं अण्णे पुवचिअ भणंति ॥ १००९ ॥
चोएइ जई जिट्ठो कहिंचि सुत्तत्थधारणाविकलो । वक्खाणलद्धिहीणो निरत्थयं वंदणं तम्मि ॥ १०१० ॥
अह वयपरिआएहिं लहुओऽविहु भासगो इहं जिट्ठो । रायणिअवंदणे पुण तस्सऽवि आसायणा भंते ! ॥१०११॥
जइऽवि वयमाइएहिं लहुओ सुत्तत्थधारणापडुओ । वक्खाणलद्धिमं जो सो चिअ इह घिप्पई जिट्ठो ॥ १०१२॥
आसायणावि नेवं पडुच्च जिणवयणभासगं जम्हा । वंदणगं रायणिओ तेण गुणेणंपि सो चेव ॥ १०१३ ॥
ण वयो एत्थ पमाणं ण य परिआओ उ निच्छयणएणं । ववहारओ उ जुज्जइ उभयणयमयं पुण पमाणं ॥ १०१४ ॥
निच्छयओ दुन्नेअं को भावे कम्मि वट्टई समणो ? । ववहारओ उ कीरइ जो पुवठिओ चरित्तम्मि ॥ १०१५ ॥
ववहारोऽवि हु बलवं जं छउमत्थंपि वंदई अरहा । जा होइ अणाभिन्नो जाणंतो धम्मयं एयं ॥ १०१६ ॥
एत्थ उ जिणवयणाओ सुत्तासायणबहुत्तदोसाउ । भासंतजिट्ठगस्स उ कायवं होइ किइकम्मं ॥ १०१७ ॥
वक्खाणेअवं पुण जिणवयणं णंदिमाइ सुपसत्थं । जं जम्मि जम्मि काले जावइअं भावसंजुत्तं ॥ १०१८ ॥

अह वक्खाणेअवं जहा जहा तस्स अवगमो होइ । आगमिअमागमेणं जुत्तीगम्मं तु जुत्तीए ॥ ९९१ ॥
जम्हा उ दोण्हवि इहं भणिअं पन्नवगकहणभावाणं । लक्खणमणघमईहिं पुव्वायरिएहिं आगमओ ॥ ९९२ ॥
जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे अ आगमिओ । सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥ ९९३ ॥
आणागिज्झो अत्थो आणाए चेव सो कहेयव्वो । दिट्ठंतिअ दिट्ठंता कहणविहि विराहणा इहरा ॥ ९९४ ॥
तो आगमहेउगयं सुअम्मि तह गोरवं जणंतेणं । उत्तमनिदंसणजुअं विचित्तणयगब्भसारं च ॥ ९९५ ॥
भगवंते तप्पच्चयकारि (य) गंभीरसारभणिईहिं । संवेगकरं निअमा वक्खाणं होइ कायव्वं ॥ ९९६ ॥
होंति उ विवज्जयम्मी दोसा एत्थं विवज्जयादेव । ता उवसंपन्नाणं एवं चिअ वुद्धिमं कुज्जा ॥ ९९७ ॥
कालेऽवि वितहकरणे णेगंतेणेह होइ सरणं तु । णहि एअम्मिवि काले विसाइ सुहयं अमंतजुअं ॥ ९९८ ॥
एत्थं च वितहकरणं नेअं आउट्टिआउ सव्वंपि । पावं विसाइतुल्लं आणाजोगो अ मंतसमो ॥ ९९९ ॥
ता एअम्मिवि काले आणाकरणे अमूढलक्खेहिं । सत्तीए जइअव्वं एत्थ विही हंदि एसो अ ॥ १००० ॥
मज्जण निसिज्ज अक्खा किइकम्मुस्सग्ग वंदणं जिट्ठे । भासंतो होइ जिट्ठो न उ पज्जाएण तो वंदे ॥ १००१ ॥
ठाणं पमज्जिऊणं दोन्नि निसिज्जाउ होंति कायव्वा । एक्का गुरुणो भणिआ बीआ पुण होइ अक्खाणं ॥ १००२ ॥
दो चेव मत्तगाइं खेले काइअ सदोसगस्सुचिए । एवंविहोऽवि णिच्चं वक्खाणिज्जत्ति भावत्थो ॥ १००३ ॥
जावइआ उ सुणिंती सव्वेवि हु ते तओ अ उवउत्ता । पडिलेहिऊण पोत्तिं जुगवं वंदंति भावणया ॥ १००४ ॥

छेअसुआईएसु अ सम्मग्गभावेऽवि भावजुत्तो जो। पिअधम्मऽवज्जभीरू सो पुण परिणामगो णेओ ॥९७८॥
सो उस्सग्गाईणं विसयविभागं जहट्ठिअं चेव। परिणामेइ हिअं ता तस्स इमं होइ वक्खाणं ॥ ९७९ ॥
अइपरिणामगऽपरिणामगाण पुण चित्तकम्मदोसेणं। अहियं चिअ विण्णेयं दोसुदए ओसहस्सयाणं ॥ ९८० ॥
तेसिं तओच्चिय जायइ जओ अणत्थो तओ ण तं सम्मं। तेसिं चेव हियट्ठा करिज्ज पुज्जा तहा चाहु ॥ ९८१ ॥
आमे घडे निहत्तं जहा जलं तं घडं विणासेइ। इअ सिद्धंतरहस्सं अप्पाहारं विणासेइ ॥ ९८२ ॥
न परंपरयावि तओ मिच्छाभिनिवेसभाविअमईओ। अन्नेसिंऽपिअ जायइ पुरिसत्थो सुद्धरूवो अ ॥ ९८३ ॥
अविअ तओ च्चिअ पावं तब्भावोऽणाइमंति जीवाणं। इअ मुणिऊण तयत्थं जोगाण करिज्ज वक्खाणं ॥ ९८४ ॥
उवसंपण्णाण जहाविहाणओ एव गुणजुआणंपि। सुत्तत्थाइकमेणं सुविणिच्छिअमप्पणा सम्मं ॥ ९८५ ॥
उवसंपयाय कप्पो सुगुरुसगासे गहिअसुत्तत्थो। तद्दिणगहणसमत्थेऽणुण्णाओ तेण संपज्जे ॥ ९८६ ॥
अपरिणयपरिवारं अप्परिवारं च णाणुजाणावे। गुरुमेसोऽवि सयं चिअ एतब्भावे ण धारिज्जा ॥ ९८७ ॥
संदिट्ठो संदिट्ठस्स अंतिए तत्थ मिइ परिवाओ (च्छा व)
साहू असमग्गो चोअण तिहु(गु)परि गुरुसम्मए चाओ ॥ ९८८ ॥
गुरुकम्माहिगकहणे सुजोगओ अह निवेअणं विहिणा। सुअखंधाई निअमो आइपऽणुपालणा चेव ॥९८९॥
अससामित्तं पूआ इअराविक्खाए जीअ सुहभावा। परिणमइ सुअं आइपदाणगहणं अओ चेव ॥ ९९० ॥

उट्ठेति निसिज्जाओ आयरिओ तत्थ उवविसइ सीसो । तो वंदई गुरू तं सहिओ सेसेहिं साहूहिं ॥ ९६४ ॥
भणइ अ कुण वक्खाणं तत्थ ठिओ चेव तो तओ कुणइ। णंदाइ जहासत्ती परिसं नाऊण वा जोग्गं ॥९६५॥
आयरियनिसिज्जाए उववीसणं वंदणं च तह गुरुणो । तुल्लगुणखावणट्ठा न तया दुट्ठं दुविण्हंपि ॥ ९६६ ॥
वंदंति तओ साहू उट्ठइ अ तओ पुणो णिसिज्जाओ । तत्थ निसीअई गुरू उववूहण पढममन्ने उ ॥ ९६७ ॥
धण्णो सि तुमं णायं जिणवयणं जेण सव्वदुक्खहरं । ता सम्ममिअं भवया पउंजियव्वं सया कालं ॥ ९६८ ॥
इहरा उ रिणं परमं असम्मजोगो अजोगओ अवरो । ता तह इह जइअव्वं जह एत्तो केवलं होइ ॥ ९६९ ॥
परमो अ एस हेऊ केवलनाणस्स अन्नपाणीणं । मोहावणयणओ तह संवेगाइसयभावेण ॥ ९७० ॥
एवं उववूहेउं अणुओगविसज्जणट्ठ उस्सग्गो । कालस्स पडिक्कमणं पवेअणं संघविहिदाणं ॥ ९७१ ॥
पच्छा य सोऽणुओगी पवयणकज्जम्मि निच्चमुज्जुत्तो । जोगाणं वक्खाणं करिज्ज सिद्धंतविहिणा उ ॥ ९७२ ॥
मज्झत्था वुद्धिजुआ धम्मत्थी ओघओ इमे जोगा। तह चेव पयत्थाई (य पत्ताई) सुत्तविसेसं समासज्ज ॥९७३॥
मज्झत्थाऽसग्गाहं एत्तोच्चिअ कत्थई न कुव्वंति । सुद्धासया य पायं होंति तहाऽऽसन्नभव्वा य ॥ ९७४ ॥
वुद्धिजुआ गुणदोसे सुहुमे तह वायरे य सव्वत्थ । सम्मत्तकोडिसुद्धे तत्तट्ठिइए पवज्जंति ॥ ९७५ ॥
धम्मत्थी दिट्ठत्थे हढोव्व पंकम्मि अपडिवंधाउ । उत्तारिज्जंति सुहं धन्ना अन्नाणसलिलाओ ॥ ९७६ ॥
पत्तो अ कप्पिओ इह सो पुण आवस्सगाइसुत्तस्स । जा सूअगडं ता जं जेणाधीअंति तस्सेव ॥ ९७७ ॥

ता तस्सेव हिअट्ठा तस्सीसाणमणुमोअगाणं च। तह अप्पणो अ धीरो जोगस्सऽणुजाणई एवं ॥ ९५० ॥
तिहिजोगम्मि पसत्थे गहिए काले निवेइए चेव। ओसरणमह णिसिज्जारयणं संघट्टणं चेव ॥ ९५१ ॥
तत्तो पवेइआए उवविसइ गुरू उ णिअनिसिज्जाए। पुरओ अ ठाइ सीसो सम्ममहाजायउवकरणो ॥९५२॥
पेहिंति तओ पोत्तिं तीए अ ससीसगं पुणो कायं। बारस वंदण संदिस सज्झायं पट्ठवामोत्ति ॥ ९५३ ॥
पट्ठवसु अणुण्णाए तत्तो दुअगावि पट्ठवेइत्ति। तत्तो गुरू निसीअइ इअरोऽवि णिवेअइ तयंति ॥ ९५४ ॥
पट्ठवसु अणुण्णाए तत्तो दुअगावि पट्ठवेइत्ति। तत्तो गुरू निसीअइ इअरोऽवि णिवेअइ तयंति ॥ ९५५ ॥
तत्तोऽवि दोऽवि विहिणा अणुओगं पट्ठविंति उवउत्ता। वंदित्तु तओ सीसो अणुजाणावेइ अणुओगो ॥ ९५५ ॥
तत्तोऽवि दोऽवि विहिणा अणुओगं पट्ठविंति उवउत्ता। वंदित्तु तओ सीसो अणुजाणावेइ अणुओगो ॥ ९५६ ॥
अभिमंत्तिऊण अक्खे वंदइ देवे तओ गुरू विहिणा। ठिअ एव नमोक्कारं कड्ढइ नंदिं च संपुन्नं ॥ ९५६ ॥
अभिमंत्तिऊण अक्खे वंदइ देवे तओ गुरू विहिणा। ठिअ एव नमोक्कारं कड्ढइ नंदिं च संपुन्नं ॥ ९५७ ॥
इअरोऽवि ठिओ संतो सुणेइ पोत्तीइ ठइअमुहकमलो। संविग्गो उवउत्तो अच्चंतं सुद्धपरिणामो ॥ ९५७ ॥
इअरोऽवि ठिओ संतो सुणेइ पोत्तीइ ठइअमुहकमलो। संविग्गो उवउत्तो अच्चंतं सुद्धपरिणामो ॥ ९५८ ॥
तो कड्ढिऊण नंदिं भणइ गुरू अह इमस्स साहुस्स। अणुओगं अणुजाणे खमासमणाण हत्थेणं ॥ ९५९ ॥
दव्वगुणपज्जवेहि अ एस अणुन्नाउ वंदिउं सीसो। संदिसह किं भणामो ? इच्चाइ जहेव सामइए ॥ ९६० ॥
नवरं सम्मं धारय अन्नेसिं तह पवेअह भणाइ। इच्छामणुसट्ठीए सीसेण कयाइ आयरिओ ॥ ९६१॥
तिपयक्खिणीकए तो उवविसए गुरु कए अ उस्सग्गे। सणिसेज्जत्तिपयक्खिण वंदण सीसस्स चावारो ॥ ९६२ ॥
उवविसइ गुरुसमीवे सो साहइ तस्स तिन्नि वाराओ। आयरियपरंपरएण आगए तत्थ मंतपए ॥ ९६३ ॥
देइ तओ मुट्ठीओ अक्खाणं सुरभिगंधसहिआणं। वड्ढंतिआओ सोऽवि अ उवउत्तो गिण्हई विहिणा ॥ ९६३ ॥

सो थेवओ वराओ गंभीरपयत्थभणिइमग्गंमि । एगंतेणाकुसलो किं तेसि कहेइ सुहुमपयं ? ॥ ९३८ ॥
जंकिंचिभासगं दट्ठूण वुहाण होअवण्णत्ति । पवयणधरो उ तम्मी इअ पवयणखिंसमो णेआ ॥ ९३९ ॥
सीसाण कुणइ कह सो तहाविहो हंदि नाणमाईणं । अहिआहिअसंपत्तिं संसारुच्छेअणिं परमं ? ॥ ९४० ॥
अप्पत्तणओ पायं हेआइविवेगविरहओ वावि । नहु अन्नओवि सो तं कुणइ अ मिच्छाभिमाणाओ ॥ ९४१ ॥
तो तेऽवि तहाभूआ कालेणवि होंति नियमओ चेव । सेसाणवि गुणहाणी इअ संताणेण विन्नेआ ॥ ९४२ ॥
नाणाईणमभावे होइ विसिट्ठाणऽणत्थगं सव्वं । सिरतुंडमुंडणाइवि विवज्जयाओ जहऽन्नेसिं ॥ ९४३ ॥
ण य समइविगप्पेणं जहा तहा कयमिणं फलं देइ । अवि आगमाणुवाया रोगचिगिच्छाविहाणं व ॥ ९४४ ॥
इय दव्वलिंगमित्तं पायमगीआओ जं अणत्थफलं । जायइ ता विण्णेओ तित्थुच्छेओ अ भावेणं ॥ ९४५ ॥

कालोचिअसुत्तत्थे तम्हा सुविणिच्छियस्स अणुओगो ।
नियमाऽणुजाणिअव्वो न सवणओ चेव जह भणिअं ॥ ९४६ ॥
जह जह बहुस्सुओ सम्मओ अ सीसगणसंपरिवुडो अ ।
अविणिच्छिओ अ समए तह २ सिद्धंतपडिणीओ ॥ ९४७ ॥

सवण्णूहिँ पणीयं सो उत्तममइसएण गंभीरं । तुच्छकहणाए हिट्ठा सेसाणवि कुणइ सिद्धंतं ॥ ९४८ ॥
अविणिच्छिओ ण सम्मं उस्सग्गववायजाणओ होइ।अविसयपओगओ सिं सो सपरविणासओ निअमा॥९४९॥

मरुदेविसामिणीए ण एयमेअंति सुपए जेणं । सा खलु किल थंदणिजा अचंतं थावरा सिद्धा ॥ १२४ ॥
सधमिणं अच्छेरगभूअं पुण भासिअं इमं सुत्ते । अट्ठेऽवि एयमाई भणिया इह पुवसूरीहिं ॥ १२५ ॥
उवसग्ग गब्भहरणं इत्थीतित्थं अभाविआ परिसा । कण्हस्स अवरकंका अवयरणं चंदसूराणं ॥ १२६ ॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती चमरुप्पाओ अ अट्ठसय सिद्धा । असंजयाण पूआ दसवि अणंतेण कालेणं ॥ १२७ ॥
नणु नेअसिद्धं पढिअं सधं उवलक्खणं तु एआई । अच्छेरगभूअंपिअ भणिअं नेअंपि अणवरयं ॥ १२८ ॥
तह भवत्ताऽभावा पढममणुवद्दणाद्वकालाओ । इत्तरगुणजोगा खलु न सवसाहारणं एअं ॥ १२९ ॥
इअ चरणमेव परमं निधाणपसाहणंति सिद्धमिणं । तब्भावेऽहिगयं खलु सेसंपि कयं पसंगेणं ॥ १३० ॥
एवं वयणस्स ठवणा समणाणं पविआ समासेणं । अणुओगगणाणुन्नं अओ परं संपवक्खामि ॥ १३१ ॥
जम्हा वयसंपन्ना कालोचिअगहिअसयलसुत्तत्था । अणुओगाणुन्नाए जोगा भणिआ जिणिंदेहिं ॥ १३२ ॥
इहरा उ मुसावाओ पवयणखिंसा य होइ लोगम्मि । सेसाणवि गुणहाणी तित्थुच्छेओ अ भावेणं ॥ १३३ ॥
अणुओगो वक्खाणं जिणवरवयणस्स तस्सऽणुण्णाओ । कायवमिणं भवया विहिणा सइ अप्पमत्तेणं ॥१३४॥
कालोचिअतयभावे वयणं निविसयमेवमेअंति । इग्गयखुअंमि जहिमं दिज्जाहि इमाइं रयणाइं ॥ १३५ ॥
किंपि अहिअंपि इमं णालंबणमो गुणेहिं णकआणं । एत्थं कुसाइतुच्छं अइप्पसंगा मुसावाओ ॥ १३६ ॥
अणुओगी लोगाणं किल संसयणासओ दढं होइ । तं अहिअंति तो ते पायं कुसलाभिगमहेउं ॥ १३७ ॥

पायं च तेण विहिणा होइ इमंति निअमो कओ सुत्ते । इहरा सामाइअमित्तओऽवि सिद्धिं गयाऽणंता ॥९१०॥
पुव्विं असंतगंपि अ विहिणा गुरुगच्छमाइसेवाए । जायमणेगेसि इमं पच्छा गोविंदमाईणं ॥ ९११ ॥
एअं च उत्तमं खलु निव्वाणपसाहणं जिणा बिंति । जं नाणदंसणाणवि फलमेअं चेव निद्दिट्ठं ॥ ९१२ ॥
एएण उ रहिआइं निच्छयओ नेअ ताइं ताइंपि । सफलस्स साहगत्ता पुव्वायरिआ तहा चाहु ॥ ९१३ ॥
निच्छयनअस्स चरणायविघाए नाणदंसणवहोऽवि । ववहारस्स उ चरणे हयम्मि भयणा उ सेसाणं ॥९१४॥
णणु दंसणस्स सुत्ते पाहन्नं जुत्तिओ जओ भणिअं। सिज्झंति चरणरहिआ दंसणरहिआ न सिज्झंति ॥९१५॥
एवं दंसणमेव उ निव्वाणपसाहगं इमं पत्तं । निअमेण जओ इमिणा इमस्स तब्भावभावित्तं ॥ ९१६ ॥
एअस्स हेउभावो जह दीणारस्स भूइभावम्मि । इअरेअरभावाओ न केवलाणंतरत्तेणं ॥ ९१७ ॥
इअ दंसणऽप्पमाया सुद्धीओ सावगाइसंपत्ती । नउ दंसणमित्ताओ मोक्खोत्ति जओ सुए भणियं ॥ ९१८ ॥
सम्मत्तंमि उ लद्धे पलिअपुहुत्तेण सावओ होज्जा । चरणोवसमखयाणं सागर संखंतरा होंति ॥ ९१९ ॥
एवं अप्परिवडिए सम्मत्ते देवमणुअजम्मेसुं । अन्नयरसेढिवज्जं एगभवेणं व सव्वाइं ॥ ९२० ॥
नेवं चरणाभावे मोक्खत्ति पडुच्च भावचरणं तु । दव्वचरणम्मि भयणा सोमाईणं अभावाओ ॥ ९२१ ॥
तेसिंपि भावचरणं तहाविहं दव्वचरणपुव्वं तु । अन्नभवाविक्खाए विन्नेअं उत्तमत्तेणं ॥ ९२२ ॥
तह चरमसरीरत्तं अणेगभवकुसलजोगओ निअमा । पाविज्जइ जं मोहो अणाइमंतोत्ति दुविजओ ॥ ९२३ ॥

मोत्तूण मासकप्पं अन्नो सुत्तम्मि नत्थि उ विहारो । ता कहमाइग्गहणं? कज्जे ऊणाइभावाओ ॥ ८९६ ॥
एअंपि गुरुविहाराओ विहारो सिद्ध एव एअस्स । भेएण कीस भणिओ? मोहजयट्ठा धुवो जेणं ॥ ८९७ ॥
इयरेसि कारणेणं नीआवासोऽवि दुवओ हुज्जा । भावेण उ गीआणं न कयाइ तओ विहिपराणं ॥ ८९८ ॥
गोअरमाईआणं एत्थं परिअत्तणं तु मासाओ । जहसंभवं निओगो संथारम्मी विही भणिओ ॥ ८९९ ॥
एअस्सवि पडिसेहो निअमेणं दुवओवि मोहुदए । जइणो विहारखावणफलमित्थ विहारगहणं तु ॥ ९०० ॥
आईओच्चिअ पडिबंधवज्जणत्थं च हंदि सेहाणं । विहिफासणत्थमहवा सेहविसेसाइविसयं तु ॥ ९०१ ॥ दारं
सज्झायाईसंतो तित्थयरकुलाणुरूवधम्माणं । कुज्जा कहं जईणं संवेगविवड्ढणं विहिणा ॥ ९०२ ॥
जिणधम्मसुट्ठिआणं सुणिज्ज चरिआइं पुव्वसाहूणं । साहिज्जइ अन्नेसिं जहारिहं भावसाराइं ॥ ९०३ ॥
जयवं दसन्नभद्दो सुदंसणो थूलभद्द वइरो अ । सफलीकयगिहचाया साहू एवंविहा होंति ॥ ९०४ ॥
अणुमोएमो तेसिं भगवंताण चरिअं निरइआरं । संवेगबहुलयाए एव विसोहिज्ज अप्पाणं ॥ ९०५ ॥
इअ अप्पणो थिरत्तं तक्कुलवत्ती अहंति बहुमाणा । तद्धम्मसमायरणं एवंपि इमं कुसलमेव ॥ ९०६ ॥
अण्णेसिंपि अ एवं थिरत्तमाईणि होंति निअमेणं । इह सो संताणो खलु विकहामहणो मुणेअव्वो ॥ ९०७ ॥
विस्सोअसियारहिओ एव पयत्तेण चरणपरिणामं । रक्खिज्ज दुल्लहं खलु लद्धमलद्धं व पाविज्जा ॥ ९०८ ॥
णो उवठावणएच्चिअ निअमा चरणंतिदुवओ जेण । साऽभव्वाणवि भणिआ छउमत्थगुरूण सफला य ॥ ९०९ ॥

तस्सेव यानिलानलभुअगेहिंतोऽवि पासओ सम्मं । पगई दुग्गिज्झस्स व मणस्स दुग्गिज्झयं चेव ॥ ८८३ ॥
जच्चाइगुणविभूसिअवरधवणिरविक्खयं च भाविज्जा । तस्सेव य अइनिअडीपहाणयं चेव पावस्स ॥ ८८४ ॥
चिंतेइ कज्जमन्नं अण्णं संठवइ भासए अन्नं । पाढवइ कुणइमन्नं मायग्गामो निअडिसारो ॥ ८८५ ॥
तस्सेव य झाएज्जा गुज्झो पयईअ णीयगामित्तं । सइसोक्खमोक्खपावगसज्झाणरिवुत्तणं तहय ॥ ८८६ ॥
अच्चुग्गपरस्ससंतावजणगनिरयाणलेगहेउत्तं । तत्तो अ विरत्ताणं इहेव पसमाइलाभगुणं ॥ ८८७ ॥
परलोगम्मि अ सइ तव्विरागबीजाओ चेव भाविज्जा । सारीरमाणसाणेगदुक्खमोक्खं सुसोक्खं च ॥८८८॥
भावेमाणस्स इमं गाढं संवेगसुद्धजोगस्स । खिज्जइ किलिट्ठकम्मं चरणविसुद्धी तओ निअमा ॥ ८८९ ॥
जो जेणं बाहिज्जइ दोसेणं वेयणाइविसएणं । सो खलु तस्स विवक्खं तव्विसयं चेव भाविज्जा ॥ ८९० ॥
अत्थम्मि रागभावे तस्सेव उवज्जणाइसंकेसं । भाविज्ज धम्महेउं अभावमो तह य तस्सेव ॥ ८९१ ॥
दोसम्मि अ सइ मित्तिं माइत्ताई अ सव्वजीवाणं । मोहम्मि जहाथूरं वत्थुसहावं सुपणिहाणं ॥ ८९२ ॥
एत्थ उ वयाहिगारा पायं तेसि पडिवक्खमो विसया । थाणं च इत्थिआओ तेसिंति विसेस उवएसो ॥८९३॥

जह चेव असुहपरिणामओ य दृढ बंधओ हवइ जीवो ।
तह चेव विवक्खंमी खवओ कम्माण विन्नेओ ॥ ८९४ ॥ दारं

अप्पडिबद्धो अ सया गुरूवएसेण सव्वभावेसु । मासाइविहारेणं विहरिज्ज जहोचिअं नियमा ॥ ८९५ ॥

एव पमत्ताणंपि हु पइ अइआरं विवक्खदेहकणं । आसेवणे ण दोसोत्ति धम्मचरणं जहाऽभिहिअं ॥ ८७० ॥
सम्मं कयपडिआरं वत्थुअंपि विसं न मारए जह उ । एवंपि अ विवरीअं मारए एसोवमा एत्थ ॥ ८७१ ॥
जे पडिआरविरहिआ पमाइणो तेसि पुण तयं विंति । दुग्गइअसरारणा अणिट्ठफलयंपिमं भणिअं ॥८७२॥
सुपइआराणं विअ मणुआइसु असुहमो फलं नेअं । इअरेसु अ निरयाइसु दुक्खं तं अवहा कत्तो ? ॥८७३॥
एवं विआरणाए सइ संवेगाओ चरणपरिवुड्ढी ।
इहरा संमुच्छिमपाणितुल्लया होइ लोगा य ॥ ८७४ ॥ दारं
एवं पवट्टमाणस्स कम्मदोसा य होज्ज इत्थीसु । रागोऽहवा विणा तं चिइआणुट्ठाणओ चेव ॥ ८७५ ॥
सम्मं भाचेअव्वाइं असुहमणाइत्थिअंकुसमाइं । विसयविरागमूआइं णवरं ठाणाइं एआइं ॥ ८७६ ॥
विजणम्मि सयाणाइसु ठिएण सीअलयसाहुसहिएणं । भावेअव्वं पढमं अथिरत्तं जीवलोअस्स ॥ ८७७ ॥
जीअं जोव्वणमिद्धी पिअसंजोगाइ अथिरं सव्वं । विसमपवणाहयकुसग्गजलबिंदुणा सरिसं ॥ ८७८ ॥
विसया य दुक्खरूवा विंताग्गासबहुदुक्खसंजणणा । माइंदजालसरिसा किंपागफलोवमा पावा ॥ ८७९ ॥
विसया य दुक्खरूवा चिंतावासबहुदुक्खसंजणणा । मंसरुहिरसोणिअणुरीसपुण्णं च कंकालं ॥ ८८० ॥
तत्तो अ माइगामस्स निआणं रुहिरमाइ भाविज्जा । कलमलगमंससोणिअपुरीसपुण्णं च कंकालं ॥ ८८१ ॥
तस्सेव य सुमरागाभावं सइ तम्मि तए विचिंतिज्जा । संझब्भगाण व सया निसग्गचलरागयं चेव ॥ ८८२ ॥
असदारंभाण तहा सव्वेसिं लोगगरहणिज्जाणं । परलोअवेरिआणं कारणयं चेव जत्तेणं ॥ ८८२ ॥

एएण जंति केई नाणसणाई दुहंपि (ति) मोक्खंगं । कम्मविवागत्तणओ भणंति एअंपि पडिसिद्धं ॥ ८५६ ॥
जं इय इमं न दुक्खं कम्मविवागोऽवि सव्वहा णेवं। खाओवसमिअभावे एअंति जिणागमे भणिअं ॥८५७॥
खंताइ साहुधम्मे तवगहणं सो खओवसमिअम्मि । भावम्मि विनिद्दिट्ठो दुक्खं चोदइअगे सव्वं ॥ ८५८ ॥
ण य कम्मविवागोऽविहु सव्वोऽविहु सव्वहा ण मोक्खंगं। सुहसंबंधी जम्हा इच्छिज्जइ एस समयम्मि ॥८५९॥
जे केइ महापुरिसा धम्माराहणसहा इहं लोए । कुसलाणुबंधिकम्मोदयाइओ ते विनिद्दिट्ठा ॥ ८६० ॥
न कयाइ खुद्दसत्ता किलिट्ठकम्मोदयाओ संभूआ । विसकंटगाइतुल्ला धम्मम्मि दढं पयट्टंति ॥ ८६१ ॥
कुसलासयहेऊओ विसिट्ठसुहहेउओ अ णिअमेणं । सुद्धं पुन्नफलं चिअ जीवं पावा णिअत्तेइ ॥ ८६२ ॥
अलमित्थ पसंगेणं वज्झंपि तवोवहाणमो एवं । कायव्वं बुद्धिमया कम्मक्खयमिच्छमाणेणं ॥ ८६३ ॥
अब्भिंतरं तु पायं सिद्धं सव्वेसिमेव उ जईणं । एअस्स अकरणं पुण पडिसिद्धं सव्वभावेण ॥ ८६४ ॥ दारं
सम्मं विआरिअव्वं अत्थपदं भावणापहाणेणं । विसए अ ठाविअव्वं बहुस्सुअगुरुसयासाओ ॥ ८६५ ॥
जइ सुहुमइआराणं बंभीपमुहाइफलनिआणाणं । जं गरुअं फलमुत्तं एअं कह घडइ जुत्तीए ? ॥ ८६६ ॥
सइ एअम्मि अ एवं कहं पमत्ताण धम्मचरणं तु ? । अइआरासयभूआण हंदि मोक्खस्स हेउत्ति ॥८६७॥
एवं च घडइ एयं पवज्जिउं जो तिगिच्छमइआरं। सुहुमंपि कुणइ सो खलु तस्स विवागम्मि अइरोद्दो ॥८६८॥
पडिवक्खज्झवसाणं पाएणं तस्स खवणहेऊवि । णालोअणाइमित्तं तेसिं ओघेण तब्भावा ॥ ८६९ ॥

किं पुण अवसेसेहिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं । होइ न उज्जमिअवं सपच्चवायम्मि माणुस्से ? ॥ ८४२ ॥
वयरक्खणं परं खलु तवोवहाणम्मि जिणवरा विंति । एत्तो उ गुणविवड्ढी सम्मं निअमेण मोक्खफला ॥ ८४३ ॥
सुहजोगवुड्ढिजणयं सुहज्झाणसमन्निअं अणसणाई । जमणासंसं तं खलु तवोवहाणं मुणेअवं ॥ ८४४ ॥
अणसणमूणोअरिआ वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ । कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होई ॥ ८४५ ॥
पायच्छित्तं विणओ वेआवच्चं तहेव सज्झाओ । झाणं उस्सग्गोऽविअ अब्भिंतरओ उ नायवो ॥ ८४६ ॥
नो अणसणाइविरहा पाएण चएइ संपयं देहो । चिअमंससोणिअत्तं तम्हा एअंपि कायवं ॥ ८४७ ॥
चिअमंससोणिअस्स उ असुहपवित्तीएॅ कारणं परमं । संजायइ मोहुदओ सहकारिविसेसजोएणं ॥ ८४८ ॥
सइ तम्मि विवेगीवि हु साहेइ ण निअमओ निअं कज्जं । किं पुण तेण विहूणो अदीहदरिसी अ तस्सेवी? ॥८४९॥
तम्हा उ अणसणाइवि पीडाजणगंपि ईसि देहस्स । बंभं व सेविअवं तवोवहाणं सया जइणा ॥ ८५० ॥
सिअ णो सुहासयाओ सुओवउत्तस्स मुणिअतत्तस्स । बंभंमि होइ पीडा संवेगाओ अ भिक्खुस्स ॥ ८५१ ॥
तुल्लमिअमणसणाओ न य तं सुहज्झाणबाहगंपि इहं । कायवंति जिणाणा किंतु ससत्तीएॅ जइअवं ॥ ८५२ ॥
ता जह न देहपीडा ण यावि चिअमंससोणिअत्तं तु । जह धम्मज्झाणवुड्ढी तहा इमं होइ कायवं ॥ ८५३ ॥
पडिवज्जइ अ इमं खलु आणाआराहणेण भवस्स । सुहभावहेउभावं कम्मखयउवसमभा(भ)वेण ॥ ८५४ ॥
एअं अणुभवसिद्धं जइमाईणं विसुद्धभावाणं । भावेणऽण्णेसिंपि अ रायाणिदेसकारीणं ॥ ८५५ ॥

अंतोनिअंसणी पुण लीणा कडि जाव अद्धजंघाओ। बाहिरिआ जा खलुगा कडीइ दोरेण पडिबद्धा ॥८२८॥
छाएइ अणुकुईए गंडे पुण कंचुओ असीविअओ। एमेव य उक्कच्छिय सा णवरं दाहिणे पासे ॥ ८२९ ॥
वेकच्छिआ उ पट्टो कंचुअमुक्कच्छिअं च छाइंती। संघाडीओ चउरो तत्थ दुहत्था उवसयम्मि ॥ ८३० ॥
दोन्नि तिहत्थायामा भिक्खट्ठा एक्क एक्क उच्चारे। ओसरणे चउहत्था निसण्णपच्छायणे मसिणा ॥ ८३१ ॥
खंधेगरणी चउहत्थवित्थडा वायविहुयरक्खट्ठा। दारं। खुज्जकरणीवि कीरइ रूववईए कुडहहेऊ ॥ ८३२ ॥
संघाइमे परो वा सव्वोऽवेसो समासओ उवही। पासगबद्धमझुसिरो जं वाऽऽइण्णं तयं णेअं ॥ ८३३ ॥
पीढग निसिज्ज दंडग पमज्जणी घट्टए डगलमाई। पिप्पलग सूई नहरणि सोहणगदुगं जहण्णो उ ॥ ८३४ ॥
वासत्ताणे पणगं चिलिमिणिपणगं दुगं च संथारे। दंडाईपणगं पुण मत्तगतिग पायलेहणिआ ॥ ८३५ ॥
चम्मतियं पट्टदुगं नायव्वो मज्झिमो उवहि एसो। अज्जाण वारओ पुण मज्झिमओ होइ अइरित्तो॥ ८३६ ॥
अक्खग संथारो वा एगमणेगंगिओ अ उक्कोसो। पोत्थगपणगं फलगं उक्कोसोवग्गहो सव्वो ॥ ८३७ ॥
ओहेण जस्स गहणं भोगो पुण कारणा स ओहोही। जस्स उ दुगंपि निअमा कारणओ सो उवग्गहिओ ॥८३८॥
मुच्छावहिआणेसो सम्मं चरणस्स साहगो भणिओ। जुत्तीए इहरा पुण दोसा इत्थंपि आणाई ॥ ८३९ ॥ दारं।
कायव्वं च मइमया सत्तऽणुरूवं तवोवहाणंति। सुत्तभणिएण विहिणा सुपसत्थं जिणवराइण्णं ॥ ८४० ॥
तित्थयरो चउनाणी सुरमहिओ सिज्झिअव्वय धुवम्मि। अणिगूहिअबलविरिओ तवोवहाणम्मि उज्जमइ ॥८४१॥

बत्तीसंगुलदीहं चउवीसं अंगुलाइं दंडो से । सेस दसा पडिपुण्णं रयहरणं होइ माणेणं ॥ ८१४ ॥
आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीअणतुअट्टसंकोए । पुव्विं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥ ८१५ ॥
चउरंगुलं विहत्थी एअं मुहणंतगस्स उ पमाणं । बीओवि अ आएसो मुहप्पमाणाउ निप्फन्नं ॥ ८१६ ॥
संपातिमरयरेणूपमज्जणट्ठा वयंति मुहपोत्ती । णासं मुहं च बंधइ तीए वसहीं पमज्जंतो ॥ ८१७ ॥
जो मागहओ पत्थो सविसेसयरं तु मत्तगपमाणं । दोसुवि दव्वग्गहणं वासावासे अ अहिगारो ॥ ८१८ ॥
सूवोदणस्स भरिओ दुगाउअद्धाणमागओ साहू । भुंजइ एगट्ठाणे एअं किर मत्तगपमाणं ॥ ८१९ ॥
आयरिए अ गिलाणे पाहुणए दुल्लभे असंथरणे । संसत्तभत्तपाणे मत्तयभोगो अणुन्नाओ ॥ ८२० ॥
दुगुणो चउग्गुणो वा हत्थो चउरस्स चोलपट्टो उ । थेरजुवाणाणऽट्ठा सण्हे थुल्लम्मि अ विभासा ॥ ८२१ ॥
वेउव्वऽवावडे वाइए अ ही खद्धपजणणे चेव । तेसिं अणुग्गहट्ठा लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ ॥ ८२२ ॥
पत्ताईण पमाणं दुहावि जह वण्णिअं तु थेराणं । मोत्तूण चोलपट्टं तहेव अज्जाण दट्ठव्वं ॥ ८२३ ॥
कमढपमाणं उदरप्पमाणओ संजईण विण्णेअं । सइग्गहणं पुण तस्सा लहुसगदोसा इमासिं तु ॥ ८२४ ॥
अह उग्गहणंतग णावसंठिअं गुज्झदेसरक्खट्ठा । तं पुण सरूवमाणे घणमसिणं देहमासज्ज ॥ ८२५ ॥
पट्टोवि होइ तासिं देहपमाणेण चेव विण्णेओ । छायंतोग्गहणंतग कडिबंधो मल्लकच्छा व ॥ ८२६ ॥
अद्धोरुगोऽवि ते दोऽवि गिण्हिउं छायए कडीभागं । जाणुपमाणा चलणी असीविआ लंखिआए व ॥८२७॥

पायपमज्जणहेउं केसरिआ इत्थ होइ नायव्वा । पडलसरूवपमाणाइ संपयं संपवक्खामि ॥ ८०१ ॥

जेहिं सविआ ण दीसइ अंतरिणो तारिसा भवे पडला ।
तिण्णि व पंच व सत्त व कयलीपत्तोवमा सुहुमा (लहुया) ॥ ८०२ ॥

गिम्हासु तिन्नि पडला चउरो हेमंत पंच वासासु । उक्कोसगा उ एए एत्तो पुण मज्झिमे वोच्छं ॥ ८०३ ॥
गिम्हासु हुंति चउरो पंच य हेमंति छच्च वासासु । एए खलु मज्झिमगा एत्तो उ जहन्नए वोच्छं ॥ ८०४ ॥
गिम्हासु पंच पडला छप्पुण हेमंति सत्त वासासु । तिविहम्मि कालछेए पायावरणा भवे पडला ॥ ८०५ ॥
अड्ढाइज्जा हत्था दीहा वत्तीसअंगुला रुंदा । विइअं पडिग्गहाओ ससरीराओ उ निप्फन्नं ॥ ८०६ ॥
पुप्फफलोदगरयरेणुसउणपरिहार एयरक्खट्ठा । लिंगस्स य संवरणे वेओदयरक्खणे पडला ॥ ८०७ ॥
माणं तु रयत्ताणे भाणपमाणेण होइ निप्फन्नं । पायाहिणं करिंतं मज्झे चउरंगुलं कमइ ॥ ८०८ ॥
मूसगरयउक्करे वासे सिण्हा रए अ रक्खट्ठा । होंति गुणा रयताणे एवं भणिआ जिणिंदेहिं ॥ ८०९ ॥
छक्कायरक्खणट्ठा पायग्गहणं जिणेहिं पन्नत्तं । जे अ गुणा संभोगे हवंति ते पायगहणेऽवि ॥ ८१० ॥
अतरंतबालवुड्ढा सेहाऽएसा गुरू असहुवग्गो । साहारणोग्गहालद्धिकारणा पायगहणं तु ॥ ८११ ॥
कप्पा आयपमाणा अड्ढाइज्जा उ आयया हत्था । दो चेव सुत्तिआ उन्निओ अ तइओ मुणेयव्वो ॥ ८१२ ॥
तणगहणानलसेवानिवारणा धम्मसुक्कझाणट्ठा । दिट्ठं कप्पग्गहणं गिलाणमरणट्ठया चेव ॥ ८१३ ॥

मज्झो पट्टगमत्तगसहिओ एसेव थेराणं ॥ ७८७ ॥
पडलाइँ रयत्ताणं पत्तावंधो जिणाण रयहरणं । मज्झो पट्टगमत्तगसहिओ एसेव थेराणं ॥ ७८८ ॥
उक्कोसो अट्ठविहो मज्झिमओ होइ तेरसविहो उ । अवरो चउव्विहो खलु अज्जाणं होइ विण्णेओ ॥ ७८९ ॥
तिण्णेव य पच्छागा अब्भिंतरबाहिणिवसणी चेव । संघाडि खंधकरणी पत्तं उक्कोस उवहिम्मि ॥ ७९० ॥
पत्तावंधो पडला रयहरणं मत्त कमढ रयताणं । उग्गहपट्टो अड्ढोरु चलणि उक्कच्छिवेकच्छी ॥ ७९१ ॥
मुहपोत्ती केसरिआ पत्तट्ठवणं च गोच्छओ चेव । एसो चउव्विहो खलु अज्जाण जहण्णओ उवही ॥ ७९२ ॥
तिन्नि विहत्थी चउरंगुलं च भाणस्स मज्झिम पमाणं । एत्तो हीण जहन्नं अइरेगयरं तु उक्कोसं ॥ ७९३ ॥
इणमन्नं तु पमाणं णिअगाहाराओँ होइ निप्फन्नं । कालप्पमाणसिद्धं उअरपमाणेण य वयंति ॥ ७९४ ॥
उक्कोसतिसामासे दुगाउअद्धाणमागओ साहू । चउरंगुलूण भरिअं जं पज्जत्तं तु साहुस्स ॥ ७९५ ॥
एवं(यं) चेव पमाणं सविसेसयरं अणुग्गहपवत्तं । कंतारे दुब्भिक्खे रोहगमाईसु भइअव्वं ॥ ७९६ ॥
वेआवच्चकरो वा णंदीभाणं धरे उवग्गहिअं । सो खलु तस्स विसेसो पमाणजुत्तं तु सेसाणं ॥ ७९७ ॥
दिज्जाहि भाणपूरं तु रिद्धिमं कोइ रोहमाईसु । ताहियं तस्सुवओगो सेसं कालं पडिक्कुट्ठो ॥ ७९८ ॥
पत्ताबंधपमाणं भाणपमाणेण होइ कायव्वं । जह गंठिम्मि कयम्मी कोणा चतुरंगुला होंति ॥ ७९९ ॥
पत्तगठवणं तह गोच्छओ अ पायपडिलेहणी चेव । तिण्हंपि ऊ पमाणं विहत्थि चउरंगुलं चेव ॥ ८०० ॥
रयमाइरक्खणट्ठा पत्ताबंधो अ पत्तठवणं च । होइ पमज्जणहेउं तु गोच्छओ भाणवत्थाणं ॥ ८०१ ॥

तिण्णेव य पच्छागा रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ती। एसो दुवालसविहो उवही जिणकप्पियाणं तु ॥ ७७३ ॥
बारसविहोऽवि एसो उक्कोस जिणाण न उण सव्वेसिं। एसेव होइ निअमा पकप्पभासे जओ भणिअं ॥७७४॥
बिअतिअचउक्कपणगं नवदसएक्कारसेव बारसगं। एए अट्ठ विअप्पा उवहिंमि उ होंति जिणकप्पे ॥७७५॥
रयहरणं मुहपोत्ती दुविहो कप्पेक्कजुत्त तिविहो उ। रयहरणं मुहपोत्ती दुकप्प एसो चउद्धा उ ॥ ७७६ ॥
तिण्णेव य पच्छागा रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ती। पाणिपडिग्गहिआणं एसो उवही उ पंचविहो ॥ ७७७ ॥
पत्तगधारीणं पुण णवाइभेया हवंति नायव्वा। पुव्वुत्तोवहिजोगो जिणाण जा बारसुक्कोसो ॥ ७७८ ॥
एए चेव दुवालस मत्तग अइरेग चोलपट्टो अ। एसो अ चोद्दसविहो उवही पुण थेरकप्पंमि ॥ ७७९ ॥
पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिआ। पडलाइँ रयत्ताणं गोच्छओ पायणिज्जोगो ॥ ७८० ॥
एए चेव उ तेरस अभिन्नरूवा हवंति विण्णेआ। उवहिविसेसा निअमा चोद्दसमे कमढए चेव ॥ ७८१ ॥
उग्गहऽणंतगपट्टो अड्ढोरुअ चलणिआ य बोद्धव्वा। अब्भिंतरबाहिणिअंसणी अ तह कंचुए चेव ॥ ७८२ ॥
ओकच्छिअ वेकच्छिअ संघाडी चेव खंधकरणी अ। ओहोवहिम्मि एए अज्जाणं पण्णवीसं तु ॥ ७८३ ॥
एसो पुण सव्वेसिं जिणाइआणं तिहा भवे उवही। उक्कोसगाइभेओ पच्छित्ताईण कज्जम्मि ॥ ७८४ ॥
उक्कोसओ चउद्धा चउ छद्धा होइ मज्झिमो उवही। चउहा चेव जहण्णो जिणथेराणं तयं वोच्छं ॥ ७८५ ॥
तिन्नेव य पच्छागा पडिग्गहो चेव होइ उक्कोसो। गोच्छय पत्तगठवणं मुहणंतग केसरि जहण्णो ॥ ७८६ ॥

एसण गवेसणऽण्णेसणा य गहणं च होंति एगट्ठा । आहारम्मिह पगया तीएँ य दोसा इमे छुंति ॥ ७६१ ॥

संकिअ मक्खिअ णिक्खित्त पिहिअ साहरिअ दायगुम्मीसे ।
अपरिणय लित्त छड्डिअ एसणदोसा दस भवंति ॥ ७६२ ॥
कम्माइ संकिइ (संकइ) तयं मक्खिअमुदगाइणा उ जं जुत्तं ।
णिक्खित्तं सच्चित्ते पिहिअं तु फलाइणा थइअं ॥ ७६३ ॥

मत्तगगयं अजोग्गं पुढवाइसु छोढु देइ साहरिअं । दायग बालाईआ अजोग बीजाइ उम्मीसं ॥ ७६४ ॥
अपरिणयं दव्वं चिअ भावो वा दोण्ह दाण एगस्स । लित्तं वसाइणा छड्डिअं तु परिसाडणावंतं ॥ ७६५ ॥
एवं बायालीसं गिहिसाहूभयसमुब्भवा दोसा । पंच पुण मंडलीए णेआ संजोअणाईआ ॥ ७६६ ॥
संजोअणा पमाणे इंगाले धूम कारणे चेव । उवगरणभत्तपाणे सबाहिरब्भंतरा पढमा ॥ ७६७ ॥
बत्तीसकवल माणं रागद्दोसेहिं धूमइंगालं । वेआवच्चाईआ कारणमविहिम्मि अइयारो ॥ ७६८ ॥ दारं
उवगरणंपि धरिज्जा जेण न रागस्स होइ उप्पत्ती । लोगम्मि अ परिवाओ विहिणा य पमाणजुत्तं तु ॥ ७६९ ॥
दुविहं उवहिपमाणं गणणपमाणं पमाणमाणं च । जिणमाइआण गणणापमाणमेअं सुए भणिअं ॥ ७७० ॥
जिणा बारसरूवाणि, थेरा चोद्दसरूविणो । अज्जाणं पन्नवीसं तु, अओ उड्ढं उवग्गहो ॥ ७७१ ॥
पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिआ । पडलाइँ रयत्ताणं च गोच्छओ पायणिज्जोगो ॥ ७७२ ॥

नीअदुवारंधारे गवक्खकरणाइ पाउकरणं तु । दव्वाइएहिं किणणं साहूणट्ठाए कीअं तु ॥ ७४७ ॥
पामिच्चं जं साहूणऽट्ठा उच्छिदिउं दिआवेइ । पल्लट्टिउं च गोरसमाई परिअट्टिअं भणिअं ॥ ७४८ ॥
सग्गामपरग्गामा जमाणिउं आहडंति तं होइ । छगणाइणोवलित्तं उब्भिदिअ जं तमुब्भिण्णं ॥ ७४९ ॥
मालोहडं तु भणिअं जं मालाईहिं देइ घेत्तूणं । अच्छिज्जं च अछिंदिअ जं सामी भिच्चमाईणं ॥ ७५० ॥
अणिसिट्ठं सामन्नं गोट्ठिअभत्ताइ ददउ एगस्स । सट्ठा मूलादहणे अज्झोअर होइ पक्खेवो ॥ ७५१ ॥
कम्मुद्देसिअचरिमतिग पूइअं मीस चरिमपाहुडिआ । अज्झोअर अविसोहिअ विसोहिकोडी भवे सेसा ॥७५२॥
उप्पायण संपायण निव्वत्तणमो अ हुंति एगट्ठा । आहारम्मिह पगया तीएँ य दोसा इमे होंति ॥ ७५३ ॥
धाई दूइ निमित्ते आजीव वणिमगे तिगिच्छा य । कोहे माणे माया लोहे अ हवंति दस एए ॥ ७५४ ॥
पुव्विंपच्छासंथव विज्जा मंते अ चुण्ण जोगे अ । उप्पायणाएँ दोसा सोलसमे मूलकम्मे अ ॥ ७५५ ॥
धाइत्तणं करेई पिंडत्थाए तहेव दूइत्तं । तीआइनिमित्तं वा कहेइ जायाइ वाऽऽजीवे ॥ ७५६ ॥
जो जस्स कोइ भत्तो वणेइ तं तप्पसंसणेणेव । आहारट्ठा कुणइ व मूढो सुहुमेअरतिगिच्छं ॥ ७५७ ॥
कोहप्फलसम्भावणपडुपण्णो होइ कोहपिंडो उ । गिहिणो कुणइऽभिमाणं मायाएँ दवावए तहय ॥ ७५८ ॥
अतिलोभा परिअडइ आहारट्ठा य संथवं दुविहं । कुणइ पउंजइ विज्जं मंतं चुण्णं च जोगं च ॥ ७५९ ॥
गब्भपरिसाडणाइ व पिंडत्थं कुणइ मूलकम्मं तु । साहुसमुत्था एए भणिआ उप्पायणादोसा ॥ ७६० ॥

सुचिरंपि अच्छमाणो नलथंभो उच्छुवाडमज्झम्मि। कीस न जायइ महुरो ? जइ संसग्गी पमाणं ते ॥७३३॥
भावुग अभावुगाणि अ लोए दुविहाणि हुंति दव्वाणि। वेरुलिओ तत्थ मणी अभावुगो अन्नदव्वेहिं ॥७३४॥
जीवो अणाइनिहणो तब्भावणभाविओ अ संसारे। खिप्पं सो भाविज्जइ मेलणदोसाणुभावेण ॥ ७३५ ॥
अंबस्स य निंबस्स य दोण्हंपि समागयाइं मूलाइं। संसग्गीए विणट्ठो अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥ ७३६ ॥
संसग्गीए दोसा निअमावेएइ होइ अच्छिकारिया। लोए गरिहा पावे अणुमइओ तह य आणाई ॥७३७॥ द्वारं।
भत्तंपि हु भोत्तव्वं सम्मं बायालदोसपरिसुद्धं। उग्गमसाई दोसा ते अ इमे हुंति नायव्वा ॥ ७३८ ॥
सोलस उग्गमदोसा सोलस उप्पायणाए दोसा उ। दस एसणाए दोसा बायालीसं इइ भवंति ॥ ७३९ ॥
तत्थुग्गमो पसूई पभवो एमाइँ हुंति एगट्ठा। सो पिंडस्साहिगओ तस्स य भेया इमे होंति ॥ ७४० ॥
आहाकम्मुद्देसिअ पूईकम्मे अ मीसजाए अ। ठवणा पाहुडिआए पाउअरण कीअ पामिच्चे ॥ ७४१ ॥
परिअट्टिए अभिहडुब्भिन्ने मालोहडे अ अच्छिज्जे। अणिसिट्ठे अज्झोअर सोलस पिंडुग्गमे दोसा ॥ ७४२ ॥
सच्चित्तं जमचित्तं साहूणऽट्ठाइ कीरई जं च। अच्चित्तमेव पच्चइ आहाकम्मं तयं भणिअं ॥ ७४३ ॥
उद्देसिअ साहुमाई उमच्चए भिक्खवियरणं जं च। उक्खडिअं मीसेउं तविअं उद्देसिअं तं तु ॥ ७४४ ॥
कम्मावयवसमेअं संभाविज्जइ जयं तु तं पूई। पढमं चिअ गिहिसंजयमीसुवक्खडिआइ मीसं तु ॥ ७४५ ॥
साहोभासिअखीराइठावणं ठवण साहुणट्ठाए। सुहुमेअरमुस्सक्कणमवसक्कणमो य पाहुडिआ ॥ ७४६ ॥

वयणाओँ जा पवित्ती परिसुद्धा एस एव सत्थोत्ति । अण्णेसि भावपीडाहेऊओ अण्णहाऽणत्थो ॥ ७१९ ॥
थीवज्जिअं विआणह इत्थीणं जत्थ ठाणरूवाइं । सद्दा य ण सुव्वंती तावि अ तेसिं न पिच्छंति ॥ ७२० ॥
ठाणं चिट्ठंति जहिं मिहोकहाईहिं नवरमित्थीओ । ठाणे निअमा रूवं सिअ सद्दो जेण तो वज्जं ॥ ७२१ ॥
बंभवयस्स अगुत्ती लज्जाणासो अपीइवुड्ढी अ । साहु तवो वणवासो निवारणं तित्थपरिहाणी ॥ ७२२ ॥
चंकमिअं ठिअमुट्ठिअं च विप्पेक्खिअं च सविलासं । सिंगारे अ बहुविहे दट्ठुं भुत्तेअरे दोसा ॥ ७२३ ॥
जल्लमलपंकिआणवि लावन्नसिरी उ जह सि देहाणं । सामन्नेऽवि सुरूवा सयगुणिआ आसि गिहवासे ॥७२४॥
गीयाणि अ पढिआणि अ हसिआणि य मंजुला य उल्लावा । भूसणसद्दे राहस्सिए अ सोऊण जे दोसा ॥७२५॥
गंभीरमहुरफुडविसयगाहगा सुस्सरो सरो जेसिं । सज्झायस्स मणहरो गीअस्स णु केरिसो होइ ? ॥ ७२६ ॥
एवं परोप्परं मोहणिज्जदुविजयकम्मदोसेणं । होइ दढं पडिबंधो तम्हा तं वज्जए ठाणं ॥ ७२७ ॥
पसुपंडगेसुवि इहं मोहाणलदीविआण जं होइ । पायमसुहा पवित्ती पुव्वभवऽब्भासओ तह य ॥ ७२८ ॥
तम्हा जहुत्तदोसेहिं वज्जिअं निम्ममो निरासंसो । वसहिं सेविज्ज जई विवज्जए आणभाईणि ॥७२९॥ दारं ॥
वज्जिज्ज य संसग्गं पासत्थाईहिं पावमित्तेहिं । कुज्जा य अप्पमत्तो सुद्धचरित्तेहिं धीरेहिं ॥ ७३० ॥
जो जारिसेण मित्तिं करेइ अचिरेण तारिसो होइ । कुसुमेहिं सह वसंता तिलावि तग्गंधिया हुंति ॥ ७३१ ॥
सुचिरंपि अच्छमाणो वेरुलिओ कायमणिअउम्मीसो । न उवेइ कायभावं पाहण्णगुणेण निअएणं ॥ ७३२ ॥

मूलुत्तरगुणसुद्धं थीपसुपंडगविवज्जिअं वसहिं । सेविज्ज सव्वकालं विवज्जए होंति दोसा उ ॥ ७०६ ॥

पट्ठीवंसो दो धारणाउ चत्तारि मूलवेलीओ । मूलगुणेहुववेआ एसा उ अहागडा वसही ॥ ७०७ ॥

वंसगकडणोक्कंपण छावणलेवणदुवारभूमीए । सप्परिकम्मा वसही एसा मूलुत्तरगुणेसु ॥ ७०८ ॥

दूमिअ धूमिअ वासिअ उज्जोविअ बलिकडा अवत्ता य । सित्ता सम्मट्ठाऽविअ विसोहिकोडीगया वसही ॥७०९॥

चाउस्सालाईए दिन्नेओ एवमेव उ विभागो । इह मूलाइगुणाणं सक्खा पुण सुण ण जं भणिओ ॥ ७१० ॥

विहरंताणं पायं समत्तकज्जाण जेण गामेसुं । वासो तेसु अ वसही पट्ठाइजुआ तओ तासिं ॥ ७११ ॥

कालाइक्कंत १ उवट्ठावणा २ ऽभिकंत ३ अणभिकंता ४ य ।
वज्जा ५ य महावज्जा ६ सावज्ज ७ मह ८ प्पकिरिआ ९ य ॥ ७१२ ॥

उउ मासं समईआ कालाईआ उ सा भवे सिज्जा । सा चेव उवट्ठाणा दुगुणादुगुणं अवज्जित्ता ॥ ७१३ ॥

जावंतिआ उ सिज्जा अन्नेहिं निसेविआ अभिक्कंता । अन्नेहि अपरिभुत्ता अणभिक्कंता उ पविसंतो ॥ ७१४ ॥

अत्तट्ठकडं दाउं जईण अन्नं करिंति वज्जा उ । जम्हा तं पुव्वकडं वज्जंति तओ भवे वज्जा ॥ ७१५ ॥

पासंडकारणा खलु आरंभो अहिणवो महावज्जा । समणट्ठा सावज्जा महसावज्जा य साहूणं ॥ ७१६ ॥

जा खलु जहुत्तदोसेहिं वज्जिआ कारिआ सयट्ठाए । परिकम्मविप्पमुक्का सा वसही अप्पकिरिआ उ ॥७१७॥

एत्थ य सट्ठा णेआ जा णिअभोगं पडुच्च कारविआ । जिणबिंबपइट्ठत्थं अहवा तक्कम्मतुल्लत्ति ॥ ७१८ ॥

अंगीकयसाफल्लं तत्तो अ परो परोवगारोऽवि । सुद्धस्स हवइ एवं पायं सुहसीससंताणो ॥ ६९२ ॥
इअ निक्कलंकमग्गाणुसेवणं होइ सुद्धमग्गस्स । जम्मंतरेऽवि कारणमओ अ निअमेण मोक्खोत्ति ॥ ६९३ ॥
एवं गुरुकुलवासो परमपयनिबंधणं जओ तेणं । तब्भवसिद्धीएहिवि गोअमपमुहेहिं आयरिओ ॥ ६९४ ॥
ता एअमायरिज्जा चइऊण निअं कुलं कुलपसूओ । इहरा उभयच्चाओ सो उण नियमा अणत्थफलो ॥६९५॥ दारं ।
गुरुपरिवारो गच्छो तत्थ वसंताण निज्जरा विउला । विणयाओ तह सारणमाईहिं न दोसपडिवत्ती ॥६९६॥
केसिंचि विणयकरणं अन्नेसिं कारणं अइपसत्थं । नासंतकुसलजोए सारणमवि होइ एमेव ॥ ६९७ ॥
एमेव य विण्णेअं अहियपवित्तीएॅ वारणं एत्थं । अहिअयरे किचंमि अ चोअणमिइ सपरफलसिद्धी ॥६९८॥
अण्णोण्णाविक्खाए जोगम्मि तहिं तहिं पयट्टंतो । निअमेण गच्छवासी असंगपयसाहगो भणिओ ॥६९९॥
सारणमाइविउत्तं गच्छंपिहु गुणगणेहिं परिहीणं । परिचत्तणाइवग्गो चइज्ज तं सुत्तविहिणा उ ॥ ७०० ॥
सीसो सज्झिलओ वा गणिच्चओ वा न सोग्गइं नेइ । जे तत्थ नाणदंसणचरणा ते सुग्गईमग्गो ॥ ७०१ ॥
नणु गुरुकुलवासम्मी जायइ नियमेण गच्छवासो उ । जम्हा गुरुपरिवारो गच्छोत्ति निदंसिअं पुविं ॥७०२॥
सच्चमिणं तंमज्झे तदेगलद्धीएॅ तदुचिअकमेणं । जह होज्ज तस्स हेऊ वसिज्ज तह खावणत्थमिणं ॥ ७०३ ॥
मोत्तूण मिहुवयारं अण्णोऽण्णगुणाइभावसंबद्धं । छत्त(न्न)मढछत्ततुल्लो वासो उ ण गच्छवासोत्ति ॥ ७०४ ॥
एवं वसहाईसुवि जोइज्जा ओघसुद्धभावेऽवि । सइ थेरदिन्नसंथारगाइभोगेण साफल्लं ॥ ७०५ ॥ दारं ॥

गुरुगच्छवसहिसंसग्गिभत्तउवगरणतवविआरेसुं । भावणविआरजइकहठाणेसु जइज्ज एसोऽवि ॥ ६७८ ॥
जह पाविअंपि वित्तं विउलंपि कहिंचि देवजोगेणं । सुस्सामिअविरहाओ किलिट्ठजणमज्झवासाओ ॥ ६७९ ॥
तहय अलक्खणगिहवासजोगओ दुट्ठसंगयाओ अ । तह चेव ठिइनिबंधणविरुद्धभत्तोवभोगाओ ॥ ६८० ॥
जोगिअवत्थाईओ अजिन्नभोगाओ कुविआराओ । असुहज्झवसाणाओ अजोग्गठाणे विहाराओ ॥ ६८१ ॥
तहय विरुद्धकहाओ पयडं वित्तवइणोवि लोगम्मि । पावंति वित्तणासं तहा तहाऽकुसलजोएणं ॥ ६८२ ॥
सुस्सामिगाइओ पुण तहा तहा तप्पभावजोएणं । वड्ढंति वित्तमणहं सुहावहं उभयलोगम्मि ॥ ६८३ ॥
एमेव भाववित्तं हंदि चरित्तंपि निअमओ णेअं । इत्थं सुसामिजणगेहभाइतुल्ला उ गुरुमाई ॥ ६८४ ॥
एएसि पभावेणं विसुद्धठाणाण चरणहेऊणं । निअमादेव चरित्तं वड्ढइ विहिठा (से) वणपराणं ॥ ६८५ ॥
वित्तंमि सामिगाईसु नवर विभासावि दिव्वजोएण । आणाविराहणाओ आराहणाओं ण उ एत्थ ॥ ६८६ ॥
गुरुमाइसु जइअव्वं एसा आणत्ति भगवओ जेणं । तब्भंगे खलु दोसा इअरंमि गुणो उ नियमेण ॥ ६८७ ॥
तम्हा तित्थयराणं आराहंतो विसुद्धपरिणामो । गुरुमाइएसु विहिणा जइज्ज चरणट्ठिओ साहू ॥ ६८८ ॥
गुरुगुणजुत्तं तु गुरुं इब्भो सुस्सामिअं व ण मुएज्जा । चरणधणफलनिमित्तं पइदिणगुणभावजोएण ॥ ६८९ ॥
गुरुदंसणं पसत्थं विणओ य तहा महाणुभावस्स । अन्नेसि मग्गदंसण निवेअणा पालणं चेव ॥ ६९० ॥
वेयावच्चं परमं बहुमाणो तह य गोअमाईस्स । तित्थयराणाकरणं सुद्धो नाणाइलंभो अ ॥ ६९१ ॥
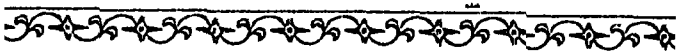
उच्चाराइ अथंडिल वोसिर ठाणाइ वावि पुढवीए । नइमाइ दगसमीवे सागणि निक्खित्त तेउम्मि ॥ ६६४ ॥
वियणऽभिधारण वाए हरिए जह पुढविए तसेसुं च । एमेव गोअरगए होइ परिच्छा उ काएहिं ॥ ६६५ ॥
जह परिहरई संमं चोएइ व घाडिअं तहा (या) जोग्गो । होइ उवठावणाए तीएवि विही इमो होइ ॥ ६६६ ॥
अहिगय णाउस्सग्गं वामगपासम्मि वयतिगेक्केक्कं । पायाहिणं निवेअण गुरुगुण दिस दुविह तिविहा वा ॥६६७॥
उदउल्लाइपरिच्छा अभिगय नाऊण तो वए दिंति । चिइवंदणाइ काउं तत्थवि अ करिंति उस्सग्गं ॥६६८॥
गुरवो वामगपासे सेहं ठाविच्चु अह वए दिंति । एक्किक्कं तिक्खुत्तो इमेण ठाणेणमुवउत्ता ॥ ६६९ ॥
कोप्परपट्टगगहणं वामकरानामिआय मुहपोत्तिं । रयहरण हत्थिदंतुल्लएहिं हत्थेहुवट्ठावे ॥ ६७० ॥
पायाहिणं निवेअण करिंति सिस्सा तओ गुरू भणइ । वड्ढाहि गुरुगुणेहिं एत्थ परिच्छा इमा वऽण्णा ॥६७१॥
ईसिं अवणयगत्ता भमंति सुविसुद्धभावणाजुत्ता । अहिसरणम्मि अ वुड्ढी ओसरणे सो व अन्नो वा ॥६७२॥
दुविहा साहूण दिसा तिविहा पुण साहुणीण विण्णेआ । होई ससत्तीए तवो आयंबिलनिव्विगाईआ ॥६७३॥
तत्तो अ कारविज्जइ त (ज) हाणुरूवं तवोवहाणं तु । आयंबिलाणि सत्त उ किल निअमा मंडलिपवेसे॥६७४॥
तत्तो अ पण्णविज्जइ भावं नाऊण बहुविहं विहिणा । तो परिणए पवेसो अपरिणए होंति आणाई ॥६७५॥
अणुवट्ठविअं सेहं अकयविहाणं च मंडलीए उ । जो परिभुंजइ सहसा सो गुत्तिविराहओ भणिओ ॥६७६॥
तम्हा पवयणगुत्तिं रक्खंतेण भवधारिणिं परमं । परिणयओ च्चिअ सेहो पवेसिअव्वो जहा विहिणा ॥ ६७७ ॥

पाणाइवायविरमणमाई णिसिभत्तविरइपज्जंता । समणाणं मूलगुणा पन्नत्ता वीअरागेहिं ॥ ६५० ॥
सुहुमाईजीवाणं सव्वेसिं सव्वहा सुपणिहाणं । पाणाइवायविरमणमिह पढमो होइ मूलगुणो ॥ ६५१ ॥
कोहाइपगारेहिं एवं च्चिअ मोसविरमणं बीओ । एवं च्चिअ गामाइसु अप्पबहुविवज्जणं तइओ ॥ ६५२ ॥
दिव्वाइमेहुणस्स य विवज्जणं सव्वहा चउत्थो उ । पंचमगो गामाइसु अप्पबहुविवज्जणं चेव ॥ ६५३ ॥
असणाइभेअभिन्नस्साहारस्स चउव्विहस्सावि । णिसि सव्वहा विरमणं चरमो समणाण मूलगुणो ॥ ६५४ ॥
पढमंमी एगिंदिअविगलिंदिपणिंदिआण जीवाणं । संघट्टणपरिआवणओद्दवणाईणि अइआरो ॥ ६५५ ॥
बिइअम्मि मुसावाए सो सुहुमो बायरो उ नायव्वो । पयलाइ होइ पढमो कोहादभिभासणं बिइओ ॥६५६॥
तइअम्मिवि एमेव य दुविहो खलु एस होइ विन्नेओ । तणडगलछारमल्लग अविदिन्नं गिण्हओ पढमो ॥६५७॥
साहम्मिअन्नसाहम्मिआण गिहिगाण कोहमाईहिं । सच्चित्ताचित्ताई अवहरओ होइ बिइओ उ ॥ ६५८ ॥
मेहुन्नस्सऽइआरो करकम्माईहि होइ नायव्वो । तग्गुत्तीणं च तहा अणुपालणमो ण सम्मं तु ॥ ६५९ ॥
पंचमगम्मि अ सुहुमो अइआरो एस होइ णायव्वो । कागाइसाणगोणे कप्पट्ठगरक्खणममत्ते ॥ ६६० ॥
दव्वाइआण गहणं लोहा पुण बायरो मुणेअव्वो । अइरित्तधारणं वा मोत्तुं नाणाइउवयारं ॥ ६६१ ॥
छट्ठम्मि दिआगहिअं दिअभुत्तं एवमाइ चउभंगो । अइआरो पन्नत्तो धीरेहिं अणंतनाणीहिं ॥ ६६२ ॥
कहिऊणं कायवए इअ तेसुं नवरमभिगएसुं तु । गीएण परिच्छिज्जा सम्मं एएसु ठाणेसु ॥ ६६३ ॥

एगिंदियाइ काया तेसिं (फरिसणभावे) सेसिंदिआणऽभावेऽवि ।
बहिराईण व णेअं सोत्ताइगमेऽवि जीवत्तं ॥ ६३८ ॥

जइ णाम कम्मपरिणइवसेण बहिरस्स सोअमावरिअं । तयभावा सेसिंदिअभावे सो किं नु अज्जीवो ? ॥६३९॥
बहिरस्स य अंधस्स य उवहयघाणरसणस्स एमेव । सइ एगंमिवि फासे जीवत्तं हंत ! किमजुत्तं ? ॥ ६४० ॥
एएणं नाएणं चउरिंदिअमाइओऽवगंतव्वा । एगिंदिअपज्जंता जीवा पच्छाणुपुवीए ॥ ६४१ ॥
तत्थ चउरिंदिआई जीवे इच्छंति पायसो सव्वे । एगिंदिएसु [उ] बहुआ विप्पडिवन्ना जओ मोहा ॥ ६४२ ॥
जीवत्तं तेसिं तउ जह जुज्जइ संपयं तहा वोच्छं । सिद्धंपि अ ओहेणं संखेवेणं विसेसेणं ॥ ६४३ ॥
आह नणु तेसि दीसइ दव्विंदिअओ ण एवमेएसिं । तं कम्मपरिणईओ न तहा चउरिंदिआणं व ॥ ६४४ ॥
मंसंकुरो इव समाणजाइरूवंकुरोवलंभाओ । पुढवीविद्दुमलवणोवलादओ हुंति सच्चित्ता ॥ ६४५ ॥
भूमीखयसाभाविअसंभवओ दद्दुरो व जलमुत्तं । अहवा मच्छोव्व सभाववोमसंभूअपायाओ ॥ ६४६ ॥

आहाराओ अणलो विद्धिविगारोवलंभओ जीवो ।
अपरप्पेरिअतिरिआणिअमिअदिग्गमणओ अनिलो ॥ ६४७ ॥

जम्मजराजीवणमरणरोहणाहारदोहलामयओ । रोगतिगिच्छाईहि अ नारिव्व सचेअणा तरवो ॥ ६४८ ॥
बेइंदियादओ पुण पसिद्धया किमिपिपीलिभमराई । कहिऊण तओ पच्छा वयाइं साहिज्ज विहिणा उ ॥ ६४९ ॥

इय जोऽपण्णवणिज्जो कहण्णु सामाइअं भवे तस्स ? । असइ अ इमंमि नाया जुत्तोवट्ठावणा णेवं ॥ ६२४ ॥
जं बीअं चारित्तं एसा पढमस्सऽभावओ कह तं ? । असइ अ तस्सारोवणमण्णाणपगासगं नवरं ॥ ६२५ ॥
सच्चमिणं निच्छयओऽपन्नवणिज्जो न तम्मि संतम्मि । ववहारओ असुद्धे जायइ कम्मोदयवसेणं ॥ ६२६ ॥
संजलणाणं उदओ अप्पडिसिद्धो उ तस्स भावेऽवि । सो अ अइआरहेऊ एएसु असुद्धगं तं तु ॥ ६२७ ॥
पडिवाईविअ एअं भणिअं संतेऽवि दव्वलिंगम्मि । पुण भावीविअ असई कत्थइ जम्हा इमं सुत्तं ॥ ६२८ ॥
तिण्ह सहस्सपुहुत्तं सयप्पुहुत्तं च होइ विरईए । एगभवे आगरिसा एवइआ होंति नायव्वा ॥ ६२९ ॥
एएसिमंतरे वाऽपण्णवणिज्जुत्ति नत्थि दोसो उ । अच्चागो तस्स पुणो संभवओ निरइसइगुरुणा ॥ ६३० ॥
अइसंकिलेसवज्जणहेऊ उचिओ अणेण परिभोगो । जीअं किलिट्ठकालोत्ति एव सेसंपि जोइज्जा ॥ ६३१ ॥
अहवा वत्थुसहावो विन्नेओ रायभिच्चमाईणं । जत्थंतरं महंतं लोगविरोहो अणिट्ठफलं ॥ ६३२ ॥
दो थेर खुड्ड थेरे खुड्डग वोच्चत्थ मग्गणा होइ । रन्नो अमच्चमाई संजइमज्झे महादेवी ॥ ६३३ ॥
दो पुत्तपिआ पुत्ता पुत्तो एगस्स पत्त न उ थेरो । गाहिउ सयं व विअरइ रायणिओ होउ एसऽविअ ॥ ६३४ ॥
राया रायाणो वा दोण्णिवि सम पत्त दोसु पासेसु । ईसरसिट्ठिअमच्चे निअम घड कुला दुवे खुड्डे ॥ ६३५ ॥
समयं तु अणेगेसुं पत्तेसुं अणभिओगमावलिया । एगउ दुहओऽवि ठिआ समराइणिआ जहासन्नं ॥ ६३६ ॥ दारं ॥
अकहित्ता कायवए जहाणुरूवं तु हेउणातेहिं । अणभिगयतदत्थं वाऽपरिच्छिउं नो उवट्ठावे ॥ ६३७ ॥

संसारक्खयहेऊ वयाणि ते जेसि १ जह य दायव्वा २ ।
पालेअव्वा य जहा ३ वोच्छामि तहा समासेणं ॥ ६११ ॥ (सूयागाहा)

अविरतिमूलं कम्मं तत्तो अ भवोत्ति कम्मखवणत्थं । ता विरई कायव्वा सा य वया एव खयहेऊ ॥ ६१२ ॥
अहिगयसत्थपरिण्णाइगा उ परिहरणमाइगुणजुत्ता । पिअधम्मवज्जभीरू जे ते वयठावणाजोगा ॥ ६१३ ॥
पढिए अ कहिअ अहिगय परिहर उवठावणाइ सो कप्पो । छक्कं तीहिं विसुद्धं परिहर नवएण भेएणं ॥६१४॥
अप्पत्ते अकहित्ता अणभिगयऽपरिच्छणे अ आणाई । दोसा जिणेहि भणिआ तम्हा पत्तादुवट्ठावे ॥ ६१५ ॥
सेहस्स तिन्नि भूमी जहण्ण तह मज्झिमा य उक्कोसा । राइंदि सत्त चउमासिआ य छम्मासिगा चेव ॥ ६१६ ॥
पुव्वोवट्ठपुराणे करणजयट्ठा जहन्निआ भूमी । उक्कोसा उ दुमेहं पडुच्च अस्सद्दहाणं च ॥ ६१७ ॥
एमेव य मज्झिमिया अणहिज्जंते असद्दहंते अ । भाविअमेहाविस्सवि करणजयट्ठा य मज्झिमिया ॥६१८॥
एअं भूमिमपत्तं सेहं जो अंतरा उवट्ठावे । सो आणाअणवत्थं मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ६१९ ॥
रागेण व दोसेण व पत्तेऽवि तहा पमायओ चेव । जो नवि उट्ठावेई सो पावइ आणमाईणि ॥ ६२० ॥
पिअपुत्तमाइआणं (समगं) पत्ताणमित्थ जो भणिओ । पुव्वायरिएहि कमो तमहं वोच्छं समासेणं ॥ ६२१ ॥
पितिपुत्त खुड्ड थेरे खुड्डग थेरे अपावमाणम्मि । सिक्खावण पन्नवणा दिट्ठंतो दंडिआईहिं ॥ ६२२ ॥
थेरेण अणुण्णाए उवठाणिच्छे व ठंति पंचाहं । तिपणमणिच्छिऽवुवरिं वत्थुसहावेण जाऽहीअं ॥ ६२३ ॥

पज्झचरणाउ नेअं चिसुद्धभावत्तणं विसुद्धाओ । यज्झे सइ आणाओ इअराभावेवि न उ दोसो ॥ ६०० ॥
सीसस्स हवइ एत्थं परिणामविसुद्धिओ गुणो चेव । सविसयओ एसो चिअ सत्थो सव्वत्थ भणियमिणं ॥ ६०१ ॥
परमरहस्समिसीणं संमत्तगणिपिडगझरियसाराणं । परिणामिअं पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं ॥ ६०२ ॥
अंगारमद्दगस्सवि सीसा सुअसंपयं जओ पत्ता । परिणामविसेसाओ तम्हा एसो इहं पवरो ॥ ६०३ ॥
एसो पुण रागाईहऽयाहिओ विसयसंपयट्टो उ । सुहुमाणाभोगाओ ईसिं विगलोऽवि सुद्धोत्ति ॥ ६०४ ॥
छउमत्थो परमत्थं विसयगयं सव्वहा न याणाई । सेअममिच्छत्ताओ इमस्स मग्गाणुसारित्तं ॥ ६०५ ॥

जो पुण अविसयगामी मोहा सविअप्पनिम्मिओ सुद्धो ।
उवले व कंचणगओ सो तम्मि असुद्धओ भणिओ ॥ ६०६ ॥

मोत्तूणुक्कडदोसं साहम्माभावओ नहि कयाइ । हवइ अतत्ते तत्तं इइ परिणामो पसिद्धमिणं ॥ ६०७ ॥
देवयजइमाईसुवि एसो एमेव होइ दट्ठव्वो । विसयाविसयविभागा बुहेहिमइनिउणबुद्धीए ॥ ६०८ ॥
एसा पइदिणकिरिआ समणाणं वन्निआ समासेणं । अहुणा वएसु ठवणं अट्ठाविहिं कित्तइस्सामि ॥ ६०९ ॥

पइदिणकिरियाइ इहं सम्मं आसेविआएँ संतीए ।
वयठवणाए भव्वा उविंति जं जोग्गयं सेहा ॥ ६१० ॥ इइ पइदिणकिरिया । द्वितीयं द्वारं समाप्तम् ॥

चोद्दसवासस्स तहा आसीविसभावणं जिणा बिंति । पन्नरसवासगस्स य दिट्ठीविसभावणं तहय ॥ ५८६ ॥
सोलसवासाईसु अ एगुत्तरवड्ढिएसु जहसंखं । चारणभावण महसुविणभावणा तेअगनिसग्गा ॥ ५८७ ॥
एगूणवीसगस्स उ दिट्ठीवाओ दुवालसममंगं । संपुण्णवीसवरिसो अणुवाई सव्वसुत्तस्स ॥ ५८८ ॥
उवहाणं पुण आयंबिलाइ जं जस्स वन्निअं सुत्ते । तं तेणेव उ देअं इहरा आणाइआ दोसा ॥ ५८९ ॥
जं केवलिणा भणिअं केवलनाणेण तत्तओ नाउं । तस्सऽण्णहा विहाणे आणाभंगो महापावो ॥ ५९० ॥
एगेण कयमकज्जं करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो । सायाबहुलपरंपर वोच्छेओ संजमतवाणं ॥ ५९१ ॥
मिच्छत्तं लोअस्सा न वयणमेयमिह तत्तओ एवं । वितहासेवण संकाकारणओ अहिगमेअस्स ॥ ५९२ ॥
एवं चऽणेगभविया तिव्वा सपरोवघाइणी नियमा । जायइ जिणपडिकुट्ठा विराहणा संजमायाए ॥ ५९३ ॥
जह चेव उ विहिरहिया मंताई हंदि णेव सिज्झंति । होंति अ अवयारपरा तहेव एयंपि विन्नेअं ॥ ५९४ ॥
ते चेव उ विहिजुत्ता जह सफला हुंति एत्थ लोअम्मि । तह चेव विहाणाओ सुत्तं नियमेण परलोए ॥५९५॥
विहिदाणम्मि जिणाणं आणा आराहिया धुवं होइ । अण्णेसिं विहिदंसणकमेण मग्गस्सऽवत्थाणं ॥ ५९६ ॥
सम्मं जहुत्तकरणे अन्नेसिं अप्पणो अ सुपसत्थं । आराहणाऽऽऽयफला एवं सइ संजमायाणं ॥ ५९७ ॥
तं पुण विचित्तमित्थं भणियं जं जम्मि जम्मि अंगाओ । तं जोगविहाणाओ विसेसओ एत्थ णायव्वं ॥५९८॥दारं॥
गुरुणावि चरणजोए ठिएण देअं विसुद्धभावेणं । भावा भावपसूई पायं लोगेऽवि सिद्धमिअं ॥ ५९९ ॥

पव्वावियस्सऽवि तहा सुत्ते मुंडावणाइवि णिसिद्धं । जिणमयपडिकुट्ठस्सा पुव्वायरिया तहा चाहू ॥ ५७३ ॥
जिणवयणे पडिकुट्ठं जो पव्वावेइ लोभदोसेणं । चरणट्ठिओ तवस्सी लोएइ तमेव चारित्ती ॥ ५७४ ॥
पव्वाविओ सिअत्ति अ मुंडावेउं अणायरणजोगो । अहवा मुंडाविंते दोसा अणिवारिया पुरिमा ॥ ५७५ ॥
मुंडाविओ सिअत्ति अ सिक्खावेउं अणायरणजोगो ।
अहवा सिक्खाविंतो पुरिमपयऽनिवारिआ दोसा ॥ ५७६ ॥
सिक्खाविओ सिअत्ति अ उवठावेउं अणायरणजोगो । अहवा उवठाविंते पुरिमपयऽनिवारिया दोसा ॥ ५७७ ॥
उवठाविओ सिअत्ति अ संभुंजित्ता अणायरणजोग्गो । अहवा संभुंजंते पुरिमपयऽनिवारिआ दोसा ॥ ५७८ ॥
संभुंजिओ सिअत्ति अ संवासेउं अणायरणजोगो । अथवा संवासंते दोसा अणिवारिआ पुरिमा ॥ ५७९ ॥
एमाई पडिसिद्धं सव्वं चिअ जिणवरेहऽजोगस्स । पच्छा विन्नायस्सवि गुणठाणं विज्जनाएणं ॥ ५८० ॥ दारं ॥
कालक्कमेण पत्तं संवच्छरमाइणा उ जं जम्मि । तं तम्मि चेव धीरो वाएज्जा सो अ कालोऽयं ॥ ५८१ ॥
तिवरिसपरिआगस्स उ आयारपकप्पणाममज्झयणं । चउवरिसस्स उ सम्मं सूअगडं नाम अंगंति ॥ ५८२ ॥
दसकप्पव्ववहारा संवच्छरपणगदिक्खिअस्सेव । ठाणं समवाओत्ति अ अंगेए अट्ठवासस्स ॥ ५८३ ॥
दसवासस्स विआहो एक्कारसवासयस्स य इमे उ । खुड्डियविमाणमाई अज्झयणा पंच नायव्वा ॥ ५८४ ॥
बारसवासस्स तहा अरुणुववायाइ पंच अज्झयणा । तेरसवासस्स तहा उट्ठाणसुआइआ चउरो ॥ ५८५ ॥

जह जह सुअमवगाहइ अइसयरसपसरसंजुअमपुव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी नवनवसंवेगसद्धावं ॥ ५६० ॥
नाणाणत्तीअ पुणो दंसणतवनियमसंजमे ठिच्चा । विहरइ विसुज्झमाणो जावज्जीवंपि निक्कंपो ॥ ५६१ ॥ दारं ॥
बारसविहम्मिवि तवे सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
नवि अत्थि नवि अ होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥ ५६२ ॥ दारं ॥
एत्तो च्चिअ उक्कोसा विन्नेआ निज्जरावि निअमेणं । तिगरणसुद्धिपवित्तीउ हंदि तहनाणभावाओ ॥ ५६३ ॥
जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं । तं नाणी तिहिँ गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ ५६४ ॥
आयपरसमुत्तारो आणावच्छल्लदीवणाभत्ती । होइ परदेसिअत्ते अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स ॥ ५६५ ॥
एत्तो तित्थयरत्तं सव्वन्नुत्तं च जायइ कमेणं । इअ परमं मोक्खंगं सज्झाओ होइ णायव्वो ॥ ५६६ ॥ दारं
एसो य सया विहिणा कायव्वो होइ अप्पमत्तेणं । इहरा उ एअकरणे भणिया उम्मायमाईआ ॥ ५६७ ॥
उम्मायं व लभिज्जा रोगायंकं व पाउणे दीहं । केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ वावि भंसिज्जा ॥ ५६८ ॥
लहुगुरुगुरुतरगम्मि अ अविहिम्मि जहक्कमं इमे णेया । उक्कोसगाविहीओ उक्कोसो धम्मभंसोत्ति ॥ ५६९ ॥
जोग्गाण कालपत्तं सुत्तं देअंति एस एत्थ विही । उवहाणादिविसुद्धं सम्मं गुरुणावि सुद्धेणं ॥ ५७० ॥ सूचागाहा ।
सुत्तस्स होंति जोग्गा जे पव्वजाएँ नवरमिह गहणे । पाइन्नदंसणत्थं गुणाहिगतरस्स वा देयं ॥ ५७१ ॥
छलिएण व पव्वज्जाकाले पच्छावि जाणिअमजोग्गं । तस्सवि न होइ देअं सुत्ताइ इमं च सूएइ ॥ ५७२ ॥

ता नत्थि एत्थ दोसो पच्चक्खाणेवि निरहिगरणम्मि। गुणभावाओ अ तहा एवं च इमं हवइ सुद्धं ॥ ५४६ ॥
फासिअं पालिअं चेव, सोहिअं तीरिअं तहा। किट्टिअमाराहिअं चेव, जएज्ज एआरिसम्मि अ ॥ ५४७॥ दारगाहा
उचिए काले विहिणा पत्तं जं फासिअं तयं भणिअं। तह पालिअं तु असइं सम्मं उवओगपडिअरियं ॥ ५४८॥
गुरुदाणसेसभोअणसेवणयाए उ सोहिअं जाण। पुण्णेऽवि थेवकालावत्थाणा तीरिअं होइ ॥ ५४९ ॥
भोअणकाले अमुगं पच्चक्खायंति भुंजि किट्टिअयं। आराहिअं पगारेहिं सम्ममेएहिं निट्ठविअं ॥ ५५० ॥
एअं पच्चक्खाणं विसुद्धभावस्स होइ जीवस्स। चरणाराहणजोगा निव्वाणफलं जिणा बिंति ॥ ५५१ ॥
गुरुदाणं जह पुव्विं वंदंति तओ अ चेइए सम्मं। बहुवेलं च करेंती पच्छा पेहंति पुच्छणगं ॥ ५५२ ॥
गुरुणाऽणुण्णायाणं सव्वं चिअ कप्पई उ समणाणं। किप्पंति(पि)जओ काउं बहुवेलं ते करिंति तओ॥ ५५३ ॥
उवहिं च संदिसाविअ पेहिंति जहेव वण्णिअं पुव्विं। चिंधंमि अ सज्झाओ तस्स गुणा वण्णिआ एए ॥ ५५४ ॥
आयहिअपरिण्णा भावसंवरो नवनवो अ संवेगो। निक्कंपया तवो निज्जरा य परदेसिअत्तं च ॥५५५॥ सूत्तगाहा।
आयहिअमजाणंतो मुज्झइ मूढो समाययइ कम्मं। कम्मेण तेण जंतू परीति भवसागरमणंतं ॥ ५५६ ॥
आयहिअं जाणंतो अहिअनिअत्तीअ हिअपवत्तीए। हवइ जओ सो तम्हा आयहिअं आगमेअव्वं ॥५५७॥ दारं॥
सज्झायं सेवंतो पंचिंदिअसंवुडो तिगुत्तो अ। होइ अ एगग्गमणो विणएण समाहिओ साहू ॥ ५५८ ॥
नाणेण सव्वभावा नज्जंते जे जहिं जिणक्खाया। नाणी चरित्तजुत्तो भावेणं संवरो होइ ॥ ५५९ ॥ दारं॥

जिणदिट्ठमेवमेअं निरभिस्संगं विवेगजुत्तस्स । भावप्पहाणमणहं जायइ केवलहेउत्ति ॥ ५३२ ॥
आह जइ जीवघाए पच्चक्खाए न कारए अन्नं । भंगभयाऽसणदाणे धुवकारवणत्ति नणु दोसो ॥ ५३३ ॥
नो कयपच्चक्खाणो आयरियाईण दिज्ज असणाई । ण य विरइपालणाओ वेआवच्चं पहाणयरं ॥ ५३४ ॥
नो तिविहंतिविहेणं पच्चक्खइ अण्णदाणकारवणं । सुद्धस्स तओ मुणिणो ण होइ तब्भंगहेउत्ति ॥ ५३५ ॥
सयमेवऽणुपालणिअं दाणुवएसा य नेह पडिसिद्धा । तो दिज्ज उवइसिज्ज व जहासमाही अ अन्नेसिं ॥५३६॥
कयपच्चक्खाणोऽविअ आयरिअगिलाणबालवुड्ढाणं । दिज्जाऽसणाइ संते लाभे कयवीरिआयारो ॥ ५३७ ॥
संविग्गअण्णसंभोइआण दंसिज्ज सड्ढगकुलाणि । अतरंतो वा संभोइआण जह वा समाहीए ॥ ५३८ ॥
भाविअजिणवयणाणं ममत्तरहिआण नत्थि उ विसेसो । अप्पाणंमि परम्मि अ तो वज्जे पीडमुभओऽवि ॥५३९॥
पुरिसं तस्सुवयारं अवयारं चऽप्पणो अ नाऊणं । कुज्जा वेआवडिअं आणं काउं निरासंसो ॥ ५४० ॥
भरहेणवि पुव्वभवे वेआवच्चं कयं सुविहिआणं । सो तस्स फलविवागेण आसि भरहाहिवो राया ॥ ५४१ ॥
भुंजित्तु भरहवासं सामन्नमणुत्तरं अणुचरित्ता । अट्ठविहकम्ममुक्को भरहनरिंदो गओ सिद्धिं ॥ ५४२ ॥
पासंगिअभोगेणं वेआवच्चमिअ मोक्खफलमेव । आणाआराहणओ अणुकंपादिव विसयंमि ॥ ५४३ ॥
सुहतरुछायाइजुओ अह मग्गो होइ कस्सइ पुरस्स । एक्को अण्णो णेवं सिवपुरमग्गोऽवि इअ णेओ ॥ ५४४ ॥
अणुकंपाविओं पढमो सुहपरगामीण सो जिणाईणं । तयजत्तगो उ इअरो सव्वेव सामण्णसाहूणं ॥५४५॥

समभावेच्चिअ जं तं जायइ सव्वत्थ आवकहिअं च। तो तत्थ न आगारा पन्नत्ता वीअरागेहिं ॥ ५१८ ॥
तं खलु निरभिस्संगं समयाए सव्वभावविसयं तु। कालावहिम्मिवि परं भंगभया णावहित्तेण ॥ ५१९ ॥
मरणजयज्झवसिअसुहडभावतुल्लमिह हीणनाएणं। अववायाण न विसओ भावेअव्वं पयत्तेणं ॥ ५२० ॥
एत्तोच्चिअ पडिसेहो दढं अजोगाण वन्निओ समए। एअस्स पाइणोऽविअ वीअंति थिहि एसऽइसइणा ॥५२१॥
संतेऽविअ एअम्मी ओहेण विसिट्ठयत्थमेअस्स। आगमभणिईअ तहा कहं न एएण कज्जंति ? ॥ ५२२ ॥
तस्स उ पवेसनिग्गमचारणजोगेसु जइ उ अववाया। मूलावाहाइ तहा नवकाराइंमि आगारा ॥ ५२३ ॥
ण य तस्स तेसुवि तहा णिरभिस्संगो ण होइ परिणामो। पडिआरलिंगसिद्धो उ निअमओ अन्नहारूवो ॥५२४॥
ण य पढमभाववाघायमो उ एवंपि अविअ तस्सिद्धी। एवं च्चिअ होइ दढं इहरा वामोहपायं तु ॥ ५२५ ॥
न य सामाइअमेअं वाहइ भेअगहणेऽवि सव्वत्थ। समभावपवित्तिनिवित्तिभावओ ठाणगमणं व ॥ ५२६ ॥
उभयाभावेऽवि कुओऽवि अग्गओ हंदि एरिसो चेव। तक्काले तब्भावो चित्तखओवसमओ णेओ ॥ ५२७ ॥
अण्णे भणंति जइणो तिविहाहारस्स तं खलु न जुत्तं। सव्वविरईउ एवं भेअग्गहणे कहं सा उ ? ॥ ५२८ ॥
णणु अप्पमायसेवणफलमेअं दंसिअं इहं पुव्विं। तब्भोगमित्तकरणे सेसच्चाया तओ अहिओ ॥ ५२९ ॥
एवं कहंचि कज्जे दुविहस्सवि तं न होइ चिन्तमिअं। सच्चं जइणो नवरं पाएण न अन्नपरिभोगो ॥ ५३० ॥
उवओगो एवं (अं) खलु एआ विगई नवित्ति जो जोगो। उच्चरणाई उ विही वहुंपि अ कज्जभोगगओ ॥ ५३१ ॥

तं हियए काऊणं किइकम्मं काउ गुरुसमीवम्मि । गिण्हंति तओ तं चिअ समगं नवकारमाईअं ॥ ५०४ ॥
आगारेहिं विसुद्धं उवउत्ता जहविहीएँ जिणदिट्ठं । सयमेवऽणुपालणिअं दाणुवएसे जह समाही ॥ ५०५ ॥
नवकारपोरसीए पुरिमड्ढेक्कासणेगठाणे अ । आयंबिलऽभत्तट्ठे चरिमे अ अभिग्गहे विगई ॥ ५०६ ॥
दो छच्च सत्त अट्ठ य सत्तऽट्ठ य पंच छच्च पाणम्मि । चउ पंच अट्ठ नवए पत्तेअं पिंडए नवए ॥ ५०७ ॥
दो चेव नमुक्कारे आगारा छच्च पोरिसीए उ । सत्तेव य पुरिमड्ढे एकासणगम्मि अट्ठेव ॥ ५०८ ॥
सत्तेकट्ठाणस्स उ अट्ठेवायंबिलस्स आगारा । पंच अभत्तट्ठस्स उ छप्पाणे चरिम चत्तारि ॥ ५०९ ॥
पंच चउरो अभिग्गह निव्विइए अट्ठ नव य आगारा । अप्पावरणे पंच उ हवंति सेसेसु चत्तारि ॥ ५१० ॥
णवणीउग्गाहिमए अद्दवदहि पिसिअ घय गुले चेव । नव आगारा तेसिं सेसदवाणं च अट्ठेव ॥ ५११ ॥
वयभंगे गुरुदोसो थेवस्सवि पालणा गुणकरी अ । गुरुलाघवं च नेअं धम्मम्मि अओ उ आगारा ॥ ५१२ ॥
जहगहिअपालणंमी अपमाओ सेविओ धुवं होइ । सो तह सेविज्जंतो वड्ढइ इअरं विणासेइ ॥ ५१३ ॥
अब्भत्थो अ पमाओ तत्तो मा होज्ज कहवि भंगोत्ति । भंगे आणाईआ तओ अ सव्वे अणत्थत्ति ॥ ५१४ ॥
एवं पमाइणो कह पवज्जा होइ? चरणपरिणामा । न य तस्सत्ताणंतरमेव पमाओ खयं जाइ ॥ ५१५ ॥
जमणाइभवब्भत्थो तस्सेव खयत्थमुज्जएणेह । जहगहिअपालणेणं अपमाओ सेविअव्वोत्ति ॥ ५१६ ॥
एवं सामइअंपिहु सागारं निअमओ गहेयव्वं । सइ तम्मि निरागारे किंवा एएण कज्जंति? ॥ ५१७ ॥

थुइमंगलम्मि गुरुणा उच्चरिए सेसगा थुई विंति । चिट्ठंति तओ थेवं कालं गुरुपायमूलम्मि ॥ ४९० ॥
पम्हुट्ठ मेर सारण विणओ उ ण फेडिओ हवइ एवं । आयरणा सुअदेवयमाईणं होइ उस्सग्गो ॥ ४९१ ॥
चाउम्मासिय वरिसे उस्सग्गो खित्तदेवयाए उ । पक्खिअ सिज्जसुराए करिंति चउमासिए वेगे ॥ ४९२ ॥
पज्जूसपडिक्कमणं अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥ ४९३ ॥
पाउसिआई सव्वं विसेससुत्ताओ एत्थ जाणिज्जा । पणवीसुस्सासं चिअ धीरा उ करिंति उस्सग्गं ॥ ४९४ ॥
सामइयं कड्ढित्ता चरित्तसुद्धत्थ पढममेयेह । दंसणसुद्धिनिमित्तं करिंति पणुवीसउस्सग्गं ॥ ४९५ ॥
उस्सारिऊण विहिणा सुद्धचरित्ता थयं पकड्ढित्ता । काउस्सग्गमणिययं इहं करंती उ उवउत्ता ॥ ४९६ ॥
उस्सारिऊण विहिणा कड्ढंति सुयत्थयं तओ पच्छा । चिंतिंति तत्थ सम्मं अइयारे राइए सव्वे ॥ ४९७ ॥
पाउसिअथुइमाई अहिगयउस्सग्गचिट्ठपज्जंते । किइअकरणदोसा वा गोसाई तिण्णि उस्सग्गा ॥ ४९८ ॥
निद्दामत्तो न सरइ अइआरे मा य घट्टणं ऽन्नोऽण्णं । छम्मासा एगदिणाइहाणि जा पोरिसि नमो वा ॥४९९॥
तइए निसाइआरं चिंतइ चरिमे अ किं तयं काहं ? । सिद्धत्थयं पढित्ता पडिक्कमंते जहा पुव्विं ॥ ५००॥
तइए निसाइआरं चिंतिअ उस्सारिऊण विहिणा उ । सइसरणाओ अ इमं पाएण निदरिसणपरं तु ॥ ५०१ ॥
सामाइअस्स पढुरा करणं तप्पुव्वगा समणजोगा । तत्थ य चिंतिति इमं कत्थ निउत्ता थयं गुरुणा? ॥ ५०२ ॥
खामित्तु करिंति तओ सामाइअपुव्वगं तु उस्सग्गं । छम्मासाइकमेणं जा सक्कं असढभावाणं ॥ ५०३ ॥
जइ तस्स न होइच्चिय हाणी कज्जस्स तह जयंतेवं ।

विअडणपच्चक्खाणे सुए अ रयणाहिआवि उ कारिंति। मज्झिल्ले ण करेंती सो चेव य तेसि पकरेइ ॥ ४७७ ॥
खामित्तु तओ एवं कारिंति सव्वेऽवि नवरमणवज्जं। रेसिम्मि दुरालोइअ दुप्पडिकंतस्स उस्सग्गं ॥ ४७८ ॥
जीवो पमायबहुलो तब्भावणभाविओ अ संसारे। तत्थवि संभाविज्जइ सुहुमो सो तेण उस्सग्गो ॥ ४७९ ॥
चोएइ हंदि एवं उस्सग्गंमिवि स होइ अणवत्था। भण्णइ तज्जयकरणे का अणवत्था जिए तम्मि? ॥ ४८० ॥
तत्थवि अ जो तओवि हु जीअइ तेणेव ण य सया करणं। सव्वोवि साहुजोगो जं खलु तप्पच्चणीओत्ति ॥४८१॥

एस चरित्तुस्सग्गो दंसणसुद्धीएँ तइओ होइ।
सुअनाणस्स चउत्थो सिद्धाण थुई य किइकम्मं ॥ ४८२ ॥ ॥ सूचागाहा ॥

सामाइअपुव्वगं तं कारिंति चारित्तसोहणनिमित्तं। पिअधम्मवज्जभीरू पण्णासुस्सासगपमाणं ॥ ४८३ ॥
ऊसारेऊण विहिणा सुद्धचरित्ता थयं पकड्ढित्ता। कड्ढंति तओ चेइअवंदणदंडं तउस्सग्गं ॥ ४८४ ॥
दंसणसुद्धिनिमित्तं करेंति पणवीसगं पमाणेणं। उस्सारिऊण विहिणा कड्ढंति सुअत्थयं ताहे ॥ ४८५ ॥
सुअनाणस्सुस्सग्गं कारिंति पणवीसगं पमाणेणं। सुत्तइयारविसोहणनिमित्तमह पारिउं विहिणा ॥ ४८६ ॥
चरणं सारो दंसणनाणा अंगं तु तस्स निच्छयओ। सारम्मि अ जइअव्वं सुद्धी पच्छाणुपुव्वीए ॥ ४८७ ॥
सुद्धसयलाइआरा सिद्धाणथयं पढंति तो पच्छा। पुव्वभणिएण विहिणा किइकम्मं दिंति गुरुणो उ ॥ ४८८ ॥
सुकयं आणत्तिंपिव लोए काऊण सुकयकिइकम्मा। वड्ढंतिओ थुईओ गुरुथुइगहणे कए तिण्णि ॥ ४८९ ॥

जो जत्तो उप्पज्जइ वाही सो वज्जिएण तेणेव । खयमेइ कम्मवाहीवि नवरमेवं मुणेअवं ॥ ४६३ ॥
उप्पण्णा उप्पण्णा माया अणुमग्गओ निहंतवा । आलोअणनिंदणगरहणाहिं न पुणो अ बीअं च ॥ ४६४ ॥
तस्स य पायच्छित्तं जं मग्गविऊ गुरू उवइसंति । तं तह अणुचरिअवं अणवत्थपसंगभीएणं ॥ ४६५ ॥
आलोइऊण दोसे गुरुणो पडिवन्नपायछित्ता उ । सामाइअपुवअं ते कड्ढिंति तओ पडिक्कमणं ॥ ४६६ ॥
तं पुण पयंपएणं सुत्तत्थेहिं च धणिअमुवउत्ता । दंसमसगाइ काए अगणिन्ता धिइबलसमेआ ॥ ४६७ ॥
परिकड्ढिऊण पच्छा किइकम्मं काउ नवरि खामंति । आयरिआई सवे भावेण सुए तहा भणिअं ॥ ४६८ ॥
आयरिअ उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुलगणे अ । जे मे केइ कसाया सवे तिविहेण खामेमि ॥ ४६९ ॥
सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं सिरे काउं। सव्वं खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥ ४७० ॥
सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहिअनिअचित्तो। सव्वं खमावइत्ता खमामि सवस्स अहयंपि ॥ ४७१ ॥
एवंविहपरिणामा भावेणं तत्थ नवरमायरियं । खामंति सव्वसाहू जइ जिट्ठो अन्नहा जेट्ठं ॥ ४७२ ॥
आयरिय उवज्झाए काऊणं सेसगाण कायव्वं । उप्परिवाडीकरणे दोसा सम्मं तहाऽकरणे ॥ ४७३ ॥
जा दुचरिमोत्ति ता होइ खामणं तीरिए पडिक्कमणे। आइण्णं पुण तिण्हं गुरुस्स दोण्हं च देवसिए ॥ ४७४ ॥
धिइसंघयणाईणं मेराहाणिं च जाणिउं थेरा । सेहअगीअत्थाणं ठवणा आइण्णकप्पस्स ॥ ४७५ ॥
असढेण समाइण्णं जं कत्थइ केणई असावज्जं । न निवारिअमण्णेहि अ बहुमणुमयमेअमाइण्णं ॥ ४७६ ॥

जा देवसिअं दुगुणं चिंतेइ गुरू अहिंडिओ चिट्ठं। बहुवावारा इअरे एगगुणं ताव चिंतिंति ॥ ४५० ॥
मुहणंतगपडिलेहणमाईअं तत्थ जे अईआरा। कंटकवग्गुवमाए धरंति ते णवरि चित्तंमि ॥ ४५१ ॥
संवेगसमावण्णा विसुद्धचित्ता चरित्तपरिणामा। चारित्तसोहणट्ठा पच्छावि कुणंति ते एअं ॥ ४५२ ॥

नमुक्कार चउव्वीसग कितिकम्माऽऽलोअणं पडिक्कमणं।
किइकम्म दुरालोइअ दुपडिक्कंते य उस्सग्गा ॥ ४५३ ॥ (सूअगाहा)

उस्सग्गसमत्तीए नवकारेणमह ते उ पारिंति। चउवीसगंति दंडं पच्छा कड्ढंति उवउत्ता ॥ ४५४ ॥
संडंसं पडिलेहिअ उवविसिअ तओ णवर मुहपोत्तिं। पडिलेहिउं पमज्जिय कायं सव्वेऽवि उवउत्ता ॥४५५॥
किइकम्मं वंदणगं परेण विणएण तो पउंजंति। सव्वप्पगारसुद्धं जह भणिअं वीअरागेहिं ॥ ४५६ ॥
आलोयण वागरणस्स पुच्छणे पूअणंमि सज्झाए। अवराहे अ गुरूणं विणओमूलं च वंदणयं ॥ ४५७ ॥
वंदित्तु तओ पच्छा अद्धावणया जहक्कमेणं तु। उभयकरधरियलिंगा ते आलोअंति उवउत्ता ॥ ४५८॥
परिचिंतिएऽइआरे सुहुमेऽवि भवण्णवाउ उव्विग्गा। अह अप्पसुद्धिहेउं विसुद्धभावा जओ भणियं ॥४५९॥
विणएण विणयमूलं गंतूणायरिअपायमूलंमि। जाणाविज्ज सुविहिओ जह अप्पाणं तह परंपि ॥ ४६० ॥
कयपावोऽवि मणूसो आलोइअनिंदिओ गुरुसगासे। होइ अइरेगलहुओ ओहरिअभरोव भारवहो ॥४६१॥
दुप्पणिहियजोगेहिं बज्झइ पावं तु जो उ ते जोगे। सुप्पणिहिए करेई झिज्जइ तं तस्स सेसंपि ॥ ४६२ ॥

तत्तो अ गुरुपरिण्णागिलाणसेहाण जे अभत्तट्ठी । संदिसइ पायमत्तअ अत्तणो पट्टगं चरिमं ॥ ४३७ ॥
पट्टग मत्तग सगउग्गहो अ गुरुमाइआणऽणुण्णवणा । तो सेसभाणवत्थे पाउंछणगं च भत्तट्ठी ॥ ४३८ ॥
जस्स जया पडिलेहा होइ कया सो तया पढइ साहू । परिअट्टेइ अ पयओ करेइ वा अण्णवावारं ॥४३९॥
चउभागवसेसाए चरिमाए पडिक्कमित्तु कालस्स । उच्चारे पासवणे ठाणे चउवीसयं पेहे ॥ ४४० ॥
अहियासिआ उ अंतो आसन्ने मज्झ दूर तिन्नि भवे । तिण्णेव अणहियासी अंतो छच्छच्च बाहिरओ ॥४४१॥
एमेव य पासवणे बारस चउवीसयं तु पेहित्ता । कालस्स य तिन्नि भवे अह सूरो अत्थमुवयाइ ॥ ४४२ ॥
इत्थेव पत्थवंमी गीओ गच्छंमि घोसणं कुणइ । सज्झायाइवउत्ताण जाणणट्ठा सुसाहूणं ॥ ४४३ ॥

काली गोअरचरिअं थंडिल्ला वत्थपत्तपडिलेहा ।
संभरऊ सो साहू जस्स व जं किंचि णाउत्तं ॥ ४४४ ॥ थंडिल्लत्ति दारं गयं ॥ ९ ॥

जइ पुण निव्वाघाओ आवासं तो करंति सव्वेऽवि । सड्ढाइकहणवाघायथाएँ पच्छा गुरू ठंति ॥ ४४५ ॥
सेसा उ जहासत्तिं आपुच्छित्ताण ठंति सट्ठाणे । सुत्तत्थसरणहेउं आयरिअ ठिअंमि देवसिअं ॥ ४४६ ॥
जो हुज्ज उ असमत्थो बालो वुड्ढो व रोगिओ वावि । सो आवस्सयजुत्तो अच्छिज्जा णिज्जरापेही ॥ ४४७॥
एत्थ उ कयसामइया पुव्वं गुरुणो अ तयवसाणंमि । अइआरं चिंतंती तेणेव समं भणंतऽण्णे ॥ ४४८ ॥
आयरिओ सामइयं कड्ढइ जाए तयट्ठिया तेऽवि । ताहे अणुपेहंती गुरुणा सह पच्छ देवसिअं ॥ ४४९ ॥

हुंति बिले दो दोसा तसेसु बीएसु वावि ते चेव ।
संजोगओ अ दोसा मूलगमा होंति सविसेसा ॥ ४२४ ॥ दारं ॥

दिसिपवणगामसूरिअछायाए मज्जिऊण तिक्खुत्तो । जस्सोग्गहोत्ति किचाण वोसिरे आयमिज्जा वा ॥४२५॥
उत्तर पुवा पुज्जा जंमाए निसिअरा अहिवडंति । घाणारिसा य पवणे सूरिअगामे अवण्णो उ ॥ ४२६ ॥
संसत्तग्गहणी पुण छायाए निग्गयाइ वोसिरइ । छायाऽसइ उण्हंमिवि वोसिरिअ मुहुत्तगं चिट्ठे ॥४२७॥ दारं ॥
आलोयणमुड्डमहे तिरिअं काउं तओ पमज्जिज्जा । पाए उग्गहऽणुण्णा पमज्जए थंडिलं विहिणा ॥ ४२८ ॥
उवगरणं वामे ऊरुगंमि मत्तं च दाहिणे हत्थे । तत्थऽण्णत्थ व पुंछे तिहिं आयमणं अदूरंमि ॥ ४२९ ॥
पढमासइ अमणुन्नेअराण गिहिआण वावि आलोए। पत्तेअमत्त कुरुकुअ दवं च पउरं गिहत्थेसु ॥ ४३० ॥
तेण परं पुरिसेणं असोअवाईण वच्च आवायं । इत्थिनपुंसगलोए परम्मुहो कुरुकुआ सा उ ॥ ४३१ ॥
तेण परं आवायं पुरिसेयर सेत्थियाण तिरिआणं । तत्थऽविअ परिहरिज्जा दुगुंछिए दित्तचित्ते अ ॥ ४३२ ॥
तत्तो इत्थिनपुंसा तिविहा तत्थवि असोअवाईसु । तहिअं तु सद्दकरणं आउलगमणं कुरुकुआ या ॥ ४३३ ॥
सण्णाए आगओ चरमपोरिसिं जाणिऊण ओगाढं । पडिलेहेइ अ पत्तं नाऊण करेइ सज्झायं ॥ ४३४ ॥
पुव्वुद्दिट्ठो अ विही इहंपि पडिलेहणाएँ सो चेव । जं इत्थं नाणत्तं तमहं वोच्छं समासेणं ॥ ४३५ ॥
पडिलेहगा उ दुविहा भत्तट्ठिअ एअरा उ नायव्वा । दोण्हविअ आइपडिलेहणा उ मुहणंतग सकायं ॥४३६॥

पुरिसावायं तिविहं दंडिअ कोडुंबिए अ पागइए । ते सोअऽसोअवाई एमेव णपुंसइत्थीसुं ॥ ४१० ॥

एए चेव विभागा परतित्थीणंपि हुंति मणुआणं । तिरिआणंपि विभागं अओ परं कित्तइस्सामि ॥ ४११ ॥

दित्ताऽदित्ता तिरिआ जहण्णमुक्कोस मज्झिमो चेव । एमेवित्थिनपुंसा दुगुंछिअदुगुंछिआ नवरं ॥४१२॥

गमण मणुस्से इअरे वितहायरणंमि होइ अहिगरणं । पउरदवकरण दट्ठुं कुसीलसेवाइगमणं तु ॥४१३॥ दारं ॥

जत्थऽम्हे वच्चामो जत्थ य आयरइ नाइवग्गो णे । परिभव कामेमाणा संकेअगदिन्नगा वावि ॥ ४१४ ॥

दवअप्पकलुसअसइ अवण्ण पडिसेह विप्परीणामो । संकाइआइ (उ) दोसा पंडित्थीसुं भवे जं च ॥४१५॥

आएणणाई दित्ते गरहिअतिरिएसु संकमाईआ । एमेव य संलोए तिरिए वज्जित्तु मणुआणं ॥ ४१६ ॥

कलुसदवे असई अ व पुरिसालोए हवंति दोसा उ । पंडित्थीसुऽवि एए खुद्धे वेउवि मुच्छा य ॥ ४१७ ॥

आवायदोस तइए बिइए संलोअओ भवे दोसा । ते दोऽवि नत्थि पढमे तहिं गमणं भणिअविहिणा उ ॥४१८॥

आयापवयणसंजम तिविहं उवघाइअं मुणेअवं । आरामवच्चअगणी पिट्ठणमसुई अ अन्नत्थ ॥ ४१९ ॥

विसम पलोट्टण आया इअरस्स पलोट्टणंमि छक्काया । झुसिरंमि विच्छुगाई उभयक्कमणे तसाईआ ॥ ४२० ॥

जे जंमि उउम्मि कया पयावणाईहिं थंडिला ते उ । होंति इअरंमि चिरकया वासावुत्थे अ बारसगं ॥ ४२१ ॥

हत्थाययं समंता जहन्नमुक्कोस जोअणविसुद्धं (विछप्पं) । दारं । चउरंगुलप्पमाणं जहन्नयं दूरमोगाढं ॥ ४२२ ॥

दूरासण्णं भवणाइयाण तहिअं तु संजमायाए । आयापवयणसंजम दोसा पुण भायआसण्णे ॥४२३॥ दारं॥

एक्किको संघाडो तिण्हायमणं तु जत्तिअं होइ । दवगहणं एवइअं इमेण विहिणा उ गच्छंति ॥ ३९७ ॥

अज्जुअलिया अतुरंता विगहारहिआ वयंति पढमं तु ।

निसिइत्तु डगलगहणं आवडणं वच्चमासज्ज ॥ ३९८ ॥ (विआरित्ति दारं गयं) ॥ ८ ॥

अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवघाइए । समे अज्झुसिरे आवि, अचिरकालकयम्मि अ ॥ ३९९ ॥
विच्छिण्णे दूरमोगाढे, णासण्णे बिलवज्जिए । तसपाणबीअरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ॥४००॥ दो दारगाहाओ ।
एक्कंदुतिचउपंचच्छक्कसत्तट्ठनवगदसएहिं । संजोगा कायव्वा भंगसहस्सं चउव्वीसं ॥ ४०१ ॥
दुगसंजोगे चउरो तिगऽट्ठ सेसेसु दुगुणदुगुणा उ । भंगाणं परिसंखा दसहिं सहस्सं चउव्वीसं ॥ ४०२ ॥
अहवा-उभयमुहं रासिदुगं हिट्ठिल्लाणंतरेण भय पढमं । लद्धऽहरासिविहत्तं तस्सुवरिगुणं तु संजोगा ॥४०३॥
दस पणयाल विसुत्तर सयं च दो सय दसुत्तरं दो अ । बावण्ण दो दसुत्तर विसुत्तरं पंचचत्ता य ॥४०४॥
दस एगो अ कमेणं भंगा एगाइचारणाए उ । सुद्धेण समं मिलिआ भंगसहस्सं चउव्वीसं ॥ ४०५ ॥
अणावायमसंलोए अणावाए चेव होइ संलोए । आवायमसंलोए आवाए चेव संलोए ॥ ४०६ ॥
तत्थावायं दुविहं सपक्खपरपक्खओ अ नायव्वं । दुविहं होइ सपक्खे संजय तह संजईणं च ॥ ४०७ ॥
संविग्गमसंविग्गा संविग्ग मणुण्णएअरा चेव । असंविग्गावि य दुह तप्पक्खिअ एअरा चेव ॥ ४०८ ॥ दारं ॥
परपक्खेऽवि अ दुविहं माणुसतेरिच्छियं च नायव्वं । एक्किंकंपिअ तिविहं इत्थी पुरिसं नपुंसं च ॥ ४०९ ॥

जो तं पइ पडिसेहो दट्ठवो न पुण जो कज्जे ॥ ३८५ ॥
एत्थ रसलोलुआए विगईं न मुअइ दढोऽवि देहेणं । जो तं पइ पडिसेहो दट्ठवो न पुण जो कज्जे ॥ ३८५ ॥
अब्भंगेण व सगडं न तरइ विगईं विणाऽवि जो साहू । सो रागदोसरहिओ मत्ताएँ विहीएँ तं सेवे ॥३८६॥

पडुपण्णऽणागए वा संजमजोगाण जेण परिहाणी ।

नवि जायइ तं जाणसु साहुस्स पमाणमाहारं ॥ ३८७ ॥ भुंजणत्ति दारं गयं ॥ ६ ॥

अह भुंजिऊण पच्छा जोग्गा होऊण पत्तगे ताहे । जोग्गे धुवंति वाहिं सागरिए नवरमंतोऽवि ॥ ३८८ ॥
अच्छदवेणुवउत्ता निरवयवे दिंति तेसु कप्पतिअं । नाऊण व परिभोगं कप्पं ताहे पवाहिंति ॥ ३८९ ॥
अंतो निरवयवि च्चिअ चिअतिअकप्पेऽवि वाहि जइ पेहो । अवयवमंतजलेणं तेणेव करिज्जते कप्पे ॥३९०॥
पच्छन्ने भोत्तवं जइणा दाणाओं पडिनिअत्तेणं । तुच्छगजाइअदाणे बंधो इहरा पदोसाई ॥ ३९१ ॥

संवरणं तयणंतरमेक्कासणगेऽवि अप्पमायत्थं ।

आणाअणुहवसेअं आगारनिरोहओ अण्णं ॥ ३९२ ॥ पत्तगधुवणत्ति दारं गयं ॥ ७ ॥

कालमकाले सण्णा कालो तइयाएँ सेसगमकालो । पढमापोरिसि आपुच्छ पाणगमपुप्फि अण्णदिसिं ॥ ३९३ ॥
अइरेगगहण उग्गाहिएण आलोइअ पुच्छिउं गच्छे । एसा उ अकालंमी अणहिंडिअहिंडिआ काले ॥३९४॥
कप्पेऊणं पाए एक्किक्कस्स उ दुवे पडिग्गाहिए । दाउं दो दो गच्छे, तिण्हऽट्ठ दवं तु घित्तूणं ॥ ३९५ ॥
कप्पेऊणं पाए संघाडइलो उ एगु दोण्हंपि । पाए धरेइ बिइओ वच्चइ एवं तु अण्णसमं ॥ ३९६ ॥

खीरं दहि नवणीयं घयं तहा तिल्लमेव गुड मज्जं। मह्रु मंसं चेव तहा ओगहिमगं च दसमी तु ॥ ३७१ ॥
गोमहिसुट्टिपसूणं एलग खीराणि पंच चत्तारि। दहिमाइआइं जम्हा उट्टीणं ताणि नो हुंति ॥ ३७२ ॥
चत्तारि हुंति तिल्ला तिलअयसिकुसुंभसरिसवाणं च। विगईओ सेसाइं डोलाईणं न विगईओ ॥ ३७३ ॥
दवगुडपिंडगुला दो मज्जं पुण कट्ठपिट्ठनिप्फन्नं। मच्छिअ-पोत्तिअ-भामरभेअं च तिहा महुं होइ ॥ ३७४ ॥
जलथलखहयरमंसं चम्मं वस सोणिअं तिभेअंपि। आइल्ल तिण्णि चलचल ओगाहिमगाइ विगईओ ॥ ३७५ ॥
सेसा ण हुंति विगई अजोगवाहीण ते उ कप्पंति। परिभुंजंति न पायं जं निच्छयओ न नज्जंति ॥ ३७६ ॥
एगेण चेव तवओ पूरिज्जइ पूअएण जो ताओ। बीओवि स पुण कप्पइ निव्विगइ अ लेवडो नवरं ॥३७७॥
दहिअवयवो उ मंथू विगई तक्कं न होइ विगईओ। खीरं तु निरावयवं नवणीओगाहिमं चेव ॥ ३७८ ॥
घयघट्टो पुण विगई वीसंदणमो अ केइ इच्छंति। तिल्लगुलाण निविगई सूमालिअखंडमाईणि ॥ ३७९ ॥
मज्जमहुणो ण खोला मयणा विगईओं पोग्गले पिंडो। रसओ पुण तदवयवो सो पुण नियमा भवे विगई ॥३८०॥
खज्जूरमुद्दियादाडिमाण पिलुच्छुचिंचमाईणं। पिंडरसय न विगइओ नियमा पुण होंति लेवकडा ॥ ३८१ ॥
एत्थं पुण परिभोगो निव्विइआणंपि कारणाविक्खो। उक्कोसगदव्वाणं न तु अविसेसेण विन्नेअं ॥ ३८२ ॥
विगई परिणइधम्मो मोहो जमुदिज्जए उदिण्णे अ। सुट्ठुवि चित्तजयपरो कहं अकज्जे न वट्टिहिई ? ॥३८३॥
दावानलमज्झगओ को तदुवसमट्ठयाएँ जलमाई। संतेऽवि न सेविज्जा मोहानलदीविए उ(वु)वमा ॥ ३८४ ॥

गहणे पक्खेवंमि अ सामायारी पुणो भवे दुविहा । गहणं पायंमि भवे वयणे पक्खेवणं होइ ॥ ६५९ ॥
पयरगकडछेयणं भोत्तव्वं अह सीहखइयणं । एगेणमणेगेहि अ वज्जित्ता धूमइंगालं ॥ ६६० ॥
असुरसुरं अचवचवं अदुअमविलंबिअं अपरिसाडिं । मणवयणकायगुत्तो भुंजइ अह पक्खिवणसोही ॥६६१॥
रागेण सइंगालं दोसेण सधूमगं मुणेअव्वं । रागदोसविरहिआ भुंजंति जई उ परमत्थो ॥ ६६२ ॥
जहभागगया मत्ता रागाईणं तहा चओ कम्मे । रागाइविहुरयाऽवि हु पायं वत्थूण विहुरत्ता ॥ ६६३ ॥
निअमेण भावणाओ विवक्खभूआओ सुप्पउत्ताओ । होइ खओ दोसाणं रागाईणं विसुद्धाओ ॥ ६६४ ॥
वेअण वेआवच्चे इरिअट्ठाए अ संजमट्ठाए । तह पाणवत्तिआए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥६६५॥ दारगाहा ॥

णत्थि छुहाए सरिसा वेअण भुंजिज्ज तप्पसमणट्ठा । दारं ।
छुहिओ वेआवच्चं न तरइ काउं तओ भुंजे ॥ ६६६ ॥ दारं ।
इरिअं च न सोहिज्जा । दारं । पेहाईअं च संजमं काउं । दारं ।
थामो वा परिहायइ । दारं । गुणणाऽणुपेहासु अ असत्तो ॥ ६६७ ॥ दारं ॥

नव वण्णाइनिमित्तं एसो आलंबणेण पडणोणं । तंपि न विगइविमिस्सं ण पगामं माणजुत्तं तु ॥ ६६८ ॥
जे वण्णाइनिमित्तं एसो आलंबणेण पडणेणं । भुंजंति तेसि बंधो नेओ तप्पच्चओ तिव्वो ॥ ६६९ ॥
विगइं विगईभीओ विगइगयं जो उ भुंजए साहू । विगई विगयसहावा विगई विगइं बला णेइ ॥ ६७० ॥

परिणामविसुद्धीए विणा उ गहिएऽवि निज्जरा थोवा। तम्हा विहिभत्तीए छंदिज्ज तहा वि(चि)अत्तिज्जा ॥३४७॥
आहरणं सिट्ठिदुगं जिणिंदपारणगऽदाणदाणेसु । विहिभत्तिभावऽभावा मोक्खंगं तत्थ विहिभत्ती ॥३४८॥
वेसालिवासठाणं समरे जिण पडिम सिट्ठिपासणया। अइभत्ति पारणदिणे मणोरहो अन्नहिं पविसे ॥३४९॥

जा तत्थ दाण धारा लोए कयपुन्नउत्ति अ पसंसा ।
केवलिआगम पुच्छण को पुण्णो ? जिण्णसिट्ठित्ति ॥ ३५० ॥ युगलं ॥

इअरे उ निअट्ठाणे गंतूणं धम्ममंगलाईअं । कड्ढंति ताव सुत्तं जा अन्ने संणिअट्टंति ॥ ३५१ ॥
धम्मं कहण्ण कुज्जं संजमगाहं च निअमओ सव्वे । एद्दहमित्तं वऽण्णं सिद्धं जं जंमि तित्थम्मि ॥ ३५२ ॥
दिंति तओ अणुसट्ठिं संविग्गा अप्पणा उ जीवस्स । रागद्दोसाभावं सम्मावायं तु मन्नंता ॥ ३५३ ॥
बायलीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीव ! न हु छलिओ। इण्हिं जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं ॥ ३५४ ॥
रागद्दोसविरहिआ वणलेवाइउवमाइ भुंजंति । कड्ढित्तु नमोक्कारं विहीएँ गुरुणा अणुन्नाया ॥ ३५५ ॥
निद्धमहुराइ पुव्विं पित्ताईपसमणट्ठया भुंजे। बुद्धिबलवद्धणट्ठा दुक्खं खु विगिंचिउं निद्धं ॥ ३५६ ॥
अह होज्ज निद्धमहुराइं अप्पपरिकम्मसपरिकम्मेहिं । भोत्तूण निद्धमहुरे फुसिअ करे मुंचऽहाकडए ॥३५७॥

कुक्कुडिअंडगमित्तं अहवा खुड्डागलंबणासिस्स ।
लंबणतुल्ले (मित्तं) गेण्हइ अविगिअवयणो उ रायणिओ ॥ ३५८ ॥

काले अपहुप्पंते उव्वाओ वावि ओहमालोए । वेला गिलाणगस्स व अइगच्छइ गुरु व उव्वाओ ॥ ३३५ ॥
पुरकम्म पच्छकम्मे अप्पेऽसुद्धे अ ओहमालोए । तुरिअकरणंमि जं से ण सुज्झई तत्तिअं कहए ॥ ३३६ ॥
आलोएत्ता सव्वं सीसं सपडिग्गहं पमज्जित्ता । उड्ढमहे तिरिअंमि अ पडिलेहे सव्वओ सव्वं ॥ ३३७ ॥
उड्ढं घरकोइलाई (दारं) तिरिअं मज्जारसाणडिंभाई (दारं) ।
खीलगदारुगपडणाइरक्खणट्ठा अहो पेहे ॥ ३३८ ॥ दारं ॥
ओणमओ पवडिज्जा सिरओ पाणा अओ पमज्जिज्जा । एमेव उग्गहंमिवि मा संकुडणे तसविणासो ॥३३९॥
काउं पडिग्गहं करयलंमि अद्धं च ओणमित्ताणं । भत्तं वा पाणं वा पडिदंसिज्जा गुरुसगासे ॥ ३४० ॥
ताहे दुरालोइअ भत्तपाणे एसणमणेसणाए उ । अट्ठुस्सासे अहवा अणुग्गहाई उ झाएज्जा ॥ ३४१ ॥
विणएण पट्ठवित्ता सज्झायं कुणइ तो मुहुत्तागं ।
एवं तु खोभदोसा परिस्समाई अ होंति जढा ॥ ३४२ ॥ आलोअणत्ति दारं गयं ॥ ५ ॥
दुविहो अ होइ साहू मंडलिउवजीवओ अ इअरो अ । मंडलि उवजीवंतो अच्छइ जा पिंडिआ सव्वे ॥३४३॥
इअरो संदिसहत्ति अ पाहुणखमणे गिलाण सेहे अ । अहरायणिअं सव्वे चिअत्तेण(त्त)निमंतए एवं ॥ ३४४॥
दिन्ने गुरूहिं तेहिं सेसं भुंजेज्ज गुरुअणुण्णाओ । गुरुणा संदिट्ठो वा दाउं सेसं तओ भुंजे ॥ ३४५ ॥
इच्छिज्ज न इच्छिज्ज व तहवि अ पयओ निमंतए साहू । परिणामविसुद्धीए निज्जरा होअगहिएऽवि ॥३४६॥

ते चेव तत्थ नवरं पायच्छित्तंति आह समयण्णू । जम्हा सइ सुहजोगो कम्मक्खयकारणं भणिओ ॥३२२॥
सुहजोगो अ अयं जं चरणाराहणनिमित्तमणुअंपि । मा होज्ज किंचि खलिअं पेहेइ तओवउत्तोऽवि ॥३२३॥
कायनिरोहे वा से पायच्छित्तमिह जं अणुस्सरणं । तं विहिआणुट्ठाणं कम्मक्खयकारणं परमं ॥ ३२४ ॥
जइ एवं ता किं पुण अन्नत्थवि सो न होइ नियमेण। पच्छित्तं होइ च्चिअ अणिअमओ जं अणुस्सरणे ॥३२५॥

चिंतित्तु जोगमखिलं नवकारेणं तओ उ पारित्ता ।

पढिऊण थयं ताहे साहू आलोअए विहिणा ॥ ३२६ ॥ भिक्खरिअत्ति दारं गयं ॥ ३-४ ॥

वक्खित्त पराहुत्ते पमत्ते मा कयाइ आलोए । आहारं च करिंती नीहारं वा जइ करेइ ॥३२७॥ दारगाहा ॥
कहणाई वक्खित्ते विगहाई पमत्त अन्नओ व मुहे । अंतर अकारगं वा नीहारे संक मरणं वा ॥ ३२८॥ दारं ॥
अव्वक्खित्तं संतं उवसंतमुवट्ठियं च नाऊणं । अणुनविउं मेहावी आलोएज्जा सुसंज(य)ए ॥ ३२९ ॥
कहणाई अवक्खित्तं कोहादुवसंत वट्ठियमुवत्तं । संदिसहत्ति अणुण्णं काऊण विदिन्न आलोए ॥३३०॥दारं॥
णट्टं चलं च भासं मूअं तह ढड्ढरं च वज्जिज्जा । आलोएज्ज सुविहिओ हत्थं मत्तं च वावारं ॥ ३३१ ॥
करपायभमुहसीसच्छिहोट्ठमाईहिं नच्चिअं नाम । दारं । चलणं हत्थसरीरे चलणं काएण भावेण ॥ ३३२॥
गारत्थिअभासाओ य वज्जए मूअ ढड्ढरं च सरं । आलोए वावारं संसट्ठिअरे य करपत्ते ॥ ३३३ ॥
एअदोसविमुक्को गुरुणो गुरुसंमयस्स वाऽऽलोए । जं जह गहिअं तु भवे पढमाया जा भवे चरमा ॥ ३३४ ॥

तक्कालाणुवलद्धं मच्छिगकंटाइअं विगिंचंति । उवलद्धं वावि तया कहंचि जं णोज्झिअं आसि ॥ ३०९ ॥
सुन्नहर देउले वा असई अ उवस्सयस्स वा दारे । मच्छिगकंटगमाई सोहेत्तुमुवस्सयं पविसे ॥ ३१० ॥

पायपमज्ज निसीहिअ अंजलि दंडुवहिमोक्खणं विहिणा ।
सोहिं च करिंति तओ उवउत्ता जायसंवेगा ॥ ३११ ॥ पडिदारगाहा ॥

एवं पडुपण्णे पविसओ उ तिन्नि उ निसीहिया होंति । अग्गद्दारे मज्झे पवेसणे पायऽसागरिए ॥ ३१२॥ दारं ॥
हत्थुस्से हो सीसप्पणामणं वाइओ नमुक्कारो । गुरुभायणे पणामो वायाएँ नमो ण उस्सेहो ॥ ३१३ ॥ दारं ॥
उवरिं हिट्ठा य पमज्जिऊण लट्ठिं ठवंति सट्ठाणे । पट्टं उवहिस्सुवरिं भायण वत्थाणि भाणेसुं ॥ ३१४ ॥
जइ पुण पासवणं से हविज्ज तो उग्गहं सपच्छागं । दाउं अन्नस्स सचोलपट्टगो काइअं निसिरे ॥ ३१५ ॥
वोसिरिअ काइअं वा आगंतूण य तओ असंभंतो । दारं । पच्छाय जोगदेसं पमज्जिउं सुत्तविहिणा उ ॥ ३१६ ॥
इरिअं पडिक्कमेइ इच्छामिचाई कड्ढई सुत्तं । अइआरसोहणट्ठा कायनिरोहं दढं कुणइ ॥ ३१७ ॥
चउरंगुलमप्पत्तं जाणू हिट्ठाऽछिवोवरिं नाभिं । उभओ कोप्परधरिअं करिज्ज (त्थ)पट्टं च पडलं वा ॥ ३१८ ॥
पुव्वुद्दिट्ठे ठाणे ठाउं चउरंगुलंतरं काउं । मुहपोत्ति उज्जुहत्थे वामंमि अ पायपुंछणयं ॥ ३१९ ॥
काउस्सग्गंमि ठिओ चिंते समुदाणिए अईयारे । जा निग्गमप्पवेसो तत्थ उ दोसे मणे कुज्जा ॥ ३२० ॥
ते उ पडिसेवणाए अणुलोमा होंति विअडणाए अ । पडिसेवविअडणाए इत्थं चउरो भवे भंगा ॥ ३२१ ॥

जस्स य जोगोत्ति जइ न भणंति न कप्पई तओ अन्नं। जोग्गंपि वत्थमाई उवग्गहकरंपि गच्छस्स ॥ २९५ ॥
साहूण जओ कप्पो मोत्तूणं आणपाणमाईणं। कप्पइ न किंचि काउं घित्तुं वा गुरुअपुच्छाए ॥ २९६ ॥
हिंडंति तओ पच्छा अमुच्छिया एसणाएँ उवउत्ता। दव्वादभिग्गहजुआ मोक्खट्ठा सव्वभावेणं ॥ २९७ ॥
लेवडमलेवडं वा अमुगं दव्वं व अज्ज घिच्छामि। अमुगेण व दव्वेणं अह दव्वाभिग्गहो चेव ॥ २९८ ॥
अट्ठ उ गोअरभूमी एलुगविक्खंभमित्तगहणं च। सग्गामपरग्गामे एवइअ घरा उ खित्तंमि ॥ २९९ ॥
उज्जुग १ गंतुं पच्चागइआ २ गोमुत्तिआ ३ पयंगविही ४। पेडा ५ य अद्धपेडा ६ अब्भिंतर ७ बाहि संबुक्का ८ ॥३००॥
काले अभिग्गहो पुण आई मज्झे तहेव अवसाणे। अप्पत्ते सइ काले आई बिति मज्झ तइअंते ॥ ३०१ ॥
दितगपडिच्छगाणं हविज्ज सुहुमंपि मा हु अचिअत्तं। इइ अप्पत्त अईए पवत्तणं मा इतो मज्झे ॥ ३०२ ॥
उक्खित्तमाइचरगा भावजुआ खलु अभिग्गहा हुंति। गाअंतो व रुअंतो जं देइ निसण्णमाई वा ॥ ३०३ ॥
ओसक्कण अभिसक्कण परंमुहोऽलंकिओ व इयरोऽवि। भावऽण्णयरेण जुओ अह भावाभिग्गहो नाम ॥ ३०४ ॥
पुरिसे पडुच्च एए अभिग्गहा नवरि एत्थ विण्णेआ। सत्ता विचित्तचित्ता केई सुज्झंति एमेव ॥ ३०५ ॥
जो कोइ परिकिलेसो जेसिं केसिंचि सुद्धिहेउत्ति। पावइ एवं तम्हा ण पसत्थाभिग्गहा एए ॥ ३०६ ॥
सत्थे विहिआ निरवज्ज पयइ मोहाइघायणसमत्था। तित्थगरेहिवि चिण्णा सुपसत्थाऽभिग्गहा एए ॥ ३०७ ॥
सुत्तभणिएण विहिणा उवउत्ता हिंडिऊण ते भिक्खं। पच्छा उविंति वसहिं सामायारिं अभिंदंता ॥३०८॥

। अगणी तेणभए वा रज्जक्खोभे विराहणया ॥ २८३ ॥
रयताण भाणधरणं उउबद्धे निक्खिविज्ज वासासु । अगणी तेणभए वा रज्जक्खोभे विराहणया ॥ २८४ ॥
परिगलमाणो हीरेज्ज डहणभेआ तहेव छक्काया । गुत्तो अ सयं डज्झे हीरिज्ज व जं च तेण विणा ॥

वासासु णत्थि अगणी णेव अ तेणा उ दंडिआ सत्था ।
तेण अबंधण ठवणा एवं पडिलेहणा पाए ॥ २८५ ॥ 'पडिलेहणा पमज्जण' त्ति दारं गयं ॥ २ ॥
कयजोगसमायारा उवओगं कायजोग (काउ गुरु) समीवंमि ।
आवसियाए णिंती जोगेण य भिक्खणट्ठाए ॥ २८६ ॥

काइयमाइयजोगं काउं घित्तूण पत्तए ताहे । डंडं च संजयं तो गुरुपुरओ ठाउमुवउत्तो ॥ २८७ ॥
संदिसह भणंति गुरुं उवओग करेसु तेणऽणुण्णाया । उवओगकरावणिअं करेमि उस्सग्गमिच्चाइ ॥ २८८ ॥
अह कड्ढिऊण सुत्तं अक्खलियाइगुणसंजुअं पच्छा । चिट्ठंति काउसग्गं चिंतंति अ तत्थ मंगलगं ॥ २८९ ॥
तप्पुव्वयं जयत्थं अन्ने उ भणंति धम्मजोगमिणं । गुरुबालवुड्ढसिक्खगरेसिंमि न अप्पणो चेव ॥ २९० ॥
चिंतित्तु तओ पच्छा मंगलपुव्वं भणंति विणयणया । संदिसहत्ति गुरूवि अ लाभोत्ति भणाइ उवउत्तो ॥ २९१ ॥
कह घेत्थिसोत्ति पच्छा सविसेसणया भणंति ते सम्मं । आह गुरूवि तहत्ति अ जह गहिअं पुव्वसाहूहिं ॥ २९२ ॥
आवस्सियाऍ जस्स य जोगोत्ति भणित्तु ते तओ णिंति । निक्कारणे न कप्पइ साहूणं वसहि निग्गमणं ॥ २९३ ॥
गुरुणा अपेसियाणं गुरुसंदिट्ठेण वावि कज्जंमि । तह चेव कारणंमिवि न कप्पई दोससब्भावा ॥ २९४ ॥

भाणस्स पास बिट्ठो पढमं सोआइएहिं काऊणं । उवओगं तल्लेसो पच्छा पडिलेहए एवं ॥ २६९ ॥
मुहणंतएण गोच्छं गोच्छगलइअंगुली उ पडलाइं । उक्कुडुओ भाणवत्थे पलिमंथाईसु तं न भवे ॥ २७० ॥
चउ कोण भाणकोणे पमज्ज पाएसरीएँ तिउणंति । भाणस्स पुप्फगं तो इमेहिं कज्जेहिं पडिलेहे ॥ २७१ ॥
मूसगरयउक्केरे, घणसंताणए इअ । उदए मट्टिया चेव, एमेआ पडिवत्तिओ ॥ २७२ ॥
नवगनिवेसे दूराओँ उक्किरो मूसएहिं उक्किण्णो । निद्धमही हरतणुओ ठाणं भित्तूण पविसिज्जा ॥ २७३ ॥
कोत्थलगारी घरगं घणसंताणाइया य लग्गिज्जा । उक्केरं सट्ठाणे हरतणु चिट्ठिज्ज जा सुक्को ॥ २७४ ॥
इअरेसु पोरिसितिगं संचिक्खाविस्त तस्तिअं छिंदे । सव्वं वाऽवि विगिंचे पोराणं मट्टिअं खिप्पं ॥ २७५ ॥
भायण पमज्जिऊणं बाहिं अंतो अ एत्थ पप्फोडे । केइ पुण तिन्नि वारा चउरंगुलमित्त पडणभया ॥ २७६ ॥
दाहिणकरेण कन्ने घेत्तुं भाणंमि वामपडिबंधे । खोडेज्ज तिन्नि वारे तिन्नि तले तिन्नि भूमीए ॥ २७७ ॥
कालपरिहाणिदोसा सिक्कगबंधेऽवि विलइए संतो । एसो व विही सम्मं कायव्वो अप्पमत्तेणं ॥ २७८ ॥
अवलंबिऊण कज्जं जं किंचि समायरंति गीयत्था । थेवावराहबहुगुण सव्वेसिं तं पमाणं तु ॥ २७९ ॥
ण य किंचि अणुन्नायं पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं । तित्थगराणं आणा कज्जे सचेण होअव्वं ॥ २८० ॥
दोसा जेण निरुज्झंति जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं । सो सो मोक्खोवाओ रोगावत्थासु समणं वा ॥ २८१ ॥
विंटिअ बंधणधरणे अगणी तेणे अ दंडिअक्खोहे । उउबद्ध धरणबंधण वासासु अबंधणे ठवणा ॥ २८२ ॥

खाउणपमज्जवेलासु चेव ऊणाहिआ मुणेअव्वा । चोदगः–कुक्कुड अरुणपगासं परोप्परं पाणिपडिलेहा ॥ २५५ ॥
देवसिया पडिलेहा जं चरिमाएत्ति विब्भमो एसो । कुक्कुडगादिसिस्सा तत्थं धारंति ते (तो) सेसा ॥ २५६ ॥
एए उ अणाएसा अंधारे उग्गएऽवि हु ण दीसे । मुहरयणिसिज्जचोले कप्पतिअ दुपट्ट थुइ सूरो ॥ २५७ ॥
जीवदयट्ठा पेहा एसो कालो इमीएँ ता णेओ । आवस्सयथुइअंते दसपेहा उट्ठए सूरो ॥ २५८ ॥
एए उ अणादेसा एत्थ असंवड्ढभासगंपि गुरू । असढं तु पणविज्जत्तिखावणट्ठा विणिद्दिट्ठा ॥ २५९ ॥
गुरुपच्चक्खाणगिलाणसेहमाईण पेहणं पुव्विं । तो अप्पणो पुव्वमहाकडाइं इअरे दुवे पच्छा ॥ २६० ॥
पुरिसुवहिविवच्चासो सागरिअ करिज्ज उवहिवच्चासं । आपुच्छित्ताण गुरुं पडुच्च माणेतरे वितहं ॥ २६१ ॥
अप्पडिलेहियदोसा आणाई अविहिणावि ते चेव । तम्हा उ सिक्खिअव्वा पडिलेहा सेविअव्वा य ॥२६२॥दारं।१।
पडिलेहिऊण उवहिं गोसंमि पमज्जणा उ वसहीए । अवरण्हे पुण पढमं पमज्जणा पच्छ पडिलेहा ॥ २६३ ॥
वसही पमज्जियव्वा वक्खेवविवज्जिएण गीएण । उवउत्तेण विचक्खे नायव्वो होइ अविही उ ॥ २६४ ॥
सह पम्हलेण मिउणा चोप्पडमाइरहिएण जत्तेणं । अविद्धदंडगेणं दंडगपुच्छेण नडन्तेणं ॥ २६५ ॥
अपमज्जणंमि दोसा जणगरहा पाणिघाय मइलणया । पायपमज्जण उवही धुवणाधुवणंमि दोसा उ ॥ २६६ ॥
चरिमाए पोरिसीए पत्ताए भायणाण पडिलेहा । सा पुण इमेण विहिणा पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥ २६७ ॥
तीआणागयकरणे आणाई अविहिणाऽवि ते चेव । तम्हा विहीएँ पेहा कायव्वा होइ पत्ताणं ॥ २६८ ॥

आरभडा सम्मद्दा वज्जेयव्वा अठाणठवणा य ।
पप्फोडणा चउत्थी विक्खित्ता वेइआ छट्ठी ॥ २४५ ॥ पडिदारगाहा ॥
वितहकरणंमि तुरिअं अण्णं अण्णं व गिण्ह आरभडा । दारं ।
अंतो उ होज्ज कोणा निसिअण तत्थेव सम्मद्दा ॥ २४६ ॥ दारं ॥
गुरुउग्गहो (हा) अठाणं (दारं) पप्फोडण रेणुगुंडिए चेव । (दारं)
विक्खेवं (त्ते) तुक्खेवो वेइअपणगं च छद्दोसा ॥ २४७ ॥

उड्ढमहो एगत्तो उभओ अंतो अ वेइआपणगं । जाणूणमुवरि हिट्ठा एगंतर दोण्ह बीअं तु ॥ २४८ ॥
पसिढिल पलंब लोला एगामोसा अणेगरूवधुणा । कुणइ पमाणि पमायं संकिअगणणोपगं कुज्जा ॥ २४९ ॥ दारं ॥

पसिढिलमघणं अणिरायगं व विसमगह लंब कोणे वा । दारं ।
भूमिंकरलोलणया कड्ढणगहणेक्कआमोसा ॥ २५० ॥ दारं ॥

धूणणा तिण्ह परेणं बहूणि वा घेत्तु एगओ धुणइ । खोडणपमज्जणासुं संकिय गणणं करि पमाई ॥ २५१ ॥
उड्ढाइविहाणंमिवि अणेगहा दोसवण्णणं एअं । परिसुद्धमणुट्ठाणं फलयंति निदरिसणपरं तु ॥ २५२ ॥
अणुणाइरित्तपडिलेह अविवच्चासा उ अट्ठ भंगाओ । पढमं पयं पसत्थं सेसाणि उ अप्पसत्थाणि ॥ २५३ ॥
नो ऊणा नऽइरित्ता अविवच्चासा उ पढमओ सुद्धो । सेसा हुंति असुद्धा उवरिल्ला सत्त जे भंगा ॥ २५४ ॥

उड्ढं थिरं अतुरिअं सव्वं ता वत्थ पुव्वपडिलेहा ।
तो बीअं पप्फोडे तइअं च पुणो पमज्जिज्जा ॥ २३३ ॥ पडिदारगाहा ॥
वत्थे काउड्ढंमि अ परवयण ठिओ गहाय दसिअंते । तं न भवइ उक्कुडुओ तिरिअं पेहे जह विलित्तो ॥ २३४ ॥
अंगुट्ठअंगुलीहिं घित्तुं वत्थं तिभागबुद्धीए । तत्तो अ असंभंतो ॥ दारं ॥ थिरंति थिरचक्खुवावारं ॥ २३५ ॥
परिवत्तिअं च सम्मं अतुरिअमिह अतुयं पयत्तेणं । वाउजयणानिमित्तं इहरा तक्कोवमाईआ ॥ २३६ ॥ दारं ॥
इअ दोसुं पासेसुं दंसणओ सव्वगहणभावेणं । सव्वंति निरवसेसं ता पढमं चक्खुणा पेहे ॥ २३७ ॥ दारं ॥
अदंसणंमि अ तओ सुहुंगलिआइआण जीवाणं । तो बीअं पप्फोडे इहरा संकामणं विहिणा ॥ २३८ ॥
अणच्चाविअमवलिअमणाणुबंधिं अमोसलिं चेव ।
छप्पुरिमं नवखोडं पाणी पाणिपमज्जणं ॥ २३९ ॥ पडिदारगाहा ॥
वत्थे अप्पाणंमि अ चउह अणच्चाविअं अवलिअं च । अणुबंधि निरंतरया तिरिउड्ढऽहघट्टणा मुसली ॥ २४० ॥
तिरि उड्ढ अहे मुसली घट्टण कुड्डे अ माल भूमीए । एअं तु मोसलीए फुडमेवं लक्खणं भणिअं ॥ २४१ ॥
छप्पुरिमा तिरिअकए नव खोडा तिन्नि तिन्नि अंतरिआ । ते उण विआणिअव्वा हत्थंमि पमज्जणतिएणं ॥ २४२ ॥
तइअं पमज्जणतिगं तयणंतरमेव तह पडिलेहणा भणिआ । पढमतिगं तिन्नि खोडा तिन्नि पमज्जणा ॥ २४३ ॥
तइअं पमज्जणतिगं तयणऽक्खिस्सस्सारक्खट्ठा । तक्खणपमज्जिआए तब्भूमीए अभोगाओ ॥ २४४ ॥
विहिपाहण्णेणेवं भणिअं (तं) पडिलेहणं अओ उड्ढं । एअं चेवाह गुरू पडिलेहपहाणओ नवरं ॥ २४४ ॥

मुत्तूण अभयकरणं परोवयारोऽवि नत्थि अण्णोत्ति । दंडिगतेणगणायं न य गिहवासे अविगलं तं ॥ २२२ ॥
तेणस्स वज्झनयणं विद्दाणग रायपत्तिपासणया । निववित्रवणं कुणिमो उवयारं किंपि एअस्स ॥ २२३ ॥
रायाणुण्णा पह्वणग विलेवणं भूसणं सुहाहारं । अभयं च कयं ताहिं किं लट्ठं ?, पुच्छिए अभयं ॥ २२४ ॥
गिहिणो पुण संपज्जइ भोअणमित्तंपि निअमओ चेव । छज्जीवकायघाएण ता तओ कह णु लट्ठोत्ति ? ॥ २२५ ॥
गुरुणोऽवि कह न दोसो तवाइदुक्खं तहा करिंतस्स । सीसाणमेवमाइवि पडिसिद्धं चेव एएणं ॥ २२६ ॥
परमत्थओ न दुक्खं भावंमिऽवि तं सुहस्स हेउत्ति ।
जह कुसलविज्जकिरिआ एवं एअंपि नायव्वं ॥ २२७ ॥ 'कहंति दारं गयं' ॥ सम्मत्तं पढमवत्थुं ॥ १ ॥
पव्वज्जाएँ विहाणं एमेअं वण्णिअं समासेणं । एत्तो पइदिणकिरियं साहूणं चेव वोच्छामि ॥ २२८ ॥
पव्वइअगो जओ इह पइदिणकिरियं करेइ जो नियमा । सुत्तविहिणाऽपमत्तो सफला खलु तस्स पव्वज्जा ॥ २२९ ॥
पडिलेहणा १ पमज्जण २ भिक्ख ३ रिआ ४ ऽऽलोअ ५ भुंजणा ६ चेव ।
पत्तगधुवण ७ विआरा ८ थंडिल ९ मावस्सगाईआ १० ॥ २३० ॥ मूलदारगाहा ॥
उवगरणगोअरा पुण इत्थं पडिलेहणा मुणेअव्वा । अप्पडिलेहिअ दोसा विण्णेया पाणिघायाई ॥ २३१ ॥
उवगरण वत्थपत्ते वत्थे पडिलेहणं तु वुच्छामि । पुव्वण्हे अवरण्हे मुहपत्तिअमाइपडिलेहा ॥ २३२ ॥

चइऊणऽगारवासं चरित्तिणो तस्स पालणाहेउं । जं जं कुणंति चिट्ठं सुत्ता सा सा जिणाणुमया ॥ २०८ ॥
अवगासो आयचिय जो वा सो वत्ति मुणिअतत्ताणं । निअकारिओ उ मज्झं इमोत्ति दुक्खस्सुवायाणं ॥ २०९ ॥
तवसो अ पिवासाई संतोऽवि न दुक्खरूवगा णेआ । जं ते खयस्स हेऊ निद्दिट्ठा कम्मवाहिस्स ॥ २१० ॥
वाहिस्स य खयहेऊ सेविज्जंता कुणंति धिइमेव । कडुगाईवि जणस्सा ईसिं दंसिंतगाऽऽरोग्गं ॥ २११ ॥
इअ एएऽवि अ मुणिणो कुणंति धिइमेव सुद्धभावस्स । गुरुआणासंपाडणचरणाइसयं निदंसिंता ॥ २१२ ॥
ण य तेऽवि होंति पायं अविअप्पं धम्मसाहणमइस्सा । न य एगंतेणं चिअ ते कायव्वा जओ भणियं ॥ २१३ ॥
सो हु तवो कायव्वो जेण मणो मंगुलं न चिंतेइ । जेण न इंदिअहाणी जेण य जोगा ण हायंति ॥ २१४ ॥
देहेऽवि अपडिबद्धो जो सो गहणं करेइ अन्नस्स । विहिआणुट्ठाणमिणंति कह तओ पावविसओत्ति? ॥ २१५ ॥
तत्थवि अ धम्मझाणं न य आसंसा तओ अ सुहमेव । सव्वमिअमणुट्ठाणं सुहावहं होइ विन्नेअं ॥ २१६ ॥
चारित्तविहीणस्स अभिसंगपरस्स कलुसभावस्स । अण्णाणिणो अ जा पुण सा पडिसिद्धा जिणवरेहिं ॥ २१७ ॥
भिक्खं अडंति आरंभसंगया अपरिसुद्धपरिणामा । दीणा संसारफलं पावाओ जुत्तमेअं तु ॥ २१८ ॥
ईसिं काऊण सुहं निवाडिआ जेहिं दुक्खगहणंमि । मायाएँ केइ पाणी तेसिं एआरिसं होइ ॥ २१९ ॥
चईऊण घरावासं तस्स फलं चेव मोहपरतंता । ण गिही ण य पव्वइआ संसारपवड्ढगा भणिआ ॥ २२० ॥
एएणं चिअ सेसं जं भणिअं तंपि सव्वमक्खित्तं । सुहझाणाइअभावा अगारवासंमि विण्णेअं ॥ २२१ ॥

परिसुद्धं पुण एअं भवविडविनिबंधणेसु विसएसुं । जायइ विरागहेऊ धम्मज्झाणस्स य निमित्तं ॥ १९४ ॥
जं विसयविरत्ताणं सुक्खं सज्झाणभाविअमईणं । तं मुणइ मुणिवरो च्चिअ अणुहवउ न उण अन्नोऽवि ॥ १९५ ॥
कंखिज्जइ जो अत्थो संपत्तीए न तं सुहं तस्स । इच्छाविणिवित्तीए जं खलु वुद्धप्पवाओऽअं ॥ १९६ ॥
मुत्तीए वभिचारो तं णो जं सा जिणेहिं पन्नत्ता । इच्छाविणिवित्तीए चेव फलं पगरिसं पत्तं ॥ १९७ ॥
जस्सिच्छाए जायइ संपत्ती तं पडुच्चिमं भणिअं । मुत्ती पुण तद्भावे जमणिच्छा केवली भणिया ॥ १९८ ॥
पढमंपि जा इहेच्छा साऽवि पसत्थत्ति नो पडिक्कुट्ठा । सा चेव तहा हेऊ जायइ जमणिच्छभावस्स ॥ १९९ ॥
भणिअं च परममुणिहिं (महासमणो) मासाइदुवालसप्परीआए । वय (ण) मायणुत्तराणं विइवयई तेअलेसंति
तेण परं से सुक्के सुक्कभिजाई तहा य होऊणं । पच्छा सिज्झइ भयवं पावइ सव्वुत्तमं ठाणं ॥ २०१ ॥
लेसा य सुप्पसत्था जायइ सुहियस्स चेव सिद्धमिणं । इअ सुहनिबंधणं च्चिअ पावं कह पंडिओ भणइ? ॥ २०२ ॥
तम्हा निरभिस्संगा धम्मज्झाणंमि मुणिअतत्ताणं । तह कम्मक्खयहेउं विअणा पुन्नाउ निद्दिट्ठा ॥ २०३ ॥
न य एसा संजायइ अगारवासंमि अपरिचत्तंमि । नाभिस्संगेण विणा जम्हा परिपालणं तस्स ॥ २०४ ॥
आरंभपरिग्गहओ दोसा न य धम्मसाहणे ते उ । तुच्छत्ता पडिबंधा देहाहाराइतुल्लं तु ॥ २०५ ॥
तम्हा अगारवासं पुन्नाओं परिच्चयंति धीमंता । सीओदगाइभोगं विवागकडुअंति न करिंति ॥ २०६ ॥
केइ अविज्जागहिआ हिंसाईहिं सुहं पसाहंति । नो अन्ने ण य एए पडुच्च जुत्ता अपुन्न (पण) त्ति ॥ २०७ ॥

अण्णे अगारवासं पावाउ परिच्चयंति इह विंति । सीओदगाइभोगं अदिन्नदाणत्ति न करिंति ॥ १८० ॥
बहुदुक्खसंविढत्तो नासइ अत्थो जहा अभग्गाणं । इअ पुन्नेहिवि पत्तो अगारवासोऽवि पावाणं ॥ १८१ ॥
चत्तंमि घरावासे ओआसविवज्जिओ पिवासत्तो । खुहिओ अ परिअडंतो कहं न पावस्स विसउत्ति ? ॥ १८२ ॥
सुहझाणाओ धम्मो सव्वविहीणस्स तं कओ तस्स ? । अण्णंपि जस्स निच्चं नत्थि उवट्ठंभहेउत्ति ॥ १८३ ॥
तम्हा गिहासमरतो संतुट्ठमणो अणाउलो धीमं । परहिअकरणिक्करई धम्मं साहेइ मज्झत्थो ॥ १८४ ॥
किं पावस्स सरूवं ? किं वा पुन्नस्स ? संकिलिट्ठं जं । वेइज्जइ तेणेव य तं पावं पुण्णमिअरंति ॥ १८५ ॥
जइ एवं किं गिहिणो अत्थोवायाणपालणाईसु । विअणा ण संकिलिट्ठा ? किं वा तीए सरूवंति ? ॥ १८६ ॥
गेहाईणमभावे जा तं रूवं इमीइ अह इट्ठं । जुज्जइ अ तयभिसंगे तदभावे सव्वहाऽजुत्तं ॥ १८७ ॥
जो एत्थ अभिस्संगो संतासंतेसु पावहेउत्ति । अट्टज्झाणविअप्पो स इमीए संगओ रूवं ॥ १८८ ॥
एसो अ जायइ दढं संतेसुवि अकुसलाणुबंधाओ । पुण्णाओ ता तंपिहु नेअं परमत्थओ पावं ॥ १८९ ॥
कइया सिज्झइ दुग्गं ? को वासो नज्ज वट्टए ? कह वा । जायं इमंति ? चिंता पावा पावस्स य निदाणं ॥ १९० ॥
इअ चिंताविसघारिअदेहो विसएऽवि सेवइ न जीवो । चिट्ठउ अ ताव धम्मोऽसंतेसुवि भावणा एवं ॥ १९१ ॥
दीणो जणपरिभूओ असमत्थो उअरभरणमित्तेऽवि । चित्तेण पावकारी तहवि हु पावप्फलं एअं ॥ १९२ ॥
संतेसुवि भोगेसुं नाभिस्संगो दढं अणुट्ठाणं । अत्थि अ परलोगंमिवि पुन्नं कुसलाणुबंधिमिणं ॥ १९३ ॥

संपाडिएऽवि अ तहा इमंमि सो होइ नत्थि एअंपि । अंगारमद्दगाई जेण पवज्जंतऽभवावि ॥ १६६ ॥
सइ तंमि इमं विहलं असइ मुसावायमो गुरुस्सावि । तम्हा न जुत्तमेअं पव्वज्जाए विहाणं तु ॥ १६७ ॥
सच्चं खु जिणाएसो विरईपरिणामसो (मो) उ पव्वज्जा । एसो उ तस्सुवाओ पायं ता कीरइ इमं तु ॥ १६८॥
जिणपण्णत्तं लिंगं एसो उ विही इमस्स गहणंमि । पत्तो मएत्ति सम्मं चिंतेंतस्सा तओ होइ ॥ १६९ ॥
लक्खिज्जइ कज्जेणं जम्हा तं पाविऊण सप्पुरिसा । नो सेवंति अकज्जं दीसइ थेवंपि पाएणं ॥ १७० ॥
आहच्चभावकहणं न य पायं जुज्जए इहं काउं । ववहारनिच्छया जं दोन्निऽवि सुत्ते समा भणिया ॥ १७१ ॥
जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुअह । ववहारणउच्छेए तित्थुच्छेओ जओऽवस्सं ॥ १७२ ॥
ववहारपवत्तीइवि सुहपरिणामो तओ अ कम्मस्स । नियमेणमुवसमाई णिच्छयणयसम्मयं तत्तो ॥ १७३ ॥
होंतेऽवि तम्मि विहलं न खलु इमं होइ एत्थऽणुट्ठाणं । सेसाणुट्ठाणंपिव आणाआराहणाए उ ॥ १७४ ॥
असइ मुसावाओऽवि अ ईसिंपि न जायए तहा गुरुणो । विहिकारगस्स आणाआराहणभावओ चेव ॥ १७५ ॥
होंति गुणा निअमेणं आसंसाईहिं विप्पमुक्कस्स । परिणामविसुद्धीओ अजुत्तकारिंमिवि तयंमि ॥ १७६ ॥
तम्हा उ जुत्तमेअं पव्वज्जाए विहाणकरणं तु । गुणभावओ अकरणे तित्थुच्छेआइआ दोसा ॥ १७७ ॥
छउमत्थो परिणामं सम्मं नो मुणइ ता ण देइ तओ । न य अइसओ अ तीए विणा कहं धम्मचरणं तु ? ॥१७८॥
आहच्चभावकहणं तंपिहु तप्पुव्वयं जिणा बिंति । तयभावे ण य जुत्तं तयंपि एसो विही तेणं ॥ १७९ ॥

ते कारविंति नियमा सेसाणवि नत्थि दोसा उ ॥ १५२ ॥
आयंबिले अनियमो आइण्णं जेसिमावलीए उ । ते कारविंति नियमा सेसाणवि नत्थि दोसा उ ॥ १५३ ॥
लोगुत्तमाण पच्छा निवडइ चलणेसु तह निसण्णस्स । आयरियस्स य सम्मं अण्णेसिं चेव साहूणं ॥ १५४ ॥
वंदंति अज्जियाओ विहिणा सड्ढा य साविआओ य । आयरियस्स समीवंमि उवविसइ तओ असंभंतो ॥ १५५ ॥
भवजलहिपोअभूअं आयरिओ तह कहेइ से धम्मं । जह संसारविरत्तो अण्णोऽवि पवज्जए दिक्खं ॥ १५६ ॥
भूतेसु जंगमत्तं तेसुऽवि पंचिंदिअत्तमुक्कोसं । तेसुवि अ माणुसत्तं माणुस्से आरिओ देसो ॥ १५७ ॥
देसे कुलं पहाणं कुले पहाणे अ जाइमुक्कोसा । तीएऽवि रूवसमिद्धी रूवे अ बलं पहाणयरं ॥ १५८ ॥
होइ बलेऽवि अ जीअं जीएऽवि पहाणयं तु विण्णाणं । विण्णाणे सम्मत्तं सम्मत्ते सीलसंपत्ती ॥ १५९ ॥
सीले खाइअभावो खाइअभावेऽवि केवलं नाणं । केवलिए पडिपुन्ने पत्ते परमक्खरो मोक्खो ॥ १६० ॥
पण्णरसंगो एसो समासओ मोक्खसाहणोवाओ । एत्थ बहुं पत्तं ते थेवं संपावियव्वंति ॥ १६१ ॥
ता तह कायव्वं ते जह तं पावेसि थेवकालेणं । सीलस्स नत्थऽसज्झं जयंमि तं पाविअं तुमए ॥ १६२ ॥
ता तह कायव्वं ते जह तं पावेसि थेवकालेणं । इह परलोए अ तहा सुहावहं परममुणिचरिअं ॥ १६३ ॥ ५ ।
लद्धूण सीलमेअं चिंतामणिकप्पपायवऽब्भहिअं । भावेअव्वं च तहा चिरसं संसारणिग्गुणं ॥ १६४ ॥
एअंमि अप्पमाओ कायव्वो सइ जिणिंदपन्नत्ते । भावेअव्वं जह सो होइत्ति किमणेणं? ॥ १६५ ॥
आइ विरइपरिणामो पवज्जा भावओ जिणाएसो । जं ता तह जइअव्वं जह सो होइत्ति किमणेणं? ॥ १६६ ॥
सुघइ अ एअवइअरविरहेणऽवि स इह भरहमाईणं । तयभावंमि अभावो जं भणिओ केवलस्स सुए ॥ १६७ ॥

अह वदिउं पुणो सो भणइ गुरुं परमभत्तिसंजुत्ते। इच्छाकारेणऽम्हे मुंडावेहत्ति सपणामं ॥ १३८ ॥
इच्छामोत्ति भणित्ता मंगलगं कड्ढिऊण तिक्खुत्तो। गिण्हइ गुरु उवउत्तो अट्टा से तिन्नि अच्छिन्ना ।१३९।दारं।
वंदित्तु पुणो सेहो इच्छाकारेण समइअं मित्ति। आरोवेहत्ति भणइ संविग्गो नवरमायरियं ॥ १४० ॥
इच्छामोत्ति भणित्ता सोऽवि अ सामइअरोवणनिमित्तं। सेहेण समं सुत्तं कड्ढित्ता कुणइ उस्सग्गं ॥ १४१ ॥
लोगस्सुज्जोअगरं चिन्तिय उस्सारए असंभन्ते। नवकारेणं तप्पुव्वगं च वारे तओ तिण्णि ॥ १४२ ॥
सामाइअमिह कड्ढइ सीसो अणुकड्ढई तहा चेव। अप्पाणं कयकिच्चं मन्नंतो सुद्धपरिणामो ॥ १४३ ॥ दारं
तत्तो अ गुरू वासे गिण्हिअ लोगुत्तमाण पाएसुं। देइ अ तओ कमेणं सव्वेसिं साहुमाईणं ॥ १४४ ॥
तो वंदणगं पच्छा सेहं तु दवावए ठिओ संतो। वंदित्ता भणइ तओ संदिस्सह किं भणामोत्ति ? ॥१४५॥
वंदित्तु पवेयअह भणइ गुरू वंदिउं तओ सेहो। अद्धावणयसरीरो उवउत्तो अह इमं भणइ ॥ १४६ ॥
तुब्भेहिं सामाइअमारोविअमिच्छमो उ अणुसट्ठिं। वासे सेहस्स तओ सिरंमि दिंतो गुरू आह ॥ १४७ ॥
णित्थारगपारगो गुरुगुणेहिं वड्ढाहि वंदिउं सेहो। तुब्भं पवेइअं संदिसह साहूणं पवेएमि ॥ १४८ ॥
अन्ने उ इत्थ वासे देंति जिणाईण तत्थ एस गुणो। सम्मं गुरुवि नित्थारगाइ तप्पुव्वगं भणइ ॥ १४९ ॥
आह य गुरू पवेअह वंदिअ सेहो तओ नमोक्कारं। अक्खलिअं कड्ढंतो पयाहिणं कुणइ उवउत्तो ॥ १५० ॥
आयरियाई सव्वे सीसे सेहस्स दिंति तो वासे ॥ दारं। एवं तु तिन्नि वारा एगो उ पुणोऽवि उस्सग्गं ॥ १५१ ॥

साहूण य उवउत्तो एअं च चिहिं गुरू कुणइ ॥ १२४ ॥
तत्तो अ जहाविहवं पूअं स करिज्ज वीयरागाणं । सामाइयतिगकड्ढण पयाहिणं चेव तिक्खुत्तो ॥१२५॥ दारं॥
चिइवंदण रयहरणं अट्ठा सामाइयस्स उस्सग्गो । साहूहिं समं गुरवो थुइथुई अप्पणा चेव ॥ १२६ ॥
सेहमिह वामपासे ठवित्तु तो चेइए पवंदंति । अक्खलिआइकमेणं विवज्जए होइ अविही उ ॥ १२७ ॥
पुरओ उ ठंति गुरवो सेसावि जहक्कमं तु सट्ठाणे । वंदंताणं नेआऽसामायारित्ति सुत्ताणा ॥ १२८ ॥ दारं ॥
खलियमिलियवाइद्धं हीणं अच्चक्खराइदोसजुअं । सेहो भणाइ इच्छाकारेणं पव्वयावेह ॥ १२९ ॥
वंदिय पुणुट्ठिआणं गुरूण तो वंदणं समं दाउं । अप्पेइ रओहरणं जिणपन्नत्तं गुरू लिंगं ॥ १३० ॥
इच्छामोत्ति भणित्ता उट्ठेउं कड्ढिऊण मंगलयं । जाए जिणादओ वा दिसाएं जिणचेइआइं वा ॥ १३१ ॥ दा॰
पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व देज्जाऽहवा पडिच्छिज्जा । रयहरणंति पवुच्चइ कारणकज्जोवयाराओ ॥ १३२ ॥
हरइ रयं जीयाणं बज्झं अब्भंतरं च जं तेणं । रयहरणं उवयारो भण्णइ तेणं रओ कम्मं ॥ १३३ ॥
संजमजोगा एत्थं रयहरणा तेसि कारणं जेणं । रयहरणंति पमज्जणमाईहुवघायभावाओ ॥ १३४ ॥
केई भणंति मूढा संजमजोगाण कारणं नेवं । रयदरिथज्जणसंसज्जणाइणा होइ उवघाओ ॥ १३५ ॥
मूइंगलिआईणं विणाससंताणभोगविरहाई । अपमज्जिउं च दोसा वघादागाढवोसिरणे ॥ १३६ ॥
पडिलेहिउं पमज्जणमुवघाओ कह णु तत्थ होज्जा उ ? । संसज्जणाइदोसा देहे इव न विहिणा हुंति ॥ १३७ ॥ दारं ॥
आयपरपरिच्चाओ दुहावि सत्थस्सऽकोसलं नूणं ।

दिज्ज णउ भग्गझामिअसुसाणसुण्णामण्णुण्णगेहेसु । छारंगारकयारामेज्झाईदवदुट्ठे वा ॥ ११० ॥
चाउद्दसिं पण्णरसिं च वज्जए अट्ठमिं च नवमिं च । छट्ठिं च चउत्थिं बारसिं च सेसासु दिज्जाहि ॥ १११ ॥
तिसु उत्तरासु तह रोहिणीसु कुज्जा उ सेहनिक्खमणं । गणिवायए अणुण्णा महव्वयाणं च आरुहणा ॥ ११२ ॥
संझागयं १ रविगयं २ विड्डेरं ३ सग्गहं ४ विलंबिं च ५ । राहुगयं ६ गहभिन्नं ७ च वज्जए सत्त नक्खत्ते ॥ ११३ ॥
एसा जिणाणमाणा खित्ताईआ य कम्मुणो हुंति । उदयाइकारणं जं तम्हा एएसु जइअव्वं ॥ ११४ ॥ ४ ।
पुच्छ गहणा परिच्छा सामाइअमाइसुत्तदाणं च । चिइवंदणाइआइ विहीऍ सम्मं पयच्छिज्जा ॥ ११५ ॥
धम्मकहाअक्खित्तं पव्वज्जाअभिमुहंति पुच्छिज्जा । को कत्थ तुमं सुंदर! पव्वयसि च किं निमित्तंति? ॥ ११६ ॥
कुलपुत्तो तगराए असुहभवक्खयनिमित्तमेवेह । पव्वामि अहं भंते! इइ गेज्झो भयण सेसेसु ॥ ११६ ॥
साहिज्जा दुरणुचरं कापुरिसाणं सुसाहुचरिअंति । आरंभनियत्ताण य इहपरभविए सुहविवागे ॥ ११८ ॥
जह चेव उ मोक्खफला आणा आराहिआ जिणिंदाणं । संसारदुक्खफलया तह चेव विराहिआ होई ॥ ११९ ॥
जह वाहिओ अ किरियं पवज्जिउं सेवई अपत्थं तु । अपवण्णगाउ अहियं सिग्घं च स पावइ विणासं ॥ १२० ॥
एमेव भावकिरिअं पवज्जिउं कम्मवाहिखयहेऊ । पच्छा अपत्थसेवी अहियं कम्मं समज्जिणइ ॥ १२१ ॥
अब्भुवगयंपि संतं पुणो परिक्खिज्ज पवयणविहीए । छम्मासं जाऽऽसज्ज व पत्तं अद्धाएँ अप्पबहुं ॥ १२२ ॥
सोभणदिणंमि विहिणा दिज्जा आलावगेण सुविसुद्धं । सामाइआइसुत्तं पत्तं नाऊण जं जोग्गं ॥ १२३ ॥

पालेइ साहुकिरिअं सो सम्मं तंमि चेव चत्तंमि । तब्भावंमि अ विहलो इअरस्स कओऽवि चाओत्ति ॥ ९६ ॥
दीसंति अ केइ इहं सइ तंमी पव्वज्जाएजुत्ताऽवि । तुच्छपवित्ती अफलं दुहावि जीवं करेमाणा ॥ ९७ ॥
चइऊण घरावासं आरंभपरिग्गहेसु वट्टंति । जं सब्भावेणं एअं अविवेगसामत्थं ॥ ९८ ॥
मंसनिवित्तिं काउं सेवइ दंतिक्कयंति धणिभेआ । इअ चइऊणारंभं परववएसा कुणइ बालो ॥ ९९ ॥
पवईए सावज्जं सतं जं सयणा विरुद्धं तु । धणिभेअंमिवि मडुरगसीअलिगाइव लोगम्मि ॥ १०० ॥
ता कीस अणुमओ सो उवएसाईमि पावनाएणं ? । गिहिजोगो उ जइस्स उ सावज्जस्सा परट्ठाए ॥ १०१ ॥
अण्णाभावे जयणाए मग्गणासो हविज्ज मा तेणं । पुप्फकायाइयणाइसु ईसिं गुणसंभवे इहरा ॥ १०२ ॥
चेइअकुलगुणसंघे आयरिआणं च पवयणसुए अ । सव्वेसुवि तेण कयं तवसंजमसुज्जमंतेण ॥ १०३ ॥
एत्थ यऽविवेगचाआ पवत्ताई जेण ता तओ पवरो । तस्सेव फलं एसो जो सम्मं बउज्झचाउत्ति ॥ १०४ ॥
ता येवमिअं कज्जं सयणाइजुओ नवत्ति सइ तम्मि । एत्तो चेव य दोसा ण हुंति सेसा धुवं तस्स ॥ १०५ ॥
सुत्तं पुण ववहारे साहीणे वा (णत्ता) तयाइभावेणं । इअ उचियसवत्थम्मी अग्गोऽवि तओ हवइ चाई ॥ १०६ ॥
को वा कस्स न सयणो ? किं वा केणं न पाविआ भोगा ? । संतेसुवि पडिबंधो दुट्ठोत्ति तओ चएअव्वो ॥ १०७ ॥
धण्णा य उभयजुत्ता धम्मपवित्तीइ हुंति अण्णेसिं । जं कारणमिह पायं केसिंचि कयं पसंगेणं ॥ १०८ ॥ ३ ।
ओसरणं जिणभवणे उच्छुवणे खीरकक्खवणसंडे । गंभीरसाणुणाए एमाइपसत्थखित्तम्मि ॥ १०९ ॥

आरंभमंतरेणं ण पालणं तस्स संभवइ जेणं । तंमि अ पाणवहाई नियमेण हवंति पयडमिणं ॥ ८२ ॥
अण्णं च तस्स चाओ पाणवहाई व गुरुतरा होज्जा ? । जइ ताव तस्स चाओ को एत्थ विसेसहेउत्ति ? ॥ ८३ ॥
अह तस्सेव उ पीडा किं णो अण्णेसि पालणे तस्स ? । अह ते पराइ सोऽविहु सतत्तचिंताइ एमेव ॥ ८४ ॥
सिअ तेण कयं कम्मं एसो नो पालगोत्ति किं ण भवे ? । ता नूणमण्णपालगजोग्गं चिअ तं कथं तेण ॥८५॥
बहुपीडाए अ कहं थेवसुहं पंडिआणमिट्ठंति ? । जलकट्ठाइगयाण य बहूण घाओ तदच्चाए ॥ ८६ ॥
एवंविहा उ अह ते सिट्ठत्ति न तत्थ होइ दोसो उ । इअ सिट्ठिवायपक्खे तच्चाए णणु कहं दोसो ? ॥ ८७ ॥
तो पाणवहाईआ गुरुतरया पावहेउणो नेआ । सयणस्स पालणंमि अ नियमा एइत्ति भणियमिणं ॥ ८८ ॥
एवंपि पावहेऊ अप्पयरो णवर तस्स चाउत्ति । सो कह ण होइ तस्सा धम्मत्थं उज्जयमइस्स ? ॥ ८९ ॥
अब्भुवगमेण भणिअं णउ विहिचाओऽवि तस्स हेउत्ति । सोगाईमिवि तेसिं मरणे व विसुद्धचित्तस्स ॥ ९० ॥
अण्णे भणंति धन्ना सयणाइजुआ उ होंति जोग्गत्ति । संतस्स परिच्चागा जम्हा ते चाइणो हुंति ॥ ९१ ॥
जे पुण तप्परिहीणा जाया द्विाओं च्चेव भिक्खागा । तह तुच्छभावओ चिअ कहण्णु ते होंति गंभीरा ? ॥ ९२ ॥
मज्जंति अ ते पायं अहिअयरं पाविऊण पज्जायं । लोगंमि अ उवघाओ भोगाभावा ण चाई य ॥ ९३ ॥
एयंपि न जुत्तिखमं विण्णेअं मुद्धविम्हयकरं तु । अविवेगपरिच्चाया चाई जं निच्छयनयस्स ॥ ९४ ॥
संसारहेउभूओ पवत्तगो एस पावपक्खंमि । एअंमि अपरिचत्ते किं कीरइ वज्झचाएणं ? ॥ ९५ ॥

असुहो अ महापावो संसारो तप्परिक्खयणिमित्तं । बुद्धिमया पुरिसेणं सुद्धो धम्मो अ कायव्वो ॥ ६८ ॥
अन्नं च जीविअं जं विज्जुलयाडोवचंचलमसारं । पिअजणसंबंधोऽवि अ सया तओ धम्ममाराहे ॥ ६९ ॥
अन्नं च जीविअं जं विज्जुलयाडोवचंचलमसारं । पिअजणसंबंधोऽवि अ सया तओ धम्ममाराहे ॥ ६९ ॥
मोक्खोऽवि तप्फलं चिअ नेओ परमत्थओ तयत्थंपि । धम्मो चिअ कायव्वो जिणभणिओ अप्पमत्तेणं ॥७०॥
तहऽभुत्तभोगदोसा हवाइ जमुत्तमुत्तिमित्तमिदं । इयरेसिं दुट्ठयरा सइमाईया जओ दोसा ॥ ७१ ॥
इयरेसिं बालभावप्पभिइं जिणवयणभाविअमईणं । अणभिण्णाण य पायं विसएसु न हुंति ते दोसा ॥७२॥
तम्हा उ सिद्धमेअं जइणणओ भणियवयजुआ जोग्गा । उक्कोस अणवगल्लो भयणा संथारसामण्णे ॥ ७३ ॥
अण्णे गिहासमं चिय बिंति पहाणंति मंदबुद्धीया । जं उवजीवंति तयं नियमा सेसेऽवि आसमिणो ॥७४॥
उवजीवणाकयं जइ पाहण्णं तो तओ पहाणयरा । हलकरिसगपुढयाई जं उवजीवंति ते तेऽवि ॥ ७५ ॥
सिअ णो ते उवगारं धरेसु एतेसिं धम्मनिरयाणं । एवं मन्नंति तओ कह पाहण्णं हवइ तेसिं ? ॥ ७६ ॥
ते च्चेव तेहिं अहिआ किरियाए मंनिएण किं तत्थ ? । णाणाइविरहिआ अह इअ तेसिं होइ पाहण्णं ॥७७॥
ताणि य जईण जम्हा हुंति विसुद्धाणि तेण तेसिं तु । तं जुत्तं आरंभो अ होइ जं पावहेउत्ति ॥ ७८ ॥
अण्णे सयणविरहिआ इमीए जोग्गत्ति एत्थ मण्णंति । सो पालणीयगो किल तच्चाए होइ पावं तु ॥७९॥
सोगं अकांदण विलवणं च जं दुक्खिओ तओ कुणइ । सेवइ जं च अकज्जं तेण विणा तस्स सो दोसो ॥८०॥
इअ पाणवहाईआण पावहेउत्ति अह मयं तेऽवि । णणु तस्स पालणे तइ ण होंति ते ? चिंतणीअमिणं ॥ ८१ ॥

विण्णायविसयसंगा सुहं च किल ते तओऽणुपालंति । कोउअनिअत्तभावा पव्वज्जमसंकणिज्जा य ॥ ५४ ॥
धम्मत्थकाममोक्खा पुरिसत्था जं चयारि लोगम्मि । एए अ सेविअव्वा निअ २ कालम्मि सव्वेऽवि ॥ ५५ ॥
तहऽभुत्तभोगदोसा कोउगकामगहपत्थणाईआ । एएवि होंति विजढा जोग्गाहिगयाण तो दिक्खा ॥ ५६ ॥
भण्णइ खुड्डगभावो कम्मखओवसमभावपभवेणं । चरणेण किं विरुज्झइ ? जेणमजोग्गत्तिऽसग्गाहो ॥५७॥
तक्कम्मखओवसमो चित्तनिबंधणसमुब्भवो भणिओ । न उ वयनिबंधणोच्चिय तम्हा एआणमविरोहो ॥५८॥
गयजोव्वणावि पुरिसा बालुव्व समायरंति कम्माणि । दोग्गइनिबंधणाइं जोव्वणवंताऽवि ण य केइ ॥ ५९ ॥
जोव्वणमविवेगो च्चिअ विन्नेओ भावओ उ तयभावो । जोव्वणविगमो सो उण जिणेहिं न कयावि पडिसिद्धो ॥६०॥
जइ एवं तो कम्हा वयम्मि निअमो कओ उ ? नणु भणियं । तदहो परिहवखित्ताइ कारणं बहुविहं पुव्वं ॥६१॥
संभावणिज्जदोसा वयम्मि खुड्डुत्ति जंपि तं भणिअं । तंपि न अणहं जम्हा सुभुत्तभोगाणवि समं तं ॥६२॥
कम्माण रायभूअं वेअं तं जाव मोहणिज्जं तु । संभावणिज्जदोसा चिट्ठइ ता चरमदेहाऽवि ॥ ६३ ॥
तम्हा न दिक्खिअव्वा केइ अणिअट्टिबायरादारा । ते न य दिक्खाविअला पायं जं विसम्मेअंति ॥ ६४ ॥
विण्णायविसयसंगा जमुत्तमिच्चाइ तंपि णणु तुल्लं । अण्णायविसयसंगावि तग्गुणा केइ जं हुंति ॥ ६५ ॥
अब्भासजणिअपसरा पायं कामा य तब्भवब्भासो । असुहपवित्तिणिमित्तो तेसिं नो सुंदरतरा ते ॥ ६६ ॥
धम्मत्थकाममोक्खा जमुत्तमिच्चाइ तुच्छमेअं तु । संसारकारणं जं पयईए अत्थकामाओ ॥ ६७ ॥

अइगुरुओ मोहतरू अणाइभवभावणाविअयमूलो । दुक्खं उम्मूलिज्जइ अच्चंतं अप्पमत्तेहिं ॥ ४० ॥
संसारविरत्ताण य होइ तओ न उण तयभिनंदीणं । जिणवयणंपि न पायं तेसिं गुणसाहगं होइ ॥ ४१ ॥
गुरुकम्माणं जम्हा किलिट्ठचित्ताण तस्स भावत्थो । नो परिणमेइ सम्मं कुंकुमरागोव मलिणम्मि ॥ ४२ ॥
विट्ठाण सूअरो जह उवएसेणऽवि न तीरए धरिउं । संसारसूअरो इअ अविरत्तमणो अकज्जम्मि ॥ ४३ ॥
ता धन्नाणं गीओ उवाहिसुद्धाण देइ पव्वज्जं । आयपरपरिच्चाओ विवज्जए मा हविज्जत्ति ॥ ४४ ॥
अविणीओ न य सिक्खइ सिक्खं पडिसिद्धसेवणं कुणइ । सिक्खावणेण तस्स हुऽसइ अप्पा होइ परिचत्तो ४५
तस्सऽवि य अट्टझाणं सद्धाभावम्मि उभयलोगेहिं । जीविअमहलं किरियाणाएणं तस्स चाओत्ति ॥ ४६ ॥
जह लोअम्मिऽवि विज्जो असज्झवाहीण कुणइ जो किरियं । सो अप्पाणं तह वाहिए अ पाडेइ केसम्मि ॥४७॥
तह चेव धम्मविज्जो एत्थ असज्झाण जो उ पव्वज्जं । भावकिरिअं पउंजइ तस्सवि उवमा इमा चेव ॥ ४८ ॥
जिणकिरिआएँ असज्झा ण इत्थ लोगम्मि केइ विज्जंति । जे तप्पओगजोगा ते सज्झा एस परमत्थो ॥ ४९ ॥
एएसि वयपमाणं अट्ठ समाउत्ति वीअरागेहिं । भणियं जहन्नयं खलु उक्कोसं अणवगल्लोत्ति ॥ ५० ॥
तदहो परिभवखित्तं ण चरणभावोऽवि पायमेएसिं । आहच्चभावकहगं सुत्तं पुण होइ नायव्वं ॥ ५१ ॥
केई भणंति बाला किल एए वयजुआऽवि जे भणिया । खुड्डगभावाउ च्चिय न हुंति चरणस्स जुग्गुत्ति ॥५२॥
अन्ने उ भुत्तभोगाणमेव पव्वज्जमणहमिच्छंति । संभावणिज्जदोसा वयम्मि जं खुड्डगा होंति ॥ ५३ ॥

इय कुसलपक्खहेऊ सपरुवयारम्मि निच्चमुज्जुत्तो । सफलीकयगुरुसद्दो साहेइ जहिच्छिअं कज्जं ॥ २६ ॥
विहिणाणुवत्तिआ पुण कहिंचि सेवंति जइवि पडिसिद्धं । आणाकारित्ति गुरू न दोसवं होइ सो तहवि ॥२७॥
आहऽण्णसेवणाए गुरुस्स पावंति नायवज्झमिणं । आणाभंगाउ तयं न य सो अण्णम्मि कह वज्झं ? ॥२८॥
तम्हाणुवत्तियव्वा सेहा गुरुणा उ सो अ गुणजुत्तो । अणुवत्तणासमत्थो जत्तो एआरिसेणेव ॥ २९ ॥
कालपरिहाणिदोसा इत्तो एक्काइगुणविहीणेणं । अन्नेणऽवि पव्वज्जा दायव्वा सीलवंतेण ॥ ३० ॥
गीतत्थो कडजोगी चारित्ती तहय गाहणाकुसलो । अणुवत्तगोऽविसाई बीओ पव्वावणायरिओ ॥ ३१ ॥ २ ।
पव्वज्जाए अरिहा आरियदेसम्मि जे समुप्पन्ना । जाइकुलेहिं विसुद्धा तह खीणप्पायकम्ममला ॥ ३२ ॥
तत्तो अ विमलवुद्धी दुल्लह मणुअत्तणं भवसमुद्दे । जम्मो मरणनिमित्तं चवलाओ संपयाओ अ ॥ ३३ ॥
विसया य दुक्खहेऊ संजोगे निअमओ विओगुत्ति । पइसमयमेव मरणं एत्थ विवागो अ अइरुद्दो ॥ ३४ ॥
एवं पयईए चिअ अवगयसंसारनिग्गुणसहावा । तत्तो अ तव्विरत्ता पयणुकसायाप्पहासा य ॥ ३५ ॥
सुकयण्णुआ विणीआ रायाईणमविरुद्धकारी य । कल्लाणंगा सद्धा थिरा तहा समुवसंपण्णा ॥ ३६ ॥
कालपरिहाणिदोसा एत्तो एक्कादिगुणविहीणावि । जे वहुगुणसंपन्ना ते जुग्गा हुंति नायव्वा ॥ ३७ ॥
नउ मणुअमाइएहिं धम्मेहिं जुएत्ति एत्तिएणेव । पायं गुणसंपन्ना गुणपगरिससाहगा जेणं ॥ ३८ ॥
एवंविहाण देया पव्वज्जा भवविरत्तचित्ताणं । अच्चंतदुक्करा जं थिरं च आलंवणमिमेसिं ॥ ३९ ॥

सत्ताहिअरओ अ तहा आएओ अणुवत्तगो अ गंभीरो। अविसाई परलोए उवसमलद्धीइ कलिओ अ ॥१२॥
तह पवयणत्थवत्ता सगुरुअणुन्नायगुरुपओ चेव। एआरिसो गुरू खलु भणिओ रागाइरहिएहिं ॥ १३ ॥
एआरिसेण गुरुणा सम्मं परिसाइकज्जरहिएणं। पव्वज्जा दायव्वा तयणुग्गहनिज्जराहेउं ॥ १४ ॥
भत्तिबहुमाणसद्धा थिरया चरणम्मि होइ सेहाणं। एआरिसम्मि निअमा गुरुम्मि गुणरयणजलहिम्मि ॥ १५ ॥
अणुवत्तगो अ एसो हवइ दढं जाणई जओ सत्ते। चित्ते चित्तसहावे अणुवत्तो तह उवायं च ॥ १६ ॥
अणुवत्तणाए सेहा पायं पावंति जोग्गयं परमं। रयणंपि गुणुक्करिसं उवेइ सोहम्मणगुणेण ॥ १७ ॥
एत्थ य पमायखलिया पुव्वब्भासेण कस्स व न हुंति?। जो तेऽवणेइ सम्मं गुरुत्तणं तस्स सफलंति ॥ १८ ॥
को णाम सारहीणं स होज्ज जो भद्दवाइणो दमए?। दुट्ठेऽवि अ जो आसे दमेइ तं आसियं बिंति ॥ १९ ॥
जो आयरेण पढमं पव्वावेऊण नाणुपालेइ। सेहे सुत्तविहीए सो पवयणपच्चणीओत्ति ॥ २० ॥
अविकोविअपरमत्था विरुद्धमिए परभवे अ सेवंता। जं पावंति अणत्थं सो खलु तप्पच्चओ सव्वो ॥ २१ ॥
जिणसासणस्सऽवण्णो मिअंकधवलस्स जो अ ते दट्ठुं। पावं समायरंते जायइ तप्पच्चओ सोऽवि ॥ २२ ॥
जो पुण अणुवत्तेई गाहइ निप्फाअई अ विहिणा उ। सो ते अप्पे अप्पाणगं च पावेइ परमपयं ॥ २३ ॥
णाणाइलाभओ खलु दोसा हीयंति वड्ढई चरणं। इअ अब्भासाइसया सीसाणं होइ परमपयं ॥ २४ ॥
एआरिसा इइं खलु अण्णेसिं सासणम्मि अणुरायो। बीअं सवणपवित्ती संताणे तेसुऽवि जहुत्तं ॥ २५ ॥

जाइणीमहयरियासूनुसिरिहरिभद्दायरियकयं पंचवत्थुगं (मूलं)

णमिऊण वद्धमाणं सम्मं मणवयणकायजोगेहिं। संघं च पंचवत्थुगमहक्कमं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥
पव्वज्जाएँ विहाणं १ पइदिणकिरिया २ वएसु ठवणा य ३। अणुओगगणाणुण्णा ४ संलेहणमो ५ इइ पंच ॥२॥
एए चेव य वत्थू वसंति एएसु नाणमाईया। जं परमगुणा सेसाणि हेउफलभावओ हुंति ॥ ३ ॥
पव्वज्ज पढमदारं१ सा केणं२ केसि३ कंमि व४ कहं वा५। दायव्वत्ति निरुच्चइ समासओ आणुपुव्वीए ॥४॥ दारं
पव्वयणं पव्वज्जा पावाओ सुद्धचरणजोगेसु। इअ मुक्खं पइ वयणं कारणकज्जोवयाराओ ॥ ५ ॥
नामाइचउब्भेआ एसा दव्वम्मि चरगमाईणं। भावेण जिणमयम्मि उ आरंभपरिग्गहच्चाओ ॥ ६ ॥
पुढवाइसु आरंभो परिग्गहो धम्मसाहणं मुत्तुं। मुच्छा य तत्थ बज्झो इयरो मिच्छत्तमाईओ ॥ ७ ॥
चाओ इमेसि सम्मं मणवयकाएहिं अप्पवित्तीओ। एसा खलु पव्वज्जा मुक्खफला होइ निअमेणं ॥ ८ ॥
पव्वज्जा निक्खमणं समया चाओ तहेव वेरग्गं। धम्मचरणं अहिंसा दिक्खा एगट्ठियाइं तु ॥ ९ ॥ १।
पव्वज्जाजोग्गगुणेहिं संगओ विहिपवण्णपव्वज्जो। सेविअगुरुकुलवासो सययं अक्खलिअसीलो अ ॥ १० ॥
सम्मं अहीअसुत्तो तत्तो विमलयरबोहजोगाओ। तत्तण्णू उवसंतो पवयणवच्छल्लजुत्तो अ ॥ ११ ॥

र्धमित्याह-'आत्मानुस्मरणार्थं' आत्मानुस्मरणाय प्रव्रज्यादिविधानादीनां 'भवविरहं' संसारक्षयमिच्छता, तस्य भगवद्वचनोपयोगादिसाध्यत्वादिति गाथार्थः ॥ १३ ॥

गाहग्गं पुण इत्थं णवरं गणिऊण ठाविअं एयं । सीसाण हिअट्ठाए सत्तरस सयाणि माणेण ॥१७१४॥

समाप्ता चेयं पञ्चवस्तुकसूत्रटीका शिष्यहिता नाम, कृतिर्धर्म्मतो याकिनीमहत्तरासूनोराचार्यहरिभद्रस्य॥ कृत्वा टीकामेनां यदवाप्तं कुशलमिह मया तेन । मात्सर्यदुःखविरहाद्गुणानुरागी भवतु लोकः ॥ १ ॥ ग्रन्थाग्रं ७१७५ ॥

॥ इति सूरिपुरन्दरश्रीमद्हरिभद्रसूरीश्वरविरचिता स्वोपज्ञा
पञ्चवस्तुसूत्रटीका समाप्ता ॥

वाह्यो, न भवति 'धर्म्मे' सकलपुरुपार्थहेतावधिकारी, सम्यग्विवेकाभावादिति गाथार्थः ॥९॥ अत्रैव प्रक्रमे किमित्याह–तीतवहुश्रुतज्ञातम्, अतीता अप्याचार्या वहुश्रुता एव, तैः कस्मादिदं वन्दनं कायोत्सर्गादि नानुष्ठितमित्येवंभूतं, किमित्याह–'तत्क्रियादर्शनात्' तीतवहुश्रुतसम्वन्धिक्रियादर्शनात् कारणात् कथं प्रमाणं?, नैव प्रमाणं, न ज्ञायते ते कथं वन्दनादिक्रियां कृतवन्त इति, न चेदानींतनसाधुमात्रगतक्रियानुसारतः तत्तथातावगम इत्याह–व्यवच्छिद्यमाना चेयं–क्रिया 'शुद्धा' आगमानुसारिणी 'इह' लोके साम्प्रतमपि दृश्यत एव, कालदोपादिति गाथार्थः ॥ १० ॥ उपसंहरन्नाह–यस्मादेवमागमपरतन्त्रैः–सिद्धान्तायत्तैः तस्मान्नित्यमपि–सर्वकालमपि सिद्धिकांक्षिभिर्भव्यसत्त्वैः सर्वमनुष्ठानं खलु वन्दनादि कर्त्तव्यमप्रमत्तैः–प्रमादरहितैरिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ एवं क्रियमाणे फलमाह—

एवं करिंतेहि इमं सत्तणुरूवं अणुंपि किरियाए । सद्धाणुमोअणाहिं सेसंपि कयंति दट्ठवं ॥ १७१२ ॥

'एवम्' उक्तेन प्रकारेण कुर्वद्भिरिदम्—अनुष्ठानं वन्दनादि 'शक्त्यनुरूपं' यथाशक्ति 'अण्वपि' स्तोकमपि 'क्रियया' प्रतिपत्तिद्वारेण, 'श्रद्धानुमतिभ्यां' श्रद्धया अनुमत्या च परिणतया शेपमप्यशक्यं विशिष्टाप्रमादजं ध्यानादि 'कृत'मिति कृतमेव द्रष्टव्यं, भावप्रवृत्तेरिति गाथार्थः ॥ १२ ॥ प्रकरणोद्धारे प्रयोजनमाह—

इअ पंचवत्थुगमिणं उद्धरिअं रुद्दसुअसमुद्दाओ । आयाणुसरणत्थं भवविरहं इच्छमाणेणं ॥ १७१३ ॥

'इय' एवमुक्तेन प्रकारेण पञ्चवस्तुकमिदमुक्तलक्षणमुद्धृतं–पृथगवस्थापितं रुद्रश्रुतसमुद्राद्–विस्तीर्णात् श्रुतोदधेः, किम-

श्रद्धादिभावादेव कारणाद् 'आगमपरतन्त्रता' सिद्धान्तपारतन्त्र्यं नवरं, नान्यन्मूलमिति गाथार्थः॥६॥ एतदेवाह—यस्माद् न धर्ममार्गे परलोकगामिनि मुक्त्वा आगममेकं परमार्थतः इह प्रमाणं प्रत्याख्यानादि विद्यते छद्मस्थानां प्राणिनां, तस्मादत्रैव—आगमे कुग्रहान् विहाय यतितव्यं, जिज्ञासाश्रवणश्रवणानुष्ठानेषु यत्नः कार्यो, नागीतार्थजनाचरणपरेण भवितव्यमिति गाथार्थः ॥ ७ ॥ प्रत्यपायप्रदर्शनद्वारेणैतदेवाह—

सुअबज्झायरणरया पमाणयंता तहाविहं लोअं । भुअणगुरुणो वरागा पमाणयं नावगच्छंति ॥१७०८॥
सुत्तेण चोइओ जो अपणं उद्दिसिअ तं ण पडिवज्जे । सो तत्तवायबज्झो न होइ धम्मंमि अहिगारी॥१७०९॥
तीअबहुस्सुयणायं तक्किरिआदरिसणा कह पमाणं ?। वोच्छिज्जंती अ इमा सुद्धा इह दीसई चेव ॥१७१०॥
आगमपरतंतेहिं तम्हा णिच्चंपि सिद्धिकंखीहिं । सव्वमणुट्ठाणं खलु कायव्वं अप्पमत्तेहिं ॥ १७११ ॥

'श्रुतबाह्याचरणरताः' आगमबाह्यानुष्ठानसक्ताः प्रमाणयन्तः सन्तः केनचिच्चोदनायां क्रियमाणायां 'तथाविधं लोकं' श्रुतबाह्यमेवागीतादिकं, किमित्याह 'भुवनगुरोः' भगवतः तीर्थकरस्य वराकास्तेऽप्रमाणतामर्थापत्तिसिद्धां नावगच्छन्ति, तथाहि—यदि ते सूत्रबाह्यस्य कर्त्तारः प्रमाणं भगवांस्तर्हि तद्विरुद्धसूत्रार्थवक्ता अप्रमाणमिति महामिथ्यात्वं बलादापद्यत इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ अत एव प्रक्रमाद्धर्मानधिकारिणमाह—सूत्रेण चोदितः, इदमित्थमुक्तम्, एवं यः सत्त्वः अन्यं प्राणिनमुद्दिश्यात्मतुल्यमुदाहरणतया तन्न प्रतिपद्यते, सौत्रमुक्तं, स एवंभूतः 'तत्त्ववादबाह्यः' परलोकमंगीकृत्य परमार्थवाद-

याम्–अतीतकाले अनन्ताः 'सिद्धा जीवाः' निष्ठितार्थाः संवृत्ताः, मुक्ता इत्यर्थः, 'धूतक्लेशाः' सवासनाशेपकर्म्मरहिता इति गाथार्थः ॥ १ ॥ एतानि पञ्च वस्तून्याराध्य यथागमं सम्यगिति पूर्ववत् इदानीमपि सामान्येन सङ्ख्येयाः सिध्यन्ति समयक्षेत्रे सर्वस्मिन्नेव विवक्षिते काले–अन्तर्मुहूर्त्तादाविति गाथार्थः ॥ २ ॥ तथा–एतानि पञ्च वस्तून्याराध्य यथाऽऽगमं सम्यगिति पूर्ववदेव, 'एष्याद्धायां' भविष्यत्कालेऽनन्ताः 'सेत्स्यन्ति' मुक्तिं प्राप्स्यन्ति ध्रुवं जीवाः, सर्वज्ञवचनप्रामाण्याद् ध्रुवमिति गाथार्थः ॥ ३ ॥ अमीषामेव व्यतिरेकतः फलमाह–एतानि पञ्च वस्तूनि प्रस्तुतानि एवमेव विराध्य 'तिकाले' त्रिष्वपि कालेषु 'अत्र' लोकेऽनेके जीवाः,सामान्येन भूयांसः,'संसारप्रवर्द्धका' भवस्य वृद्धिकारकाः भणितास्तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः ॥ ४ ॥ एवं व्यवस्थिते साधूपदेशमाह—

णाऊण एवमेअं एआणाराहणाएँ जइअवं । न हु अण्णो पडियारो होइ इहं भवसमुद्दंमि ॥१७०५॥

एत्थवि मूलं णेअं एगंतेणेव भवसत्तेहिं । सद्धाइभावओ खलु आगमपरतंतया णवरं ॥ १७०६ ॥

जम्हा न धम्ममग्गे मोत्तूणं आगमं इह पमाणं । विज्जइ छउमत्थाणं तम्हा एत्थेव जइअवं ॥१७०७॥

ज्ञात्वा एवमेतद् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हिताहिते एतेषां–पञ्चानां वस्तूनामाराधनायां–सम्यक्सम्पादनरूपायां 'यतितव्यं' प्रयत्नः कार्यः, 'न हु' नैवान्यः 'प्रतीकार' उपायः कश्चिदत्र 'भवसमुद्रे' संसारसागर इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ अत्रापि–आराधनायत्ने 'मूलं' कारणं ज्ञेयमेकान्तेनैव 'भव्यसत्त्वैः' भव्यप्राणिभिः, किमित्यत्राह–'श्रद्धादिभावतः खलु'

सव्वण्णुसव्वदरिसी निरुवमसुहसंगओ उ सो तत्थ। जम्माइदोसरहिओ चिट्ठइ भयवं सया कालं॥१७००॥
एयाणि पंच वत्थू आराहिंता जहागमं सम्मं। तीअद्धाएँ अणंता सिद्धा जीवा धुअकिलेसा॥१७०१॥
एयाणि पंच वत्थू आराहित्ता जहागमं सम्मं। इण्हिंपि हु संखिज्जा सिज्झंति विवक्खिए काले॥१७०२॥
एयाणि पंच वत्थू आराहित्ता जहागमं सव्वं। एसद्धाएऽणंता सिज्झिस्संती धुवं जीवा ॥ १७०३ ॥
एयाणि पंच वत्थू एमेव विराहिउं तिकालंमि। एत्थ अणेगे जीवा संसारपवड्ढगा भणिआ ॥१७०४॥

आराधकश्च जीवः 'तत' आराधकत्वात् क्षपयित्वा 'दुष्कृतं कर्म्म' प्रमादजं ज्ञानावरणीयादि जायते विशुद्धजन्मा, जाति-
कुलाद्यपेक्षया, योगोऽपि पुनरपि चरणस्य, तद्भावभाविन इति गाथार्थः ॥९८॥ आराधनाया एव प्रधानफलमाह—आरा-
ध्यैवमुक्तप्रकारं, किमित्याह—'सप्ताष्टभवेभ्यः' सप्ताष्टजन्मभ्यः आरत एव, त्रिपु वा चतुर्षु वा जन्मसु, किमित्याह—'त्रैलो-
क्यमस्तकस्थः सकललोकचूडामणिभूतां गच्छति 'सिद्धिं' मुक्तिं 'नियोगेन' अवश्यंतयेति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ तत्र च गतः
सन्—सर्वज्ञः सर्वदर्शी, नाचेतनो गगनकल्पः, तथा निरुपमसुखसङ्गतश्च, सकलव्याबाधानिवृत्तेः, 'स' आराधको मुक्तः
'तत्र' सिद्धौ 'जन्मादिदोषरहितः' जन्मजरादिमरणादिरहितः संतिष्ठति भगवान् 'सदाकालं' सर्वकालमेव, नत्वभावी-
भवति, यथाऽऽहुरन्ये—'प्रविध्यातदीपकल्पोपमो मोक्षः' इति गाथार्थः ॥ ७०० ॥ फलदर्शनद्वारेण शास्त्रमुपसंहरति—
एतानि पञ्च वस्तूनि—प्रव्रज्याविधानादीनि 'आराध्य' संपाद्य 'यथाऽऽगमं' यथासूत्रं 'सम्यग्' अवैपरीत्येनातीताद्धा-

जे सेसा सुक्काए अंसा जे आवि पम्हलेसाए। ते पुण जो सो भणिओ मज्झिमओ वीअरागेहिं॥१६९५॥
तेऊलेसाए जे अंसा अह ते उ जे परिणमित्ता। मरइ तओऽवि हु णेओ जहण्णमाराहओ इत्थ॥१६९६॥
एसो पुण सम्मत्ताइभंगओ चेव होइ विण्णेओ। ण उ लेसामित्तेणं तं जमभव्वाणवि सुराणं ॥१६९७॥

शुक्लायाः लेश्यायाः, सर्वोत्तमायाः, उत्कृष्टमंशकं विशुद्धं 'परिणम्य' तद्भावमासाद्य यो म्रियते कश्चित् सत्त्वः स नियमादेवोत्कृष्टाराधको भवति, स्वल्पभवप्रपञ्च इति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ मध्यमाराधकमाह—ये शेषाः—उत्कृष्टं विहाय शुक्लायाः 'अंशाः' भेदाः ये चापि पद्मलेश्यायाः सामान्येन तान् पुनर्यः परिणम्य म्रियते स मध्यमो भणितो—मध्यमाराधको 'वीतरागैः' जिनैरिति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ जघन्यमाराधकमाह—तेजोलेश्यायाः ये अंशाः प्रधानाः अथवा तान् यः परिणम्यांशकान् कांश्चित् म्रियतेऽसावप्येवंभूतो ज्ञेयः, किम्भूत इत्याह—जघन्याराधकोऽत्र—प्रवचन इति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ अस्यैव सुसंस्कृतभोजनलवणकल्पं विशेषमाह—एष पुनर्लेश्याद्वारोक्ताराधकः 'सम्यक्त्वादिसंगत एव' सम्यक्त्वज्ञानतद्भावस्थायिचरणयुक्त एव भवति विज्ञेय आराधकः, न तु लेश्यामात्रेण केवलेनाराधकः, कुत इत्याह—'तत्' लेश्यामात्रं 'यद्' यस्मात् कारणात् अभव्यानामपि सुराणां भवति, यल्लेश्याश्च म्रियन्ते तल्लेश्या एवोत्पद्यन्त इति गाथार्थः ॥९७॥ आराधकगुणमाह—

आराहगो अ जीवो तत्तो खविऊण दुक्कडं कम्मं। जायइ विसुद्धजम्मा जोगोऽवि पुणोत्ति चरणस्स १६९८
आराहिऊण एवं सत्तट्ठभवाणमारओ चेव। तेलुक्कमत्थअत्थो गच्छइ सिद्धिं णिओगेणं ॥ १६९९ ॥

सव्वत्थापडिबद्धो मज्झत्थो जीविए अ मरणे अ। चरणपरिणामजुत्तो जो सो आराहओ भणिओ ॥ १६९१॥

अन्यमिवात्मानं प्राक्तनादात्मनः 'संवेगातिशयात्' संवेगातिशयेन 'चरमकाले' प्राणप्रयाणकाले मन्यते शुद्धभावः सन् सर्वासदभिनिवेशत्यागेन यः स आराधको भणितस्तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः ॥ १६९० ॥ अयमेव विशिष्यते—'सर्वत्राप्रतिबद्धः' इहलोके परलोके च, तथा मध्यस्थो जीविते मरणे च, न मरणमभिलषति नापि जीवितमित्यर्थः, चरणपरिणामयुक्तो, न तद्विकलो, य एवंभूतः स आराधको भणितस्तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः ॥ अस्यैव फलमाह—

सो तप्पभावओ च्चिअ खविउं तं पुव्वदुक्कडं कम्मं। जायइ विसुद्धजम्मो जोगो अ पुणोऽवि चरणस्स १६९२

एसो अ होइ तिविहो उक्कोसो मज्झिमो जहण्णो अ। लेसादारेण फुडं वोच्छामि विसेसमेएसिं ॥ ९३ ॥

'सः' एवंभूतः 'तत्प्रभावत एव' चारित्रपरिणामप्रभावादेव 'क्षपयित्वा' अभावमापाद्य तत् पूर्वदुष्कृतं कर्म, शीतलविद्यारजं, जायते 'विशुद्धजन्म' जात्यादिदोषरहितः योग्य एव पुनरपि, तज्जन्मापेक्षया, चरणस्येति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ त्रिविध आराधको भवतीति तद्विशेषमभिधातुमाह—एष चाराधको भवति त्रिविधः, त्रैविध्यमेवाह—उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्च, भावसापेक्षं चोत्कृष्टत्वादि, यत एवमतो 'लेश्याद्वारेण' लेश्याङ्गीकरणेन 'स्फुटं' प्रकटं वक्ष्यामि विशेषमेतेषाम्—उत्कृष्टादिभेदानामिति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ तत्र—

सुक्काए लेसाए उक्कोसगमंसगं परिणमित्ता। जो मरइ सो हु णिअमा उक्कोसाराहओ होइ॥१६९४॥

'पापः' अतिरौद्रः, यतस्ततः–प्रमादादनेके चतुर्दशपूर्वधरा अपि, तिष्ठन्त्वन्ये, अनन्तकाये परिवसन्ति, वनस्पताविति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ किञ्च—दुःखं लभ्यते–कृच्छ्रेण प्राप्यते 'ज्ञानं' यथास्थितपदार्थावसायि, तथा ज्ञानं 'लब्ध्वा' प्राप्य 'भावना' एवमेवैतदित्येवंरूपा दुःखं भवति, भावितमतिरपि जीवः कथञ्चित् कर्म्मपरिणतिवशात् 'विषयेभ्यः' शब्दादिभ्यो 'विरज्यते' अप्रवृत्तिरूपेण दुःखं, तत्प्रवृत्तेः सात्मीभूतत्वादिति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ एवं गुरुकर्म्मपरिणतेः क्लिष्टचित्तादिभावोऽविरुद्धः, द्रव्यश्रमणमाह—अन्ये तु प्रथममेव–आदित एवारभ्य चारित्रमोहनीयक्षयोपशमहीनाः, चारित्रमन्तरेणैव प्रव्रजिताः, द्रव्यत एवम्भूताः सन्तो न लभन्ते पश्चादपि तत्रैव तिष्ठन्तश्चारित्रपरिणामं—प्रव्रज्यास्वतत्त्वरूपमिति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ एतदेवाह—मिथ्यादृष्टयोऽपि, अपिशब्दादभव्या अपि, केचनेह–लोके शासने वा भवन्ति द्रव्यलिङ्गधारिणो–विडम्बकप्रायाः, 'तत्' तस्मात्तेषामेवम्भूतानां कथं न भवन्ति ?, भवन्त्येव, क्लिष्टचित्तादयो दोषाः प्रागुपन्यस्ता इति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ तत्रैव प्रक्रमे विधिशेषमाह—

एत्थ य आहारो खलु उवलक्खणमेव होइ णायव्वो। वोसिरइ तओ सव्वं उवउत्तो भावसल्लंपि॥१६८९॥

अत्र च अनशनाधिकारे आहारः खलु परित्यागमधिकृत्योपलक्षणमेव भवति ज्ञातव्यः शेषस्यापि वस्तुनः, तथा चाह–'व्युत्सृजति' परित्यजति 'असौ' अनशनी सर्वं उपयुक्तः सन् भावशल्यमपि सूक्ष्ममिथ्यात्वादीति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ किं बहुना ?—

अण्णंपिव अप्पाणं संवेगाइसयओ चरमकाले। मण्णइ विसुद्धभावो जो सो आराहओ भणिओ॥१६९०॥

गतः गीतार्थेन श्रुताज्ञया साधुनेति गाथार्थः॥ ७७ ॥ 'सोऽपि च' प्रत्याख्यानी अप्रतिबद्धः सर्वत्र 'दुर्लभलाभस्य' दुर्लभप्राप्तेः 'विरतिभावस्य' चारित्रस्य अप्रतिपतनार्थमेव चाज्ञापरतन्त्रः सन् तां तां चेष्टां कारयति–कवचादिरूपामिति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ तथापि तदा अदीनः सन् भावेन जिनवरवचने जातबहुमानः–वचनैकनिष्ठः सन् संसाराद्विरक्तः–संविग्नो जिनैराराधको भणितः परमार्थत इति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ अत्रोपपत्तिमाह—

जं सो सयावि पायं मणेण संविग्गपक्खिओ चेव ।
इअरो उ विरइरयणं न लहइ चरमेऽवि कालम्मि ॥ १६८० ॥
संविग्गपक्खिओ पुण अण्णत्थ पयट्टिओऽवि काएणं ।
धम्मे च्चिअ तल्लिच्छो दढरतित्थिव्व पुरिसम्मि ॥ १६८१ ॥
तत्तो च्चिअ भावाओ णिमित्तभूअंमि चरमकालम्मि । उक्करिसविसेसेणं कोई विरइंपि पावेइ ॥ १६८२ ॥
जो पुण किलिट्ठचित्तो णिरविक्खोऽणत्थदंडपडिबद्धो ।
लिंगोवघायकारी ण लहइ सो चरमकालेऽवि ॥ १६८३ ॥

यदसावेवंविधः सदापि प्रायः 'मनसा' भावेन संविग्नपाक्षिक एव, 'इतरस्तु' असंविग्नपाक्षिकः 'विरतिरत्नं' चारित्रं 'न लभते' न प्राप्नोति चरमकालेऽपीति गाथार्थः ॥ ८० ॥ संविग्नपाक्षिकः पुनः शीतलविहारी अन्यत्र प्रवृत्तः–अप्का-

सुहझाणाओ धम्मो तं देहसमाहिसंभवं पायं । ता धम्मापीडाए देहसमाहिम्मि जइअव्वं ॥ १६७४ ॥
इहरा छेवट्ठम्मी संघयणे थिरधिईए रहिअस्स । देहस्सऽसमाहीए कत्तो सुहझाणभावोत्ति ? ॥१६७५॥
तयभावम्मि अ असुहा जायइ लेसावि तस्स णियमेणं । तत्तो अ परभवम्मि अ तल्लेसेसुं तु उववाओ१६७६
तम्हा उ सुहं झाणं पच्चक्खाणिस्स सव्वजत्तेणं । संपाडेअव्वं खलु गीअत्थेणं सुआणाए ॥ १६७७ ॥
सो च्चिअ अप्पडिबद्धो दुल्लहलंभस्स विरइभावस्स । अप्परिवडणत्थं चिअ तं तं चिट्ठं करावेइ ॥१६७८॥

तहवि तया अद्दीणो जिणवरवयणंमि जायबहुमाणो ।
संसाराओ विरत्तो जिणेहिं आराहओ भणिओ ॥ १६७९ ॥

शुभध्यानाद्–धर्म्मादेः धर्म्मो भवति, 'तत्' शुभध्यानं देहसमाधिसम्भवं 'प्रायो' बाहुल्येनासद्विधानां, यत एवं 'तत्' तस्माद्धर्म्मापीडया हेतुभूतया 'देहसमाधौ' शरीरसमाधाने 'यतितव्यं' प्रयत्नः कार्य इति गाथार्थः ॥७४॥ इतरथा छेदवर्तिनि संहनने, सर्वजघन्य इत्यर्थः, स्थिरधृत्या रहितस्य–दुर्बलमनसः देहस्यासमाधौ सञ्जाते सति कुतः शुभध्यानभावो ?, नैवेति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ 'तदभावे च' शुभध्यानाभावे च अशुभा जायते लेश्यापि–तथाविधात्मपरिणामरूपा, तस्य नियमेन, देहासमाधिमतः, 'ततश्च' अशुभलेश्यातः 'परभवे' जन्मान्तरेऽपि तल्लेश्येष्वेवोपपातो, महाननर्थ इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ यस्मादेवं तस्मात् शुभमेव ध्यानं प्रत्याख्यानिनः सर्वयत्नेन कवचज्ञातात् सम्पादयितव्यं खलु नियो-

॥ ६७॥ एवं निश्चयनयेनैतदुक्तं, किन्त्वसङ्ख्येयानि संयमस्थानानि तारतम्यभेदेन, येन 'चरणेऽपि' चारित्रेऽपि भणितान्यागमे 'जातिभेदात्' तज्जातिभेदेन, तेन कारणेन न दोष इह कश्चित् कन्दर्पादौ, तथाविधसंयमस्थानभावादिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ प्रकृतयोजनामाह—एतासां भावनानां विशेषेण तत्त्यागो भवति तेन कर्त्तव्यो, विवक्षितानशनिना, पूर्वभावितानामपि सतीनां पश्चात्तापादियोगेन भावसारेणेति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ कृतमत्र प्रक्रमे प्रसङ्गेन !, प्रकृतं वक्ष्यामि, किंभूतम् ?—सर्वनयविशुद्धं, किमित्याह—भक्तपरिज्ञायाः खलु विधानशेषं यन्नोक्तं, 'समासेन' सङ्क्षेपेणेति गाथार्थः॥७०॥

वियडण अब्भुट्ठाणं उचिअं संलेहणं च काऊणं। पच्चक्खइ आहारं तिविहं च चउव्विहं वावि ॥ १६७१ ॥
उवत्तइ परिअत्तइ सयमण्णेणावि कारवइ किंचि। जत्थ समत्थो नवरं समाहिजणगं अपडिवद्धो॥१६७२॥
मेत्तादी सत्ताइसु जिणिंदवयणेण तह य अच्चत्थं। भावेइ तिव्वभावो परमं संवेगमावण्णो ॥ १६७३ ॥

विकटनां दत्त्वा तदन्वभ्युत्थानं संयमे उचितां संलेखनां च संहननादेः कृत्वा प्रत्याख्यात्याहारं गुरुसमीपे त्रिविधं चतुर्विधं वाऽपि, यथासमाधानमिति गाथार्थः ॥७१॥ उद्वर्त्तते परावर्तते स्वयम्—आत्मनैव अन्येनापि कारयति किञ्चिद्—वैयावृत्त्यकरेण यत्रासमर्थो, नवरं तत्कारयति समाधिजनकं यदात्मनः, अप्रतिवद्धः सन् सर्वत्रेति गाथार्थः ॥७२॥ 'मैत्र्यादीनि' मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि 'सत्त्वादिषु' सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु जिनेन्द्रवचनेन हेतुभूतेन तथा चात्यर्थ—नितरां भावयति तीव्रभावः सन् 'परमं संवेगमापन्नः' अतिशयमार्द्रान्तःकरण इति गाथार्थः ॥७३॥ देहसमाधौ यतितव्यमित्याह—

जो जहवायं न कुणइ मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अण्णो ?। वड्ढेइ अ मिच्छत्तं परस्स संकं जणेमाणो ॥१६६६॥
कंदप्पाईवाओ न चेह चरणम्मि सुव्वइ कहंचि (हिंचि)। ता एअसेवणंपि हु तव्वायविराहगं चेव ॥१६६७॥
किंतु असंखिज्जाइं संजमठाणाइं जेण चरणेऽवि। भणियाइं जाइभेया तेण न दोसो इहं कोइ ॥ १६६८ ॥
एआण विसेसेणं तच्चाओ तेण होइ कायव्वो। पुव्विं तु भाविआणवि पच्छायावाइजोएणं ॥ १६६९ ॥
कयमित्थ पसंगेणं पगयं वोच्छामि सव्वनयसुद्धं। भत्तपरिण्णाए खलु विहाणसेसं समासेणं ॥ १६७० ॥

आह—न चरणविरुद्धा एताः भावनाः, अथैव यद् भणितं ग्रन्थे 'यः संयतोऽप्येतास्वि'त्यादि, तथा 'भाज्यश्चरणही-नश्चे'त्यादि प्रागिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ अत्रोत्तरम्—व्यवहारनयाच्चरणं एतासु भावनासु, यदसङ्क्लिष्टोऽपि प्राणी कश्चित् कन्दर्पादीन् सेवते, न तु निश्चयनयेन चरणमेतास्विति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ एतदेवाह—अखण्डं गुणस्थानं—निरतिचार-मिष्टमेतस्य नियमत एव निश्चयनयस्य, सदौचित्यप्रवृत्त्या हेतुभूतया, सूत्रेऽपि यत इदं भणितं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ किं तदित्याह—यो 'यथावादं' यथागमं न करोति विहितं मिथ्यादृष्टिस्ततः—एवम्भूतात्कोऽन्यः ?, स एव, आज्ञाविराधनादिति, वर्द्धयति च मिथ्यात्वमात्मनः परस्य शङ्कां जनयन्, सदनुष्ठानविषयामिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ स्याद्—यथावादमेव कन्दर्पादिकरणमित्याशङ्क्याह—कन्दर्पादिवादो न चेहागमे 'चरणे' चारित्रविषयः श्रूयते 'कश्चित्' कस्मिंश्चित्सूत्रस्थाने, 'तत्' तस्माद् 'एतत्सेवनं' कन्दर्पसेवनमपि 'तद्वादविराधकं' चरित्रवादविराधकमेवेति गाथार्थः

ये च मार्गप्रतिपन्नाः साधवस्तांश्च दूषयति, 'अबुधः' अविद्वान् जात्यैव, न परमार्थेन, भण्यतेऽसावेवम्भूतः 'मार्गदूषकः' पाप इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ मार्गविप्रतिपत्तिमाह—यः पुनस्तमेव मार्गं–ज्ञानादिं दूषयित्वा अपण्डितः सन् स्वतर्कया-जातिरूपया देशे उन्मार्गं प्रतिपद्यते, देश एव विप्रतिपत्तिरिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ मोहमाह—'तथा तथा' चित्ररूपतया उपहतमतिः सन् मुह्यति ज्ञानचरणान्तरालेषु गहनेषु, ऋद्धीश्च बहुविधा दृष्ट्वा परतीर्थिकानां यतो मुह्यत्यसौ मोह इति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ मोहयित्वेति व्याचिख्यासुराह—यः पुनर्मोहयति 'परम्' अन्यं प्राणिनं 'सद्भावेन वा' तथ्येन वा, तथा 'कैतवेन वा' परिकल्पितेन, 'समयान्तरे' परसमये मोहयति, स पुनरेवम्भूतः प्राणी मोहयित्वेति गृह्यतेऽनेन द्वारगाथावयवेनेति गाथार्थः ॥ ६० ॥ आसां भावनानां फलमाह–एता भावना 'भावयित्वा' अभ्यस्य देवदुर्गतिं यान्ति प्राणिनः, ततस्तस्या अपि च्युताः सन्तः देवदुर्गतेः पर्यटन्ति 'भवसागरं' संसारसमुद्रमनन्तमिति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ प्रकृतोपयोगमाह—एता भावना विशेषेण परिहरति, चरणविघ्नभूताः एता इति, एतन्निरोधादेव कारणात् सम्यक् चरणमपि प्राप्नोति, प्रस्तुतानशनीति गाथार्थः ॥ ६२ ॥

आह ण चरणविरुद्धा एआओ एत्थ चेव जं भणिअं।जो संजओऽवि भइओ चरणविहीणो अ इच्चाई १६६३
ववहारणया चरणं एआसुं जं असंकिलिट्ठोऽवि । कोई कंदप्पाई सेवइ ण उ णिच्छयणएणं ॥ १६६४ ॥
अक्खंडं गुणठाणं इट्ठं एअस्स णियमओ चेव। सइ उचियपवित्तीए सुत्तेऽवि जओ इमं भणियं ॥ १६६५ ॥

नाणाइ अ दूसिंतो तव्विवरीअं तु उद्दिसइ मग्गं। उम्मग्गदेसओ एस होइ अहिओ अ सपरेसिं ॥ १६५६ ॥

णाणाइ तिविहमग्गं दूसइ जो जे अ मग्गपडिवण्णे ।

अबुहो जाईए खलु भण्णइ सो मग्गदूसोत्ति ॥ १६५७ ॥ दारं ॥

जो पुण तमेव मग्गं दूसिउं पंडिओ सतक्काए। उम्मग्गं पडिवज्जइ विप्पडिवन्नेस मग्गस्स ॥ १६५८ ॥ दारं ॥

तह २ उवहयमइओ मुज्झइ णाणचरणंतरालेसुं। इड्ढीओ अ बहुविहा दट्ठुं जत्तो तओ मोहो ॥ १६५९ ॥

जो पुण मोहेइ परं सब्भावेणं च कइअवेणं वा। समयंतरम्मि सो पुण मोहित्ता घेप्पइ सऽणेणं ॥१६६०॥

एयाओ भावणाओ भावित्ता देवदुग्गइं जंति । तत्तोऽवि चुआ संता प(रिं)ति भवसागरमणंतं ॥ १६६१ ॥

एयाओ विसेसेणं परिहरई चरणविग्घभूआओ। एअनिरोहाओ चिअ सम्मं चरणंपि पावेइ ॥ १६६२ ॥

उन्मार्गदेशकः वक्ष्यमाणः, एवं मार्गदूषकः, एवं मार्गविप्रतिपन्नः, तथा मोहेन स्वगतेन, तथा मोहयित्वा परं सम्मोही-
भावनां करोति, स्वाध्यायस्वरूपत्वाद्धिति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ उन्मार्गदेशकमाह—ज्ञानादीनि दूषयन् पारमार्थिकानि,
'तद्विपरीतं तु' पारमार्थिकज्ञानविपरीतमेवोद्दिशति 'मार्गं' धर्मासम्भविधनम् उन्मार्गदेशक एव एवम्भूतः अंबत्यहित
एष परमार्थेन स्वपरयोर्द्वयोरपीति गाथार्थः ॥५६॥ मार्गदूषकमाह—ज्ञानादिं त्रिविधमार्गं पारमार्थिकं दूषयति यः कश्चित्,

दिभेदमादिशति, तथा 'निष्कृपः' कृपारहितः, तथा 'निरनुकम्पः' अनुकम्पारहितः अन्यस्मिन् कम्पमानेऽपि इत्यासुरीभावनोपेतो भवतीति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ व्यासार्थं त्वाह—नित्यं व्युद्ग्रहशीलः—सततं कलहस्वभावः, कृत्वा च कलहं नानुतप्यते पश्चादिति, न च क्षान्तः सन् अपराधिना 'प्रसीदति' प्रसादं गच्छति अपराधिनोर्द्वयोरपि—सपक्षपरपक्षगतयोः कषायोदयादेवेत्येषोऽनुबद्धविग्रह इति गाथार्थः ॥ ५० ॥ संसक्ततपसमाह—आहारोपधिशय्यासु—ओदनादिरूपासु यस्य भावस्तु—आशयः 'नित्यसंसक्तः' सदा प्रतिबद्धः, भावोपहतः स एवम्भूतः करोति च तपउपधानम्—अनशनादि 'तदर्थम्' आहाराद्यर्थं यः संसक्ततपा यतिरिति गाथार्थः ॥५१॥ निमित्तादेशनमाह—त्रिविधं भवति निमित्तं, कालभेदेन, एकैकं षड्विधं—लाभालाभसुखदुःखजीवितमरणविषयभेदेन तच्चु भवति विज्ञेयम्, एतच्च 'अभिमानाभिनिवेशादिति' अभिमानतीव्रतया व्याकृतं सदासुरीभावनां करोति, तद्भावाभ्यासरूपत्वादिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ निष्कृपमाह—'चङ्क्रमणादि' गमनासनादि शक्तः सन् क्वचित् सुनिष्कृपः—सुष्ठु गतघृणः स्थावरादिसत्त्वेषु करोत्यजीवप्रतिपत्त्या, कृत्वा वा चङ्क्रमणादि नानुतप्यते, केनचिन्नोदितः सन्, ईदृशो निष्कृपो भवति, लिङ्गमेतदस्येति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ निरनुकम्पमाह—यस्तु परं कम्पमानं दृष्ट्वा कुतश्चिद्धेतुतः न कम्पते कठिनभावः सन् क्रूरतया, एष पुनः निरनुकम्पो जीवः प्रज्ञप्तो वीतरागैः—आप्तैरिति गाथार्थः ॥ ५४ ॥ उक्ताऽऽसुरीभावना, सम्मोहनीमाह—

उम्मग्गदेसओ मग्गदूसओ मग्गविप्पडीवत्ती । मोहेण य मोहित्ता सम्मोहं भावणं कुणइ ।१६५५। पडिदार।

कम्—अभियोगनिमित्तं वध्नाति कर्म्म, देवताद्यभियोगादिकृत्यमेतद्, 'द्वितीयम्' अपवादपदमत्र गौरवरहितः सन्—निः-
स्पृह एव करोत्यतिशयज्ञाने सत्येतत्, स चैवं कुर्वन्नाराधको, न विराधकः, उच्चं च गोत्रं वध्नातीति शेषः, तीर्थोन्नति-
करणादिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ उक्ताऽऽभियोगिकी भावना, साम्प्रतमासुरीमाह—

अणुबद्धवुग्गहोच्चिअ संतत्ततवो णिमित्तमाएसी । णिक्किव निराणुकंपो आसुरिअं भावणं कुणइ ॥१६४९॥

णिच्चं विग्गहसीलो काऊण य णाणुतप्पई पच्छा ।
ण य खामिओ पसीअइ अवराहीणं दुविण्हंपि ॥ १६५० ॥ दारं ॥

आहारउवहिसिज्जासु जस्स भावो उ निच्चसंसत्तो । भावोवहओ कुणइ अ तवोवहाणं तयट्ठाए ॥ १६५१ ॥

तिविहं हवइ निमित्तं एक्किक्कं छव्विहं तु विण्णेअं ।
अभिमाणाभिनिवेसा वागरिअं आसुरं कुणइ ॥ १६५२ ॥ दारं ॥

चंकमणाईसत्तो सुणिक्किवो थावराइसत्तेसुं । काउं व णाणुतप्पइ एरिसओ णिक्किवो होइ ॥ १६५३ ॥ दारं॥

जो उ परं कंपंतं दट्ठूण ण कंपए कठिणभावो । एसो उ णिरणुकंपो पण्णत्तो वीअरागेहिं ॥ १६५४ ॥ दारं ॥

'अनुवद्धविग्रहः' सदा कलहशीलः, अपि च 'संसक्ततपाः' आहारादिनिमित्तं तपःकारी । तथा 'निमित्तम्' अतीता-

'विस्नापनं' वालस्नपनं 'होमम्' अग्निहवनं 'शिरःपरिरयः' करभ्रमणाभिमन्त्रणं, आदिशब्दः स्वभेदप्रख्यापकः, वालस्नपनादीनामनेकप्रकारत्वात्, 'क्षारदहनानि' तथाविधव्याधिशमनाय 'धूपश्च' योगगर्भः असदृशवेषग्रहणानि—नार्यादेरनार्यादिनेपथ्यकरणानि, 'अवत्रासनं' वृक्षादीनां प्रभावेन चालनम्, अवस्तम्भनम्—अनिष्टोपशान्तये स्तेनुकनिष्ठीवनाथुक्करणं, एवं वन्धमन्त्रादिना प्रतिवन्धनं, कौतुकमिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ भूतिकर्म्माण्याह—'भूत्या' भस्मरूपया 'मृदा वा—आर्द्रपांसुलक्षणया सूत्रेण वा प्रसिद्धेन भवति 'भूमिकर्म्म'परिरयवेष्टनरूपं, किमर्थमित्याह—वसतिशरीरभण्डकरक्षेति-एतद्रक्षार्थम्, अभियोगादय इतिकृत्वा, तेन कृतेन तद्रक्षार्थं, कर्त्तुरिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ प्रश्नस्वरूपमाह—प्रश्नस्तु भवति पाठादिरूपः प्रश्न इति, यत्पश्यति वा 'स्वयं' आत्मना तुशब्दादन्ये च तत्रस्थाः प्रस्तुतं वस्तु तत्प्रश्न इति, क्व तदित्याह—अङ्गुष्ठोत्सिष्टपद इत्यङ्गुष्ठपदे उत्सिष्टः कासारादिभक्षणेन, एवं 'दर्प्पणे' आदर्शे 'असौ' च खड्गे 'तोये' उदके 'कुड्ये' भित्तौ, आदिशब्दान्मदनफलादिपरिग्रहः, 'क्रुद्धादि' क्रुद्धः प्रशान्तो वा पश्यति कल्पविशेषादिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ प्रश्नाप्रश्नमाह—प्रश्नाप्रश्नोऽयमेवंविधो भवति यः स्वप्ने 'विद्याशिष्टं' विद्याकथितं सत् कथयत्यन्यस्मै शुभजीवितादि, अथवा 'आइंखणिय'त्ति ईक्षणिका दैवज्ञा आख्यात्री लोकसिद्धा डोम्वी, घण्टिकाशिष्टं—घण्टिकायां स्थित्वा घण्टिकायक्षेण कथितं परिकथयति, एष वा प्रश्नाप्रश्न इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ निमित्तमाह—त्रिविधं भवति निमित्तं कालभेदेनेत्याह—अतीतं प्रत्युत्पन्नमनागतं चैव, तीतादिविषयत्वात्तस्य, अत्र शुभाशुभभेदमेतल्लोके, कथमित्याह—अधिकरणेतरविभाषया, यत्साधिकरणं तदशुभमिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ 'एतानि' भूतिकर्म्मादीनि 'गौरवार्थं' गौरवनिमित्तं कुर्वन् ऋषिः 'आभियोगि

विम्हवणहोमसिरपरिरयाइ खारडहणाणि धूमे अ ।
असरिसवेसग्गहणा अवयासण थंभणं बंधं ॥ १६४३ ॥ दारं ॥

भूईअ मट्टिआए सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु। वसहीसरीरभंडगरक्खा अभिओगमाईआ ॥१६४४॥ दारं ॥

पण्हो उ होइ पसिणं जं पासइ वा सयं तु तं पसिणं ।
अंगुट्ठुच्छिट्ठपए दप्पणे अ असितोअकुड्डाई (कुड्डाई ॥ पा.) ॥ १६४५ ॥ दारं ॥

पसिणापसिणं सुमिणे विज्जासिट्ठं कहेइ अण्णस्स ।
अहवा आइंखणिआ घंटिअसिट्ठं परिकहेइ ॥ १६४६ ॥ दारं ॥

तिविहं होइ णिमित्तं तीए पडुप्पण्ण णागयं चेव । एत्थ सुभासुभभेअं अहिगरणेतर विभासाए ॥१६४७॥

एयाणि गारवट्ठा कुणमाणो आभिओगिअं बंधे । बीअं गारवरहिओ कुवइ आराह उच्चं च ॥१६४८॥ दारं॥

'कौतुकं' वक्ष्यमाणं एवं भूतिकर्म्म एवं प्रश्नः एवमितरः— प्रश्नाप्रश्नः, एवं निमित्तं 'आजीवी'ति कौतुकाद्याजीवकः ऋद्धिरससातगुरुः सन् अभियोगां भावनां करोति, तथाविधाभ्यासादिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ कौतुकद्वारावयवार्थमाह—

भव्याः कांकटुकप्रायाश्च भव्याः केनचित्प्रतिबोध्यन्ते, उपायाभावादिति सर्वानपि न प्रतिबोधयति, अत एवाविशेषेण न ददात्युपदेशं, गुणगुरुत्वाच्च गुरुभ्यो न परितप्यते, साधु निष्ठितार्थ इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ धर्म्माचार्यावर्णमाह—जात्यादिभिः सद्भिरसद्भिर्वा 'अवर्णम्' अश्लाघारूपं 'विभाषते' अनेकधा ब्रवीति, वर्त्तते न चाप्यवपाते—गुरुसेवावृत्तौ, तथा अहितः छिद्रप्रेक्षी गुरोरेव, 'प्रकाशवादी' सर्वसमक्षं तद्दोषवादी, 'अननुलोमः' प्रतिकूल इति धर्म्माचार्यावर्णवादः, जात्यादयो ह्यकारणमत्र, गुणाः कल्याणकारणं, गुरुपरिभवाभिनिवेशादयस्त्वतिरौद्रा इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ साध्ववर्णमाह—'अविषहणाः' न सहन्ते कस्यचिद्, अपि तु देशान्तरं यान्ति, अत्वरितगतयो मन्दगामिन इत्यर्थः, 'अननुवर्त्तिनश्च' प्रकृतिनिष्ठुराः, अपि तु गुरूनपि प्रति, आस्तामन्यो जनः, तथा क्षणमात्रप्रीतिरोषाः—तदैव रुष्टाः तदैव तुष्टाः, गृहिवत्सलाश्च स्वभावेन, सञ्चयिनः—सर्वसङ्ग्रहपरा इति साध्ववर्णवादः, इहाविषहणाः परोपतापभयेन, अत्वरितगतय ईर्यादिरक्षार्थम्, अननुवर्त्तिनः असंयमापेक्षया, क्षणमात्रप्रीतिरोषाः अल्पकषायतया, गृहिवत्सला धर्म्मप्रतिपत्तये, सञ्चयवन्त उपकरणाभावे परलोकाभावादिति गाथार्थः ॥४०॥ मायिस्वरूपमाह—'गूहति' प्रच्छादयात्यात्मनः स्वभावं—गुणाभावरूपमशोभनं, छादयति गुणान् 'परस्य' अन्यस्य 'सतोऽपि' विद्यमानानपि मायादोषेण, तथा चौर इव सर्वशङ्की स्वचित्तदोषेण, गूढाचारः सर्वत्र वस्तुनि भवति मायी जीव इति गाथार्थः ॥४१॥ उक्ता किल्बिषिकी भावना, आभियोगिकीमाह—

कोउअ भूईकम्मे पसिणा इअरे णिमित्तमाजीवी ।
इड्ढिरससायगुरुओ अभिओगं भावणं कुणइ ॥ १६४२ ॥ पडिदारं ॥

अविसहणा तुरियगई अणाणुवित्ती अ अवि गुरूणंपि ।
खणमित्तपीइरोसा गिहिवच्छलगा य संचइआ ॥ १६४० ॥ दारं ॥
गूहइ आयसहावं छायइ अ गुणे परस्स संतेऽवि ।
चोरो व सबसंकी गूढायारो हवइ मायी ॥ १६४१ ॥ दारं ॥

'ज्ञानस्य' श्रुतरूपस्य 'केवलिनां' वीतरागाणां 'धर्माचार्याणां' गुरूणां, सर्वसाधूनां सामान्येन, भाषमाणोऽवर्णम्—अश्लाघारूपं, तथा मायी सामान्येन, यः स कैल्बिषिकीं भावनां—तच्छ्लाघाभ्यासरूपां करोतीति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ ज्ञानावर्णवादः—कायाः—पृथिव्यादयः व्रतानि—प्राणातिपातादिनिवृत्त्यादीनि, तान्येव भूयो भूयः, तथा त एव प्रमादाः—मद्यादयः अप्रमादाश्च—तद्विपक्षभूताः, तत्र तत्र कथ्यन्त इति पुनरुक्तदोषः, तथा मोक्षाधिकारिणां साधूनां 'ज्योतिषयोनिभ्यां' ज्योतिषयोनिप्राभृताभ्यां किं कृत्यं ?, न किञ्चिद्, भवहेतुत्वादिति ज्ञानावर्णवादः, ६६ कायादय एव यत्नेन परिपालनीया इति तथा तथा तदुपदेशः, उपायभेदेन मा भूद्विराधनेति, ज्योतिःशास्त्रादि च शिष्यग्रहणपालनफलमित्यदुष्टफलमेव सूक्ष्मधिया भावनीयमिति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ केवल्यवर्णवादः—सर्वानपि प्राणिनो न प्रतिबोधयतीति न समवृत्तिः, नवा अविशेषेण ददात्युपदेशम्, अपि तु गम्भीरगम्भीरतरदेशनाभेदेन, तथा परितप्यते न गुरुभ्योऽपि दानादिना, आस्तामन्यस्य, ज्ञातः सन्, एवमतिनिश्चितार्थ एव, लौकिको गर्हाशब्द एषः, इति केवल्यवर्णवादः, नव-

द्रष्टृणामथ हासन इति भण्यते, हासकर इत्यर्थः, 'घतन इव' भाण्ड इव, 'छलानि' छिद्राणि 'नियच्छन्' पश्यन्निति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ विस्मापकमाह—'सुरजालादिभिस्तु' इन्द्रजालकौतुकैर्विस्मयं करोति चित्तविभ्रमलक्षणं 'तद्विधजनस्य' बालिशप्रायस्य, 'तेषु' इन्द्रजालादिषु न विस्मयते स्वयं न विस्मयं स्वयं करोत्यात्मना, आहर्त्तकुहेटकेषु च पुनः तथाविधग्राम्यलोकप्रतिबद्धेषु, यः स विस्मापक इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ उक्ता कान्दर्पीभावना, किल्बिषिकीमाह—

नाणस्स केवलीणं धम्मायरिआण सव्वसाहूणं ।
भासं अवण्ण माई किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥ १६३६ ॥
काया वया य ते च्चिअ ते चेव पमाय अप्पमाया य ।
मोक्खाहिआरिआणं जोइसजोणीहिं किं कज्जं ? ॥ १६३७ ॥ दारं ॥
सव्वेऽवि ण पडिवोहेइ ण याविसेसेण देइ उवएसं ।
पडितप्पइ ण गुरूणवि णाओ अइणिट्ठिअट्ठो उ ॥ १६३८ ॥ दारं ॥
जच्चाईहिं अवण्णं विहसइ वट्टइ णयावि उववाए ।
अहिओ छिद्दप्पेही पगासवाई अणणुलोमो ॥ १६३९ ॥ दारं ॥

कान्दर्पी कैल्विषिकी आभियोगिकी आसुरी च सम्मोहनी, कन्दर्प्पादीनामियमिति सर्वत्र भावनीयम्, एषा तु सङ्क्लिष्टा पञ्चविधा भावना भणिता, तत्तत्स्वभावाभ्यासो भावनेति गाथार्थः ॥ २८ ॥ यः संयतोऽपि सन् व्यवहारतः एतास्वप्रशस्तासु भावनासु वर्त्तते कथञ्चिद् भावमान्द्यात् स तद्विधेषु गच्छति सुरेषु कन्दर्प्पादिप्रकारेषु, भाज्यश्चरणहीनः—सर्वथा तत्सत्ताविकलः द्रव्यचरणहीनो वेति गाथार्थः ॥ २९ ॥ तत्र—कन्दर्प्पवान् कन्दर्प्पः, एवं कौकुच्यः द्रुतदर्प्पशीलश्चापि हासकरश्च तथा विस्मापयंश्च परान् कान्दर्प्पी भावनां करोतीति गाथार्थः ॥ ३० ॥ कन्दर्प्पवान् कान्दर्प्पी भावनां करोतीत्युक्तं, स च यस्य कहकहकहस्येति 'सुपां सुपो भवन्ती'ति तृतीयार्थे षष्ठी, कहकहकहेन हसनं, अट्टहास इत्यर्थः, तथा कन्दर्प्पः—परिहासः स्वानुरूपेण, अनिभृताश्च संलापाः, गुर्वादिनापि निष्ठुरवक्रोक्त्यादयः, तथा कन्दर्पकथाकथनं—कामकथाग्रहः, तथा कन्दर्पोपदेशो—विधानद्वारेण एवं कुर्विति, शंसा च—प्रशंसा च कन्दर्पविषया यस्य स कन्दर्प्पवान् ज्ञेय इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ कौकुच्यवन्तमाह—भ्रूनयनादिभिर्देहावयवैः वचनैश्च तैस्तैर्हासकारकैः तथा चेष्टां करोति क्वचित् तथाविधमोहदोषाद् यथा कुकुचमेव—गात्रपरिस्पन्दवद् हसति परः तद्द्रष्टा, आत्मनाऽहसन्, अभिन्नमुखराग इव, य एवंविधः स कौक्कुच्यवानिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ द्रुतदर्प्पशीलमाह—भाषते द्रुतं द्रुतमसमीक्ष्य, सम्भ्रमावेगाद् गच्छति च द्रुतं द्रुतमेव, 'दर्प्पित इव' दर्प्पोद्धुर इव 'गोवृषभो' बलीवर्दविशेषः शरदि काले, तथा सर्वद्रुतकारी असमीक्ष्यकारीतियावत्, तथा स्फुटतीव तीव्रोद्रेकविशेषात् स्थितोऽपि सन् 'दर्प्पेण' कुत्सितबलरूपेण, य इत्थम्भूतः स द्रुतदर्प्पशील इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ हासकरमाह—वेषवचनैः तथा चित्ररूपैर्हासं जनयन् आत्मनः परेषां च

कंदप्पे कुक्कुइए दवसीले आवि हासणपरे अ ।
विम्हाविंतो अ परं कंदप्पं भावणं कुणइ ॥ १६३० ॥ परिदारगाहा ॥
कहकहकहस्सहसणं कंदप्पो अणिहुआ य संलावा ।
कंदप्पकहाकहणं कंदप्पुवएस संसा य ॥ १६३१ ॥ दारं ॥
भमुहणयणाइएहिं वयणेहि अ तेहिं तेहिं तह चिट्ठं ।
कुणइ जह कुक्कुअं चिअ हसइ परो अप्पणा अहसं ॥ १६३२ ॥ दारं ॥
भासइ दुअं दुअं गच्छई अ दपिअव्व गोविसो सरए। सव्वदवद्दवकारी फुट्टइव ठिओवि दप्पेणं॥१६३३॥दा.
वेसवयणेहि हासं जणयंतो अप्पणो परेसिं च ।
अह हासणोत्ति भण्णइ घयणोव्व छले णिअच्छंतो ॥ १६३४ ॥
सुरजालमाइएहिं तु विम्हयं कुणइ तव्विहजणस्स ।
तेसु ण विम्हयइ सयं आहट्टकुहेडएसुं च ॥ १६३५ ॥ दारं ॥

शुभभावं कृत्वा निःशल्यमात्मानमालोचनयेति गाथार्थः ॥ २२ ॥ इङ्गितमरणविधानमेतद्–'आप्रव्रज्यमेव' प्रव्रज्याकालादारभ्य विकटनां कृत्वा संलेखनां च कृत्वा यथासमाधि द्रव्यतो भावतश्च यथाकालमिति गाथार्थः ॥ २३ ॥ प्रत्याख्याति 'आहारम्' अशनादि चतुर्विधं नियमतो, न त्रिविधं, गुरुसमीपे, इङ्गितदेशे तथा परिमितां चेष्टामपीङ्गितां करोतीति गाथार्थः ॥ २४ ॥ उद्वर्त्तते परावर्त्तते कायेन, कायिक्यादिषु भवति विभाषा, प्रकृतिसात्म्यात् करोति वा न वा, कृत्यमप्यात्मनैव युङ्क्ते उपधिप्रत्युपेक्षणादि नियमेन धृतिबली स भगवानिति गाथार्थः ॥ २५ ॥

पुव्विं सीअलगोऽवि हु पच्छा संजायसंवेगो ॥१६२६॥
भत्तपरिण्णाएवि हु आपव्वज्जं तु विअडणं देइ । उल्लसिअजीववीरिओ तओ अ आराहणं लहइ १६२७
वज्जइ अ संकिलिट्ठं विसेसओ णवर भावणं एसो।

भक्तपरिज्ञायामपि–तृतीयानशनरूपायां आप्रव्रज्यमेव–प्रव्रज्याकालादेवारभ्य विकटनां ददाति, पूर्वं शीतलोऽपि परलोकं प्रति पश्चात्–तत्काले सञ्जातसंवेग इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ वर्जयति च 'सङ्क्लिष्टाम्' अशुद्धां विशेषतो नवरं भावनामेषः–यथोक्तानशनी उल्लसितजीववीर्यः सन्, संवेगात्ततश्चाराधनां 'लभंते' प्राप्नोतीति गाथार्थः ॥ २७ ॥

कंदप्पदेवकिब्बिस अभिओगा आसुरा य सम्मोहा ।
एसा उ संकिलिट्ठा पंचविहा भावणा भणिआ ॥ १६२८ ॥
जो संजओऽवि एआसु अप्पसत्थासु वट्टइ कहंचि। सो तव्विहेसु गच्छइ सुरेसु भइओ चरणहीणो॥१६२९॥

उन्मेषाद्यभावादिति गाथार्थः ॥ १७ ॥ प्रथमसंहनने नियोगतः महानुभावा ऋषयः कुर्वन्त्येवमेतद्–अनशनं प्रायः शुभ-भावा एव, नान्ये, निश्चलपदकारणं परमं, निश्चलपदं–मोक्ष इति गाथार्थः ॥ १८॥ निर्व्याघातवदेतत्–पादपगमनं भणि-तमिह प्रक्रमानुसारेण हेतुना, सम्भवति चेतरदपि–सव्याघातवदेतत्, भणितमिदं वीतरागैः सूत्र इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ सिंहादिभिरभिभूतः सन् पादपगमनं करोति स्थिरचित्तः कश्चिदायुषि प्रभवति सति विज्ञाय नवरं गीतार्थ उपक्रम-मिति गाथार्थः ॥ २० ॥

संघयणाभावाओ इअ एवं काउ जो उ असमत्थो । सो पुण थेवयरागं कालं संलेहणं काउं ॥१६२१॥
इंगिणिमरणं विहिणा भत्तपरिण्णं व सत्तिओ कुणइ । संवेगभाविअमणो काउं णीसल्लमप्पाणं ॥१६२२॥
इंगिणिमरणविहाणं आपव्वज्जं तु विअडणं दाउं । संलेहणं च काउं जहासमाही जहाकालं ॥१६२३॥
पच्चक्खइ आहारं चउव्विहं णियमओ गुरुसमीवे । इंगिअदेसम्मि तहा चिट्ठंपि हु इंगिअं कुणइ ॥१६२४॥
उव्वत्तइ परिअत्तइ काइअमाईसु होइ उ विभासा । किच्चंपि अप्पणच्चिअ जुंजइ नियमेण धिइबलिओ१६२५

संहननाभावात् कारणाद् एवमेतत्कर्तुं योऽसमर्थः पादपगमनं स पुनः स्तोकतरं कालं जीवितानुसारेण संलेखनां कृत्वेति गाथार्थः ॥ २१ ॥ इङ्गितमरणं विधिना सूत्रोक्तेन भक्तपरिज्ञां वा शक्तितः करोति, किम्भूत इत्याह–संवेगभावितमनाः—

समभावम्मि ठिअप्पा सम्मं सिद्धंतभणिअमग्गेण । गिरिकंदरं तु गंतुं पायवगमणं अह करेइ ॥१६१६॥

संलिख्यात्मानमेवं द्रव्यतो भावतश्च प्रत्यर्प्य फलकादि प्रातिहारिकं गुर्वादींश्च सम्यक् क्षमयित्वा यथार्हं 'भावशुद्ध्या' संवेगेनेति गाथार्थः ॥ १३ ॥ उपबृंह्य 'शेषान्' गुर्वादिभ्योऽन्यान् प्रतिबद्धान्, 'तस्मिन्' स्वात्मनि तथा विशेषेणोपबृंह्य, धर्मे 'उद्यमितव्यं' यत्नः कार्यः, संयोगा इह वियोगान्ताः, एवमुपबृंह्येति गाथार्थः ॥१४॥ अथ वन्दित्वा 'देवान्' भगवतो यथाविधि सम्यग् शेषांश्च गुर्वादीन् वन्दित्वा प्रत्याख्याय 'ततः' तदनन्तरं 'तदन्तिके' गुरुसमीपे सर्वमाहारमिति गाथार्थः ॥ १५ ॥ समभावे स्थितात्मा सन् सम्यक् सिद्धान्तोक्तेन मार्गेण निरीहः सन् गिरिकन्दरं तु गत्वा स्वयमेव पादपगमनमथ करोति, पादपचेष्टारूपमिति गाथार्थः ॥ १६ ॥

सव्वत्थापडिबद्धो दंडाययमाइठाणमिह ठाउं । जावज्जीवं चिट्ठइ णिच्चिट्ठो पायवसमाणो ॥ १६१७ ॥
पढमिल्लुगसंघयणे महाणुभावा करिंति एवमिणं । एअं सुहभावच्चिअ णिच्चलपयकारणं परमं ॥१६१८॥
णिव्वाघाइमसेअं भणिअं इह पक्कमाणुसारेणं । संभवइ अ इअरंपिहु भणियमिणं वीअरागेहिं ॥१६१९॥
सीहाईअभिभूओ पायवगमणं करेइ थिरचित्तो । आउंमि पहुप्पंते विआणिउं नवर गीअत्थो ॥१६२० ॥

सर्वत्राप्रतिबद्धः समभावात्, दण्डायतादिस्थानमिह स्थित्वा स्थण्डिले यावज्जीवं तिष्ठति महात्मा निश्चेष्टः पादपसमानः,

जइवि न पावइ सेढिं तहावि संवेगभावणाजुत्तो। णिअमेण सोगइं लहइ त्तहय जिणधम्मबोहिं च ॥१६१०॥
जमिह सुहभावणाए अइसयभावेण भाविओ जीवो। जम्मंतरेऽवि जायइ एवंविहभावजुत्तो अ ॥१६११॥
एसेव बोहिलाभो सुहभावबलेण जो उ जीवस्स। पेच्चावि सुहो भावो वासिअतिलतिल्लनाएणं ॥ १६१२॥

स चैवं भावनातः सकाशात् कदाचिदुल्लसितवीर्यपरिणामः सन् प्राप्नोति श्रेणिं, तथा केवलं, एवं भूतः केवलाप्त्या न पुनर्म्रियते कदाचिदपीति गाथार्थः ॥ ९ ॥ यद्यपि न प्राप्नोति श्रेणिं कथमपि तथापि संवेगभावनायुक्तोऽयं नियमेन सुगतिं लभते अन्यजन्मनि, तथा जिनधर्म्मबोधिं च लभत इति गाथार्थः ॥ १० ॥ एतदेवाह–'यत्' यस्मादिह शुभ-भावनयाऽतिशयभावेन भावितो जीवः, सुवासित इत्यर्थः, जन्मान्तरेऽप्यन्यत्र जायते एवंविधभावयुक्त एव–शुभभावयुक्त इति गाथार्थः ॥ ११ ॥ एष एव बोधिलाभो वर्त्तते, शुभभावबलेन वासनासामर्थ्याद्, य एव जीवस्य 'प्रेत्यापि' जन्मान्तरेऽपि शुभभावो भवति, वासिततिलतैलज्ञातेन, तेषां हि तैलमपि सुगन्धि भवतीति गाथार्थः ॥ १२ ॥

संलिहिऊणऽप्पाणं एवं पच्चप्पिणित्तु फलगाई। गुरुमाइए अ सम्मं खमाविउं भावसुद्धीए ॥ १६१३ ॥
उववूहिऊण सेसे पडिबद्धे तंमि तह विसेसेणं। धम्मे उज्जमिअवं संजोगा इह विओगंता ॥१६१४॥
अथ वंदिऊण देवे जहाविहिं सेसए अ गुरुमाई। पच्चक्खाइत्तु तओ तयंतिगे सवमाहारं ॥ १६१५ ॥

नित्यर्थः, 'अकरणनियमादिशुद्धफलान्' आदिशब्दादनुवन्धह्रासपरिग्रहः इति गाथार्थः ॥ ४ ॥ परसावद्यच्यावनयोगेन व्यापारेण तस्य यः स्वयं त्यागः सावद्यस्य, किम्भूत इत्याह—'संवेगसारगुरुः' प्रशस्तभावप्रधानः 'सः' सावद्यत्यागः 'अकरणनियमवरहेतुः' पापाकरणस्यावन्ध्यहेतुरिति गाथार्थः ॥ ५ ॥

परिसुद्धमणुट्ठाणं पुव्वावरजोगसंगयं जं तं । हेमघडत्थाणीअं सयावि णिअमेण इट्ठफलं ॥ १६०६ ॥

जं पुण अप्परिसुद्धं मिम्मयघडतुल्लमो तयं णेअं । फलमित्तसाहगं चिअ ण साणुबंधं सुहफलंमि ॥१६०७॥

परिशुद्धमनुष्ठानं समयशुद्ध्या पूर्वापरयोगसङ्गतं यत्त्रिकोटीशुद्धं तत् हेमघटस्थानीयं वर्त्तते सदापि नियमेनेष्टफलम्—अपवर्गसाधनानुवन्धीति गाथार्थः ॥ ६ ॥ यत्पुनरपरिशुद्धं समयनीत्या मृन्मयघटतुल्यमसारं हि तज्ज्ञेयं फलमात्रसाधकमेव यथाकथञ्चित्, न सानुबन्धं शुभफले तदितरवदिति गाथार्थः ॥ ७ ॥

धम्मंमि अ अइआरे सुहुमेऽणाभोगसंगएऽवित्ति । ओहेण चयइ सव्वे गरहा पडिवक्खभावेण ॥१६०८॥

धर्मे चातिचारान्—अपवादान् 'सूक्ष्मान्' स्वल्पान् अनाभोगसङ्गतानपि कथञ्चिदोघेन त्यजति सर्वान् सूत्रनीत्या, गर्हा प्रतिपक्षभावेन हेतुनेति गाथार्थः ॥ ८ ॥

सो चेव भावणाओ कयाइ उल्लसिअविरिअपरिणामो । पावइ सेढिं केवलमेवमओ णो पुणो मरई॥१६०९॥

भवसमुद्र एवंभूत इति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ धन्योऽहं सर्वथा येन मया 'अनर्वाक्पारे' महामहति नवरमेतस्मिन्–भवसमुद्रे भवशतसहस्रदुर्लभमेकान्तेन 'लब्धं' प्राप्तं 'सद्धर्म्मयानं' सद्धर्म्म एव यानपात्रमिति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ एतस्य प्रभावेन धर्म्मयानस्य पाल्यमानस्य 'सदा' सर्वकालं 'प्रयत्नेन' विधिना जन्मान्तरेऽपि 'जीवाः' प्राणिनः प्राप्नुवन्ति न, किमित्याह–दुःखप्रधानं दौर्गत्यं–दुर्गतिभावमिति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ चिन्तामणिरपूर्वः, अचिन्त्यमुक्तिसाधनादेतद्धर्म्मयानं, अपूर्वश्च कल्पवृक्ष इत्यकल्पितफलदानात्, एतत्परमो मन्त्रो रागादिविषघातित्वाद्, एतत्परमामृतमत्रामरणावन्ध्यहेतुत्वादिति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ इच्छामि वैयावृत्त्यं सम्यग्गुर्वादीनां महानुभावानाम्, आदिशब्दात् सहायसाधुग्रहः, येषां प्रभावेनेदं–धर्म्मयानं प्राप्तं मया तथा पालितं चैवाविघ्नेनेति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ तेभ्यो नमः तेभ्यो नमः 'भावेन' अन्तःकरणेन पुनरपि तेभ्यो नम इति त्रिर्वाक्यं, अनुपकृतपरहितरता गुरवो यत एतद्ददति जीवेभ्यो धर्म्मयानमिति गाथार्थः ॥ १६०० ॥ नातो–धर्म्मयानाद्धितमन्यद्वस्तु विद्यते 'भुवनेऽपि' त्रैलोक्येऽपि भव्यजीवानां, कुत इत्याह–जायतेऽत एव–धर्म्मयानाद्यत उत्तरणं भवसमुद्रादिति गाथार्थः ॥ १ ॥ अत्र तु भवसमुद्रे सर्वाणि स्थानानि–देवलोकादीनि 'तदन्यसंयोगदुःखशतकलितानि' वियोगावसानविमानादिसंयोगदुःखानीति प्रतीतम्, अत एव रौद्रानुबन्धयुक्तानि विपाकदारुणत्वादत्यन्तं सर्वथा 'पापानि' अशोभनानीति गाथार्थः ॥ २ ॥ किमतः कष्टतरमन्यत् ? प्राप्तानां कथञ्चित्कृच्छ्रेण मनुजजन्मापि यदत्रापि भवति रतिः संसारसमुद्रेऽत्यन्तदुःखफलदे, यथोक्तन्यायादिति गाथार्थः ॥ ३ ॥ भावनान्तरमाह—तथैव 'सूक्ष्मभावान्' निपुणपदार्थान् भावयति 'संवेगकारकान्' प्रशस्तभावजनकान् सम्यग्–विधानेन प्रवचनगर्भभूतान्, सारभूता-

तेसि णमो तेसि णमो भावेण पुणो पुणोऽवि तेसि णमो ।
अणुवकयपरिहिअरया जे एयं दिंति जीवाणं ॥ १६०० ॥

नो इत्तो हिअमण्णं विज्जइ भुवणेऽवि भव्वजीवाणं । जाअइ अओच्चिअ जओ उत्तरणं भवसमुद्दाओ १६०१
एत्थ उ सव्वे थाणा तयण्णसंजोगदुक्खसयकलिया । रोद्दाणुबंधजुत्ता अच्चंतं सव्वहा पावा ॥ १६०२ ॥
किं एत्तो कट्ठयरं ? पत्ताण कहिंचि मणुअजम्मंमि । जं इत्थवि होइ रई अच्चंतं दुक्खफलयंमि ॥१६०३॥
तह चेव सुहुमभावे भावइ संवेगकारए सम्मं । पवयणगब्भब्भूए अकरणनिअमाइसुद्धफले ॥१६०४॥
परसावज्जच्चावणजोएणं तस्स जो सयं चाओ । संवेगसारगरुओ सो अकरणणियमवरहेऊ ॥ १६०५ ॥

भावमप्यान्तरं 'संलिखति' कृशं करोति जिनप्रणीतेन—आगमानुसारिणा 'ध्यानयोगेन' धर्म्मादिना, भूतार्थभावनाभिश्च वक्ष्यमाणाभिः 'परिवर्द्धयति' वृद्धिं नयति वोधिमूलान्यवन्ध्यकारणानीति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ एतदेवाह—'भावयति' अभ्यस्यति भावितात्मा सूत्रेण 'विशेषतः' अतिशयेन नवरं तस्मिन् काले चरमे, किमित्याह—'प्रकृत्या' स्वभावेन 'निर्गुणत्वम्' असारत्वं 'संसारमहासमुद्रस्य' भवोदधेरिति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ जन्मजरामरणजलो, वहुत्वादमीपाम्, अनादिमान्निति अगाधः, व्यसनश्वापदाकीर्णः अपकारित्वाद्, अमीपां जीवानां दुःखहेतुः सामान्येन कष्टः रौद्रो—भयानकः

'यथासमयं' यथाकालमेषोऽप्यस्य–मरणयोगस्योचितः समयः अमरणधर्म्मभिः–वीतरागैर्निर्दिष्टः सूत्र इति गाथार्थः ॥९०॥ यतश्चैवम्–'तत्' तस्मादाराधयामः–सम्पादयामः एनं चरमं शुभयोगं चरमगुणसाधकमाराधनानिष्पादकं 'सम्यग्' आगमनीत्या, शुभभाववृद्धिः खलु–कुशलाशयवृद्धिरित्यर्थः एवमिह–संलेखानायां प्रवर्त्तमानस्य सत इति गाथार्थः ॥९१॥ उचिते काले–चरमे 'एषा' संलेखना 'समयेऽपि' आगमेऽपि वर्णिता 'जिनेन्द्रैः' तीर्थकरैर्यस्मात् तस्मान्न दुष्टा एषा, कुत इत्याह–विहितानुष्ठानत एव–शास्त्रोक्तत्वादिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥

भावमवि संलिहेई जिणप्पणीएण झाणजोएणं । भूअत्थभावणाहिं परिवड्ढइ बोहिमूलाइं ॥ १५९३ ॥

भावेइ भाविअप्पा विसेसओ नवरि तम्मि कालम्मि । पयईए निग्गुणत्तं संसारमहासमुद्दस्स॥१५९४॥

जम्मजरामरणजलो अणाइमं वसणसावयाइण्णो । जीवाण दुक्खहेऊ कट्ठं रोद्दो भवसमुद्दो ॥१५९५॥

धण्णोऽहं जेण मए अणोरपारम्मि नवरमेअंमि । भवसयसहस्सदुलहं लद्धं सद्धम्मजाणंति ॥ १५९६॥

एअस्स पहावेणं पालिज्जंतस्स सइ पयत्तेणं । जम्मंतरेऽवि जीवा पावंति ण दुक्खदोगच्चं ॥१५९७॥

चिंतामणी अपुव्वो एअमपुव्वो य कप्परुक्खोत्ति । एअं परमो मंतो एअं परमामयं एत्थ ॥ १५९८ ॥

इच्छं वेआवडिअं गुरुमाईणं महाणुभावाणं । जेसि पहावेणेअं पत्तं तह पालिअं चेव ॥ १५९९ ॥

अब्भत्था सुहजोगा असवत्ता पायसो जहा समयं। एसो इमस्स उचिओ अमरणधम्मेहिं निद्दिट्टो ॥१५९०॥
ता आराहेसु इमं चरमं चरमगुणसाहगं सम्मं। सुहभावविवड्ढी खलु एवमिह पवत्तमाणस्स ॥१५९१॥
उचिए काले एसा समयंमिवि वण्णिआ जिणिंदेहिं। तम्हा तओ ण दुट्टा विहिआणुट्टाणओ चेव ॥१५९२॥

आह—आत्मवधनिमित्तमेषा—संलेखना कथं युज्यते ?, यतिजनस्य समभाववृत्तेः सतः, तथा समयार्थविरोधतश्चैवेति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ विरोधमाह—त्रिविधा अतिपातक्रिया, कथमित्याह—आत्मपरोभयगता यतो भणिता समये बहुशोऽनिष्टफलदेयं क्रिया धीरैरनन्तज्ञानिभिः—सर्वज्ञैरिति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ भण्यते—सत्यमेतत्—त्रिविधातिपातक्रियेति, नत्वेषा संलेखना क्रिया आत्मवधनिमित्तेति, कुत इत्याह—'तल्लक्षणविरहात्' आत्मवधक्रियालक्षणविरहात्, विरहश्च विहितानुष्ठानभावेन हेतुनेति गाथार्थः ॥८५॥ या खलु प्रमत्तयोगात् सकाशात् नियमाद्रागादिदोषसंसक्ता स्वरूपतः, आज्ञातो बहिर्भूता—उच्छास्त्रा सा भवत्यतिपातक्रिया, इदं लक्षणमस्या इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ या पुनरेतद्वियुक्ता क्रिया शुभभाववविवर्द्धनी च नियमेनायत्यां सा भवति शुद्धक्रिया, कुतः ? तल्लक्षणयोगत एवेति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ प्रतिपद्यते चैनां—संलेखनक्रियां यः प्रायः कृतकृत्य एवेह जन्मनि, निष्ठितार्थः, शुभमरणमात्रकृत्यः, यदि परं तस्यैषा जायते यथोक्ता—संलेखना शुद्धक्रिया चेति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ मरणप्रतीकारभूतैषा, एवं चोक्तन्यायान्न मरणनिमित्ता, यथा गण्डच्छेदक्रिया दुःखरूपाऽपि नात्मविराधनारूपेति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ अभ्यस्ता शुभयोगाः औचित्येन असपत्ना यथाऽऽगमं प्रायशो

एतस्य–उपक्रमणस्य यात्येवं गोचरत्वं संलेखनायाः तथा तथा 'समयभेदेन' कालभेदेनेति गाथार्थः ॥८१॥ युगपत्तु क्षिप्यमाणं तन्मांसादि उदग्रभावेन–प्रचुरतया प्रायशो जीवं, किमित्याह–च्यावयति शुभयोगात् सकाशात्, किमिव कमित्याह—बहुगुरुसैन्यमिव सुभटं च्यावयति जयादिति गाथार्थः ॥ ८२ ॥

आहऽप्पवहणिमित्तं एसा कह जुज्जई जइजणस्स। समभाववित्तिणो तह समयत्थविरोहओ चेव? १५८३

तिविहाऽतिवायकिरिआ अप्पपरोभयगया जओ भणिया।
बहुसो अणिट्ठफलया धीरेहिं अणंतनाणीहिं ॥ १५८४ ॥

भण्णइ सच्चं एअं ण उ एसा अप्पवहणिमित्तंति। तल्लक्खणविरहाओ विहिआणुट्ठाणभावेण॥१५८५॥

जा खलु पमत्तजोगा णिअमा रागाइदोससंसत्ता। आणाओ बहिभूआ सा होअइवायकिरिआ य॥१५८६॥

जा पुण एअविउत्ता सुहभावविवड्ढणा अ नियमेणं। सा होइ सुद्धकिरिआ तल्लक्खणजोगओ चेव॥१५८७॥

पडिवज्जइ अ इमं जो पायं किअकिच्चिमो उ इह जम्मे।
सुहमरणमित्तकिच्चो तस्सेसा जायइ जहुत्ता ॥ १५८ ॥ १५८८ ॥

मरणपडिआरभूआ एसा एवं च ण मरणनिमित्ता। जह गंडछेअकिरिआ णो आयविराहणारूवा॥१५८९॥

देहम्मि असंलिहिए सहसा धाऊहिं खिज्जमाणेहिं। जायइ अट्टज्झाणं सरीरिणो चरमकालम्मि ॥१५७७॥
विहिणा उ थेवथेवं खविज्जमाणेहिं संभवइ णेअं। भवविडविबीअभूअं इत्थ य जुत्ती इमा णेआ॥१५७८॥
सइ सुहभावस्स तहा थेवविवक्खत्तणेण नो बाहा। जायइ बलेण महया थेवस्सारंभभावाओ ॥१५७९॥
उवक्कमणं एवं सप्पडिआरं महाबलं णेअं । उचिआणासंपायण सइ सुहभावं विसेसेणं ॥ १५८० ॥
थेवमुवक्कमणिज्जं बज्झं अब्भिंतरं च एअस्स । जाइ इअ गोअरत्तं तहा तहा समयभेएणं ॥१५८१॥
जुगवं तु खविज्जंतं उदग्गभावेण पायसो जीवं। चावइ सुहजोगाओ बहुगुरुसेएणं व सुहडंति ॥१५८२॥

देहे असंलिखिते सति सहसा धातुभिः क्षीयमाणैः—मांसादिभिः जायते 'आर्त्तध्यानम्' असमाधिः शरीरिणः 'चरमकाले' मरणसमय इति गाथार्थः ॥ ७७ ॥ विधिना तु शास्त्रोक्तेन स्तोकस्तोकं क्षीयमाणैर्धातुभिः संम्भवति नैतद्—आर्त्तध्यानं, भवविटपिबीजभूतमेतद्, अत्र युक्तिरियं ज्ञेयाऽसम्भवे इति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ सदा शुभभावस्य 'तथा' तेन संलेखनाप्रकारेण स्तोकविपक्षत्वेन हेतुना न बाधा जायते, कुत इत्याह—बलेन महता शुभभावेन तेन स्तोकस्य दुःखस्यारम्भभावादिति गाथार्थः ॥७९॥ उपक्रमणमेवं धात्वादीनां सप्रतीकारं भूयो बृंहणेन महाबलं ज्ञेयमत्र उचिताज्ञासम्पादनेन सदा शुभभावमुपक्रमणं विशेषेणेति गाथार्थः ॥ ८० ॥ स्तोकमुपक्रमणीयं बाह्यं—मांसादि आभ्यन्तरं च—अशुभपरिणामादि

भिरिति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ संलेखनापुरस्सरमेतत् प्रायशः, पादपविशेषं मुक्त्वा, ततो पूर्वं वक्ष्ये संलेखनां, ततः क्रमेणोत्करूपेण समासतोऽभ्युद्यतमरणं वक्ष्य इति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ चतुरः संवत्सरान् विचित्राणि तपांसि करोति, षष्ठादीनि, तथा 'विकृतिनिर्व्यूढानि' निर्विकृतिकानि चत्वारि, एवं संवत्सरौ द्वौ च तदूर्ध्वमेकान्तरितमेव च नियोगतः आयामं तपः करोतीति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ नातिविकृष्टं च तपः—चतुर्थादि षण्मासान् करोति, तत ऊर्ध्वं परिमितं चाऽऽयामं तत्पारणक इति, तैलगण्डूषधारणं च मुखभङ्गे, अन्यानपि च षण्मासान् अत ऊर्ध्वं भवति 'विकृष्टम्' अष्टमाद्येव तपःकर्मेति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ वर्षं कोटीसहितमायामं, तथा चानुपूर्व्या एवमेव संहननाद्यनुरूपम्, आदिशब्दाच्छक्त्यादिग्रहः, 'अतः' उक्तात् कालादर्द्धादि—अर्द्धं प्रत्यर्द्धं वा नियमेन करोति, इह च कोटीसहितमित्येवं वृद्धा ब्रुवते "पट्ठवणओ य दिवसो पच्चक्खाणस्स निट्ठवणओ य । जहियं समिंति दोण्णि उ तं भन्नइ कोडिसहियं तु ॥ १ ॥ भावत्थो पुण इमस्स—जत्थ पच्चक्खाणस्स कोणो कोणो य मिलयइ, कहं ?, गोसे आवस्सए अब्भत्तट्ठो गहिओ, अहोरत्तं अच्छिऊण पच्छा पुणरवि अब्भत्तट्ठं करेइ, वीयस्स पट्ठावणा पढमस्स निट्ठवणा, ए दोवि कोणा एगट्ठ दोवि मिलिआ, अट्ठमादिसु दुहओ कोडिसहियं, जो चरिमदिवसो तस्सवि एगा कोडी, एवं आयंबिलनिबीइयएगासणएगट्ठाणगाणिवि, अहवा इमो अण्णो विही—अब्भत्तट्ठं कयं, आयंबिलेण पारियं, पुणरवि अब्भत्तट्ठं करेइ आयंबिलं च, एवं एगासणगाईहिवि संजोगा कायव्वा, णिविगतिगाइसु सव्वेसु सरिसेसु विसरिसेसु य, एत्थ आयंबिलेणाहिगारोत्ति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ इत्थमसंलेखनायां दोषमाह—

कल्पः असमासः पञ्चकात्सप्तकाच्चाधः ऋतुवर्षयोः द्वयोरपि भणितो यथाक्रमं वीतरागैरिति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ प्रतिषिद्ध-वर्जकानां साधूनां स्थविरविहारश्च भवति शुद्ध इति, 'इतरथा' प्रतिषिद्धासेवने आज्ञाभङ्गः संसारप्रवर्द्धनो नियमादिति गाथार्थः ॥ ७० ॥ कृतमत्र 'प्रसङ्गेन' विस्तरेण, स्वविषयनियतता उक्तन्यायात् प्रधानता एवं द्रष्टव्या बुद्धिमता द्वयोरपि, गतश्चाभ्युद्यतो विहारः, उक्त इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

अब्भुज्जयमरणं पुण अमरणधम्मेहिं वण्णिअं तिविहं ।
पायवइंगिणिमरणं भत्तपरिण्णा य धीरेहिं ॥१५७२॥

संलेहणापुरस्सर-मेअं पाएण वा तयं पुव्विं । वोच्छं तओ कमेणं समासओ उज्जयं मरणं ॥ १५७३ ॥

चत्तारि विचित्ताइं विगईणिज्जूहिआइं चत्तारि । संवच्छरे उ दोण्णि उ एगंतरिअं च आयामं ॥१५७४॥

णाइविगिट्ठो अ तवो छम्मासे परिमिअं च आयामं ।
अण्णेऽवि अ छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ १५७५ ॥

वासं कोडीसहिअं आयामं तह य आणुपुव्वीए । संघयणादणुरूवं एत्तो अद्धाइनिअमेण ॥ १५७६ ॥

अभ्युद्यतमरणं पुनः 'अमरणधर्म्मभिः' तीर्थकरैर्वर्णितं त्रिविधं, पादपेङ्गितमरणं भक्तपरिज्ञा च, धीरैः अमरणधर्म्म-

णसाधनं परमं यच्चरणं साध्यते कस्यचित्प्राणिनः शुभभावयोगेन हेतुना इति, न लब्ध्याद्यपेक्षयेति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ आत्यन्तिकसुखहेतुरेतत्–चरणमन्येषां भव्यप्राणिनां नियमेनैव परिणमति, आत्मनोऽपि क्रियमाणमप्येषां हन्त्येवमेव आत्यन्तिकसुखहेतुत्वेनेति गाथार्थः ॥ ६० ॥ गुरुसंयमयोगोऽपि विज्ञेयः, क ? इह स्वपरसंयमो यत्र, संयमे सम्यक् प्रवर्धमानः सन् सन्तत्या स्थविरविहारे चासौ भवति–स्वपरसंयम इति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ अत्यन्तमप्रमादोऽपि 'भावतः' परमार्थेन एष भवति ज्ञातव्यः 'एवंरूपः' यच्छुभभावेन सदा–सर्वकालं सम्यगन्येषां 'तत्करणं' शुभभावकरणमिति गाथार्थः ॥६२॥ यद्येवं किमिति मुनयः स्थविरविहारं विहाय गीतार्था अपि सन्तः प्रतिपद्यन्ते एनं जिनकल्पं ?, ननु कालोचितमनशनसमानं तद् आज्ञाऽभङ्गादिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ तत्काल एवोचितस्य पुंसः आज्ञाराधनाद्धेतोः प्रधान एषः जिनकल्पः, इतरथा त्वात्महानिः, स्वकाले तदप्रतिपत्तौ, निष्फलशक्तिक्षयात् कारणाज्ज्ञेयेति गाथार्थः ॥६४॥ अथवाऽऽज्ञाभङ्गादात्महानिः, एष चाज्ञाभङ्गः अधिकगुणसाधनसमर्थस्य सतः हीनकरणेन हेतुना, आज्ञा एवं–यदुत शक्त्या सदापि यतितव्यं, न तत्क्षयः कार्य इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ इतश्चैतदेवं–स्वपरसंयमः श्रेयान् यद्दशपूर्विणां साधूनां श्रूयते 'सूत्रे' आगमे एतस्य प्रतिषेधः–कल्पस्य, तस्यान्यथा परोपकारद्वारेणाधिकगुणभावात् कारणादिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ एवं तत्त्वं ज्ञात्वा यथोक्तं सर्वैरेव विशेषत एतच्छक्तिरहितैः–जिनकल्पप्रतिपत्तिशक्तिशून्यैः स्वपरोपकारे यत्नः कार्यः, यथाशक्ति अप्रमत्तैः,महदेतन्निर्जराङ्गमिति गाथार्थः ॥ ६७॥ स च न स्थविरविहारं मुक्त्वा स्वपरोपकारः अन्यत्र भवति शुद्ध एव, नाशुद्धः, अत एव प्रतिषिद्धः सूत्रेऽजातोऽसमाप्तकल्पश्चेति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ एतत्स्मरणमाह–अजातोऽगीतार्थानां

एवं तत्तं नाउं विसेसओ एव सत्तिरहिएहिं । सपरक्खगारे जत्तो कायव्वो अप्पमत्तेहिं ॥ १५६७ ॥

सो य ण थेरविहारं मोत्तुं अन्नत्थ होइ सुद्धो उ । एत्तो च्चिअ पडिसिद्धो अजायसम्मत्तकप्पो अ ॥१५६८॥

अज्जाओऽगीआणं असमत्तो पणगसत्तगा हिट्ठा ।
उउवासासुं भणिओ जहक्कमं वीअरागेहिं ॥ १५६९ ॥

पडिसिद्धवज्जगाणं थेरविहारो अ होइ सुद्धोत्ति । इहरा आणाभंगो संसारपवद्धणो णियमा ॥ १५७० ॥

कयमित्थपसंगेणं सविसयणिअया पहाणया एवं । दट्ठवा बुद्धिमया गओ अ अब्भुज्जयविहारो ॥ १५७१ ॥

अन्ये परार्थविरहात् कारणाद्वेदमिति भणन्ति, एष च परार्थं इह प्रधानः परलोक इति, एतस्याप्यभ्युद्यतविहारस्य तदभावे—परार्थाभावे प्रतिपत्तिनिषेधतश्चैव, नैवं भणन्तीति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ एतदेवाह—अभ्युद्यतमेकतरं विहारं मरणं वा प्रतिपत्तुकामः स्वल्पसाधुरपि प्रव्राजयत्युपस्थितं, अन्यथा—तत्प्रव्रज्याऽभावे गणिगुणस्वलब्धिकः खलु तत्पालनासमर्थो, न सामान्येन तच्छून्यः, कोऽपरं प्रव्रजति सति का वार्तेत्याह—एवमेव, अन्यथा तत्प्रव्रज्याभावेऽलब्धियुक्तोऽप्यभ्युद्यतप्रतिपत्तिमात्रेण गुरुनिश्रया प्रव्राजयतीति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ एवं प्रधान एषोऽभ्युद्यतविहारात् एकान्तेनैवागमादिसिद्ध इति, युक्त्यापि च श्रेयः प्रधानः, स्वपरोपकारो महान् यस्मादिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ न चात उपकारोऽन्यः प्रधानतरः, निर्वा-

अब्भुज्जयमेगयरं पडिवज्जिउकामोँ सोवि पव्वावे। गणिगुणसलद्धिओ खलु एमेव अलद्धिजुत्तोऽवि १५५७

एव पहाणो एसो एगंतेणेव आगमा सिद्धो। जुत्तीएऽवि अ नेओ सपरुवगारो महं जम्हा ॥१५५८॥

ण य एत्तो उवगारो अपणो णिव्वाणसाहणं परमं। जं चरणं साहिज्जइ कस्सइ सुहभावजोएण ॥ १५५९ ॥

अच्चंतिअसुहहेऊ एअं अण्णेसि णिअमओ चेव। परिणमइ अप्पणोऽवि हु कीरंतं हंदि एमेव ॥ १५६०॥

गुरुसंजमजोगो वि हु विण्णेओ सपरसंजमो जत्थ। सम्मं पवड्ढमाणो थेरविहारे अ सो होइ ॥ १५६१ ॥

अच्चंतमप्पमाओऽवि भावओ एस होइ णायव्वो। जं सुहभावेण सया सम्मं अण्णेसि तक्करणं ॥ १५६२॥

जइ एवं कीस मुणी थेरविहारं विहाय गीआवि ?।
पडिवज्जंति इमं नणु कालोच्चिअमणसणसमाणं ॥ १५६३ ॥

तक्काले उचिअस्सा आणा आराहणा पहाणेसा। इहरा उ आयहाणी निप्फलसत्तिक्खया णेआ ॥

अहवाऽऽणाभंगाओ एसो अहिगगुणसाहणसहस्स। हीणकरणेण आणा सत्तीएँ सयावि जइअव्वं ॥

एत्तो अ इमं एवं जं दसपुव्वीण सुव्वई सुत्ते। एअस्स पडिस्सेहो तयण्णहा अहिगगुणभावा ॥१५६६॥

पूर्वप्रतिपन्नानामपि सामान्येन उत्कृष्टजघन्यतः परिमाणं कोटिपृथक्त्वं भणितं भवति, स्वस्थानविशेषवत्, यथाल-
न्दिकानां त्विति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

कयमित्थ पसंगेणं एसो अब्भुज्जओ इह विहारो । संलेहणासमो खलु सुविसुद्धो होइ णायव्वो ॥ १५५३ ॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन—विस्तरेण, एषोऽभ्युद्यत इह विहारः प्रवचने संलेखनासमः खलु, पश्चादासेवनात्, सुविशुद्धो भवति
ज्ञातव्यो यथोदित इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

पाएण चरमकाले जमेस भणिओ सयाणमणवज्जो । भयणाए अण्णया पुण गुरुकज्जाईहिं पडिबद्धा॥१५५४

प्रायेण चरमकाले यदेष भणितः सूत्रे सतामनवद्यः, भजनयाऽन्यदा पुनः—स्याद्वा न वा, गुरुकार्यादिभिः प्रतिबन्धा-
दिति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

केई भणंति एसो गुरुसंजमजोगओ पहाणोत्ति । थेरविहाराओऽवि हु अच्चंतं अप्पमायाओ ॥ १५५५॥

केचन भणन्त्येषः—अभ्युद्यतविहारः गुरुसंयमयोगतः कारणात्प्रधान इति, स्थविरविहारादपि सकाशात्, अत्यन्ताप्रमा-
दात्केतोरिति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

अण्णे परत्थविरहा नेवं एसो अ इह पहाणोत्ति । एअस्सवि तदभावे पडिवत्तिणिसेहओ चेव ॥१५५६॥

एक्किक्कपडिग्गहगा सप्पाउरणा हवंति थेरा उ । जे पुणऽमी जिणकप्पे भय तेसिं वत्थपायाई ॥ १५४९ ॥

एकैकप्रतिग्रहकाः तथा सप्रावरणा भवन्ति 'स्थविरा' इति भूयः स्थविरकल्पगामिनः, ये पुनरमी जिनकल्पे भवंति भाज्ये तेषां वस्त्रपात्रे, भाविजिनकल्पापेक्षयेति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

गणमाणओ जहण्णा तिण्णि गणा सयग्गसो अ उक्कोसा ।
पुरिसपमाणं पण्णरस सहस्ससो चेव उक्कोसो ॥ १५५० ॥

'गणमानतो' गणमानमाश्रित्य जघन्यं त्रयो गणाः भवन्ति, शताग्रशश्चोत्कृष्टं गणमानं, पुरुषप्रमाणं त्वेतेषां पंचदश जघन्यं, सहस्रश एवमुत्कृष्टं पुरुषप्रमाणमिति गाथार्थः ॥ ५० ॥ एतदौघिकं मानं, विशिष्टं पुनराह—

पडिवज्जमाणगा वा एक्कादि हविज्ज ऊणपक्खेवे । होंति जहण्णा एए सयग्गसो चेव उक्कोसा ॥ १५५१ ॥

प्रतिपद्यमानका वा एते एकादयो भवेयुर्न्यूनप्रक्षेपे सति तद्गच्छे, एवं जघन्या एते प्रतिपद्यमानकाः, तथा शताग्रश एवोत्कृष्टाः प्रतिपद्यमानका एवेति गाथार्थः ॥ ५१ ॥

पुव्वपडिवन्नगाणवि उक्कोसजहण्णओ परीमाणं । कोडिपुहत्तं भणिअं होइ अहालंदिआणं तु ॥ १५५२ ॥

तीए अ अपरिभोए ते वंदंती ण वंदई सो उ। तं घित्तुमपडिबंधा ताएँ जहिच्छाएँ विहरंति ॥ १५४६ ॥

'न तरेत्' न शक्नुयाद्यदि गन्तुं तत्राचार्यः तदाऽऽगच्छति स एव यथालन्दिकः, केत्याह—अन्तरपल्लिं क्षेत्रात् सार्द्ध-द्विगव्यूतिस्थां, प्रतिवृषभग्रामं द्विगव्यूतस्थं, तथा वहिः क्षेत्राद् अन्यवसतिं, क्षेत्र एवागच्छन्तीति गाथार्थः ॥४५॥ तस्यां च वसतौ अपरिभोगे स्थाने ते साधवो वन्दंते तं यथालन्दिकं, न वन्दते स तु तान् साधून्, तथा कल्पस्थितेः, एवं तद् गृहीत्वाऽर्थशेषमप्रतिबद्धा यथालन्दिकाः ततो यथेच्छया-स्वकल्पानुरूपं विहरन्ति, तमेव पालयन्त इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

जिणकप्पिआ व तहिअं किंचि तिगिच्छं तु ते उ न करिंति ।
णिप्पडिकम्मसरीरा अवि अच्छिमलंपि णऽवणिंति ॥ १५४७ ॥

थेराणं णाणत्तं अतरंते अप्पिणंति गच्छस्स । तेऽवि अ से फासुएणं करिंति सव्वं तु परिकम्मं ॥ १५४८ ॥

जिनकल्पिकाश्च यथालन्दिकाः तदा गृहीतार्थशेषे, यथालन्दिककाल एवान्ये, काञ्चिच्चिकित्सां समुत्पन्नेऽप्यातंके ते न कारयन्ति, तथाकल्पस्थितेः, निष्प्रतिकर्म्मशरीरास्ते भगवन्तः, अप्यक्षिमलमपि नापनयन्ति, अप्रमादातिशयादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ स्थविराणां यथालन्दिकानां नानात्वमेतत्—अशक्नुवन्तं सन्तं स्वसाधुमर्प्पयन्ति गच्छस्य; तेऽपि च—गच्छवासिनः 'से' तस्य प्रासुकेनान्नादिना कुर्वन्ति सर्वमेव परिकर्म्मेति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ एतत्स्वरूपमाह—

एतदेवाह—

पडिवद्धा इअरेऽवि अ एक्किका ते जिणा य थेरा य। अत्थस्स उ देसम्मी असमत्ते तेऽवि पडिबंधो ॥१५४२॥
लग्गादिसुत्तरंते तो पडिवज्जित्तु खित्तवाहि ठिआ। गिण्हंति जं अगहिअं तत्थ य गंतूण आयरिओ १५४३
तेसिं तयं पयच्छइ खित्तं एन्ताण तेसिमे दोसा। वन्दतमवंदंते लोगम्मी होइ परिवाओ ॥१५४४॥

प्रतिबद्धा गच्छे इतरेऽपि च—अप्रतिबद्धाः, एकैकास्ते प्रतिबद्धाः अप्रतिबद्धाश्च जिनाश्च स्थविराश्चेति भूयो भिद्यन्ते, ये जिनकल्पं प्रतिपद्यन्ते ते जिनाः, ये तु स्थविरकल्पमेव ते स्थविरा इति, तत्रार्थस्यैव, न सूत्रस्य, देशे असमाप्ते सति, स्तोकमात्रे, तेषां प्रतिबन्धो गच्छे जिनानाम्, अन्यथा जिना एव स्युरिति गाथार्थः ॥४२॥ अ(य)तः—लग्नादिषूत्तरत्सु सत्सु तदन्यमत्यासन्नविरहेण ततः प्रतिपद्य यथालन्दं गच्छान्निर्गत्य क्षेत्रबहिःस्थिताः विशिष्टक्रियायुक्ताः गृह्णन्ति यदगृहीतमर्थशेषं, तत्र चायं विधिः—यदुत गत्वा आचार्यस्तत्समीपमिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ किमित्याह—तेभ्यस्तकं प्रयच्छत्यर्थशेषं, किमेतदेवमित्याह—क्षेत्रमागच्छतां तदर्थं 'तेषां' यथालन्दिकानामेते दोषाः—वक्ष्यमाणाः वन्दमानानां साधून् अवन्दमानानां तेषां लोके भवति परिवादः, यद्वैते अलोकज्ञा यद्वा परे शीलरहिता इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

ण तरिज्ज जई गंतुं आयरिओ ताहे एइ सो चेव। अंतरपल्लीपडिवसभगामपहि अणवसही वा॥ १५४५॥

लंदं तु होइ कालो सो पुण उक्कोस मज्झिम जहण्णो । उदउल्ल करो जाविह सुक्कइ ता होइ उ जहण्णो ॥
उक्कोस पुव्वकोडी मज्झे पुण होंति णेगठाणा उ । एत्थ पुण पंचरत्तं उक्कोसं होअहालंदं ॥ १५३९ ॥

लन्दं तु भवति कालः, समयपरिभाषेयं, स पुनः काल उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यः सामयिक एवायं द्रष्टव्यः, उदकार्द्रकरो यावदिह सामान्येन लोके शुष्यति तावद्भवति तु जघन्य इह प्रक्रमे इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ उत्कृष्टः पूर्वकोटी, चरणकालमाश्रित्य, मध्यः पुनर्भवन्त्यनेकानि स्थानानि, वर्षादिभेदेन, अत्र पुनः प्रक्रमे पञ्चरात्रमुत्कृष्टं भवति, तेनोपयोगात्, 'यथालन्दं' यथाकालमिति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

जम्हा उ पंचरत्तं चरंति तम्हा उ हुंतऽहालंदी । पंचेव होइ गच्छो तेसिं उक्कोसपरिमाणं ॥ १५४० ॥

यस्मात्पञ्चरात्रं चरन्ति वीथ्यां भैक्षनिमित्तं तस्माद् भवन्ति यथालन्दिनः, विवक्षितयथालन्दभावात्, तथा पञ्चैव भवति गच्छः स्वकीयस्तेषामुत्कृष्टपरिमाणमेतदिति गाथार्थः ॥ ४० ॥

जा चेव य जिणकप्पे मेरा सच्चेव लंदिआणंपि । णाणत्तं पुण सुत्ते भिक्खाचरि मासकप्पे अ ॥ १५४१ ॥

यैव च जिनकल्पे मर्यादोक्ता—भावनादिरूपा सैव च यथालन्दिकानामपि प्रायशः, नानात्वं पुनरतेभ्यः 'सूत्रे' सूत्रविषयं तथा भिक्षाचर्यायां मासकल्पे चेति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

सत्तावीस जहण्णा सहस्स उक्कोसओ अ पडिवत्ती ।
सयसो सहस्ससो वा पडिवण्ण जहण्ण उक्कोसा ॥ १५३५ ॥
पडिवज्जमाण भइया इक्कोऽवि हु होज्ज ऊणपक्खेवे ।
पुव्वपडिवन्नयावि हु भइआ एगो पुहुत्तं वा ॥ १५३६ ॥ दारं ॥

'गणतो' गणमाश्रित्य त्रय एव गणाः, एतेषां जघन्या प्रतिपत्तिः, इयमादावेव, शतश उत्कृष्टा प्रतिपत्तिरादावेव, तथा 'उत्कृष्टजघन्येन' अत्रोत्कृष्टतो जघन्यतश्च शतश एव पूर्वप्रतिपन्नाः, नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदमधिकमिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ सप्तविंशतिर्जघन्याः पुरुषाः, सहस्राण्युत्कृष्टतश्च प्रतिपत्तिः एतावतामेकदा, शतशः सहस्रशश्च यथासङ्ख्यं 'प्रतिपन्ना' इति पूर्वप्रतिपन्ना जघन्या उत्कृष्टाश्चैतावन्त इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ प्रतिपद्यमानका 'भाज्या' विकल्पनीयाः, कथमित्याह—एकोऽपि भवेदूनप्रक्षेपे प्रतिपद्यमानकः, पूर्वप्रतिपन्नका अपि तु भाज्याः, प्रक्षेपपक्ष एव, कथमित्याह—एकः, पृथक्त्वं वा, यदा भूयांसः कल्पान्तरं प्रतिपद्यन्ते भूयांस एव चैनमिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

एअं खलु णाणत्तं एत्थं परिहारिआण जिणकप्पा। अहलंदिआण एत्तो णाणत्तमिणं पवक्खामि ॥१५३७॥

एतत् खलु नानात्वमत्र यन्निदर्शितं परिहारिकाणां जिनकल्पात् सकाशात्, शेषं तुल्यमेव, यथालन्दिकानां अत ऊर्ध्वं नानात्वमिदं—वक्ष्यमाणलक्षणं प्रवक्ष्यामि जिनकल्पादिति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

तानि चाविरुद्धान्येव गाथार्थः॥३०॥'तान्यपि' परिहारिकसंयमस्थानानि असङ्ख्येया लोकाः, प्रदेशस्थानवृद्ध्यैतावन्तीत्यर्थः,
उपर्यपि ततः परिहारिकसं- प्रथमद्वितीययोरिति, शुद्धिविशेषात् सामायिकच्छेदोपस्थाप्यसंयमस्थानानामिति भावः,
गाथार्थः ॥३१॥ 'द्वयोरपि' सामायिकच्छेदोपस्थाप्ययोरिति यमस्थानेभ्यः असङ्ख्येयानि शुद्धिविशेषतः संयमस्थानानि
अध्यव- 'स्वस्थान' इति नियोगतः स्वस्थानेषु प्रतिपत्तिः कल्पस्य, अन्येष्वपि संयमस्थानेष्वधिकतरेषु भवेत् पूर्वप्रतिपन्नः,
निश्चयतस्तु सायविशेषात् तेष्वपि वर्त्तमानः, संयमस्थानान्तरेष्वपि सः परिहारविशुद्धिक इत्यतीतनयं प्राप्योच्यते एवं,
न, संयमस्थानान्तराध्यासनादिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

ठिअकप्पम्मी णिअमा एमेव य होइ दुविहलिंगेऽवि ।
लेसा झाणा दोण्णिवि हवंति जिणकप्पतुल्ला उ ॥ १५३३ ॥

लेश्याध्याने स्थितकल्पे च नियमादेते भवन्ति, नास्थितकल्पे, एवमेव च भवन्ति द्विविधलिङ्गेऽपि नियमादेव,
द्वे अपि भवतः अमीषां जिनकल्पतुल्ये एव, प्रतिपद्यमानादिभेदेनेति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

गणओ तिण्णेव गणा जहण्णपडिवत्ति सयसमुक्कोसा ।
उक्कोसजहण्णेणं सयसो च्चिअ पुव्वपडिवण्णा ॥ १५३४ ॥

पव्वावण मुंडावण मणसाऽऽवण्णेऽवि से अणुग्घाया ।
कारणणिप्पडिकम्मा भत्तं पंथो अ तइआए ॥ १५२८ ॥ दारगाहा ।

अस्य गाथाद्वयस्यापि समुदायार्थः पूर्ववत् । अवयवार्थं त्वाह—

खित्ते भरहेरवए होंति साहरणवज्जिआ णिअमा । एत्तो च्चिअ विण्णेअं जमित्थ कालेऽवि णाणत्तं ॥१५२९॥

क्षेत्रे भरतैरावतयोर्भवन्ति शुद्धपरिहारिकाः, संहरणवर्जिता नियमाद्, इयमेषां स्थितिः, अत एव भरतैरावतभावाद्विज्ञेयं यदत्र कालेऽपि नानात्वं, प्रतिभागाद्यभावादिति गाथार्थः ॥ २९ ॥

चारित्रस्थितिमभिधातुमाह—

तुल्ला जहण्णठाणा संजमठाणाण पढमविइआणं । तत्तो असंखलोए गंतुं परिहारिअट्ठाणा ॥१५३०॥
ताणवि असंखलोगा अविरुद्धा चेव पढमवीआणं । उवरिंपि तओ संखा संजमठाणा उ दोण्हंपि॥१५३१॥
सट्ठाणे पडिवत्ती अण्णेसुवि होज्ज पुव्वपडिवन्नो । तेसुवि वट्टंतो सो तीअणयं पप्प वुच्चइ उ ॥ १५३२ ॥

तुल्यानि जघन्यस्थानानि स्वसङ्ख्यया संयमस्थानयोः प्रथमद्वितीययोः—सामायिकच्छेदोपस्थाप्याभिधानयोः, 'ततो' जघन्येभ्यः संयमस्थानेभ्योऽसङ्ख्यांल्लोकान् गत्वा क्षेत्रप्रदेशस्थानवृद्ध्या परिहारिकस्थानानि भवन्ति, संयममधिकृत्येति

तवभावणणाणत्तं करिंति आयंबिलेण परिकम्मं । इत्तिरिअ थेरकप्पे जिणकप्पे आवकहिआ उ ॥ १५२४ ॥

तपोभावनानानात्वं चैषामिदं कुर्वन्त्यायामाम्लेन परिकर्म्म सर्वमेव, एते चेत्वरा यावत्कथिकाश्च भवन्ति, ये कल्पसमाप्तौ गच्छमागच्छन्ति ते इत्वराः, ये तु जिनकल्पं प्रतिपद्यन्ते ते यावत्कथिका इति, एतदाह—इत्वराः स्थविरकल्पा इति- भूयः स्थविरकल्पे भवन्ति, जिनकल्पे यावत्कथिकास्तु भवंतीति गाथार्थः ॥ २४ ॥ एतत्सम्भवमाह—

पुण्णे जिणकप्पं वा अइंति तं चेव वा पुणो कप्पं । गच्छं वा यंति पुणो तिण्णिवि ठाणा सिमविरुद्धा १५२५

पूर्णे शुद्धपरिहारे जिनकल्पं वा यान्ति-गच्छन्ति, तमेव वा पुनः कल्पं—शुद्धपरिहारं, गच्छं वा गच्छन्ति पुनः, अनेन प्रकारेण त्रीण्यपि स्थानान्यमीषां—शुद्धपरिहारिकाणां न विरुद्धानीति गाथार्थः ॥ २५ ॥

इत्तिरिआणुवसग्गा आयंका वेयणा य ण भवंति । आवकहिआण भइआ तहेव छग्गामभागा उ ॥१५२६॥

इत्वराणां शुद्धपरिहारिकाणां उपसर्गा आतङ्का वेदनाश्च न भवन्ति, तत्कल्पप्रभावाद् जीतमेतत्, यावत्कथिकानां भाज्या उपसर्गादयः, जिनकल्पस्थितानां सम्भवात्, तथैव षड् ग्रामभागास्त्वमीषां यथा जिनकल्पिकानामिति गाथार्थः ॥ २६ ॥ एतेषामेव स्थितिमभिधातुमाह—

खित्ते कालचरित्ते तित्थे परिआगमागमे वेए । कप्पे लिंगे लेसा झाणे गणणा अभिगहा य ॥ १५२७ ॥

निष्प्रतिकर्मशरीर एकान्तेन अक्षिमलाद्यपि नापनयति सदा, प्राणान्तिकेऽपि च तथाऽत्यन्तरौद्रे व्यसने न वर्तते द्वितीय इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ अल्पबहुत्वालोचनविषयातीतस्तु भवत्येषः-जिनकल्पिक इति, अथवा शुभभावात् कारणाद्बह्वप्येतदेवास्य तत्त्वत इति गाथार्थः ॥ २० ॥ चरमद्वारमधिकृत्याह—

तइआए पोरुसीए भिक्खाकालो विहारकालो अ । सेसासु तु उस्सग्गो पायं अप्पा य णिद्दत्ति ॥१५२१॥

तृतीयायां पौरुष्यां भिक्षाकालो विहारकालश्चास्य नियोगतः, शेषासु तु कायोत्सर्गः, प्रायोऽल्पा च निद्रा पौरुषीष्विति गाथार्थः ॥ २१ ॥

जंघाबलम्मि खीणे अविहरमाणोऽवि णवर णावज्जे ।
तत्थेव अहाकप्पं कुणइ अ जोगं महाभागो ॥ १५२२ ॥ दारं ॥

जङ्घाबले क्षीणे सत्यविहरन्नपि नवरं नापद्यते दोषमिति, तत्रैव यथाकल्पं क्षेत्रे करोति योगं महाभागः स्वकल्पस्येति गाथार्थः ॥ २२ ॥

एसेव गमो णिअमा सुद्धे परिहारिए अहालंदे । नाणत्ती उ जिणेहिं पडिवज्जइ गच्छऽगच्छे वा ॥१५२३॥

एष एव गमः-अनन्तरोदितो भावनादिः नियमाच्छुद्धपरिहारिके 'यथालन्द' इति यथालन्दे च, नानात्वं तु जिनेभ्यः शुद्धपरिहारिकाणामिदं-प्रतिपद्यते गच्छः-तत्प्रथमतया नवकसमुदायः, अगच्छे(च्छो)वा एकनिर्गमादपर इति गाथार्थः ॥२३॥

आवण्णस्स मणेणऽवि अइआरं निअमओ अ सुहुमंपि। पच्छित्तं चउगुरुगा सव्वजहण्णं तु णेअव्वं ॥१५१५॥
'आपन्नस्य' प्राप्तस्य मनसाऽप्यतिचारं नियमत एव सूक्ष्ममपि प्रायश्चित्तमस्य भगवतश्चतुर्गुरवः सर्वजघन्यं मन्तव्यमिति गाथार्थः ॥ १५ ॥ यस्मादुत्तरकल्प एषः–जिनकल्पः अभक्तार्थादिसदृशो वर्त्तते, एकाग्रताप्रधानोऽप्रमादाद्, अतस्तद्भङ्गे गुरुतरो दोषो, विषयगुरुत्वादिति गाथार्थः ॥ १६ ॥ कारणद्वारमधिकृत्याह—

जम्हा उत्तरकप्पो एसोऽभत्तट्ठमाइसरिसो उ। एगग्गयापहाणो तब्भंगे गुरुअरो दोसो ॥ १५१६ ॥ दारं

कारणमालंबणमो तं पुण नाणाइअं सुपरिसुद्धं। एअस्स तं न विज्जइ उचियं तव(प)साहणा पायं॥१५१७॥
कारणम् आलम्बनमुच्यते, तत्पुनर्ज्ञानादि सुपरिशुद्धं सर्वत्र ज्ञेयं, एतस्य तन्न विद्यते जिनकल्पिकस्य, उचितं तपः (तान्त) प्रसाधनात्प्रायः, जन्मोत्तमफलसिद्धेरिति गाथार्थः ॥ १७ ॥

सव्वत्थ निरवयक्खो आढत्तं चिअ दढं समाणिंतो। वट्टइ एस महप्पा किलिट्ठकम्मक्खयणिमित्तं ॥१५१८॥
सर्वत्र निरपेक्षः सन् प्रारब्धमेव दृढं समापयन् वर्त्तते एष महात्मा–जिनकल्पिकः, क्लिष्टकर्मक्षयनिमित्तमिति गाथार्थः ॥१८॥ निष्प्रतिकर्म्मद्वारमधिकृत्याह—

णिप्पडिकम्मसरीरो अच्छिमलाईवि णावणेइ सया। पाणंतिएवि अ तहा वसणंमि न वट्टई बीए॥१५१९॥
अप्पबहुत्तालोअणविसयाईओ उ होइ एसोत्ति। अहवा सुभभावाओ बहुअंपेअं चिअ इमस्स ॥ १५२० ॥

उवएसं पुण विअरइ धुवपव्वावं विआणिउं कंची ।
तंपि जहाऽऽसण्णेणं गुणओ ण दिसादविक्खाए ॥ १५१२ ॥ दारं ॥

प्रव्राजयति नैपोऽन्यं प्राणिनं, कल्पस्थित इतिकृत्वा, जीतमेतत्, आज्ञातस्तथाप्रवृत्तोऽयं महात्मा, परमानन्दनिय-न्निरपेक्ष एकान्तेनेति गाथार्थः ॥ ११ ॥ उपदेशं पुनर्वितरति-ददाति ध्रुवं प्रव्रजनशीलं विज्ञाय कञ्चित्सत्त्वं, तमपि यथाऽऽसन्नेन वितरति गुणात्, न दिगाद्यपेक्षया कारणेनेति गाथार्थः ॥ १२ ॥ मुण्डनद्वारमधिकृत्याह—

मुंडावणावि एवं विण्णेआ एत्थ चोअगो आह । पव्वज्जाणंतरमो णिअमा एसत्ति कीस पुढो? ॥१५१३॥
गुरुराहेह ण णिअमो पव्वइअस्सवि इमीऍ पडिसेहो ।
अजोग्गस्साइसई [पलिभग्गादोवि] होइ जओ अओ पुढो दारं ॥ १५१४ ॥

मुण्डनाप्येवं विज्ञेया प्रव्राजनवद्, अत्र चोदक आह, किमाह ?, प्रव्रज्यानन्तरमेव नियमादेव मुण्डनेतिकृत्वा किमिति पृथगुपात्तेति गाथार्थः ॥ १३ ॥ गुरुराह—इह न नियमो यदुत प्रव्रज्यानन्तरमेवेयं, कुतः ?, प्रव्रजितस्याप्यस्याः प्रतिषेधो मुण्डनाया अयोग्यस्य प्रकृत्या, इहातिशयी पुनः प्रतिभग्नादेर्विधत्ते यतो मुण्डनां, ततः पृथगिति गाथार्थः ॥ १४ ॥ मनसाऽऽपन्नस्यापीत्यादिद्वारमधिकृत्याह—

गणनेति शतपृथक्त्वमेतेषां—जिनकल्पिकानामेकदैवोत्कृष्टा भवति, प्रतिपद्यमानकान् प्रतीत्य, इतरा तु—जघन्या गणनैकाद्येति गाथार्थः ॥ ७ ॥ पूर्वप्रतिपन्नानां त्वमीषामेषा—गणना उत्कृष्टोचिता क्षेत्रे, यत्रैषां भावो भवति यदुत सहस्रपृथक्त्वमिति, इतरापि—जघन्यैवंविधैव-सहस्रपृथक्त्वमेव, लघुतरमिति गाथार्थः ॥ ८ ॥

अभिग्रहद्वारमधिकृत्याह—

दव्वाईआभिग्गह विचित्तरूवा ण होंति इत्तिरिआ।
एअस्स आवकहिओ कप्पो च्चिअभिग्गहो जेण ॥ १५०९ ॥
एयम्मि गोअराई णिअया णिअमेण णिरववाया य।
तप्पालणं चिअ परं एअस्स विसुद्धिठाणं तु ॥ १५१० ॥ दारं ॥

द्रव्याद्या अभिग्रहाः सामान्याः, विचित्ररूपा न भवंति इत्वराः, कुत इत्याह—अस्य यावत्कथितः कल्प एव प्रक्रान्तोऽभिग्रहो येनेति गाथार्थः ॥ ९ ॥ एतस्मिन् गोचरादयः सर्व एव नियताः नियमेन निरपवादाश्च वर्त्तन्ते, यत एवमतस्तत्पालनमेव 'परं' प्रधानमेतस्य विशुद्धिस्थानं, किं शेषाभिग्रहैः? इति गाथार्थः ॥ १० ॥

व्याख्याता प्रथमद्वारगाथा, अधुना द्वितीया व्याख्यायते—तत्र प्रव्राजनद्वारमधिकृत्याह—

पव्वावेइ ण एसो अण्णं कप्पट्ठिओत्ति काऊणं। आणाउ तह पयट्टो चरमाणसणिव णिरविक्खो॥१५११॥

लेश्यासु विशुद्धासु–तैजस्यादिषु प्रतिपद्यते तिसृषु कल्पं, न पुनः शेषास्वाद्यासु, पूर्वप्रतिपन्नः पुनः कल्पस्थः भवेत् सर्वास्वपि–शुद्धाशुद्धासु कथञ्चित् कर्म्मवैचित्र्यादिति गाथार्थः ॥ ३ ॥ नात्यन्तसंक्लिष्टासु वर्त्तते, तथा लोकव्याद्धं च हन्दीतरासु–अशुद्धासु, चित्रा कर्म्मणां गतिः येन तास्वपि वर्त्तते, तथापि वीर्यं फलं ददाति, येन तद्भावेऽपि भूयश्चारित्रशुद्धिरिति गाथार्थः ॥ ४ ॥ ध्यानद्वारमधिकृत्याह—

झाणंमिवि धम्मेणं पडिवज्जइ सो पवड्ढमाणेणं । इअरेसुवि झाणेसुं पुव्वपवण्णो ण पडिसिद्धो ॥ १५०५ ॥
एवं च कुसलजोगे उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा । रोद्दट्टेसुवि भावे इमस्स पायं निरणुवंधो ॥ १५०६ ॥ दारं

ध्यानेऽपि प्रस्तुते धर्म्मेण ध्यानेन प्रतिपद्यतेऽसौ कल्पं प्रवर्द्धमानेन सता, इतरेष्वपि ध्यानेषु–आर्त्तादिषु पूर्वप्रतिपन्नोऽयं न प्रतिषिद्धो, भवतीत्यपीति गाथार्थः ॥ ५ ॥ एवं कुशलयोगे जिनकल्पप्रतिपत्त्योद्दामे सति तीव्रकर्मपरिणामोदयिकाद् रौद्रार्त्तयोरपि भावोऽस्य ज्ञेयः, स च प्रायो निरनुबन्धः स्वल्पत्वादिति गाथार्थः ॥ ६ ॥ गणनाद्वारमधिकृत्याह—

गणणत्ति सयपुहुत्तं एएसिं एगदेव उक्कोसा । होइ पडिवज्जमाणे पडुच्च इअरा उ एगाई ॥ १५०७ ॥

पुव्वपडिवन्नगाण उ एसा उक्कोसिआ उचिअखित्ते ।
होइ सहस्सपुहुत्तं इअरा एवंविहा चेव ॥ १५०८ ॥ दारं ॥

आचेलक्कुद्देसिअसिज्जायररायपिंडे किइकम्मे । वयजिट्ठपडिक्कमणे मासंपज्जोसवणकप्पे ॥ १५०० ॥

आचेलक्यौद्देशिकशय्यातरराजपिंडकृतिकर्म्माणि पञ्च स्थानानि, तथा व्रतज्येष्ठप्रतिक्रमणानि त्रीणि, मासपर्युषणाकल्पौ द्वे स्थाने इति गाथार्थः ॥ लिङ्गद्वारमधिकृत्याह—

लिंगम्मि होइ भयणा पडिवज्जइ उभयलिंगसंपन्नो । उवरिन्तु भावलिंगं पुव्वपवण्णस्स णिअमेण ॥१५०१॥

इअरं तु जिण्णभावाइएहिं सययं न होइवि कयाइं ।

ण य तेण विणावि तहा जायइ से भावपरिहाणी ॥ १५०२ ॥ दारं ॥

लिङ्ग इति भवति भजना वक्ष्यमाणाऽस्य, प्रतिपद्यते कल्पमुभयलिङ्गसम्पन्नो, द्रव्यभावलिङ्गयुक्त इत्यर्थः, 'उपरि तु' उपरिष्ठाद्भावलिङ्गं—चारित्रपरिणामरूपं पूर्वप्रतिपन्नस्य कल्पं नियमेन भवतीति गाथार्थः ॥ १ ॥ इतरत्तु—द्रव्यलिङ्गं 'जीर्णभावादिभिः' जीर्णहृतादिभिः कारणैः सततं न भवत्यपि, कदाचित्सम्भवत्येतत्, न च तेन विनापि 'तथा' तेन प्रकारेण जायते 'से' तस्य भावपरिहाणिः, अप्रमादाभ्यासादिति गाथार्थः ॥ २ ॥ लेश्याद्वारमधिकृत्याह—

लेसासु विसुद्धासुं पडिवज्जइ तीसु न पुण सेसासु । पुव्वपडिवन्नओ पुण होज्जा सव्वासुवि कहंचि ॥१५०३॥

णच्चंतसंकिलिट्ठासु थेवकालं व हंदि इअरासु । चित्ता कम्माण गई तहावि विरिअं फलं देइ ॥१५०४॥ दारं

कृतकृत्यो वर्त्तत इति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ पूर्वाधीतं तु तत्–श्रुतं प्रायोऽनुस्मरति नित्यमेवैपः–जिनकल्पिकः एकाग्रमनाः सम्यग् यथोक्तं विश्रोतसिकायाः क्षयहेतुं, श्रुतं स्मरतीति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ वेदद्वारमधिकृत्याह—

वेओ पवित्तिकाले इत्थीवज्जोउ होइ एगयरो । पुव्वपडिवन्नगो पुण होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥ १४९७ ॥

उवसमसेढीए खलु वेए उवसामिअंमि उ अवेओ ।
न उ खविए तज्जम्मे केवलपडिसेहभावाओ ॥ १४९८ ॥ दारं ॥

वेदः प्रवृत्तिकाले तस्य स्त्रीवर्ज एव भवत्येकतरः–पुंवेदो नपुंसकवेदो वा शुद्धः, पूर्वप्रतिपन्नः पुनरध्यवसायभेदादस्येत्सवेदो वा अवेदो वैप इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ उपशमश्रेण्यामेव वेदे उपशमिते सति अवेदो भवति, न तु क्षपिते, कुत इत्याह–तज्जन्मन्यस्य केवलप्रतिषेधभावादिति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ कल्पद्वारमधिकृत्याह—

ठिअमट्ठिए अ कप्पे आचेलक्काइएसु ठाणेसुं ।
सव्वेसु ठिआ पढमो चउ ठिअ छसु अट्ठिआ बिइओ ॥ १४९९ ॥

स्थितेऽस्थिते च कल्पे एप भवति, न कश्चिद्विरोधः, अनयोः स्वरूपमाह–आचेलक्यादिपु स्थानेपु वक्ष्यमाणलक्षणेपु सर्वेपु-दशस्वपि स्थिताः 'प्रथम' इति स्थितकल्पः, 'चतुर्पु स्थिता' इति शय्यातरराजपिण्डकृतिकर्म्मज्येष्ठपदेपु स्थिताः मध्यमतीर्थकरसाधवोऽपि पट्सु अस्थिताः–आचेलक्यादिष्वनियमवन्त इति द्वितीयः–अस्थितकल्प इति गाथार्थः ॥९९॥ स्थानान्याह

तीर्थ इति नियमत एव भवति स जिनकल्पिकः 'तीर्थे' सङ्घे सति, न पुनस्तदभावे, विगतेऽनुत्पन्ने वा तीर्थे, जातिस्मरणादिभिरेव कारणैरिति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ अधिकतरं तद्गु—गुणस्थानं श्रेण्यादि भवत्यतीर्थे, मरुदेव्यादीनां तथाश्रवणादिति, एष किं न भवति जिनकल्पिक इत्याशङ्क्याह—एषा एतस्य स्थितिः—जिनकल्पिकस्य प्रज्ञप्ता वीतरागैः, न पुनरत्र काचिद्युक्तिरिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ पर्यायद्वारमधिकृत्याह—

परिआओ अ दुभेओ गिहिजइभेएहिं होइ णायव्वो। एक्केक्को उ दुभेओ जहण्णउक्कोसओ चेव ॥१४९३॥

एअस्स एस णेओ गिहिपरिआओ जहण्ण गुणतीसा।
जइपरिआए वीसा दोसुवि मुक्कोस देसूणा ॥ १४९४ ॥ दारं।

पर्यायश्च द्विभेदोऽत्र गृहियतिभेदाभ्यां भवति ज्ञातव्यः, एकैकश्च द्विभेदोऽसौ—जघन्य उत्कृष्टश्चैवेति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ एतस्यैष ज्ञेयो गृहिपर्यायो जन्मत आरभ्य जघन्य एकोनत्रिंशद्वर्षाणि, यतिपर्यायो विंशतिवर्षाणि जघन्यः, एवं द्वयोरपि—गृहियतिभेदयोरुत्कृष्टपर्यायः देशोना पूर्वकोटीति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ आगमद्वारमधिकृत्याह—

अप्पुव्वं णाहिज्जइ आगममेसो पडुच्च तं जम्मं। जमुचिअपगिट्ठजोगाराहणओ चेव कयकिच्चो ॥१४९५॥
पुव्वाहीअं तु तयं पायं अणुसरइ निच्चमेवेस। एगग्गमणो सम्मं विस्सोअसिगाइखयहेऊ ॥ १४९६ ॥

अपूर्वं नाधीते आगममेषः, कुत इत्याह—प्रतीत्य तज्जन्म वर्त्तमानं, 'यद्' यस्मादुचितप्रकृष्टयोगाराधनादेव कारणात्

सुषमारूपे विदेहेषु, प्रतिभागेषु च केवलेषु संहरणे सति सद्भावमाश्रित्य भवति सर्वेषूत्तरकुर्वादिगतेष्विति गाथार्थः ॥८८॥ चारित्रद्वारमधिकृत्याह—

पढमे वा बीए वा पडिवज्जइ संजमम्मि जिणकप्पं। पुव्वपडिवन्नओ पुण अण्णयरे संजमे हुज्जा ॥१२८९॥
मज्झिमतित्थयराणं पढमे पुरिमंतिमाण बीअम्मि। पच्छा विसुद्धजोगा अण्णयरं पावइ तयं तु ॥१२९०॥

प्रथमे वा—सामायिक एव द्वितीये वा—छेदोपस्थाप्ये प्रतिपद्यते 'संयमे' चारित्रे सति जिनकल्पं, नान्यस्मिन्, पूर्वप्रतिपन्नः पुनरसौ अन्यतरस्मिन् संयमस्थाने—सूक्ष्मसम्परायादौ भवेद्, उपशमश्रेणिमधिकृत्येति गाथार्थः ॥८९॥ मध्यमतीर्थकराणां तीर्थे प्रथमे भवेत्, द्वितीयस्य तेषामभावात्, पुरिमचरमयोस्तु तीर्थकरयोः तीर्थे द्वितीये भवेत्, छेदोपस्थाप्य एव, पश्चाद्विशुद्धयोगात् कारणादन्यतरं प्राप्नोति तं संयमं—सूक्ष्मसम्परायादिमुपशमापेक्षयेति गाथार्थः ॥ ९० ॥ तीर्थद्वारमधिकृत्याह—

तित्थेत्ति नियमओ च्चिय होइ स तित्थम्मि न पुण तदभावे।
विगएऽणुप्पण्णे वा जाईसरणाइएहिं तु ॥ १२९१ ॥

अहिअगयरं गुणठाणं होइ अतित्थंमि एस किं ण भवे ?। एसा एअस्स ठिई पण्णत्ता वीअरागेहिं॥१२९२॥

जम्मणसंतीभावेसु होज सव्वासु कम्मभूमीसु ।
साहरणे पुण भइओ कम्मे व अकम्मभूमे वा ॥ १४८६ ॥ दारं ॥

क्षेत्रे द्विविधेह मार्गणा जिनकल्पिकस्थितौ-जन्मतश्चैव सद्भावतश्च, तत्र जन्मतो यत्र जातः क्षेत्रे, एवं जन्माश्रित्य, सद्भावतश्च यत्र कल्पः क्षेत्रे, एवं सद्भावमाश्रित्य मार्गणेति गाथार्थः ॥८५॥ जन्मसद्भावयोरयं भवेत् सर्वासु कर्मभूमिषु-भरतादासु, संहरणे पुनर्भाज्योऽयं कर्मभूमिको वा सद्भावमाश्रित्याकर्मभूमिको वा सद्भावमाश्रित्येति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ कालद्वारमधिकृत्याह—

उस्सप्पिणिए दोसुं जम्मणओ तिसु अ संतिभावेणं ।
उस्सप्पिणि विवरीओ जम्मणओ संतिभावेण ॥ १४८७ ॥
णोसप्पिणिउस्सप्पिणि होइ पलिभागसो चउत्थम्मि ।
काले पलिभागेसु अ संहरणे होइ सव्वेसुं १४८८ दारं

अवसर्पिण्यां काले द्वयोः-सुषमदुष्षमदुष्षमसुषमयोर्जन्मतो-जन्माश्रित्यास्य स्थितिः, तिसृषु-सुषमदुष्षमदुष्षम-सुषमदुष्षमासु 'सद्भावेने'ति स्वरूपतयाऽस्य स्थितिः, उत्सर्पिण्यां विपरीतोऽस्य कल्पः जन्मतः सद्भावतश्च, एतदुक्तं भवति-दुष्षमदुष्षमसुषमसुषमदुष्षमासु तिसृषु जन्मतः, दुष्षमसुषमसुषमदुष्षमयोस्तु द्वयोः सद्भावत एवेति गाथार्थः॥८७॥ नावसर्पिण्युत्सर्पिणीति उभयशून्ये स्थिते काले भवति त्वयं जन्मतः, सद्भावतश्च प्रतिभागे चतुर्थ एव काले-दुष्षम-

वीथीविभागमतो विजानन्त्येवेति, स्थानादिभिः धीरा वसतिगतैः समयप्रसिद्धैर्लिंगैः श्रुतादेवेति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ उप-संहरन्नाह—

एसा सामायारी एएसि समासओ समक्खाया । एत्तो खित्तादीअं ठिइमेएसिं तु वक्खामि ॥ १४८२ ॥

एषा सामाचारी 'एतेषां' जिनकल्पिकानां समासतः समाख्याता, अतः क्षेत्रादौ स्थिति—भावाध्वस्थानेतेषामेव वक्ष्या-मीति गाथार्थः ॥ ८२ ॥

खित्ते कालचरित्ते तित्थे परिआए आगमे वेए । कप्पे लिंगे लेसा झाणे गणणा अभिगहा य ॥ १४८३ ॥

पव्वावण मुंडावण मणसाऽऽवण्णेऽवि से अणुग्घाया ।
कारण णिप्पडिकम्मे भत्तं पंथो अ तइआए ॥ १४८४ ॥ द्वारगाथाद्वयं

क्षेत्रे एकस्मिन् स्थितिरमीषां, एवं काले चारित्रे तीर्थे पर्याये आगमे वेदे कल्पे लिङ्गे लेश्यायां ध्याने तथा गणनाऽभि-ग्रहाश्चैतेषां वक्तव्या इति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ प्रव्राजनमुण्डनेत्यत्र स्थितिर्वाच्या, मनसाऽऽपन्नेऽपि दोषे 'से' तस्यानुद्-घाताः—चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तं, तथा कारणनिष्प्रतिकर्म्मतास्थितिर्वाच्या, तथा भक्तं पन्थाश्च तृतीयायां पौरुष्यामस्येति गाथासमासार्थः ॥ ८४ ॥ व्यासार्थं तु गाथाद्वयस्यापि ग्रन्थकार एव प्रतिपादयति, तत्राद्यं क्षेत्रद्वारमधिकृत्याह—

खित्ते दुहेह मग्गण जम्मणओ चेव संतिभावे अ । जम्मणओ जहिं जाओ संतीभावो अ जहिं कप्पो १४८५

एवं तु ते अडंता वसही एक्काए कइ वसिज्जाहि ! । वीहीए अ अडंता एगाए कइ अडिज्जाहि ॥१४७७॥
एगाए वसहीए उक्कोसेणं वसंति सत्त जणा । अवरोप्परसंभासं वज्जिंता कहवि जोएणं ॥ १४७८ ॥
वीहीए एक्काए एक्को च्चिअ पइदिणं अडइ एसो। अण्णे भणंति भयणा सा य ण जुत्तिक्खमा णेआ१४७९

एएसिं सत्त वीही एत्तो च्चिअ पायसो जओ भणिआ ।
कह नाम अणोमाणं ? हविज्ज गुणकारणं णिअमा ॥ १४८० ॥

अइसइणो अ जमेए वीहिविभागं अओ विआणंति । ठाणाईएहिं धीरा समयपसिद्धेहिं लिंगेहिं ॥१४८१॥

एवं तु ते अटन्तो जिनकल्पिका वसतावेकस्यां कति वसेयुः ?, तथा वीथ्यां वा अटन्तः सन्तः एकस्यां कत्यटेयुरिति गाथार्थः ॥ ७७ ॥ एकस्यां वसतौ बाह्यायामुत्कृष्टतो वसन्ति सप्त जनाः, कथमित्याह—परस्परं सम्भाषणं वर्जयन्तः सन्तः कथमपि योगेनेति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ वीथ्यां त्वेकस्यामेक एव प्रतिदिनमटत्येष जिनकल्पिकः, अन्ये भणन्ति भजनां, सा च न युक्तिक्षमा ज्ञेयाऽत्र वस्तुनीति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ कुत इत्याह—एतेषां सप्त वीथ्यः, अत एव कारणात्, मा भूदेकस्यामुभयाटनमिति, प्रायसो यतो भणिताः क्वचित्प्रदेशान्तरे, कथं नामानवमानं भवेत् ?, अन्योऽन्यसंघट्टाभावेन गुणकारकं नियमात् प्रवचनस्येति गाथार्थः ॥ ८० ॥ वीथीज्ञानोपायमाह—अतिशयिनश्च यदेते श्रुततः

चोअग ! एवंपि इहं जइ उ करिज्जाहि कोइ कम्माई ।
ण हि सो तं ण विआणइ सुआइसयजोगओ भयवं ॥ १२७३ ॥

एसो उण से कप्पो जं सत्तमगम्मि चेव दिवसम्मि । एगत्थ अडइ एवं आरंभविवज्जणणिमित्तं ॥१२७४॥

इअ अणिअयवित्तिं तं दट्ठुं सद्धाणवी तदारंभे । अणिअयमो ण पवित्ती होइ तहा चारणाओ अ ॥ १२७५ ॥

इअरेऽवाऽऽणाउच्चिअ गुरुमाइनिमित्तओ पइदिणंपि । दोसं अपिच्छमाणा अडंति मज्झत्थभावेण १२७६

चोदयति शिष्यः—प्रथमदिवसे अटनगत एव यदि कश्चित्कुर्यात् किञ्चित् कर्मादि अकल्प्यं तत्र स्थितं ज्ञात्वा ... अल्प्यंव किंचित् तत्र कथमिति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ चोदक ! एवमप्यत्र यदि कुर्यात् कश्चित् कर्मादि प्रच्छन्नमेव, न ... तत्र विजानाति, विजानात्येव श्रुतातिशययोगतः कारणात् तद्भगवानिति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ एष पुनः 'से' तस्य कल्पः यत् सप्तम एव दिवसे एकत्र वीथ्यामटति एवम्—उक्तयदारम्भविवर्जननिमित्तमिति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ एवमनियतवृत्तिं तं वीथिविहारेण दृष्ट्वा श्राद्धानामपि प्राणिनां तदारम्भेऽनियमात्कारणात् (न) प्रवृत्तिर्भवति, तथा चारणाद्यानियतत्वा- दिभावेनेति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ गच्छवासिनामेवमकुर्वतामदोषमाह—'इतरेऽपि' गच्छवासिन आज्ञात एव, निमित्ताद्, गुर्वादिनिमित्ततश्च हेतोः प्रतिदिवसमपि दोषमपश्यन्तः सन्तोऽनेषणारूपमटन्ति 'मध्यस्थभावेन' समतयेति गाथार्थः ॥७६॥

प्रासङ्गिकमेतत्, प्रस्तुतमेवाह—

अह सत्तमम्मि दिअहे पढमं वीहिं पुणोऽवि हिंडंतं। दट्ठूण सा य सड्ढी तं मुणिवसभं भणिज्जाहि ॥१४६९॥
किं णागयऽत्थ तइआ असव्वओ मे कओ तुह निमित्तं। इति पुट्ठो सो भयवं बिइआए से इमं भणइ १४७०
अणिआओ वसहीओ इच्चाइ जमेव वण्णिअं पुव्विं । आणाए कम्माइं परिहरमाणो विसुद्धमणो ॥१४७१॥

उद्ग्राहिमके कृते सति अद्य नायातोऽसौ ऋषिः कल्यं तस्य दास्यामीति दिवसे यदाऽभिसन्धत्ते, अत्र द्वौ दिवसौ कर्म्म, तद्भावाविच्छेदात्, तृतीयादिषु दिवसेषु पूति तद्भवतीति गाथार्थः ॥६७॥ तत्र त्रिषु 'कल्पेषु' दिवसेषु न कल्पते, कल्पते तद् गृहं पष्ठसप्तमे दिवसे ग्रहणदिवसतः, एतदेवाह–अकरणदिवसः प्रथमोऽटनगतः, शेषो यदेकः द्वौ वा दिवसावाधाकर्म्मगताविति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ अथ सप्तमे दिवसे अटनगतादारभ्य प्रथमां वीथीं पुनरपि 'हिण्डन्तम्' अटन्तं दृष्ट्वा सा श्राद्धाऽगारी मुनिवृषभं प्रस्तुतं ' भणेद् ' ब्रूयादिति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ किं नागताः स्थ यूयं तदा?, असद्व्ययो मया कृतस्त्वन्निमित्तं, तदग्रहणादसद्व्ययत्वमिति, पृष्टः स भगवान्–जिनकल्पिकः द्वितीयादेशे पूर्वादेशापेक्षया इदं भणति–वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ७० ॥ अनियता वसतय इत्यादि, यदेव वर्णितं पूर्वं गाथासूत्रमिति, आज्ञया कर्म्मादि परिहरन् विशुद्धमनाः सन् भणतीति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

चोएई पढमदिणे जइ कोइ करिज्ज तस्स कम्माइं। तत्थ ठिअं णाऊणं अजंपिउं चेव तत्थ कहं ॥ १४७२ ॥

तीए अ उवक्खडिअं मुक्का वीही अ तेण धीरेण ।
अद्दीणमपरितंतो विइअं च पहिंडिओ वीहिं ॥ १२६५ ॥

तया च अगार्या उपस्कृतमनाभोगात्, मुक्ता वीथी च तेन धीरेण द्वितीयेऽहनि, अदीनः चेतसाऽपरिश्रान्तः कायेन द्वितीयां च क्रमागतां पर्यटितो वीथीमसाविति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ तत्रेयं व्यवस्था—

पढमदिवसम्मि कम्मं तिण्णि अ दिवसाणि पूइअं होइ ।
पूईसु तिसु ण कप्पइ कप्पइ तइए कए कप्पे ॥ १२६६ ॥

प्रथमदिवसे कर्म तदुपस्कृतं, त्रीन् दिवसान् पूतिर्भवति तद् गृहमेव, पूतिषु त्रिषु न कल्पते तत्रान्यदपि किञ्चित्, कल्पते तृतीये गते ' कल्पे ' दिवसेऽपरस्मिन्नहनीति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

उग्गाहिमए अज्जं नवि आए कह्न तस्स दाहामो ।
दोण्णि दिवसाणि कम्मं तईआई पूइअं होइ ॥ १२६७ ॥
तिहिं कप्पेहिं न कप्पइ कप्पइ तं छट्ठसत्तमदिणम्मि ।
अकरणदिअहो पढमो सेसा जं एक्क दोण्णि दिणा ॥ १२६८ ॥

आभिग्रहिके जिनकल्पिक उपलब्धे श्रद्धोपजायते आगार्याः, तत्र भक्तोद्ग्राहिमकित्ति सा एतदुभयं करोति द्वितीयेऽ-
हनि त्रीन् दिवसान् पूति, तद्भावनां वक्ष्यामः, अत्रान्तरे चोदको निर्वचनमिति च भवति, उत्कृष्टतश्च–उत्सर्गपदेन
सप्त जना एते एकवसतौ भवन्तीति गाथासमुदायार्थः ॥ ६० ॥ अवयवार्थमाह—

जिणकप्पाभिग्गहिअं दट्ठुं तवसोसिअं महासत्तं । संवेगागयसद्धा काई सड्ढी भणिज्जाहि ॥ १४६१ ॥

किं काहामि अहण्णा ? एसो साहू ण गिण्हए एअं ।

णत्थि महं तारिसयं अण्णं जमलज्जिआ दाहं ॥ १४६२ ॥

सव्वपयत्तेण अहं कल्लं काऊण भोअणं विउलं । दाहामि पयत्तेणं ताहे भणई अ सो भयवं ॥ १४६३ ॥

जिनकल्पाभिग्रहिकमृषिं दृष्ट्वा तपःशोषितं महासत्त्वं संवेगागतश्रद्धा सती काचित् श्राद्धी योषिद् 'भणेद्' ब्रूयादिति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ किं करिष्याम्यधन्याऽहं, एष साधुर्न गृह्णाति एतत्, नूनं नास्ति मम तादृशमन्यच्छोभनं यदलज्जिता दास्यामीति गाथार्थः ॥ ६२ ॥ सर्वप्रयत्नेनाहं कल्ये कृत्वा भोजनं साधु विपुलं दास्यामि प्रयत्नेन, तदा भणति चासौ भगवांस्तच्छ्रुत्वा उक्त्या निवारणायेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

अणिआओ वसहीओ भमरकुलाणं च गोउलाणं च । समणाणं सउणाणं सारइआणं च मेहाणं ॥१४६४॥

अनियता वसतयः,केषामित्याह-भ्रमरकुलानां च गोकुलानां च तथा श्रमणानां शकुनानां शारदानां च मेघानामित्यर्थः६४

जिनकल्प इति च द्वारं मूलद्वारगाथागतमशेषद्वाराणां श्रुतसंहननादीनां विषय एष वर्त्तत इति, 'एतस्मिन्' जिन-कल्पे एषा मर्यादा श्रुतादिर्योक्ता अपवादविवर्जिता नियमाद्-एकान्तेनेति गाथार्थः ॥५७॥ मासकल्पद्वारावयवार्थमाह-

मासं निवसइ खित्ते छव्वीहीओ अ कुणइ तत्थवि अ ।
एगेगमडइ कम्माइवज्जणत्थं पइदिणं तु ॥ १४५८ ॥ दारं ॥

मासं निवसति क्षेत्रे एकत्र षड् वीथीः करोति-गृहपङ्क्तिरूपाः परिकल्प्य, 'तत्रापि च' वीथीकदम्बके एकैकामटति वीथीं कर्मादिवर्जनार्थम्, अनिबद्धतया, प्रतिदिनमिति गाथार्थः॥५८॥ व्याख्याता तृतीया द्वारगाथा, साम्प्रतमत्र मासङ्गिकमाह-

कह पुण होज्जा कम्मं एत्थ पसंगेण सेसयं किंपि ।
वोच्छामि समासेणं सीसजणविबोहणट्ठाए ॥ १४५९ ॥

कथं पुनर्भवेत् कर्मास्य अटतः ?, अत्र प्रसङ्गेन शेषं किमप्येतद्वक्तव्यतागतमेव वक्ष्यामि समासेन, किमर्थमित्याह-शिष्यजनविबोधनार्थमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

आभिग्गहिए सड्ढा भत्तोगाहिमग वीह तिअ पूई ।
चोअग निव्वयणंति अ उक्कोसेणं च सत्त जणा ॥१४६०॥ [सरडोडगाहा] ॥

अल्लेवं पयईए केवलगंपि हु न तस्सरूवं तु । अण्णे उ लेवकारी अलेवमिति सूरओ बिंति ॥१४५४॥ दारं ॥

'लेपालेप'मित्यत्राधिकारे लेपवता व्यञ्जनादिना अलेपवद् यदोदनादि, किमुक्तं भवति?–अन्येनासंमिश्रं वस्त्वन्तरेण द्वितयमप्यत्र भवति विज्ञेयं, भक्तं पानं चेति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ अलेपद्वारविधिमाह–अलेपं प्रकृत्या–स्वरूपेण केवलमपि सत् न तत्स्वरूपं तु–लेपस्वरूपमेव जगार्यायामवत्, अन्ये त्वलेपकारि–परिणामे अलेपमित्येवं सूरयः–आचार्या ब्रुवत इति गाथार्थः ॥ ५४ ॥ आयामाम्लद्वारविधिमाह–

णायंबिलमेअंपि हु अइसोसपुरीसभेअदोसाओ। उस्सग्गिअं तु किं पुण पयईए अणुगुणं जं से।१४५५।दारं

नायामाम्लमेतदप्यलेपकारि, अतिशोपपुरीपभेददोपाद्, वाय्वादिधातुभावेन, औत्सर्गिकमेवौदनरूपं, किं पुनः प्रकृतेर्देहरूपाया अनुगुणं यद्वल्लादि'से' तस्येति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ प्रतिमाद्वारविधिमाह—

पडिमत्ति अ मासाई आईसद्दा अभिग्गहा सेसा । णो खलु एस पवज्जइ जं तत्थ ठिओ विसेसेणं१४५६।दारं

प्रतिमा इति च मासाद्याः, आदिशब्दान्मूलगाथागताद् अभिग्रहाः शेपाः–अकण्डूयनादयः न खल्वेपः प्रतिपद्यते जिनकल्पिकः, यत्तत्र–अभिग्रहे स्थितो विशेपेणेति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ जिनकल्प इति मूलद्वारगाथावयवं व्याचिख्यासुराह–

जिणकप्पत्ति अ दारं असेसदाराण विसयमो एस ।
एअंमि एस मेरा अववायविवज्जिआ णिअमा ॥ १४५७ ॥ दारं ॥

तथा कियन्तो जना इति यूयं वस्यथात्र वसताविति एवमपि यस्यां वसतौ भणति गृही-दाताऽनुज्ञायां प्रस्तुतायां परिहरत्यसौ महामुनिर्नवरमेतामपि वसतिमिति गाथार्थः ॥४९॥ परिहारप्रयोजनमाह-सूक्ष्ममप्यचियत्तम्-अप्रीतिरूपं परिहरत्यसौ भगवान् परस्य नियमेन 'यद्' यस्मात्तेन कारणेन तुशब्दात् मूलगाथोपात्ताद्वर्जयत्यन्यानपि वसतिं तज्जननीम्-ईषदप्रीतिजननीं, न च ममत्वमन्तरेण तथा विचारः क्रियत इति गाथार्थः ॥५०॥ व्याख्याता द्वितीयमूलगाथा, अधुना तृतीया व्याख्यायते, तत्र भिक्षाचर्याद्वारविधिमाह—

भिक्खाअरिआ णियमा तइआए एसणा अभिग्गहिआ ।
एअस्स पुव्वभणिआ एक्काविअ होइ भत्तस्स ॥ १२५१ ॥ दारं ।

भिक्षाचर्या नियमात्-नियोगेन तृतीयायां पौरुष्याम्, एषणा च-ग्रहणैषणाभिगृहीता भवत्यस्य पूर्वभणिता जिनकल्पिकस्य, एकैव भवति भक्तस्य, न द्वितीयेति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ पानकद्वारविधिमाह—

पाणगगहणं एवं ण सेसकालं पओअणाभावा । जाणइ सुआइसयओ सुद्धमसुद्धं च सो सव्वं ॥१२५०॥ दारं

पानकग्रहणमप्येवमस्य, न शेषकालं, प्रयोजनाभावात् कारणात्, संसक्तग्रहणदोषपरिहारमाह-जानाति श्रुतातिशयत एव शुद्धमशुद्धं च स सर्वं पानकमिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ लेपालेपद्वारविधिमाह—

लेवालेवंति इहं लेवाडेणं अलेवडं जं तु । अण्णेण असंमिस्सं दुगंपि इह होइ विण्णेअं ॥ १२५२ ॥ दारं ।

दीवत्ति सदीवा जा तीएँ विसेसो उ होइ जोइम्मि ।
एत्तो च्चिअ इह भेओ सेसा पुव्वोइआ दोसा ॥ १४४७ ॥ दारं ।

दीप इति सदीपा या वसतिः, तस्यां विशेषस्तु सदीपायां भवति ज्योतिषि, तद्भावेन स्पर्शसम्भवाद्,अत एव कारणादिह भेदो द्वारस्य द्वारान्तरात्, शेषाः पूर्वोक्ता दोषाः प्रमार्जनादय इति गाथार्थः ॥ अवधानद्वारविधिमाह—

ओहाणं अम्हाणवि गेहत्थुवओगदायगो तंसि ।
होहिसि भणंति ठंते जीए एसावि से ण भवे ॥ १४४८ ॥ दारं ।

अवधानं नामास्माकमपि गृहस्योपयोगदाता त्वमसि—भगवन् ! भविष्यसि भणन्ति तिष्ठति सति यस्यां वसतौ एषाऽपि ' से ' तस्य जिनकल्पिकस्य न भवेदिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ कियज्जनद्वारविधिमाह—

तह कइ जणन्ति तुम्हे वसहिह एत्थंति एवमवि जीए ।
भणइ गिहीऽणुण्णाए परिहरए णवरमेअंपि ॥ १४४९ ॥ दारं ।
सुहुममवि हु अचिअत्तं परिहरएसो परस्स निअमेणं ।
जं तेण तुसद्दाओ वज्जइ अण्णंपि तज्जणणीं ॥ १४५० ॥ दारं ।

संस्थापना संस्कारोऽभिधीयते, पतन्त्याः सत्याः अनुपेक्षा भदन्त ! कर्त्तव्येति च, नोपेक्षितव्येत्यर्थः, यस्यामपि भणति गृही दाता साऽप्ययोग्या वसतिरिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ मूलगाथाचशब्दार्थमाह—

अण्णं वा अभिओगं चसद्दसंसूइअं जहिं कुणइ । दाया चित्तसरूवं जोगा णेसावि एअस्स ॥१४४४॥दारं ।

अन्यं वाऽभियोगं चशब्दसंसूचितं यत्र करोति वसतौ दाता चित्रस्वरूपं योग्या नैषाऽप्येतस्य वसतिरिति गाथार्थः ॥४४॥ प्राभृतिकाद्वारविधिमाह—

पाहुडिआ जीएँ वली कज्जइ ओसक्कणाइअं तत्थ ।
विक्खिरिअ ठाण सउणाअग्गहणे अंतरायं च ॥ १४४५ ॥ दारं ।

प्राभृतिका यस्यां वसतौ वलिः क्रियते, अवसर्प्पणादि तत्र तद्भक्त्या भवति विक्षिप्तस्य बलेः, 'स्थानात्' कायोत्सर्गतः, शकुनाद्यग्रहणे सत्यन्तरायं च भवतीति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ अग्निद्वारविधिमाह—

अग्गित्ति साऽग्गिणी जा पमज्जणे रेणुमाइवाघाओ ।
अपमज्जणे अकिरिआ जोईफुसणंमि अ विभासा ॥ १४४६ ॥ दारं ॥

अग्निरिति साग्निर्या वसतिः, प्रमार्जने तत्र रेण्वादिना व्याघातोऽग्नेः, अप्रमार्जने सत्यक्रिया—आज्ञाभङ्गो, ज्योतिःस्पर्शने च विभाषा—स्याद्वा न वाऽङ्गारादाविति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ दीपद्वारविधिमाह—

ओवासोऽवि हु एत्थं एसो तुज्झंति न पुण एसोत्ति ।
ईअवि भणंति जहिअं सावि ण सुद्धा इमस्स भवे ॥ १४४० ॥ दारं ॥

अवकाशोऽपि चात्र वसतौ एप युष्माकं नियतो, न पुनरेपोऽपि, एवमपि भणन्ति यस्यां वसतौ दातारः साऽपि न शुद्धाऽस्य भवेद्वसतिरिति गाथार्थः ॥ ४० ॥ तृणफलकद्वारविधिमाह—

एवं तणफलगेसु अ जत्थ विआरो तु होइ निअमेणं । एसावि हु दट्ठवा इमस्स एवंविहा चेव ॥१४४१॥दारं।

एवं तृणफलकेष्वपि यत्र विचारस्तु भवति तद्गतः नियमेन एपाऽपि वसतिर्द्रष्टव्या परुपे (प्रकृते) एवंविधा चैव—अशुद्धेति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ संरक्षणाद्वारविधिमाह—

सारक्खणत्ति तत्थेव किंचि वत्थुमहिगिच्च गोणाई ।
जाए तस्सारक्खणमाह गिही सावि हु अजोगा ॥ १४४२ ॥

सारक्षणेति तत्रैव वसतौ किञ्चिद्वस्तु अधिकृत्य गवादि यस्यां तत्संरक्षणामाह गृही, गवाद्यपि(मि) रक्षणीयमिति, साऽपि वसतिरयोग्येति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ संस्थापनाद्वारविधिमाह—

संठवणा सक्कारो पडमाणीए णुवेहमो भंते ! ।
कायव्वंति अ जीएवि भणइ गिही सा वऽजोग्गत्ति ॥ १४४३ ॥ दारं ॥

क्षीणा ' द्वारविलयोगः स्थगनपूरणरूपः भग्नयोगः—पुनः संस्करणम् एतच्छून्या जिनवसतिः, अस्थानपवादानुष्ठानपरत्वात्, स्थविराणामप्येवंभूतैव वसतिः मुक्त्वा प्रमार्जनं वसतेरेव अकार्य इति—पुष्टमालम्बनं विहायैवंभूतेति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

कियच्चिरद्वारविधिमाह—

केच्चिरकालं वसहिह एवं पुच्छंति जायणासमए । जत्थ गिही सा वसही ण होइ एअस्स णिअमेण॥१४३७॥

कियच्चिरं कालं वत्स्यथ यूयम्, एवं पृच्छन्ति याञ्चासमये काले यत्र गृहिणः—स्वामिनः सा वसतिरेवंभूता न भवत्येव ' तस्य ' जिनकल्पिकस्य नियमेन, सूक्ष्ममसत्वयोगादिति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ उच्चारद्वारविधिमाह—

नो उच्चारो एत्थं आयरिअव्वो कयाइदवि जत्थ । एवं भणंति सावि हु पडिकुट्ठा चेव एअस्स॥१४३८॥दारं॥

नोच्चारोऽत्र प्रदेशे आचरितव्यः कदाचिदपि, यत्र वसतौ एवं भणन्ति दातारः सापि प्रतिकुष्टैव भगवता एतस्य वसतिरिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ प्रश्रवणद्वारविधिमाह—

पासवणंपि अ एत्थं इमंमि देसंमि ण उण अन्नत्थ ।
कायव्वंति भणंति हु जाए एसावि णो जोग्गा ॥१४३९॥ दारं ॥

प्रश्रवणमपि चात्र—वसतौ अस्मिन् देशे—विवक्षित एव, न पुनरन्यत्र देशे कर्त्तव्यमिति भणन्ति यस्यां वसतौ एषाऽपि न योग्याऽस्येति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ व्याख्याता प्रथमद्वारगाथा, द्वितीया व्याख्यायते, तत्रावकाशद्वारविधिमाह—

अब्भुवगमिआ उवक्कमा य तस्स वेअणा भवे दुविहा। धुवलोआई पढमा जराविवागाइआ बीआ ॥१४३३

अभ्युपगमिकी औपक्रमिकी च 'तस्य' जिनकल्पिकस्य वेदना भवति द्विविधा, ध्रुवलोचाद्या प्रथमा वेदना, ज्वरविपाकादिका द्वितीया वेदनेति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ कियन्तो जना इति द्वारविधिमाह—

एगो अ एस भयवं णिरवेक्खे सव्वहेव्व सव्वत्थ। भावेण होइ निअमा वसहीओ दव्वओ भइओ ॥१४३४॥ दारं

एक एवैष भगवान् जिनकल्पिकः निरपेक्षः सर्वथैव सर्वत्र वस्तुनि भावेन—अनभिष्वङ्गेन भवति नियमात् वसत्यादौ, द्रव्यतो भाज्य—एको वाऽनेको वेति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ स्थाण्डिल्यद्वारविधिमाह—

उच्चारे पासवणे उस्सग्गं कुणइ थंडिले पढमे। तत्थेव य परिजुण्णे कयकिच्चो उज्झई वत्थे ॥१४३५॥ दारं।

उच्चारे प्रश्रवणे, एतद्विषयमित्यर्थः, व्युत्सर्गं करोति स्थाण्डिल्ये प्रथमे—अनवपातादिगुणवति, तत्रैव च परिजीर्णानि सन्ति कृतकृत्यः सन्नुज्झति वस्त्राणीति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ वसतिद्वारविधिमाह—

अममत्ताऽपरिकम्मा दारविलब्भंगजोगपरिहीणा।
जिणवसही थेराणवि मोत्तूण पमज्जणमकज्जे ॥ १४३६ ॥ दारं ॥

अममत्वा—ममेयमित्यभिष्वङ्गरहिता अपरिकर्मा—साधुनिमित्तमालेपनादिपरिकर्म्मवर्जिता, 'द्वारबिलभग्नयोगपरि-

पढमिल्लुयसंघयणा धिईए पुण वज्जकुड्डसामाणा ।
पडिवज्जंति इमं खलु कप्पं सेसा ण उ कयाइ ॥ १४३० ॥ दारं ॥

प्रथमेल्लुकसंहननाः—वज्रऋषभनाराचसंहनना इत्यर्थः धृत्या पुनर्वज्रकुड्यसमानाः, प्रधानवृत्तय इति भावः, प्रतिपद्यन्ते एनं खलु कल्पम्—अधिकृतं जिनकल्पं, शेषा न तु कदाचित्, तदन्यसंहननिन इति गाथार्थः ॥ ३० ॥ उपसर्गद्वारविधिमाह—

दिव्वाई उवसग्गा भइआ एअस्स जइ पुण हवंति ।
तो अव्वहिओ विसहइ णिच्चलचित्तो महासत्तो ॥ १४३१ ॥ दारं ॥

दिव्यादय उपसर्गा भाज्याः 'अस्य' जिनकल्पिकस्य, भवन्ति वा न वा, यदि पुनर्भवन्ति कथञ्चित्ततोऽव्यथितः सन् विसहते तानुपसर्गान् निश्चलचित्तो 'महासत्त्वः' स्वभ्यस्तभावन इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ आतङ्कद्वारविधिमाह—

आयंको जरमाई सोऽवि हु भइओ इमस्स जइ होइ ।
णिप्पडिकम्मसरीरो अहिआसइ तंपि एमेव ॥ १४३२ ॥ दारं ॥

आतङ्को—ज्वरादिः सद्योघाती रोगः असावपि भाज्योऽस्य, भवति वा न वा, यदि भवति कथञ्चित्ततः निष्प्रतिकर्म्मशरीरः सन्नधिसहते तमप्यातङ्कमेवमेव—निश्चलचित्ततयेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ वेदनाद्वारविधिमाह—

ओवासे तणफलए सारक्खणया य संथवणया य। पाहुडिअ अग्गिदीवे ओहाण वसे कइ जणाओ॥१४२७॥

भिक्खायरिआ पाणय लेवालेवे अ तह अलेवे अ।
आयंबिलपडिमाई जिणकप्पे मासकप्पे उ ॥ १४२८ ॥ दारगाहा ॥

श्रुतसंहननोपसर्ग इत्येतद्विषयोऽस्य विधिः वक्तव्यः, तथाऽऽतङ्को वेदना कियन्तो जनाश्चेति द्वारत्रयमाश्रित्य, तथा स्थाण्डिल्यं वसतिः कियच्चिरं द्वाराण्याश्रित्य, तथा उच्चारे चेव प्रश्रवणे चेत्येतद्विषय इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ तथा अवकाशे तृणफलके एतद्विषय इत्यर्थः, तथा संरक्षणता च संस्थापनता चेति द्वारद्वयमाश्रित्य, तथा प्राभृतिकाग्निदीपेषु एतद्विषयः, तथाऽवधानं वसिष्यन्ति कति जनाश्चेत्येतद् द्वारद्वयमाश्रित्येति च गाथासमुदायार्थः ॥२७॥ भिक्षाचर्या पानकं इत्येतद्विषयो, लेपालेपे वस्तुनि, तथा अलेपे च एतद्विषयश्चेत्यर्थः, तथाऽऽचाम्लप्रतिमे समाश्रित्य, जिनकल्पे मासकल्पश्चेतद्द्वारमधिकृत्य विधिर्वक्तव्य इति गाथासमुदायार्थः ॥ २८ ॥ एतास्तिस्रोऽपि द्वारगाथाः, आसामवयवार्थः प्रतिद्वारं स्पष्ट उच्यते, तत्र श्रुतद्वारमधिकृत्याह—

आयारवत्थु तइयं जहण्णयं होइ नवमपुव्वस्स।तहियं कालण्णाणं दस उक्कोसेण भिण्णाइं॥१४२९॥दारं।

आचारवस्तु तृतीयं सङ्ख्यया जघन्यकं भवति नवमपूर्वस्य सम्बन्धि श्रुतपर्यायः, तत्र कालज्ञानं भवतीतिकृत्वा, दश पूर्वाण्युत्कृष्टतस्तु भिन्नानि श्रुतपर्याय इति गाथार्थः ॥ २९ ॥ संहननद्वारमाश्रित्याह—

काले प्रतिपृच्छा, पूर्वगृहीतेनाशनादिना छन्दना, निमन्त्रणा भवत्यगृहीतेन, उपसंपच्चैव श्रुतादिनिमित्तमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥ अत्र जिनकल्पिकसामाचारीमाह—

आवस्सिणिसीहिमिच्छापुच्छणमुवसंपयंमि गिहिएसु।
अण्णा सामायारी ण होइ से सेसिआ पंच ॥ १४२३ ॥

आवश्यिकीं नैषेधिकीं 'मिथ्ये'ति मिथ्याकारं पृच्छामुपसम्पदं गृहिष्वौचित्येन सर्वं करोति, अन्याः सामाचार्य:-इच्छाकार्याद्या न भवन्ति 'से' तस्य शेषाः पञ्च, प्रयोजनाभावादिति गाथार्थः ॥ २३ ॥ आदेशान्तरमाह—

आवस्सिअं निसीहिअ मोत्तुं उवसंपयं च गिहिएसु। सेसा सामायारी ण होइ जिणकप्पिए सत्त ॥१४२४॥

आवश्यिकीं नैषिधिकीं मुक्त्वा उपसम्पदं च गृहिष्वारामादिष्वोघतः, शेषाः सामाचार्यः पृच्छाद्याः अपि न भवन्ति जिनकल्पिके सप्त, प्रयोजनाभावादेवेति गाथार्थः ॥ २४ ॥

अहवावि चक्कवाले सामायारी उ जस्स जा जोग्गा। सा सव्वा वत्तव्वा सुअमाईआ इमा मेरा ॥१४२५॥

अथवाऽपि 'चक्रवाले' नित्यकर्मणि सामाचारी तु यस्य या योग्या जिनकल्पिकादेः सा सर्वा वक्तव्या, अत्रान्तरे श्रुतादिका चेयं मर्यादा—वक्ष्यमाणाऽस्येति गाथार्थः ॥ २५ ॥

सुअसंघयणुवसग्गे आयंके वेअणा कइ जणा उ। थंडिल्ल वसहि केच्चिर उच्चारे चेव पासवणे ॥१४२६॥

पक्षिपत्रोपकरणे—अमुकस्तोकोपधौ गच्छारामात् सुखसेव्याद्विनिर्गते 'तस्मिन्' जिनकल्पिके चक्षुर्विषयमतीते—अदर्शनीभूते आगच्छन्ति स्ववसतिमानन्दिताः साधवः, तत्प्रतिपत्त्येति गाथार्थः ॥ १९ ॥

आभोएउं खेत्तं णिव्वाघाएण मासणिव्वाहिं । गंतूण तत्थ विहरइ एस विहारो समासेण ॥ १४२० ॥

'आभोज्य' विज्ञाय क्षेत्रं निर्व्याघातेन हेतुभूतेन 'मासनिर्वाहि' मासनिर्वहणसमर्थं, गत्वा तत्र क्षेत्रे विहरति—स्वनीतिं पालयति, एष विहारः समासेनास्य भगवत इति गाथार्थः ॥ २० ॥

एत्थ य सामायारी इमस्स जा होइ तं पवक्खामि । भयणाएँ दसविहाए गुरूवएसानुसारेण ॥ १४२१ ॥

अत्र च क्षेत्रे सामाचारी-स्थितिरस्य या भवति जिनकल्पिकस्य तां प्रवक्ष्यामि 'भजनया' विकल्पेन दशविधायां सामाचार्यां वक्ष्यमाणायां गुरूपदेशानुसारेण, न स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ॥ २१ ॥ दशविधामेवादावाह—

इच्छा मिच्छ तहकार आवस्सि निसीहिया य आपुच्छा ।
पडिपुच्छ छंदण णिमंतणा य उवसंपया चेव ॥ १४२२ ॥

इच्छा मिथ्या तथा तथाकार इति, कारशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, इच्छाकारो मिथ्याकारः तथाकार इति, तथा परभणने सर्वत्रेच्छाकारः, दोषचोदने मिथ्याकारः, गुर्वादेशे तथाकारः, तथा आवश्यिकी नैषेधिकी च आपृच्छा, वसतिनिर्गमे आवश्यिकी, प्रवेशे नैषेधिकी, स्वकार्यप्रवृत्तावापृच्छा, तथा प्रतिपृच्छा छन्दना निमन्त्रणा च, तत्रादिष्टकरण-

जं किंचि पमाएणं ण सुट्ठु भे वट्टिअं मए पुव्विं । तं भे खामेमि अहं णिस्सल्लो णिक्कसाओत्ति ॥ १४१६ ॥

निर्म्मातश्च 'तत्र' परिकर्म्मण्यसौ गच्छादि सर्वथानुज्ञाप्य प्रागुक्तं पदं, पूर्वोदितानां सम्यग् इत्वरस्थापितानां पश्चादुपबृंह्य विधिना तेनैवेति गाथार्थः ॥ १४ ॥ क्षामयति ततः सङ्घं सामान्येन सबालवृद्धं यथोचितमेव वक्ष्यमाणनीत्या अत्यन्तं संविग्नः सन्, पूर्वविरुद्धान् विशेषेण कांश्चनेति गाथार्थः ॥ १५ ॥ यत्किञ्चित्प्रमादेन हेतुना न सुष्ठु 'भे' भवतां वर्त्तितं मया पूर्वं तद् 'भे' युष्मान् क्षमयाम्यहं निःशल्यो निष्कषायोऽस्मि संवृत्त इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

दव्वाई अणुकूले महाविभूईएँ अह जिणाईणं ।
अब्भासे पडिवज्जइ जिणकप्पं असइ वडरुक्खे ॥ १४१७ ॥ दारं ॥

दाराणुवायमो इह सो पुण तइआए भावणासारं । काऊण तं विहाणं णिरविक्खो सव्वहा वयइ ॥ १४१८ ॥

द्रव्यादावनुकूले सति महाविभूत्या—दानादिकयाऽथ जिनादीनामतिशयिनामभ्यासे प्रतिपद्यते जिनकल्पमुत्सर्गेण, असति च वटवृक्षेऽपवाद इति गाथार्थः ॥ १७ ॥ द्वारानुपातो द्रष्टव्यः स पुनः—ऋपिस्तृतीयायां पौरुष्यां भावनासारं सत् कृत्वा तत् नमस्कारादिप्रतिपत्तिविधानं निरपेक्षः सन् सर्वथा व्रजति तत इति गाथार्थः ॥ १८ ॥

पक्खीपत्तुवगरणे गच्छारामा विणिग्गए तम्मि । चक्खुविसयं अईए अयंति आनंदिया साहू ॥ १४१९ ॥

तृतीयायां पौरुष्यामलेपकृतं—वल्लादि पञ्चान्यतरया पुनरेषणया 'भजते' सेवते आहारं, द्वयोरन्यतरया पुनरेषणयोपधिं च भजते; यथाकृतं चैवोपधिं, नान्यां, तत्रौघत एवैषणा आहारस्य सप्त, यथोक्तम्—"संसट्ठाऽसंसट्ठा उद्धड तह होइ अप्पलेवा य । उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥ १ ॥ तत्थ पंचसु गहो, एक्काए अभिग्गहो असणस्स एक्काए चेव पाणस्स, वस्त्रस्य त्वेषणाश्चतस्रो, यथोक्तम्—उद्दिट्ठ पेह अंतर उज्झियधम्मा चउव्विहा भणिआ । वत्थेसणा जईणं जिणेहिं जिअरागदोसेहिं ॥ १ ॥ एत्थंपि दोसु गिण्हइ"त्ति गाथाभावार्थः ॥

पाणिपडिग्गहपत्तो सचेल(सचेलऽचेल)भेएण वावि दुविहं तु ।
जो जहरूवो होही सो तह परिकम्मए अप्पं ॥ १४१३ ॥ दारं ॥

पाणिप्रतिग्रहः—अपात्रपात्रवच्छेदेन सचेलाचेलभेदेन वापि द्विविधं तु प्रस्तुतं परिकर्म्म, यो यथारूपो भविष्यति जिनकल्पिकः सः 'तथा' तेनैव प्रकारेण परिकर्म्मयत्यात्मानमिति गाथार्थः ॥ १३ ॥ चरमद्वाराभिधित्सयाऽऽह—

निम्माओ अ तहिं सो गच्छाई सवहाऽणुजाणित्ता ।
पुव्वोइआण सम्मं पच्छा उववूहिओ विहिणा ॥ १४१४ ॥

खामेइ तओ संघं सबालवुड्ढं जहोचिअं एवं । अच्चंतं संविग्गो पुव्वविरुद्धे विसेसेण ॥ १४१५ ॥

यथासङ्ख्यमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥ प्रायः कायोत्सर्गेण तस्य यतः स्थि(धृ)तिः, भावनाबलाच्चैष—कायोत्सर्गः, संहननेऽपि सति जायते इदानीं भारादिवलतुल्यः, शक्तौ सत्यामप्यभ्यासतो भारवहनिदर्शनादिति गाथार्थः ॥ ७ ॥ सदा शुभभावेन तथा तस्य, स्थितिरिति वर्त्तते, 'यद्' यस्मादेवं तत् शुभभावस्थैर्यरूपा अत एव स्थितिसम्पादनार्थं कर्त्तव्या धृतिस्तेन, निधानादिलाभ इवेष्टसिद्धेरिति गाथार्थः ॥ ८ ॥ धृतिबलनिबद्धकक्षः सन् कर्म्मजयार्थमुद्यतो मतिमानेष सर्वत्राविषादी भावेनोपसर्गसहो दृढम्—अत्यर्थं भवतीति गाथार्थः ॥ ९ ॥ चरमभावनामभिधाय विशेषमाह—

सवासु भावणासुं एसो उ (य) विही उ होइ ओहेणं। एत्थं चसद्दगहिओ तयंतरं चेव केइत्ति ॥१४१०॥

सर्वासु भावनासु अनन्तरोदितासु एष च विधिस्तु वक्ष्यमाणो भवत्योघेन, अत्र चशब्दगृहीतो द्वारगाथायां तदन्तरं—विध्यन्तरमेव केचनेति गाथार्थः ॥ १० ॥

जिणकप्पिअपडिरूवी गच्छे ठिअ कुणइ दुविह परिकम्मं।
आहारोवहिमाइसु ताहे पडिवज्जई कप्पं ॥ १४११ ॥

जिनकल्पिकप्रतिरूपी—तत्सदृशो गच्छ एव स्थितः सन् करोति द्विविधं परिकर्म्म—बाह्यमान्तरं च आहारोपध्यादिषु विषयेषु, ततस्तत्कृत्वा प्रतिपद्यते कल्पमिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ एतदेवाह—

तइआए अलेवाडं पंचण्णयरीएँ भयइ आहारं। दोण्हऽण्णयरीएँ पुणो उवहिं च अहागडं चेव ॥१४१२॥

एकत्वभावनां तथाऽसौ—यतिर्गुर्वादिषु दृष्ट्यादिपरिहाराद्—दर्शनालापपरिहारेण 'भावयति' अभ्यस्यति छिन्नममत्त्वः सन् तत्त्वं हृदये कृत्वा वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ २ ॥ एक आत्मा तत्त्वतः, संयोगिकं त्वशेषमप्येतद्देहादि प्रायेण, दुःखनिमित्तं सर्वमेतद्धि वस्तु, मध्यस्थभावो यस्य सर्वत्रेति गाथार्थः ॥३॥ 'इय' एवं भावितपरमार्थः सन् समसुखदुःखो मुनिरवहिश्चरो भवति, आत्माराम इत्यर्थः, ततश्च असौ क्रमेण अवदायमा(तम)नाः साधयति यथेष्टं कार्यं, चारित्ररूपमिति गाथार्थः ॥ ४ ॥ एकत्वभावनया भाव्यमानया न कामभोगयोः, तथा गणे शरीरे वा 'सज्यते' सङ्गं गच्छति, एवं वैराग्यगतः सन् स्पृशत्यनुत्तरं करणं—प्रधानयोगनिमित्तमिति गाथार्थः ॥ ५ ॥ बलभावनामाह—

इअ एगत्तसमेओ सारीरं माणसं च दुविहंपि । भावइ बलं महप्पा उस्सग्गधिइसरूवं तु ॥ १४०६ ॥

पायं उस्सग्गेणं तस्स ठि(धि)ई भावणाबला एसो । संघयणेत्ति हु जायइ इणिंह भाराइबलतुल्लो ॥१४०७॥

सइ सुहभावेण तहा जं ता सुहभावथिज्जरूवा उ । एत्तो च्चिअ कायवा धिई णिहाणाइलाभेव ॥ १४०८ ॥

धिइबलणिबद्धकच्छो कम्मजयट्ठाएॅ उज्जओ मइमं ।
सव्वत्था अविसाई उवसग्गसहो दढं होइ ॥ १४०९ ॥ दारं ॥

एवमेकत्वभावनासमेतः सन् शारीरं मानसं च द्विविधमप्येतद् भावयति बलं महात्माऽसौ कायोत्सर्गधृतिस्वरूपं

'स्तोकः' सप्तप्राणमानः, 'ततोऽपि च' स्तोकात् 'मुहूर्त्तः' द्विघटिककालः'एभिः' मुहूर्त्तैः पौरुष्यः, 'ताभिरपि' पौरुषीभिः 'निशादि' निशादिवसादि जानाति सूत्राभ्यासत इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥अतः उपयोगात् सूत्राभ्यासगर्भात् सदैवासाव-मूढलक्षतया कारणेन दोषमप्राप्नुवन्–निरतिचारः सन् करोति 'कृत्यं' विहितानुष्ठानमविपरीतमिति गाथार्थः ॥ १४०० ॥ मेघादिच्छन्नेषु विभागेषु 'उभयकालं' प्रारम्भसमाप्तिरूपम् अथवोपसर्गे–दिव्यादौ प्रेक्षादावुपकरणस्य भिक्षापथोः औचित्येन जानाति कालं योग्यं, विना छाययेति गाथार्थः ॥ १ ॥ एकत्वभावनामभिधातुमाह–

एगत्तभावणं तह गुरुमाइसु दिट्ठिमाइपरिहारा । भावइ छिण्णममत्तो तत्तं हिअयम्मि काऊणं ॥१४०२॥

एगो आया संजोगिअं तुऽसेसं इमस्स (पिमं तु) पाएणं ।
दुक्खणिमित्तं सव्वं मोत्तुं (एयं) मज्झत्थभावं तु ॥ १४०३ ॥
इय भाविअपरमत्थो समसुहदुक्खोऽवहीअरो होइ ।
तत्तो अ सो कमेणं साहेइ जहिच्छिअं कज्जं ॥ १४०४ ॥
एगत्तभावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा ।
सज्जइ वेरग्गगओ फासेइ अणुत्तरं करणं ॥ १४०५ ॥ दारं ॥

अह सुत्तभावणं सो एगग्गमणो अणाउलो भयवं । कालपरिमाणहेउं सऽब्भत्थं सव्वहा कुणइ ॥१३९८॥

उस्सासाओ पाणू तओ अ थोवो तओऽविअ मुहुत्तो ।
एएहिं पोरिसीओ ताहिंपि णिसाइ जाणेइ ॥ १३९९ ॥

एत्तो उवओगाओ सदेव सोऽमूढलक्खयाए उ । दोसं अपावमाणो करेइ किच्चं अविवरीअं ॥ १४००॥

मेहाइच्छणणेसुं उभओकालं अहव उवसग्गे । पेहाइ भिक्खपंथे जाणइ कालं विणा छायं ॥ १४०१ ॥

प्रथमोपाश्रये प्रतिमा, द्वितीया वहिरुपाश्रयस्य, तृतीया चतुष्के स्थानसम्बन्धिनि, शून्यगृहे चतुर्थी स्थानसम्बन्धिन्येव, तथा पञ्चमी श्मशाने प्रतिमेति गाथार्थः ॥९५ ॥ एतासु प्रतिमासु स्तोकस्तोकं यथा समाधिना पूर्वप्रवृत्तां जयति निद्रामसौ–ऋषिः, मूषिकास्पृष्टादौ तथा, आदिशब्दान्मार्जारादिपरिग्रहः, भयं च सहसोद्भवमजितं जयतीति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ अनेनासौ क्रमेण–यथोपन्यस्तेन डिम्भकतस्करसुरादिकृतमेतद्–भयं जित्वा महासत्त्वः सर्वासु प्रतिमासु वहति भरं प्रस्तुतं निर्भयः सन् सकलमिति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ श्रुतभावनामाह–अथ सूत्रभावनामसौ–ऋषिरेकाग्रमनाः अन्तःकरणेन, अनाकुलो वहिर्वृत्त्या, भगवानसौ कालपरिमाणहेतोः, तदभ्यासादेव तद्गतेः, स्वभ्यस्तां सर्वथा करोति उच्छ्वासादिमानेनेति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ एतदेवाह—उच्छ्वासात् 'प्राण' इत्युच्छ्वासनिश्वासः, 'ततश्च' प्राणात्

गिरिनदीं वेगवतीमसकृदुत्तरणेनापि प्रगुणमुत्तरति, एवमसावबाधकं तपः करोतीति गाथार्थः ॥ ९० ॥ तदेवाह—एकैकं पौरुष्यादि तावत्तपः करोति सात्मीभावेन यथा तेन तपसा क्रियमाणेन हानिर्न भवति विहितस्य यदापि भवति कथञ्चित् षण्मासानुपसर्गो दिव्यादिरिति गाथार्थः ॥९१॥ तपस एव गुणान्तरमाह—अल्पाहारस्य तपसा न इन्द्रियाणि—स्पर्शनादीनि 'विषयेषु' स्पर्शादिषु सम्प्रवर्त्तन्ते, धातूद्रेकाभावात्, न च क्लाम्यन्ति तपसा, सम्पन्नेषु रसिकेषु—अशनादिषु न सज्यते चापि, अपरिभोगेनानादरादिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ तपोभावनया हेतुभूतया पञ्चेन्द्रियाणि दान्तानि सन्ति यस्य वशमागच्छन्ति प्राणिनः स इन्द्रिययोग्याचार्यः—इन्द्रियप्रगुणनक्रियागुरुः 'समाधिकरणानि' समाधिव्यापारान् कारयतीन्द्रियाणीति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ द्वारान्तरसम्बन्धाभिधित्सयाऽऽह—'इअ' एवं तपोनिर्म्मातः खलु पश्चादसौ मुनिः सत्त्वभावनां करोति, सत्त्वाभ्यासमित्यर्थः, निद्राभयविजयार्थमेतत् करोति, तत्र तु प्रतिमाः सत्त्वभावनायामेताः पञ्चेति गाथार्थः ॥ ९४ ॥

पढमा उवस्सयम्मी बीया बाहिं तइया चउक्कंमि ।
सुन्नघरम्मि चउत्थी तह पंचमिआ मसाणंमि ॥ १३९५ ॥

एआसु थेवथेवं पुव्वपवत्तं जिणेइ णिद्दं सो । मूसगछिक्का उ तहा भयं च सहसुब्भवं अजिअं ॥ १३९६ ॥
एएण सो कमेणं डिंभगतक्करसुराइकयभेअं । जिणिऊण महासत्तो वहइ भरं निब्भओ सयलं ॥ १३९७ ॥

भूता इति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ येन पुनः कारणेन तेऽपि कषाया नेन्द्रियाऽऽयोगविरहिता भवन्ति, तद्विनियमनमपि ततः कारणात्तदर्थमेव—कषायविनियमनार्थमत्र कर्त्तव्यमिति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ तपोभावनादिप्रतिपादनायाह—

इअ परिकम्मिअभावोऽणब्भत्थं पोरिसाइ तिगुणतवं ।
कुणइ छुहाविजयट्ठा गिरिणइसीहेण दिट्ठंतो ॥ १३९० ॥

इक्किक्कं ताव तवं करेइ जह तेण कीरमाणेणं । हाणी ण होइ जइआवि होइ छम्मासुवस्सग्गो ॥१३९१॥
अप्पाहारस्स ण इंदिआइं विसएसु संपयट्टंति । नेअ किलम्मइ तवसा रसिएसु न सज्जई आवि ॥१३९२॥

तवभावणाएँ पंचिंदिआणि दंताणि जस्स वसमेंति ।
इंदिअजोग्गायरिओ समाहिकरणाइं कारेइ ॥ १३९३ ॥
इअ तवणिम्माओ खलु पच्छा सो सत्तभावणं कुणइ ।
निद्दाभयविजयट्ठा तत्थ उ पडिमा इमा पञ्च ॥ १३९४ ॥

इय (ति) परिकर्म्मितभावः सन् इन्द्रियादिविनियमनेनानभ्यस्तम्—असात्मीभूतं पूर्वं पौरुष्यादीत्युपलक्षणमेतत् त्रिगुणं तपः करोति, त्रिवारासेवनेन, क्षुद्विजयाय—सात्मीभावेन क्षुद्विजयार्थं, गिरिनदीसिंहेनात्र दृष्टान्तः, यथाऽसौ

आज्ञायाः आराधनस्य वर्त्तमानं सत् प्राप्नोति यथार्थनाम–उपकरणमिति, 'इतरथा' तदाराधनोपकाराभावे सत्यधिकरणमेव भणितं तदुपकरणमिति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ परिकर्म्मद्वारमभिधातुमाह–

परिकम्मं पुण इह इंदियाइविणिअमणभावणा णेआ ।
तमवायादालोअण विहिणा सम्मं तओ कुणइ ॥ १३८६ ॥
इंदिअकसायजोगा विणियमिआ तेण पुव्वमेव णणु । सच्चं तहावि जयई तज्जय सिद्धिं गणेंतो उ ॥१३८७॥
इंदिअजोगेहिं तहा णेहऽहिगारो जहा कसाएहिं । एएहिं विणा णेए दुहवुड्ढीबीअभूआ उ ॥ १३८८ ॥
जेण उ तेऽवि कसाया णो इंदिअजोगविरहओ हुंति ।
तव्विणिअमणंपि तओ तयत्थमेवेत्थ कायव्वं ॥१३८९॥ दारं ।

परिकर्म्म पुनरिह–प्रक्रमे इन्द्रियादिविनियमनभावना ज्ञेया, भावना–अभ्यासः, 'तत्' परिकर्म्म अपायाद्यालोचनविधिना इन्द्रियादीनां सम्यक् ततः करोतीति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ इन्द्रियकषाययोगाः सर्व एव विनियमितास्तेन–साधुना पूर्वमेव ननु, अत्रोत्तरं–सत्यमेतत्, तथापि यतते सः 'तज्जयाद्' इन्द्रियादिजयात् सिद्धिं गणयन्, प्रस्तुतस्येति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ इन्द्रिययोगैस्तथा नेहाधिकारः प्रक्रमे यथा कषायैः, किमित्यत्राह–एभिर्विना नैते–इन्द्रिययोगा दुःखवृद्धिबी-

न्त्यस्य स्थानस्य—प्रस्तुतस्य, उचिता नवेति, अयोग्यानामनारोपणमेवेत्याशङ्क्याह—योग्यानामपि सामान्येन प्रायो निर्वहणं प्रस्तुतस्य दुष्करं भवति, लोकसिद्धमेतदिति गाथार्थः ॥ ८० ॥ युक्त्या तुलनाप्रयोजनमाह—न च बहुगुणत्यागेन प्रामाणिकेन स्तोकगुणप्रसाधनं 'बुद्धजनानां' विदुषामिष्टं कदाचित्कार्यं, नैवेत्यर्थः, किमित्यत आह—कुशलाः सुप्रतिष्ठितारम्भा भवन्तीति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ उपकरणद्वारमाश्रित्याह—

उवगरणं सुद्धेसणमाणजुअं जमुचिअं सकप्पस्स। तं गिण्हइ तयभावे अहागडं जाव उचिअं तु ॥ १३८२॥
जाए उचिए अ तयं वोसिरइ अहागडं विहाणेण। इअ आणानिरयस्सिह विण्णेअं तंपि तेण समं ॥२३८३॥
आणा इत्थ पमाणं विण्णेआ सव्वहा उ परलोए। आराहणाएँ तीए धम्मो बज्झं पुण निमित्तं ॥ १३८४ ॥
उवगरणं उवगारे तीए आराहणस्स वट्टंतं। पावइ जहत्थनामं इहरा अहिगरणमो भणिअं ॥१३८५॥ दारं।

उपकरणं—वस्त्रादि शुद्धैषणामानयुक्तं यदुचितं स्वकल्पस्य, समयनीत्या, तद् गृह्णात्युत्सर्गेणादित एव, तदभावे सति यथाकृतं गृह्णाति यावदुचितम्, अन्यद् भवति तावदेवेति गाथार्थः ॥८२॥ जाते सत्युचितोपकरणे 'तत्' प्राक्तनं व्युत्सृजति यथाकृतं—उपकरणं विधानेन—सौत्रेण, 'इय' तत्त्यागनिःस्पृहतया आज्ञानिरतस्येह—लोके विज्ञेयं 'तदपि' मौलमुपकरणं तेन समं—पाश्चात्त्येनेति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ किमित्यत आह—आज्ञाऽत्र प्रमाणं विज्ञेया सर्वथैव परलोके, न त्वन्यत् किंचिद्, आराधनेन तस्या धर्मः, आज्ञात्वात्, बाह्यं पुनर्निमित्तमिति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ उपकरणमप्युपकारे 'तस्या'

स्वयमेवायुःकालं ज्ञात्वा वहु शेषं श्रुतातिशयेन, प्रष्टुं वा श्रुतातिशययुक्तमन्यं, वहु शेषं ज्ञात्वा सुवहुगुणलाभकाङ्क्षी सन् साधुः विहारं–क्रियारूपमभ्युद्यतं भजते, प्रधानमिति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ प्रसङ्गमभिधाय 'पञ्च तुलने'ति द्वारं व्याचिख्यासुराह—

गणिउवज्झायपवित्ती थेरगणच्छेइआ इमे पंच। पायमहिगारिणो इह तेसिमिमा होइ तुलणा उ ॥ १३७८॥

गणणिक्खेवित्तिरिओ गणिस्स जो वा ठिओ जहिं ठाणे।
जो तं अप्पसमस्स उ णिक्खिवई इत्तरं चेव ॥ १३७९ ॥

पिच्छामु ताव एए केरिसया होंतिमस्स ठाणस्स ?। जोग्गाणवि पाएणं णिव्वहणं दुक्करं होइ ॥ १३८० ॥

ण य वहुगुणचाएणं थेवगुणपसाहणं वुहजणाणं। इट्ठं कयाइ कज्जं कुसला सुपइट्ठिआरंभा ॥१३८१॥ द्वारं।

'गणी' गच्छाधिपाचार्यः 'उपाध्यायः' सूत्रप्रदः 'प्रवृत्तिः' उचिते प्रवर्त्तकः स्थविरः स्थिरीकरणात् 'गणावच्छेदकः' गणदेशपालनाक्षमः, एते पञ्च पुरुषाः प्रायः अधिकारिण 'इह' अभ्युद्यतविहारे, एतेषामियं–वक्ष्यमाणा भवति तुलनेति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ गणनिक्षेप 'इत्वरः' परिमितकालो गणिनो भवति, यो वा स्थितो यत्र स्थाने–उपाध्यायादौ स तत्पदमात्मसमस्यैव निक्षिपतीत्वरमेव अपरस्य साधोरिति गाथार्थः ॥७९॥ पश्यामस्तावदेते–अभिनवाचार्यादयः कीदृशा भव-

उत्तमप्रशस्तध्यानः' प्रवृद्धशुभयोगः हृदयेनेदं—वक्ष्यमाणं वस्तु विचिन्तयन्तीति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ अनुपालित एव दीर्घः पर्यायः—प्रव्रज्यारूपः, वाचना तथा दत्ता उचितेभ्यः, निष्पादिताश्च शिष्याः, कृत ऋणमोक्षः, मम किं साम्प्रतं युक्तम्, एतच्चिन्तयतीति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ किन्तु विहारेणाभ्युद्यतेन—जिनकल्पादिना विहराम्यनुत्तरगुणेन, एतत्कालापेक्षया, उताभ्युद्यतशासनेन विधिना—सूत्रोक्तेनानुम्रिये इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ प्रारब्धाव्यवच्छित्तिः—प्रव्रज्यानिर्वहणमखण्डं इदानीमुचितकरणाद्भवति, इतरथा तु—तदकरणे विरसावसानतः कारणात्, न प्रारब्धाव्यवच्छित्तिः, तच्छून्यत्वादिति, अत्र द्वारस्य—अव्यवच्छित्तिमनःसंज्ञितस्य सम्पात इति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ अभ्युद्यतविहाराभ्युद्यतमरणस्वरूपमाह—

जिणसुद्धजहालंदा तिविहो अब्भुज्जओ इह विहारो ।
अब्भुज्जयमरणंपि अ पाउगमे इंगिणि परिण्णा ॥ १३७६ ॥

'जिनशुद्धयथालन्दाः' जिनकल्पिकाः शुद्धपरिहारिकाः यथालन्दिकाश्चेति त्रिविधोऽभ्युद्यतः 'इह' प्रवचने विहारः, अभ्युद्यतमरणमपि च इह त्रिविधमित्याह—'पादपोपगमनेङ्गितपरिज्ञाः' पादपोपगमनमिङ्गितमरणं भक्तपरिज्ञा चेति गाथासमासार्थः ॥ ७६ ॥ व्यासार्थस्त्वस्याः प्रस्तुतं द्वारमेव—

सयमेव आउकालं णाउं पुच्छित्तु वा बहुं सेसं । सुबहुगुणलाभकंखी विहारमब्भुज्जयं भयई ॥ १३७७ ॥

भणित्वा 'एनम्' अभ्युद्यतविहारं प्रथमं' लेशोद्देशेन' सङ्क्षेपेण 'पृष्ठतः' ऊर्ध्वं वक्ष्ये द्वारानुपात्येव, प्रस्तुतमित्यर्थः, 'सम्यक्' सिद्धान्तनीत्याऽभ्युद्यतं मरणमिति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ तत्र द्वारगाथामाह—

अव्वोच्छित्तीमण पंच तुलण उवगरणमेव परिकम्मो ।
तवसत्तसुएगत्ते उवसग्गसहे अ वडरुक्खे ॥ १३७१ ॥ दारगाहा ॥

अव्यवच्छित्तिमनः प्रयुङ्क्ते, तथा पञ्चानामाचार्यादीनां तुलना स्वयोगविषया, उपकरणमेवेति वक्तव्यम्, उचितं परिकर्म्म—इन्द्रियादिजयः, तपःसत्त्वश्रुतैकत्वेषूपसर्गसहश्चेति पञ्च भवन्तीत्यर्थः भावनाः, 'वटवृक्ष' इत्यपवादात्तदधः प्रतिपद्यत इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ व्यासार्थमाह—

सो पुव्वावरकाले जागरमाणो उ धम्मजागरिअं । उत्तमपसत्थझाणो हिअएण इमं विचिंतेइ ॥ १३७२ ॥
अणुपालिओ उ दीहो परिआओ वायणा तहा दिण्णा । णिप्फाइआ य सीसा मज्झं किं संपयं जुत्तं?१३७३॥
किं णु विहारेणऽब्भुज्जएण विहरामऽणुत्तरगुणेणं । आऊ अब्भुज्जयसासणेण विहिणा अणुमरामि॥१३७४॥
पारद्धावोच्छित्ती इण्हिं उचिअकरणा इहरहा उ । विरसावसाणओ णो इत्थं दारस्स संपाओ॥१३७५॥दारं

'सः' गणी वृद्धः सन् पूर्वापरकाले सुप्तः सुप्तोत्थितो वा रात्रौ जाग्रत् धर्म्मजागरिकां—धर्म्मचिन्तां कुर्वन्नित्यर्थः

ओहेणं सवच्चिअ तवकिरिआ जइवि एरिसी होइ ।
तहवि अ इमा विसिट्ठा घिप्पइ जा चरिमकालम्मि ॥ १३६७ ॥

'ओघेन' सामान्येन सर्वैव तपःक्रिया आदित आरभ्य यद्यपीदृशी–देहकषायादिसंलेखनात्मिका भवति, तथापि चैषा–प्रस्तुता विशिष्टा गृह्यते तपःक्रिया या चरमकाले देहत्यागायेति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ एतदेवाह—

परिवालिऊण विहिणा गणिमाइपयं जईणमिअमुचिअं ।
अब्भुज्जुओ विहारो अहवा अब्भुज्जुअं मरणं ॥ १३६८ ॥

परिपाल्य विधिना–सूत्रोक्तेन गण्यादिपदम्, आदिशब्दादुपाध्यायादिपरिग्रहः, यतीनामुचितमिदं चरमकाले यदुताभ्युद्यतो विहारः—जिनकल्पादिरूपः अथवाऽभ्युद्यतं मरणं–पादपोपगमनादीति गाथार्थः ॥ ६८ ॥

एसो अ विहारोवि हु जम्हा संलेहणासमो चेव । ता ण विरुद्धो णेओ एत्थं संलेहणादारे ॥ १३६९ ॥

एष च विहारोऽभ्युद्यतः यस्मात् संलेखनासम एव वर्त्तते 'तत्' तस्मान्न विरुद्धो ज्ञेयः 'अत्र' प्रस्तुते संलेखनाद्वारे, भण्यमान इति गाथार्थः ॥ ६९ ॥

भणिऊण इमं पढमं लेसुद्देसेण पच्छओ वोच्छं । दाराणुवाइगं चिअ सम्मं अब्भुज्जुअं मरणं ॥ १३७० ॥

अथ 'समयविधानेन' सिद्धान्तनीत्या पालयत्यसौ गणमेव शेषकृत्यरहितो मध्यस्थः सन्, निष्पादयति चान्यान् शिष्यान् निजगुणसदृशान्—आत्मतुल्यान् 'प्रयत्नेन' उद्युक्ततयेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

अणुओगगणाणुण्णा एवेसा वण्णिआ समासेणं। संलेहणत्ति दारं अओ परं कित्तइस्सामि ॥ १३६४॥

अनुयोगगणानुज्ञा एवम्—उक्तेन प्रकारेण एषा वर्णिता समासेन, संलेखनेति द्वारमतः परं पञ्चमं कीर्त्तयिष्यामीति गाथार्थः ॥ किमित्येवमित्याह—

अणुओगगणाणुण्णा कयाएँ तयणुपालणं विहिणा।
जं ता करेइ (धीरो) सम्मं जाऽऽवइओ चरमकालो उ ॥ १३६५ ॥

अनुयोगगणानुज्ञायां कृतायां सत्यां 'तदनुपालनम्' अनुयोगादिपालनं विधिना 'यद्' यस्मात्तावत्करोति 'धीरः' ऋषिर्यावदापतितः क्रमेण चरमकाल इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ इति गणानुज्ञावस्तु ४।

अथ संलेखनावस्तु, संलेखनामाह—

संलेहणा इहं खलु तवकिरिया जिणवरेहिं पण्णत्ता। जं तीएँ संलिहिज्जइ देहकसायाइ णिअमेणं ॥ १३६६॥

संलेखना इह खलु प्रक्रमे तपःक्रिया विचित्रा जिनवरैः प्रज्ञप्ता, किमित्याह—'यद्' यस्मात्तया संलिख्यते—कृशीक्रियते देहकषायादि, बाह्यमान्तरं च, नियमेनेति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ अतिप्रसङ्गपरिहारमाह—

एवं चिअ वयिणीणं अणुसट्ठिं कुणइ एत्थ आयरिओ। तह अज्जचंदणमिगावईण साहेइ परमगुणे॥१३५९॥

एवमेव व्रतवतीनां—साध्वीनामनुशास्तिं करोत्यत्र व्यतिकरे आचार्यः मौलः, तथा आर्यचन्दनामृगापत्योः सम्बन्धिनः कथयति परमगुणानिति, अत्र कथानकं प्रतीतमेवेति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

भणइ सलद्धीअंपि हु पुव्वं तुह गुरुपरिक्खिआ आसि। लद्धी वत्थाईणं णिअमा एगंतनिद्दोसा ॥ १३६० ॥

भणति स्वलब्धिकमपि मौलगुरुः—पूर्वं तव, इतः कालाद्, गुरुपरीक्षिता आसीत्, केत्याह—लब्धिर्वस्त्रादीनां प्राप्तिरित्यर्थः, नियमादेकान्तनिर्दोषा, गुरुपारतन्त्र्यादिति गाथार्थः ॥ ६० ॥

इण्हिं तु सुआयत्तो जाओसि तुमंति एत्थ वत्थुम्मि। ता जह बहुगुणतरयं होइ इमं तह णु कायव्वं॥१३६१॥

इदानीं स्वलब्ध्यनुज्ञायाः श्रुतायत्तो जातोऽसि त्वमित्यत्र वस्तुनि—वस्त्रादिलब्ध्यादौ, तद् यथा बहुगुणतरं भवत्येतद्वस्त्रादिलब्ध्यादि तथैव कर्त्तव्यं, सर्वत्र सूत्रात् प्रवर्त्तितव्यमिति गाथार्थः ॥ ६१ ॥

उट्ठित्तु सपरिवारो आयरिअं तिप्पदक्खिणीकाउं। वंदइ पवेयणम्मी ओसरणे चेव य विभासा ॥१३६२॥

उत्थाय सपरिवारोऽभिनवगुरुः आचार्यं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मौलं वन्दते सम्यक्, प्रवेदने समवसरणे चैव विभाषा, येषां यथाऽऽचरितमिति गाथार्थः ॥ ६२ ॥

अह समयविहाणेणं पालेइ तओ गणं तु मज्झत्थो। णिप्फाएइ अ अण्णे णिअगुणसरिसे पयत्तेणं॥१३६३॥

निजावस्थासदृशं कुशलमेव भवता नित्यमपि कर्त्तव्यं, नान्यदिति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ गच्छानुशास्तिमाह—

तुब्भेहिंपि न एसो संसाराडविमहाकडिल्लंमि । सिद्धिपुरसत्थवाहो जत्तेण खणंपि मोत्तव्वो ॥ १३५४ ॥
ण य पडिकूलेअव्वं वयणं एअस्स नाणरासिस्स । एवं गिहवासचाओ जं सफलो होइ तुम्हाणं ॥१३५५॥
इहरा परमगुरूणं आणाभंगो निसेविओ होइ । विहला य होंति तम्मी निअमा इहलोअपरलोआ ॥१३५६॥
ता कुलवहुणाएणं कज्जे निब्भत्थिएहिवि कहिंचि । एअस्स पायमूलं आमरणंतं न मोत्तव्वं ॥१३५७॥
णाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते अ । धण्णा आवकहाए गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥ १३५८ ॥

युष्माभिरपि नैषः—गुरुः संसाराटवीमहाकडिल्ले—महागहने सिद्धिपुरसार्थवाहः, तत्रानपायनयनाद्, यत्नेन क्षणमपि मोक्तव्यो, नेति वर्त्तते इति गाथार्थः ॥५४॥ न च प्रतिकूलयितव्यमश(मास)क्त्या वचनमेतस्य ज्ञानराशेः गुरोः, एवं गृहवासत्यागः प्रव्रज्यया यत् सफलो भवति युष्माकम्, आज्ञाराधनेनेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ 'इतरथा' तद्वचनप्रतिकूलनेन 'परमगुरूणां' तीर्थकृतामाज्ञाभङ्गो निषेवितो भवति, निष्फलौ च भवतः 'तस्मिन्' आज्ञाभङ्गे सति नियमादिहलोकपरलोकाविति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ तत्कुलवधूज्ञातेन—उदाहरणेन कार्ये निर्भर्त्सितैरपि सद्भिः कथञ्चिदेतस्य—गुरोः पदोर्मूलं—समीपमामरणान्तं न मोक्तव्यं—सर्वकालमिति गाथार्थः ॥५७॥ गुणमाह—ज्ञानस्य भवति भागी, गुरुकुले वसन्, स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च, आज्ञाराधनदर्शनादिना, अतो धन्या यावत्कथं—सर्वकालं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्तीति गाथार्थः ॥ ५८ ॥

गुरुर्देवादीनां वासान् दत्त्वा 'ततः' तदनन्तरं पश्चादिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ किमित्याह—शिरसि प्रक्षिपन् वासान् भणति 'तं' साधुं–गुरुगुणैर्वर्द्धस्वेति, एवमेव त्रीन् वारान् एतद्, उपविशति 'ततः' तदनन्तरं गुरुः, पश्चादिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ 'शेषं' प्रादक्षिण्यादि यथा सामायिके तथैव द्रष्टव्यं, दिगाद्यनुज्ञानिमित्तं तु नवरमिह कायोत्सर्गो नियमत एव, उपविशति ततो गुरुसमीपे स साधुरिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ ददति च ततो वन्दनं शिष्यादयः सर्व एव, ततो गुरुरप्यनुशास्ति मौलः 'द्वयोरपि' गच्छगणधरयोः करोति तथा संवेगसारं यथाऽन्योऽपिच सत्त्वो बुध्यते कश्चिदिति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ गणधरानुशास्तिमाह—

उत्तममिअं पयं जिणवरेहिं लोगुत्तमेहिं पण्णत्तं। उत्तमफलसंजणयं उत्तमजणसेविअं लोए ॥१३४७॥
धण्णाण णिवेसिज्जइ धण्णा गच्छंति पारमेअस्स। गंतुं इमस्स पारं पारं वच्चंति दुक्खाणं ॥१३४८॥
संपाविऊण परमे णाणाई दुहिअतायणसमत्थे। भवभयभीआण दढं ताणं जो कुणइ सो धण्णो ॥१३४९॥

अण्णाणवाहिगहिआ जइवि न सम्मं इहाउरा हौंति।
तहवि पुण भावविज्जा तेसिं अवणिंति तं वाहिं ॥ १३५० ॥

ता तंऽसि भावविज्जो भवदुक्खनिवीडिया तुहं एए। हंदि सरणं पवण्णा मोएअव्वा पयत्तेणं ॥१३५१॥

दिंति अ तो वंदणयं सीसाइ तओ गुरुवि अणुसट्ठिं ।
दोण्हवि करेइ तह जह अण्णोऽवि अ बुज्झई कोई ॥ १३४६ ॥

अत्र प्रक्रमे अनुज्ञाविधिरयं–शिष्यं कृत्वा वामपार्श्वे आत्मनः देवान् वन्दते 'गुरुः' आचार्यः, शिष्यो वन्दित्वाऽत्रान्तरे ततो भणति, वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ 'इच्छाकारेण' स्वेच्छाक्रिययाऽस्माकं दिगाद्यनुजानीतेति भणति, अत्रान्तरे आचार्य इच्छाम इति भणित्वा तदनन्तरं कायोत्सर्गं करोति, तदनन्तरं, दिगाद्यनुज्ञार्थमिति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ चतुर्विंशतिस्तवपाठनमस्कारपारणं 'नमोऽरहंताणंती'त्येवम् 'आकृष्य' पठित्वा स्तवं पूर्वोक्तं ततो नमस्कारपूर्वकमेवाकर्षति-पठति अनुज्ञानन्दीमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ शिष्योऽपि भावितात्मा सन् शृणोत्युपयुक्तः, अथ वन्दित्वा पुनर्भणति शिष्यः–इच्छाकारेणास्माकं भगवन् ! दिगाद्यनुजानीतेति, तथैव भणतीति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ आह गुरुस्त्वत्रान्तरे क्षमाश्रमणानां हस्तेन, न स्वमनीषिकया, अस्य साधोः प्रस्तुतस्य अनुज्ञातं दिगादि प्रस्तुतं, शिष्यो वन्दित्वाऽत्रान्तरे ततो भणति, वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ४० ॥ सन्दिशत किं भणामि?, अत्र प्रस्तावे वन्दित्वा प्रवेदयैवं गुरुर्भणति, वन्दित्वा प्रवेदयति शिष्यो, भणति गुरुस्तत्र विधिना तु, वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ वन्दित्वा भणति ततः, किमित्याह—युष्माकं प्रवेदितं सन्दिशत साधूनां प्रवेदयामि, एवं भणति शिष्यः, अत्रान्तरे गुरुराह—प्रवेदय, 'ततस्तु' तदनन्तरमिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ किमित्याह—वन्दित्वा नमस्कारमाकर्षन् 'सः' शिष्यः गुरुं प्रदक्षिणीकरोति, सोऽपि च

तथा पात्रे न लघुत्वदोषा अपीति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ जातसमासविभाषा बहुतरदोषात् कारणादासां कर्त्तव्या, व्रतवतीनां सूत्रानुसारतः खल्वधिकादि– द्विगुणादिरूपा, कृतं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

एत्थाऽणुजाणणविही सीसं काऊण वामपासम्मि । देवे वंदेइ गुरू सीसो वंदित्तु तो भणइ ॥ १३३६ ॥
इच्छाकारेणऽम्हं दिसाइ अणुजाणहत्ति आयरिओ । इच्छामोत्ति भणित्ता उस्सग्गं कुणइ उ तयत्थं१३३७॥
चउवीसत्थय नवकार पारणं कड्डिउं थयं ताहे । नवकारपुव्वयं चिअ कड्डेइ अणुण्णणंदिन्ति ॥ १३३८ ॥
सीसोऽवि भाविअप्पा सुणेइ जह वंदिउं पुणो भणइ । इच्छाकारेणऽम्हं दिसाइ अणुजाणह तहेव ॥१३३९॥
आह गुरू खमासमणाणं हत्थेणिमस्स साहुस्स । अणुजाणिअं दिसाइ सीसो वंदित्तु तो भणइ ॥१३४०॥
संदिसह किं भणामो वंदित्तु पवेअहा गुरू भणइ । वंदित्तु पवेअयई भणइ गुरू तत्थ विहिणा उ ॥ १३४१ ॥
वंदित्तु तओ तुब्भं पवेइअं संदिसहत्ति साहूणं । पवेएमि भणइ सीसो गुरुराह पवेअय तओ उ ॥१३४२॥
वंदित्तु णमोक्कारं कड्ढंतो से गुरुं पयक्खिणइ । सोऽवि अ देवाईणं वासे दाऊण तो पच्छा ॥ १३४३ ॥
सीसम्मि पक्खिवंतो भणणइ तं गुरुगुणेहिं वड्ढाहि । एवं तु तिण्णि वारा उवविसइ तओ गुरू पच्छा१३४४॥
सेसं जह सामइए दिसाइअणुजाणणाणिमित्तं तु । णवरं इह उस्सग्गो उवविसइ तओ गुरुसमीवे॥१३४५॥

भवत्याभाव्यं नाम किञ्चिदिति गाथार्थः ॥ २० ॥ भवति समाप्ते कल्पे कृते सति आभाव्यम्, अन्योऽन्यसङ्गतानामपि विजातीयकुलाद्यपेक्षया गीतार्थयुक्तानामाभाव्यं 'यथासंगारं' यथासङ्केतं द्वयोरपि गीतार्थागीतार्थयोरपि गाथार्थः ॥ २१ ॥ साध्वीमधिकृत्य स्वलब्धियोग्यतामाह—

वइणीवि गुणगणेणं जा अहिआ होइ सेसवइणीणं॥दिक्खासुआइणा परिणया य जोगा सलद्धीए॥१३३२॥

व्रतवत्यपि गुणगणेन या अधिका भवति 'शेषव्रतवतीभ्यः' साध्वीभ्य इत्यर्थः, दीक्षाश्रुतादिना परिणता च योग्या स्वलब्धेः, एवंभूतेति गाथार्थः ॥ २२ ॥

केइ ण होइ सलद्धी वयणीणं गुरुपरिक्खियं तासिं। जं सव्वमेव पायं लहुसगदोसा य णिअमेणं॥ १३३३ ॥

तं च ण सिस्सिणिगाओ उचिए विसयम्मि होइ उवलद्धी।
कालायरणाहिं तह पत्तंमि ण लहुत्तदोसावि ॥ १३३४ ॥

जायसमत्तविभासा बहुतरदोसा इमाण कायव्वा। सुत्ताणुसारओ खलु अहिगाइ कयं पसंगेणं ॥ १३३५॥

केचनाभिदधति स्वलब्धिर्न भवति व्रतवतीनां, कुत इत्याह—गुरुपरीक्षितं तासां 'यत्' यस्मात् सर्वमेव प्रायो वस्त्रादि, तथाऽल्पत्वदोषाश्च नियमेन भवन्ति तासामिति गाथार्थः ॥ २३ ॥ तच्च न यत्केचनाभिदधति, कुत इत्याह—शिष्यादौ भिक्षादावुचिते विषये भवत्येव स्वलब्धिः, न तु न भवति, कालाचरणाभ्यां तथा भवति परिणते वयसि, आचरितमेतत्,

'पीठादिधरः' कल्पपीठनिर्युक्तिज्ञाता अनुवर्त्तकश्च सामान्येन योग्यः, स्वलब्धेरिति गाथार्थः ॥२६॥ अस्यैव विहारविधिमाह—

एसोऽवि समं गुरुणा पुढो व गुरुदत्तजोग्गपरिवारो। विहरइ तयभावम्मी विहिणा उ समत्तकप्पेणं॥१३२७॥

जाओ अ अजाओ अ दुविहो कप्पो उ होइ णायव्वो।
एक्किक्कोऽवि अ दुविहो समत्तकप्पो अ असमत्तो ॥ १३२८ ॥

गीअत्थ जायकप्पो अग्गीओ खलु भवे अजाओ उ। पणगं समत्तकप्पो तदूणगो होइ असमत्तो ॥ १३२९ ॥

उउवद्धे वासासु उ सत्त समत्तो तदूणगो इअरो। असमत्ताजायाणं ओहेण ण होइ आहव्वं ॥ १३३० ॥

हवइ समत्ते कप्पे कयम्मि अण्णोऽण्णसंगयाणंपि। गीअजुआणाभव्वं जहसंगारं दुवेण्हंपि ॥ १३३१ ॥

'एषोऽपि' स्वलब्धिमान् समं गुरुणा पृथग् वा गुरोः गुरुदत्तयोग्यपरिवारः सन् विहरति, तदभावेऽपि गुरुदत्तपरिवाराभावेऽपि विधिनैव समाप्तकल्पेन विहरतीति गाथार्थः ॥२७॥ समाप्तकल्पाभिधित्सयाऽऽह—जातश्चाजातश्च द्विविधः कल्पस्तु भवति ज्ञातव्यः, 'कल्पो' व्यवस्थाभेदः, एकैकोऽपि च द्विविधः—समाप्तकल्पोऽसमाप्तकल्पश्चेति गाथार्थः ॥ २८ ॥ 'गीतार्थो' गीतार्थयुक्तो जातकल्पः, व्यक्ततया निष्पत्तेः, अगीतार्थः खलु—अगीतार्थयुक्तो भवेदजातस्तु, अव्यक्तत्वेनाजातत्वात्, पञ्चकं साधूनां समाप्तकल्पः, तन्न्यूनः सन् भवत्यसमाप्तकल्प इति गाथार्थः ॥२९॥ को दोष इत्याह—ऋतुबद्धे एषा कल्पव्यवस्था, वर्षासु तु सप्त साधवः समाप्तः तन्न्यून इतरः—असमाप्तकल्पः, तत्फलमाह—असमाप्ताजातानां साधूनाम् ओघेन न

कालोचितगुणरहिता सती या च स्थापयति प्रवर्त्तिनीशब्दं तथा निविष्टमपि सन्तं नानुपालयति सम्यगेनमेव विशुद्ध-भावा सती स्वशक्त्या साऽपि महापापेति गाथार्थः ॥ २२ ॥ इहैव दोषमाह—

लोगम्मि अ उवघाओ जत्थ गुरू एरिसा तहिं सीसा। लट्ठयरा अण्णेसिं अणायरो होइ अ गुणेसु ॥१३२३॥
गुरुअरगुणमलणाए गुरुअरबंधोत्ति ते परिच्चत्ता। तदहिअनिओअणाए आणाकोवेण अप्पावि ॥ १३२४ ॥
तम्हा तित्थयराणं आराहिंतो जहोइअगुणेसु। दिज्ज गणं गीअत्थे णाऊण पवित्तिणिपयं वा ॥ १३२५॥

लोके चोपघातो भवत्येतत्स्थापने, यत्र गुरवः 'ईदृशा' अनाभोगवन्तः तत्र शिष्याः 'लष्टतराः' शोभनतरा इत्यतिशयवचनम्, एवं च क्रियमाणेऽन्येषां प्राणिनामनादरो भवति च गुणेषु गणधरादिसम्बन्धिषु, तदभावेऽपि तत्पदसिद्धेरिति गाथार्थः ॥ २३ ॥ स्वपरपरित्याग एवमित्येतदाह—गुरुतरगुणमलनया गणधरादिपदे सत्ययोग्यानां गुरुतरो बन्ध इत्येवं ते परित्यक्ता भवन्ति, अनर्थयोजनात्, एवं तदहितनियोजनया हेतुभूतया आज्ञाकोपेन च भगवतः आत्माऽपि परित्यक्त इति गाथार्थः ॥ २४ ॥ 'तत्' तस्मात्तीर्थकराज्ञामाराधयन् साधुः यथोदितगुणेषु साधुषु दद्याद् गणं गीतार्थो ज्ञात्वा गुणान्, प्रवर्त्तनीपदं वेति गाथार्थः ॥ २५ ॥ स्वलब्धियोग्यमाह—

दिक्खावएहिं पत्तो धिइमं पिंडेसणाइविण्णाआ। पेढाइधरो अणुवत्तओ अ जोगो सलद्धीए ॥ १३२६ ॥

'दीक्षावयोभ्यां प्राप्तः' चिरप्रव्रजितः परिणतश्च धृतिमान् संयमे पिण्डैषणादिविज्ञाता, आदिशब्दाद्वस्त्रैषणादिपरिग्रहः,

एअगुणविप्पमुक्के जो देइ गणं पवित्तिणिपयं वा। जोऽवि पडिच्छइ नवरं सो पावइ आणमाईणि॥ १३१८ ॥

एतद्गुणविप्रमुक्ते प्राणिनि यो ददाति 'गणं' साध्व्यादिगच्छं 'प्रवर्त्तनीपदं वा' महत्तरिकापदमित्यर्थः, योऽपि प्रतीच्छति नवरं यशःकामितया स प्राप्नोत्याज्ञादीन् दोषानिति गाथार्थः ॥ १८ ॥ तथा च—

वूढो गणहरसद्दो गोअमपमुहेहिं पुरिससीहेहिं । जो तं ठवेइ अपत्ते जाणंतो सो महापावो ॥ १३१९ ॥

व्यूढो गणधरशब्दो गौतमप्रमुखैः पुरुषसिंहैः महात्मभिः यस्तं स्थापयत्यपात्रे जानानः स महापापो—मूढ इति गाथार्थः॥१९॥

कालोचिअगुणरहिओ जो अ ठवावेइ तह निविट्ठंपि। णो अणुपालइ सम्मं विसुद्धभावो ससत्तीए॥१३२०॥

कालोचितगुणरहितः सन् यश्च स्थापयति गणधरशब्दं, तथा निविष्टमपि सन्तं नानुपालयति सम्यगेनमेव विशुद्धभावः सन् स्वशक्त्या, सोऽपि महापाप इति गाथार्थः ॥ २० ॥

एव पवत्तिणिसद्दो जो वूढो अज्जचंदणाईहिं । जो तं ठवइ अपत्ते जाणंतो सो महापावो ॥ १३२१ ॥

एवं प्रवर्त्तिनीशब्दः आर्यामधिकृत्य यो व्यूढः आर्याचन्दनाद्याभिः प्रवर्त्तिनीभिः यस्तं स्थापयत्यपात्रे जानानः सन् स महापापः—तद्विराधक इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

कालोचिअगुणरहिआ जा अ ठवावेइ तह णिविट्ठंपि। णो अणुपालइ सम्मं विसुद्धभावा ससत्तीए॥१३२२॥

'इय' एवमनुयोगानुज्ञा 'लेशेन' सङ्क्षेपेण निदर्शितेति, इतराऽनुज्ञा एतस्यैव क्रियते आचार्यस्य, कदाचिदन्यस्य क्रियते गुणयोगात् कारणादिति गाथार्थः ॥ १४ ॥ अस्या योग्यमाह—

सुत्तत्थे णिम्माओ पिअदढधम्मोऽणुवत्तणाकुसलो । जाईकुलसंपण्णो गंभीरो लद्धिमंतो अ ॥ १३१५॥
संगहुवग्गहनिरओ कयकरणो पवयणाणुरागी अ। एवंविहो उ भणिओ गणसामी जिणवरिंदेहिं॥१३१६॥

सूत्रार्थे 'निर्मातः' निष्ठितः 'प्रियदृढधर्म्मः' उभययुक्तः 'अनुवर्त्तनाकुशलः' उपायज्ञः 'जातिकुलसम्पन्नः' एतद्द्वयसमन्वितः 'गम्भीरो' महाशयो लब्धिमांश्च, उपकरणाद्यधिकृत्येति गाथार्थः ॥ १५ ॥ 'संग्रहोपग्रहनिरतः' सङ्ग्रहः उपदेशादिना उपग्रहो वस्त्रादिना, व्यत्ययः इत्यन्ये, 'कृतकरणः' अभ्यस्तक्रियः प्रवचनानुरागी च, प्रकृत्या परार्थप्रवृत्तः, एवंविध एव 'भणितः' प्रतिपादितो 'गणस्वामी' गच्छधरो जिनवरेन्द्रैर्भगवद्भिरिति गाथार्थः ॥ १६ ॥ तथा—

गीअत्था कयकरणा कुलजा परिणामिआ य गंभीरा ।
चिरदिक्खिआ य वुड्ढा अज्जावि पवित्तिणी भणिआ ॥ १३१७ ॥

'गीतार्था' श्रुतोचितागमा 'कृतकरणा' अभ्यस्तक्रिया कुलजा विशिष्टा 'पारिणामिकी च' उत्सर्गापवादविषयज्ञा 'गम्भीरा' महाशया 'चिरदीक्षिता च' दीर्घपर्याया वृद्धा वयोऽवस्थया 'आर्याऽपि' संयत्यपि प्रवर्त्तिनी भणिता जिनवरेन्द्रैरिति गाथार्थः ॥ १७ ॥

शुद्धस्य तपसो मोक्षाङ्गभूतस्य हन्दि विषयोऽपि, यथाशक्ति वा 'अतपस्वी' मोहपरतन्त्रो भावयति कथं भावनाजालं ?, तत्त्वतो नैवेति गाथार्थः ॥ ९ ॥ अत्र च–प्रक्रमे दानधर्म्मः द्रव्यस्तवरूप एव ग्राह्यः, अप्रधानत्वात्, शेषास्तु सुपरिशुद्धाः शीलधर्म्मादयो ज्ञेयाः भावस्तवस्वरूपाः, प्रधानत्वादिति गाथार्थः ॥ १० ॥ इहैवातिदेशमाह—

इअ आगमजुत्तीहि अ तं तं सुत्तमहिगिच्च धीरेहिं । दव्वत्थयादिरूवं विवेइयव्वं सबुद्धीए ॥ १३११ ॥

'इय' एवमागमयुक्तिभिस्तत्तत्सूत्रमधिकृत्य 'धीरैः' बुद्धिमद्भिः द्रव्यस्तवादिरूपं सम्यगालोच्य विवेक्तव्यं स्वबुध्येति गाथार्थः ॥ ११ ॥ उपसंहरन्नाह—

एसेह थयपरिण्णा समासओ वण्णिआ मए तुब्भं । वित्थरओ भावत्थो इमीएँ सुत्ताओं णायव्वो ॥१३१२॥

एषेह स्तवपरिज्ञा पद्धतिः समासतो वर्णिता मया युष्माकं, विस्तरतो भावार्थः 'अस्याः' स्तवपरिज्ञायाः सूत्रात् ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

एवंविहमण्णंपि हु सो वक्खाणेइ नवरमायरिओ । णाऊण सीससंपयमुज्जुत्तो पवयणहिअम्मि ॥१३१३॥

एवंविधमन्यदपि गम्भीरार्थं ज्ञानपरिज्ञादि स व्याख्यानयति नवरमाचार्यः स्थापितः सन्, ज्ञात्वा शिष्यसम्पदमौचित्येन उद्युक्तः प्रवचनहिते–माहात्म्ये इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

इअ अणुओगाणुण्णा लेसेण णिदंसिअत्ति इयरा उ । एअस्स चेव कज्जइ कयाइ अण्णस्स गुणजोगा॥१३१४

गाथार्थः ॥ ९ ॥ अनयोरेव तु गुरुलाघवविधिमाह—आरम्भत्यागेन हेतुना ज्ञानादिगुणेषु वर्द्धमानेषु सत्सु द्रव्यस्तवहानिरपि तत्कर्त्तुर्न भवति दोषाय 'परिशुद्धा' सानुबन्धेति गाथार्थः ॥ ६ ॥ इहैव तन्त्रयुक्तिमाह—

एत्तोच्चिय णिद्दिट्ठो धम्मम्मि चउव्विहम्मिवि कमोऽअं ।
इह दाणसीलतवभावणामए अण्णहाऽजोगा ॥ १३०७ ॥

संतं बज्झमणिच्चं थाणे दाणंपि जो ण विअरेइ । इय खुड्डगो कहं सो सीलं अइदुद्धरं धरइ? ॥ १३०८ ॥

अस्सीलो अ ण जायइ सुद्धस्स तवस्स हंदि विसओऽवि ।
जहसत्तीएऽतवस्सी भावइ कह भावणाजालं ? ॥ १३०९ ॥

इत्थं च दाणधम्मो दव्वत्थयरूवमो गहेअव्वो । सेसा उ सुपरिसुद्धा णेआ भावत्थयसरूवा ॥ १३१० ॥

'अत एव' द्रव्यस्तवादिभावात् निर्दिष्टो भगवद्भिः धर्म्मे चतुर्विधेऽपि क्रमोऽयं—वक्ष्यमाणः 'इह' प्रवचने दानशीलतपोभावनामये धर्म्मे, अन्यथाऽयोगादस्य धर्म्मस्येति गाथार्थः ॥ ७ ॥ एतदेवाह—'सद्' विद्यमानं 'बाह्यम्' आत्मनो भिन्नम् 'अनित्यम्' अशाश्वतं 'स्थाने' पात्रादौ 'दानमपि' पिण्डादि यो 'न वितरति' न ददाति क्षौद्र्यात्, 'इय' एवं क्षुद्रको-वराकः कथमसौ शीलं महापुरुषसेवितमतिदुर्द्धरं धारयति ?, नैवेति गाथार्थः ॥ ८ ॥ अशीलश्च न जायते नियमत एव

दव्वत्थयंपि काउं ण तरइ जो अप्पवीरिअत्तेणं । परिसुद्धं भावथयं काही सोऽसंभवो एस ॥ १३०३ ॥
जं सो उक्किट्ठयरं अविक्खई वीरिअं इहं णिअमा । णहि पलसयंपि वोढुं असमत्थो पव्वयं वहई ॥ १३०४ ॥
जो बज्झच्चाएणं णो इत्तिरिअंपि णिग्गहं कुणइ । इह अप्पणो सया से सव्वच्चाएण कह कुज्जा ? ॥१३०५॥
आरंभच्चाएणं णाणाइगुणेसु वड्ढमाणेसु । दव्वट्ठयहाणीवि हु न होइ दोसाय परिसुद्धा ॥ १३०६ ॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन द्रव्यस्तवादिविचारे, एवं यथोदि(चि)तावेव प्रधानगुणभावतो द्रव्यभावस्तवावित्यन्योऽन्यसमनुविद्धौ नियमेन भवतः ज्ञातव्यौ, अन्यथा स्वरूपाभाव इति गाथार्थः ॥ १ ॥ अनयोर्विधिमाह—अल्पवीर्यस्य प्राणिनः 'प्रथमो' द्रव्यस्तवः सहकारिविशेषभूतो वीर्यस्य श्रेयानिति, 'इतरस्य' बहुवीर्यस्य साधोर्बाह्यत्यागादिति—बाह्यद्रव्यस्तवत्यागेन इतर एव श्रेयान्—भावस्तव इत्येषः परमार्थोऽत्र द्रष्टव्य इति गाथार्थः ॥ २ ॥ विपर्यये दोषमाह—द्रव्यस्तवमपि कर्त्तुमौचित्येन न शक्नोति यः सत्त्वोऽल्पवीर्यत्वेन हेतुना परिशुद्धं भावस्तवं यथोक्तमित्यर्थः करिष्यति असावसम्भव एषः, दलाभावादिति गाथार्थः ॥ ३ ॥ एतदेवाह—यदसौ—भावस्तव उत्कृष्टतरमपेक्षते वीर्यं—शुभात्मपरिणामरूपमिह नियमात्, अतोऽल्पवीर्यः कथं करोत्येनमिति, नहि पलशतमपि वोढुमसमर्थः मन्दवीर्यः सत्त्वः पर्वतं वहति, पलशततुल्यो द्रव्यस्तवः पर्वततुल्यस्तु भावस्तव इति गाथार्थः ॥ ४ ॥ एतदेव स्पष्टयति—यो बाह्यत्यागेन, बाह्यं—वित्तं, नेत्वरमपि निग्रहं करोति वन्दनादौ इहात्मनः क्षुद्रः, सदाऽसौ—यावज्जीवं 'सर्वत्यागेन' बाह्याभ्यन्तरत्यागेन कथं कुर्यात् आत्मनो निग्रहमिति

भवन्ति, उपलसाधर्म्यात्कारणाद्, एवं वचनान्तरगुणाः—हिंसादोपादयो न भवन्ति सामान्यवचने, विशेषगुणायोगादिति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ तदेवं सन्न्यायो विशेपवचनतो न बुधेन 'अस्थानस्थापनया' वचनान्तरे नियोगेन सदा लघुः कर्त्तव्यः, कथमित्याह—चाशपंचाशन्न्यायेनासम्भविनोऽसम्भवेनेति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ तत्र युक्तिमाह—तथा वेद एव भणितं 'सामान्येन' उत्सर्गेण यथा 'न हिंस्याद्भूतानि,' फलोद्देशात् पुनश्च हिंस्यात् तत्रैव भणितम् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इतीति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ तत्तस्य प्रमाणत्वेऽपि–वेदस्यात्र नियमेन–चोदनायां भवति दोष इति फलसिद्धावपि सत्यां, कुत इत्याह–सामान्यदोपनिवारणाभावात्–औत्सर्गिकवाक्यार्थदोषप्राप्तेरेवेति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ इहैव निदर्शनमाह—यथा वैद्यके 'दाहम्' अग्निविकारमोघे–उत्सर्गत निषिध्य दुःखकरत्वेन पुनर्भणितं तत्रैव फलोद्देशेन गण्डादिक्षयनिमित्तं, व्याध्यपेक्षयेत्यर्थः, कुर्याद्विधिना 'तमेव' दाहमिति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ ततोऽपि वचनात् क्रियमाणेऽपि दाहे 'ओघनिषेधोद्भव' इत्यौत्सर्गिकनिषेधविपयः तत्र दोषो–दुःखकरत्वलक्षणो जायते, 'फलसिद्धावपि' गण्डक्षयादिरूपायां सत्याम्, एवमत्रापि–वेदे विज्ञेयं, चोदनातोऽपि प्रवृत्तस्य फलभावेऽप्युत्सर्गनिषेधविपयः दोष इति गाथार्थः ॥ १३०० ॥

कयमित्थ पसंगेणं जहोचिआवेव दव्वभावथया । अण्णोऽण्णसमणुविद्धा निअमेणं होंति नायव्वा ॥१३०१॥

अप्पविरिअस्स पढमो सहकारिविसेसभूअमो सेओ ।
इअरस्स वज्झचाया इअरोच्चिअ एस परमत्थो ॥ १३०२ ॥

न्तराभावात्, तदर्थप्रतिपत्तिस्तु क्षयोपशमादेरविरुद्धा, तथा दर्शनाद्, एतत् सूक्ष्मधिया भावनीयमिति गाथार्थः ॥ ९३ ॥

वेयवयणम्मि सव्वं णाएणासंभवंतरूवं जं । ता इअरवयणसिद्धं वत्थू कह सिज्झई तत्तो ॥ १२९४ ॥

ण हि रयणगुणाऽरयणे कदाचिदवि हौंति उवलसाधम्मा ।
एवं वयणंतरगुणा ण हौंति सामण्णवयणम्मि ॥ १२९५ ॥

ता एवं सण्णाओ ण बुहेणऽट्ठाणठावणाए उ । सइ लहुओ कायव्वो चासप्पंचासणाएणं ॥ १२९६ ॥

तह वेए च्चिअ भणिअं सामण्णेणं जहा ण हिंसिज्जा । भूआणि फलुद्देसा पुणो अ हिंसिज्ज तत्थेव ॥१२९७॥

ता तस्स पमाणत्तेऽवि एत्थ णिअमेण होइ दोसोत्ति ।
फलसिद्धीएवि सामण्णदोसविणिवारणाभावा ॥ १२९८ ॥

जह विज्जगम्मि दाहं ओहेण निसेहिउं पुणो भणिअं । गंडाइखयनिमित्तं करिज्ज विहिणा तयं चेव॥१२९९॥

तत्तोऽवि कीरमाणे ओहणिसेहुब्भवो तहिं दोसो । जायइ फलसिद्धीअवि एअं इत्थंपि विण्णेअं ॥ १३०० ॥

वेदवचने 'सर्वम्' आगमादि न्यायेनासम्भवद्रूपं 'यद्' यस्मादितरवचनसिद्धं—सद्रूपवचनसिद्धं वस्तु—हिंसादोषादि कथं सिद्ध्यति ? ततो—वेदवचनादिति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ न हि रत्नगुणाः—शिरःशूलशमनादयः 'अरत्ने' घर्घरघट्टादौ कदाचिदपि

द्वस्तुनि जात इति कथयति, एवं सति यदसौ वैदिकस्तत्त्वं स व्यामोहः, स्वतोऽप्यज्ञत्वादिति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ 'ततश्च' वैदिकादाचार्यात् आगमो—यो व्याख्यारूपः विनेयसत्त्वानां संबन्धी सोऽप्येवमेव—व्यामोह एव, 'तस्य' आगमार्थस्य प्रयोगोऽप्येवं—व्यामोह एव, अनिवारणं च नियमेन व्यामोह एवेति गाथार्थः॥ ९० ॥ नैवं परम्परया मानं अत्र व्यतिकरे गुरुसम्प्रदायोऽपि, निदर्शनमाह—रूपविशेषस्थापने सितेतरादौ यथा जात्यन्धानां सर्वेषामनादिमतामिति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ पराभिप्रायमाह—

भवओऽवि अ सवण्णू सव्वो आगमपुरस्सरो जेणं। ता सो अपोरुसेओ इअरो वाऽणागमा जो उ ॥१२९२॥
नोभयमवि जमणाई बीअंकुरजीवकम्मजोगसमं। अहवऽत्थतो उ एवं ण वयणउ वत्तहीणं तं ॥ १२९३॥

भवतोऽपि च सर्वज्ञः सर्व आगमपुरस्सरः येन कारणेन, स्वर्गकेवलार्थिना तपोध्यानादिकं कर्त्तव्यमित्यागमः, अतः प्रवृत्तेरिति, तदसावपौरुषेय आगमः, अनादिमत्सर्वज्ञसाधनत्वात्, 'इतरो वा' सर्वज्ञो नागमादेव, कस्यचित्तमन्तरेणापि भावादिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ अत्रोत्तरम्—'न' नैतदेवमुभयमपि—आगमः सर्वज्ञश्च 'यद्' यस्मादनादि बीजाङ्कुरजीवकर्मयोगसमं, न ह्यत्रेदं पूर्वमिदं नेति व्यवस्था, ततश्च यथोक्तदोषाभावः, अथवा अर्थत एवैवं—बीजाङ्कुरादिन्यायः, सर्व एव कथंचिदागमार्थमासाद्य सर्वज्ञो ज्ञातः, तदर्थश्च तत्साधक इति 'न वचनतो' न वचनमेवाश्रित्य, मरुदेव्यादीनां प्रकारान्तरेणापि भावात्, इतश्च न वचनतोऽनादिः, यतो वक्त्रधीनं तत्, न ह्यनाद्यपि वक्तारमन्तरेण वचनप्रवृत्तिः, उपाया-

न य तं सहावओ च्चिय सत्थपगासणपरं पईओव्व। समयविभेआजोगा मिच्छत्तपगासजोगा य ॥१२८६॥
इंदीवरम्मि दीवो पगासई रत्तयं असंतंपि । चंदोऽवि पीअवत्थं धवलं न य निच्छओ तत्तो ॥१२८७॥

न च 'तद्' वेदवचनं स्वभावत एव स्वार्थप्रकाशनपरं प्रदीपवत्, कुत इत्याह—'समयविभेदायोगात्' सङ्केतभेदाभावादित्यर्थः, मिथ्यात्वप्रकाशयोगाच्च, क्वचिदेतदापत्तेरिति गाथार्थः ॥८६॥ एतदाह—इन्दीवरे दीपः प्रकाशयति रक्ततामसतीमपि, चन्द्रोऽपि पीतवस्त्रं धवलमिति प्रकाशयति, न निश्चयः ततो, वेदवचनव्यभिचारिण इति गाथार्थः ॥ ८७ ॥

एवं नो कहिआगमपओगगुरुसंपयायभावोऽवि । जुज्जइ सुहो इहं खलु णाएणं छिण्णमूलत्ता ॥१२८८॥

ण कयाइ इओ कस्सइ इह णिच्छयमो कहिंचि वत्थुम्मि ।
जाओत्ति कहइ एवं जं सो तत्तं स वामोहो ॥ १२८९ ॥

तत्तो अ आगमो जो विणेअसत्ताण सोऽवि एमेव। तस्स पओगो चेवं अणिवारणगं च णिअमेणं॥१२९०॥
णेवं परंपराए माणं एत्थ गुरुसंपयाओऽवि । रूवविसेसट्ठवणे जह जच्चंधाण सव्वेसिं ॥ १२९१ ॥

एवं न कथितागमप्रयोगगुरुसम्प्रदायभावोऽपि प्रवृत्त्यङ्गभूतो युज्यते शुभ इह खलु—वेदवचने न्यायेन, 'छिन्नमूलत्वात्' तथाविधवचनासम्भवादिति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ न कदाचिद् 'अतो' वेदवचनात् कस्यचिदिह निश्चय एव क्वचि-

ताणिह पोरसेआणि अपोरसेआणि वेयवयणाणि। सग्गुव्वसिअमुहाणं दिट्ठो तह अत्थभेओऽवि ॥१२८५॥

वेदवचनं तु न एवं—सम्भवत्स्वरूपं, अपौरुषेयमेव तन्मतं येन कारणेन, इदमत्यन्तविरुद्धं वर्त्तते, यदुत वचनं चापौरुषेयं चेति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ एतद्भावनायाह—'यद्' यस्मादुच्यत इति वचनम् अयमन्वर्थः, पुरुषाभावे तु नैवमेतत्, नोच्यत इत्यर्थः, तत् 'तस्यैव' वचनस्याभावो नियमेनापौरुषेयत्वे सत्यापद्यत इति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ तद्व्यापारविरहितं शून्यं न क्वचित् श्रूयते इह वचनं लोके, श्रवणेऽपि च सति नाशङ्काऽदृश्यकर्त्रुद्भवाऽपैति, प्रमाणाभावादिति गाथार्थः ॥ ८० ॥ अदृश्यकर्तृकं 'नो' नैवान्यत् श्रूयते कथं त्वाशङ्का ?, विपक्षादृष्टेरित्यर्थः, अत्राह—श्रूयते पिशाचवचनं, कदाचिल्लौकिकमेतद्, 'एतत्तु' वैदिकमपौरुषेयं न सदैव श्रूयत इति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ यथाऽभ्युपगमदूषणमाह—वर्णाद्यपौरुषेयं लौकिकवचनानामपीह सर्वेषां, वर्णसत्त्वादिवाचकत्वादेः पुरुषैरविकरणात्, वेदे को विशेषो येन तत्रैषोऽसद्ग्रहः—अपौरुषेयत्वासद्ग्रह इति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ न च निश्चयोऽपि 'ततो' वेदवाक्यात् युज्यते प्रायः क्वचिद्वस्तुनि सङ्ख्याद्, 'यद्' यस्मात् 'तस्य' वेदवचनस्यार्थप्रकाशनविषये 'इह' प्रक्रमेऽतीन्द्रिया शक्तिरिति गाथार्थः ॥८३॥ नो पुरुषमात्रगम्या एषा, तदतिशयोऽपि न बहुमतो युष्माकम्, अतीन्द्रियदर्शी, लौकिकवचनेभ्यः सकाशात् दृष्टं च कथञ्चिद्वैधर्म्यं वेदवचनानामिति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ तानीह पौरुषेयाणि—लौकिकानि अपौरुषेयाणि वेदवचनानीति वैधर्म्यं, स्वर्गोर्वशीप्रमुखानां शब्दानां दृष्टस्तथाऽर्थभेदोऽपि, अप्सरोव्यादिरूप इति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ एवं य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः स एव चैषामर्थ इति यत्किञ्चिदेतत् ॥

परिशुद्धमिति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ 'तत्' तस्मात् 'एतद्गताऽपि' पूजागताऽप्येवं हिंसा गुणकारिणी विज्ञेया, तथा भणित-न्यायत एव-अधिकनिवृत्त्यादेरेषा-हिंसाऽल्पेह यतनयेति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ तथा सम्भवद्रूपं सर्वं सर्वज्ञवचनत एतद्, यदुक्तं तत् निश्चित्यसर्वज्ञावगतकथितागमप्रयुक्तानिवारितगुरुसम्प्रदायेभ्यः सकाशादिति गाथार्थः ॥ ७७ ॥

वेअवयणं तु नेवं अपोरसेअं तु तं मयं जेणं । इअमच्चंतविरुद्धं वयणं च अपोरसेअं च ॥ १२७८ ॥
जं वुच्चइत्ति वयणं पुरिसाभावे अ नेअमेअंति । ता तस्सेवाभावो णिअमेण अपोरसेअत्ते ॥ १२७९ ॥
तव्वावारविउत्तं ण य कत्थइ सुव्वईह तं वयणं । सवणेऽवि अ णासंका अदिस्सकत्तुब्भवाऽवेइ ॥ १२८० ॥
अद्दिस्सकत्तिगं णो अण्णं सुव्वइ कहं णु आसंका ?। सुव्वइ पिसायवयणं कयाइ एअं तु ण सदेव ॥ १२८१ ॥
वण्णायपोरसेअं लोइअवयणाणवीह सव्वेसिं। वेअम्मि को विसेसो ? जेण तहिं एसऽसग्गाहो ॥ १२८२ ॥

ण य णिच्छओवि हु तओ जुज्जइ पायं कहिंचि सण्णाया ।
जं तस्सऽत्थपगासणाविसएह अइंदिया सत्ती ॥ १२८३ ॥
नो पुरिसमित्तगम्मा तदतिसओऽविहु ण बहुमओ तुम्हं ।
लोइअवयणेहिंतो दिट्ठं च कहिंचि वेहम्मं ॥ १२८४ ॥

उवगाराभावेऽवि हु चिंतामणिजलणचंदणाईणं। विहिसेवगस्स जायइ तेहिंतो सो पसिद्धमिणं॥१२७३॥
इअ कयकिच्चेहिंतो तब्भावे णत्थि कोइवि विरोहो।एत्तोच्चिअ ता(ते)पुज्जा का खलु आसायणा तीए?१२७४
अहिगणिवित्तीवि इहं भावेणाहिगरणा णिवित्तीओ। तद्दंसणसुहजोगा गुणंतरं तीएँ परिसुद्धं ॥ १२७५ ॥
ता एअगया चेवं हिंसा गुणकारिणित्ति विन्नेआ। तह भणिअणायओ च्चिय एसा अप्पेह जयणाए॥१२७६॥
तह संभवंतरूवं सव्वं सव्वण्णुवयणओ एअं। तं णिच्छिअकहिआगमपउत्तगुरुसंपयाएहिं ॥ १२७७ ॥

स्यात्—पूजयोपकारः—तुष्ट्यादिरूपः न भवति कश्चिदिह 'पूज्यानां' तीर्थकृतां, कृतकृत्यत्वादिति युक्तिः, तथा जायते आशातना चैवम्—अकृतकृत्यत्वापादनेनेति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ तदधिकनिवृत्त्या हेतुभूतया गुणान्तरं नास्त्यत्र नियमेन—पूजादौ, इय(इति)'एतद्गता' पूजादिगता हिंसा सदोषैव भवति ज्ञातव्या, कस्यचिदनुपकारादिति गाथार्थः ॥७२॥ अत्रोत्तरम्—उपकाराभावेऽपि विषयादेः चिन्तामणिज्वलनपूजनादिभ्यः सकाशात् विधिसेवकस्य पुंसः जायते तेभ्य एव 'स' उपकारः, प्रसिद्धमेतल्लोक इति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ एवं 'कृतकृत्येभ्यः' पूज्येभ्यः सकाशात् 'तद्भावे' उपकारभावे नास्ति कश्चिद्विरोध इति, अत एव कृतकृत्यत्वाद् गुणात् 'ते' भगवन्तः पूज्याः, एवं च का खल्वाशातना 'तया'पूजयेति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ अधिकनिवृत्तिरप्यत्र—पूजादौ भावेनाधिकरणान्निवृत्तेः कारणात्, तद्दर्शनशुभयोगात् गुणान्तरं 'तस्यां' पूजायां

जं बहुगुणं पयाणं तं णाऊणं तहेव देसेइ । ते रक्खंतस्स तओ जहोचिअं कह भवे दोसो ? ॥ १२६८॥

तत्थ पहाणो अंसो बहुदोसनिवारणेह जगगुरुणो। नागाइरक्खणे जह कड्ढणदोसेऽवि सुहजोगो॥१२६९॥

अत एव यतनागुणात् निर्दोषं शिल्पादिविधानमपि जिनेन्द्रस्य आद्यस्य लेशेन सदोषमपि सन् बहुदोषनिवारणं, निवारणत्वेनानुबन्ध इति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ एतदेवाह—वरबोधिलाभतः सकाशादसौ–जिनेन्द्रः सर्वोत्तमपुण्यसंयुक्तो भगवान् एकान्तपरहितरतः, तत्स्वाभाव्याद्, विशुद्धयोगो महासत्त्व इति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ यद्बहुगुणं 'प्रजानां' प्राणिनां तद् ज्ञात्वा तथैव देशयति भगवान्, तान् रक्षतस्ततो यथोचितमनुबन्धतः कथं भवेदेषः ?, नैवेति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ एतदेव स्पष्टयति—'तत्र' शिल्पादिविधाने प्रधानोंऽशः बहुदोषनिवारणा 'इह' जगति जगद्गुरोः, ततश्च नागादिरक्षणे यथा जीवितरक्षणेन आकर्षणादोषेऽपि कण्टकादेः शुभयोगो भवतीति गाथार्थः ॥ ६९ ॥

एव णिवित्तिपहाणा विण्णेआ तत्तओ अहिंसेअं। जयणावओ व(उ) विहिणा पूआइगयावि एमेव॥१२७०॥

एवं निवृत्तिप्रधाना अनुबन्धमधिकृत्य विज्ञेया तत्त्वतः अहिंसा इयं–जिनभवनादिहिंसा, यतनावतस्तु विधिना क्रियमाणा, पूजादिगताऽप्येवमेव–तत्त्वतोऽहिंसेति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ प्रसङ्गमाह—

सिअ पूआउवगारो ण होइ इह कोइ पूइणिज्जाणं। कयकिच्चत्तणओ तह जायइ आसायणा चेवं ॥१२७१॥

तअहिगनिवत्तीए गुणंतरं णत्थि एत्थ निअमेणं। इअ एअगया हिंसा सदोसमो होइ णायव्वा ॥ १२७२ ॥

जयणाए वट्टमाणो जीवो सम्मत्तणाणचरणाणं। सद्धाबोहासेवणभावेणाराहओ भणिओ ॥ १२६३ ॥
एसा य होइ नियमा तयहिगदोसविणिवारणी जेण। तेण णिवित्तिपहाणा विन्नेआ बुद्धिमंतेणं ॥ १२६४ ॥
सा इह परिणयजलदलविसुद्धरूवाओं होइ विण्णेआ। अत्थव्वओ महंतो सव्वो सो धम्महेउत्ति ॥१२६५॥

अल्पा च भवत्येपा—हिंसाऽत्र यतनया वर्त्तमानस्य—जिनभवनादौ, यतना च धर्म्मसारो—हृदयं विज्ञेया 'सर्वकार्येषु' ग्लानादिष्विति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ यतनेह धर्म्मजननी, ततः प्रसूतेः, यतना धर्म्मस्य पालनी चैव, प्रसूतरक्षणात्, तद्वृद्धिकारिणी यतना, इत्थं तद्वृद्धेः, एकान्तसुखावहा यतना, सर्वतोभद्रत्वादिति गाथार्थः ॥६२॥ यतनया वर्त्तमानो जीवः परमार्थेन सम्यक्त्वज्ञानचरणानां त्रयाणामपि श्रद्धाबोधासेवनभावेन हेतुना आराधको भणितः, तथा प्रवृत्तेरिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ एपा च भवति नियमात्—यतना तदधिकदोपविनिवारणी येन अनुबन्धेन तेन निवृत्तिप्रधाना तत्त्वतः विज्ञेया बुद्धिमता सत्त्वेनेति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ 'सा' यतना 'इह' जिनभवनादौ परिणतजलदलविशुद्धिरूपैव भवति विज्ञेया, प्रासुकग्रहणेन, अर्थव्ययो महान् यद्यपि तत्र तथापि सर्वोऽसौ धर्म्महेतुः, स्थाननियोगादिति गाथार्थः ॥ ६५ ॥
प्रसङ्गमाह—

एत्तो च्चिअ निद्दोसं सिप्पाइविहाणमो जिणिंदस्स। लेसेण सदोसंपि हु बहुदोसनिवारणत्तेणं ॥१२६६॥
वरबोहिलाभओ सो सव्वुत्तमपुण्णसंजुओ भयवं। एगंतपरहिअरओ विसुद्धजोगो महासत्तो ॥ १२६७॥

नाम भवेद्धर्म्मो, न भूतो न भविष्यती"ति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ अस्ति यतः श्रुतिः स्मृतिश्च न चैषा–श्रुतिः स्मृतिश्च 'अन्यार्था' अविधेर्दोषनिष्पन्नपापार्था शक्यते इह वक्तुं, कुत इत्याह–अविनिश्चयात्–प्रमाणाभावादित्यर्थः, न चैवमिह–जिनभवनादौ श्रूयते पापवचनं प्रवचन इति गाथार्थः ॥५६॥ परिणामे च सुखं न 'तेषां' जिनभवनादौ हिंस्यमानानामिष्यते तन्निमित्तं जैनैः, नच सुखमपि मन्दापथ्यकृतसमं, विपाकदारुणमिष्यते, यस्मादेवं 'तत्' तस्मात्तदुपन्यासमात्रमेव यदुक्तम्–'अह तेसिं परिणामे'त्यादिनेति गाथार्थः ॥५७॥ 'इअ' एवं दृष्टेष्टविरुद्धं यद्वचनं ईदृशात् प्रवृत्तस्य सतः म्लेच्छादिभावतुल्यः शुभभावो हन्दि विज्ञेयो, मोहादिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ 'एगिंदिआइ अह तं' इत्यादि यदुक्तं तत्परिहारार्थमाह–

एगिंदिआइभेओऽवित्थं णणु पावभेअहेउत्ति । इट्ठो तहावि समए तह सुद्ददिआइभेएणं ॥ १२५९ ॥
सुद्दाण सहस्सेणवि ण बंभवज्झेह घाइएणंति । जह तह अप्पबहुत्तं एत्थवि गुणदोसचिंताए ॥ १२६० ॥

एकेन्द्रियादिभेदोऽप्यत्र—व्यतिकरे ननु पापभेदहेतुरित्येवमिष्टः, तथापि स्वमते 'तथा' तेन प्रकारेण शूद्रद्विजातिभेदेनेति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ एतदेवाह—शूद्राणां सहस्रेणापि न ब्रह्महत्या इह घातितेनेति यथा भवतां तथाऽल्पबहुत्वमत्रापि गुणदोषचिन्तायां ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥ ६० ॥

अप्पा य होति एसा एत्थं जयणाएँ वट्टमाणस्स । जयणा य धम्मसारो विन्नेआ धम्म(सव)कज्जेसु ॥१२६१॥
जयणेह धम्मजणणी जयणा धम्मस्स पालणी चेव । तव्वुड्ढिकरी जयणा एगंतसुहावहा जयणा ॥ १२६२ ॥

अत्थि जओ ण य एसा अण्णत्था तीरई इहं भणिअं। अविणिच्छया ण एवं इह खुवइ पाववयणं तु॥१२५६॥
परिणामे अ सुहं णो तेसिं इच्छिजइ ण य सुहंपि । मंदापत्थकयसमं ता तमुवण्णासमित्तं तु ॥ १२५७ ॥
इअ दिट्ठेट्ठविरुद्धं जं वयणं एरिसा पवित्तस्स । मिच्छाइभावतुल्लो सुहभावो हंदि विण्णेओ ॥ १२५८ ॥

आरम्भवतश्चेयं–विहिता आरम्भान्तरनिवृत्तिदा प्रायः, विधिना कारणात्, एवमपि चानिदाना विहितपरस्य इष्टा चैपापि–पीडा मोक्षफला, नाभ्युदयायैवेति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ 'तत्' तस्मादस्यां–पीडायामधर्मो न, गुणभावेनेति, इह युक्तमपि वैद्यज्ञातमिदं प्रागुक्तं, हन्दि गुणान्तरभावाद्दर्शितं चैतद्, 'इतरथा' अविधिना गुणान्तराभावे वैद्यस्याप्यधर्म एव पीडायामिति गाथार्थः ॥५२॥ न च वेदगताऽप्येवं–जिनभवनादिगतहिंसावत् सम्यगापद्गुणान्विता एषा–हिंसा, तामन्तरेणापि जीवानां भावापदोऽभावात्, न च दृष्टगुणा, साधुनिवासादिवत्, तथाऽनुपलब्धेः, तद्युक्ततदन्तरनिवृत्तिदा–हिंसायुक्तक्रियान्तरनिवृत्तिदा नैव, न हि प्राक् तद्वधप्रवृत्ता याज्ञिका इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ न च फलोद्देशप्रवृत्तित 'इयं' हिंसा मोक्षसाधिकापीति, 'श्वेतं वायव्यामजमालभेत भूतिकाम' इत्यादिश्रुतेः, मोक्षफलं च 'सुवचनं' स्वागम इत्यर्थः, शेषगर्थादिवचनसमं, फलभावेऽप्यर्थशास्त्रादितुल्यमिति गाथार्थः ॥ ५४ ॥ इहैवागमविरोधमाह–अग्निर्मा एतस्माद्–हिंसाकृताद् 'एनसः' पापान्मुञ्चत्विति च्छान्दसत्वान्मोचयतु इति च श्रुतिरपि, विद्यते वेदवागित्यर्थः, 'तत्पापफला' तदुक्तहिंसापापफला, 'तमसी' त्यादि च स्मृतिरपि विद्यते–"अन्धे तमसि मज्जामः, पशुभिर्ये यजामहे"। "हिंसा

तब्बिंबस्स पइट्ठा साहुनिवासो अ देसणाईआ । एक्किक्कं भावावयणित्थरणगुणं तु भव्वाणं ॥ १२४९ ॥
पीडागरीवि एवं इत्थं पुढवाइहिंस जुत्ता उ । अण्णेसिं गुणसाहणजोगाओ दीसइ इहेव ॥ १२५० ॥

सदा सर्वत्र क्षेत्रेऽभावे जिनानां भावापदि जीवानां सत्यां 'तेषां' जीवानां निस्तरणगुणं नियमेन तावदिह-लोके 'तदायतनं' जिनायतनमिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ 'तद्बिम्बस्य' जिनबिम्बस्य प्रतिष्ठा तत्र, तथा साधुनिवासश्च विभागतो, देशनादयश्च, आदिशब्दाद् ध्यानादिपरिग्रहः, 'एकैकं' तद्बिम्बप्रतिष्ठादि अत्र भावापन्निस्तरणगुणमेव भव्यानां प्राणिनामिति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ पीडाकारिण्यप्येवमत्र—जिनभवने पृथिव्यादिहिंसा युक्तैव, अन्येषां प्राणिनां गुणसाधनयोगात्, दृश्यत एतच्च गुणसाधनमिहैवेति गाथार्थः ॥ ५० ॥

आरंभवओ य इमा आरंभंतरणिवत्तिआ पायं । एवंपि हु अणिआणा इट्ठा एसावि मोक्खफला ॥१२५१॥
ता एईए अहम्मो णो इह जुत्तंपि विज्जणायमिणं। हंदि गुणंतरभावा इहरा विज्जस्सवि अधम्मो ॥१२५२॥
ण य वेअगया एवं सम्मं आवयगुणण्णिआ एसा । ण य दिट्ठगुणा तज्जुयतयंतरणिवित्तिआ नेव ॥ १२५३ ॥
ण अ फलुद्देसपवित्तिउ इअं मोक्खसाहिगावित्ति । मोक्खफलं च सुवयणं सेसं अत्थाइवयणसमं ॥१२५४॥
अग्गी मा एआओ एणाओ मुंचउत्ति अ सुईवि । तप्पावफला अंधे तमंमि इच्चाइ अ सईवि ॥ १२५५ ॥

देवैतदुभयमित्यपि वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः, अन्यापि कल्पना ब्राह्मणपरिगृहीतत्वादिरूपा 'एवम्' उक्तवत् भिल्लपरिगृहीतत्वादिना प्रकारेण साधर्म्यवैधर्म्यतः कारणाद् दुष्टेति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ यस्मादेवम्—

तम्हा ण वयणमित्तं सव्वत्थऽविसेसओ बुहजणेणं । एत्थ पवित्तिनिमित्तंति एअ दट्ठव्वयं होइ ॥ १२४५ ॥

किं पुण विसिट्ठगं चिअ जं दिट्ठिट्ठाहि णो खलु विरुद्धं ।
तह संभवंस(त)रूवं विआरिउं सुद्धबुद्धीए ॥ १२४६ ॥

जह इह दव्वथयाओ भावावयकप्पगुणजुआ सेओ । पीडुवगारो जिणभवणकारणादित्ति न विरुद्धं॥१२४७॥

तस्मात् न वचनमेव (मात्र)मुपपत्तिशून्यं सर्वत्राविशेषतः कारणाद् बुधजनेन—विद्वज्जनेन 'अत्र' लोके प्रवृत्तिनिमित्तमिति हितादौ एवं (एतत्) द्रष्टव्यं भवति, नेति वर्त्तते इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ किं पुनः ?, विशिष्टमेव वचनं प्रवृत्तिनिमित्तमिति द्रष्टव्यं, किम्भूतमित्याह—यत् दृष्टेष्टाभ्यां न खलु विरुद्धं, तृतीयस्थानसङ्क्रान्तमित्यर्थः, तथा सम्भवद्रूपं यत्, न पुनरत्यन्तासम्भवीति विचार्य शुद्धबुद्ध्या—मध्यस्थयेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ यथा इह प्रवचने द्रव्यस्तवात्, किम्भूतादित्याह—भावापत्कल्पगुणयुक्तात्, नान्यथारूपात्, 'श्रेयो' ज्यायान् पीडयोपकारो बहुगुणभावाद् जिनभवनकारणादेः द्रव्यस्तवादिति न विरुद्धमेतदिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

सइ सव्वत्थाभावे जिणाण भावावयाएँ जीवाणं । तेसिं णित्थरणगुणं णिअमेणिह ता तदायतणं ॥१२४८॥

न च वहूनामप्यत्र–लोकेऽविगानम्–एकवाक्यतारूपं शोभनमिति नियमोऽयं, न च न स्तोकानामपि न शोभनमेव, कुत इत्याह–'मूढेतरभावयोगेन' वहूनामपि मूढव्यापारभावात् स्तोकानामपि चाभावादिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ न च रागादिविरहितः सर्वज्ञः कश्चित् प्रमाता विशेषकारीति य एवं वेद वैदिकमेव प्रमाणं नेतरदिति, कुत इत्याह–यत्सर्व एव पुरुषाः सामान्येन रागादियुक्ता एव, परपक्षे सर्वज्ञानभ्युपगमादिति गाथार्थः ॥३९॥ दोषान्तरमाह—'एवं च' प्रमाणविशेषापरिज्ञाने सति वचनमात्रात् सकाशात् धर्म्मादोषौ ते प्राप्नुतः म्लेच्छानामपि–भिल्लादीनां, क्वेत्याह—घातयतां 'द्विजवरं' ब्राह्मणमुख्यं पुरतो ननु 'चण्डिकादीनां' देवताविशेषाणामिति गाथार्थः ॥४०॥ न च 'तेषामपि' म्लेच्छानां न वचनम् अत्र निमित्तमिति—द्विजघाते, किन्तु वचनमेव, कुत इत्याह—यन्न सर्व एव म्लेच्छाः 'तं' द्विजवरं तथा घातयन्ति तदा, 'अश्रुततच्चोदनावाक्याद्' द्विजघातचोदनावाक्यात् इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ अथ 'तत्' म्लेच्छप्रवर्त्तकं वचनं नात्र रूढं लोक इत्याशङ्क्याह—एतदपि वैदिकं न 'तत्र' भिल्ललोके रूढमिति तुल्यमेव 'इदम्' अन्यतरारूढत्वम्, अथ तत् म्लेच्छप्रवर्त्तकं स्तोकमनुचितम्–असंस्कृतमित्याशङ्क्याह—'इदमपि' वैदिकं चोदनारूपमीदृशमेव–स्तोकादिधर्म्मकं, तेषां म्लेच्छानामाशयभेदादिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ अथ तद्वेदाङ्गं खलु द्विजप्रवर्त्तकमित्याशङ्क्याह–न तदपि म्लेच्छप्रवर्त्तकमेवमेव वेदे इत्यत्रापि न मानं, अथ 'तत्र' वेदेऽश्रवणमिदं–मानं, न हि तद्वेदे श्रूयत इत्याशङ्क्याह–स्यादेतद्–उत्सन्नशाखमेवैतदपि सम्भाव्यत इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ न च 'तद्वचनाद्' वेदवचनादेव 'तदुभयभावो' धर्म्मादोषभाव इति, कुत इत्याह–तुल्यभणितेः, म्लेच्छवचना-

हिंसां कुर्वत इत्येतदाशङ्क्याह—तुल्यमेतदपि, कथमित्याह—'इतरस्यापि च' वेदविहितहिंसाकर्त्तुः शुभ एव ज्ञेयो भावः, 'इतरां' वेदविहितां हिंसां कुर्वतो यागविधानेनेति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ एकेन्द्रियादयोऽथ ते जिनभवनादौ हिंस्यन्त इत्याशङ्क्याह—इतरे स्तोका इति वेदात् यागे हिंस्यन्ते, तत्किमेतेन—भेदाभिनिवेशेन ?, धर्म्मार्थं सर्वैव, सामान्येन वचनाद्, एषा—हिंसा न दुष्टेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ एवं पूर्वपक्षमाशङ्क्याह—एतदपि न युक्तिक्षमं यदुक्तं परेण, कुत इत्याह—न वचनमात्रादनुपपत्तिकाद् भवत्येवमेतत् सर्वमेव, कुत इत्याह—संसारमोचकानामपि वचनाद्धिंसाकारिणां 'धर्म्मादोषप्रसङ्गात्' धर्म्मप्रसङ्गात् अदोषप्रसङ्गाच्चेति गाथार्थः ॥३३॥ स्यात् 'तत्' संसारमोचकवचनं न सम्यग्वचनमित्याशङ्क्याह—'इतरत्' वैदिकं सम्यग् वचनमिति किं मानं ?, अथ लोक एव मानमित्याशङ्क्याह—नैतत्तथा, लोकस्य प्रमाणतया अपाठात्, प्रमाणमध्ये षट्सङ्ख्याविरोधात्, तथा विगानाच्च, नहि वेदवचनं प्रमाणमित्येकवाक्यता लोकस्येति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ अथ पाठोऽभिमत एव लोकस्य प्रमाणमध्ये, षण्णामुपलक्षणत्वात्, विगानमप्यत्र—वेदवचनाप्रामाण्ये स्तोकानांमेव लोकानामित्येतदाशङ्क्याह—अत्रापि—एवं कल्पनायां न प्रमाणं, सर्वेषां लोकानामदर्शनाद्, अल्पबहुत्वे निश्चयाभावादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ किं तेषां सर्वेषां लोकानां दर्शनेन ?, अल्पबहुत्वं यथाऽत्र—मध्यदेशादौ वेदवचनप्रामाण्यं प्रति तथैव सर्वत्र क्षेत्रान्तरेष्वपि समवसेयं, लोकत्वादिहेतुभ्य इत्याशङ्क्याह—नैवं, व्यभिचारभावात् कारणादिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ एतदेवाह—अग्राहारे बहवो दृश्यन्ते 'द्विजाः' ब्राह्मणास्तथा न शूद्रा इति ब्राह्मणवद्बहवो दृश्यन्ते, न च 'तद्दर्शनादेव' अग्राहारे बहुद्विजदर्शनादेव 'सर्वत्र' भिल्लपल्ल्यादावप्येतद्भवति एवं—द्विजबहुत्वमिति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ उपपत्त्यन्तरमाह—

ण य तेसिंपि ण वयणं एत्थ निमित्तंति जं ण सव्वे उ। तं तह घायंति सया अस्सुअतच्चोअणा वक्का ॥१२४१॥
अह तं ण एत्थ रूढं एअंपि ण तत्थ तुल्लमेवेयं। अह तं थेवमणुचिअं इमंमि एआरिसं तेसिं ॥ १२४२ ॥
अह तं वेअंगं खलु न तंपि एमेव इत्थवि ण माणं। अह तत्थासवणमिणं सिएअमुच्छणसाहं तु ॥१२४३॥

ण य तव्वयणाओ च्चिअ तदुभयभावोत्ति तुल्लभणिईओ।
अण्णावि कप्पणेवं साहम्मविहम्मओ दुट्ठा ॥ १२४४ ॥

आह—एवं द्रव्यस्तवविधाने हिंसापि धर्म्माय क्रियमाणा न दोषकारिणीति स्थितं न्यायतः, तामन्तरेण द्रव्यस्तवाभावात्, ततः किमित्याह—एवं च स्थिते सति वेदविहिता यागविधाने नेष्यते सेह—हिंसेति व्यामोहो भवतां, साधारणत्वादिति गाथार्थः ॥ २८ ॥ पीडाकारिणीत्यथ सा वेदविहिता हिंसा, एतदाशङ्क्याह—तुल्यमिदं हन्त्यधिकृतायामपि–जिनभवनादिहिंसायाम्, उपपत्त्यन्तरमाह—न च पीडातोऽधर्मो 'नियमाद्' एकान्तेनैव, वैद्येन व्यभिचारात्, तस्मात् पीडाकरणेऽपि तदभावादिति गाथार्थः ॥ २९ ॥ अथ 'तेषां' जिनभवनादौ हिंस्यमानानां परिणामे सुखमेवेत्यदोषः, एतदाशङ्क्याह—'तेषामपि' यागे हिंस्यमानानां श्रूयते एतत्, स्वर्गपाठात्, उपपत्त्यन्तरमाह—'तज्जननेऽपि' सुखजननेऽपि न धर्म्मो भणितः पारदारिकादीनां, तस्मादेतदपि व्यभिचारीति गाथार्थः ॥ ३० ॥ स्यात् 'तत्र' जिनभवनादौ शुभो भावः तां

एगिंदिआइ अह ते इअरे थोवत्ति ता किमेएणं ? । धम्मत्थं सव्वच्चिअ वयणा एसा ण दुट्ठत्ति ॥ १२३२ ॥
एअंपि न जुत्तिखमं ण वयणमित्ताउ होइ एवमिअं । संसारमोअगाणऽवि धम्मादोसप्पसंगाओ ॥१२३३॥

सिअ तं न सम्म वयणं इअरं सम्मवयणंति किं माणं ? ।
अह लोगो च्चिअ नेअं तहा अपाढा विगाणा य ॥ १२३४ ॥

अह पाढोऽभिमउच्चिअ विगाणमवि एत्थ थोवगाणं तु । इत्थंपि णप्पमाणं सव्वेसि च्चिदंसणाओ उ॥१२३५॥
किं तेसि दंसणेणं अप्पबहुत्तं जहित्थ तह चेव । सव्वत्थ समवसेअं णेवं वभिचारभावाओ ॥ १२३६ ॥
अग्गाहारे बहुगा दीसंति दिआ तहा ण सुद्दत्ति । ण य तद्दंसणओ च्चिअ सव्वत्थ इमं हवइ एवं ॥१२३७॥
ण य बहुगाणवि एत्थं अविगाणं सोहणंति निअमोऽअं । ण य णो थेवाणं हु मूढेअरभावजोएण ॥ १२३८ ॥

ण य रागाइविरहिओ कोऽवि पमाया विसेसकारित्ति ।
जं सव्वेऽविअ पुरिसा रागाइजुआ उ परपक्खे ॥ १२३९ ॥

एअं च वयणमित्ता धम्मादोसा ति मिच्छगाणंपि । घाएँताण दिअवरं पुरओ णणु चंडिकाईणं ॥१२४०॥

सुव्वइ अ वयररिसिणा कारवणंपिहु अणुट्ठियमिमस्स। वायगगंथेसु तहा एअगया देसणा चेव ॥ १२२७ ॥

ननु 'तत्रैव च' स्तवाधिकारे मुनेः पुष्पादिनिवारणं स्फुटमस्ति, 'तो कसिणसंजमे'त्यादिवचनाद्, एतदाशङ्क्याह— अस्ति तत् सत्यं, किन्तु स्वयं करणं प्रतीत्य निवारणं, नानुमोदनाद्यपि प्रतीत्येति गाथार्थः ॥ २६ ॥ एतदेव समर्थयति— श्रूयते च वज्रर्षिणा पूर्वधरेण कारणमपि, तत्त्वतः करणमपि, अनुष्ठितमेतस्य—द्रव्यस्तवस्य 'माहेसरीउ पुरिअ' मित्यादिवचनाद्, वाचकग्रन्थेषु तथा धर्म्मरत्नमालादिषु 'एतद्गता' जिनभवनादिद्रव्यस्तवगता देशना चैव श्रूयते, 'जिनभवन'-मित्यादिवचनादिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

आहेवं हिंसावि हु धम्माय ण दोसयारिणित्ति ठिअं। एवं च वेअविहिआ णिच्छिज्जइ सेहवामोहो॥१२२८॥

पीडागरत्ति अह सा तुल्लमिणं हंदि अहिगयातेऽवि।
ण य पीडाओं अधम्मो णिअमा विज्जेण वभिचारो ॥ १२२९ ॥

अह तेसिं परिणामे सुहं तु तेसिंपि सुव्वई एवं। तज्जणणेऽवि ण धम्मो भणिओ परदारगाईणं ॥ १२३० ॥

सिअ तत्थ सुहो भावो तं कुणमाणस्स तुल्लमेअंपि।
इअरस्सवि अ सुहो च्चिअ णेओ इअरं कुणंतस्स ॥ १२३१ ॥

उपपन्नं भवति, न्याय्यमित्यर्थः, यतेरपीति गाथार्थः ॥ २० ॥ इतरथा त्वनर्थकं तदुच्चारणं, न च तदनुच्चारणेन सा वन्दना भणिता यतेः, 'तत्' तस्माद् 'अभिसन्धारणेन' विशिष्टेच्छारूपेण सम्पादनमिष्टमेतस्य–द्रव्यस्तवस्येति गाथार्थः ॥ २१ ॥ साक्षात् स्वरूपेणैव कृत्स्नसंयमद्रव्याभावाभ्यां कारणाभ्यां नायमिष्टो, द्रव्यस्तव इति गम्यते, 'तन्त्रस्थित्या' पूर्वापरनिरूपणेन, गर्भार्थमाह—भावप्रधाना हि मुनय इतिकृत्वोपसर्ज्जनमयमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥

एएहिंतो अण्णे धम्माहिगारीह जे उ तेसिं तु। सक्खं चिअ विण्णेओ भावंगतया जओ भणिओ ॥१२२३॥

अकसिणपवत्तयाणं विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो। संसारपयणुकरणो दव्वथए कूवदिट्ठंतो ॥ १२२४ ॥

'एतेभ्यो' मुनिभ्योऽन्ये धर्म्माधिकारिण इह ये श्रावकास्तेषां तु साक्षादेव विज्ञेयः स्वरूपेणैव भावाङ्गतया हेतुभूतया, यतो भणितं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ २३ ॥ अकृत्स्नप्रवर्त्तकानां संयममधिकृत्य, विरताविरतानां प्राणिनामेष खलु युक्तः, स्वरूपेणैव, संसारप्रतनुकरणः शुभानुबन्धात् द्रव्यस्तवः, तस्मिन् कूपदृष्टान्तोऽत्र प्रसिद्धकथानकगम्य इति गाथार्थः २४

सो खलु पुप्फाईओ तत्थुत्तो ण जिणभवणमाईऽवि। आईसद्दा वुत्तो तयभावे कस्स पुप्फाई? ॥ १२२५॥

स खलु–द्रव्यस्तवः पुष्पादिः तत्रोक्तः, 'पुप्फादीयं ण इच्छंति' प्रतिषेधप्रत्यासत्तेः, न जिनभवनादिरपि, अनधिकारादित्याशङ्क्याह—आदिशब्दादुक्तो जिनभवनादिरपि, 'तदभावे' जिनभवनाद्यभावे कस्य पुष्पादिरिति गाथार्थः ॥ २५ ॥

णणु तत्थेव य मुणिणो पुप्फाइनिवारणं फुडं अत्थि। अत्थि तयं सयकरणं पडुच्च णऽणुमोअणाईवि ॥१२२६॥

तेन भगवता, यथा 'तेषामेव' भरतादीनां कामाः शल्यविषादिभिर्वचनैर्निवारिताः, 'सल्लं कामा विसं कामा' इति गाथार्थः ॥ १७ ॥ तत्तदप्यनुमतमेव—जिनभवनकारणादि, अप्रतिषेधात् कारणात्, तन्त्रयुक्त्या 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमत'मिति तन्त्रयुक्तिरित्यनया, 'इय' भगवदनुज्ञानात् शेषाणामप्यत्र साधूनामनुमोदनाद्यविरुद्धम्, आदिशब्दात् कारणादिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ १८ ॥ युक्त्यन्तरमाह—

जं च चउद्धा भणिओ विणओ उवयारिओ उ जो तत्थ ।
सो तित्थयरे निअमा ण होइ दव्वत्थया अन्नो ॥ १२१९ ॥

एअस्स उ संपाडणहेउं तह हंदि वंदणाएवि । पूअणमाउच्चारणमुववण्णं होइ जइणोऽवि ॥ १२२० ॥
इहरा अणत्थगं तं ण य तयणुच्चारणेण सा भणिआ । ता अभिसंधारणमो संपाडणमिट्ठमेअस्स ॥ १२२१ ॥
सक्खा उ कसिणसंजमदव्वाभावेहिं णो अयं इट्ठो । गम्मइ तंतठिईए भावपहाणा हि मुणउ त्ति ॥१२२२ ॥

यश्चतुर्द्धा भणितो विनयः, ज्ञानदर्शनचारित्रौपचारिकभेदात्, औपचारिकस्तु विनयः यस्तत्र—विनयमध्ये स तीर्थकरे 'नियमाद्' अवश्यन्तया न भवति द्रव्यस्तवादन्यः, अपि तु द्रव्यस्तव एवेति गाथार्थः ॥ १९ ॥ 'एतस्यैव' द्रव्यस्तवस्य 'सम्पादनहेतोः' सम्पादनार्थं तथा हन्दीत्युपप्रदर्शनं वन्दनायामपि सूत्ररूपायां पूजनाद्युच्चारणं 'पूयणवत्तियाए' इत्यादि

द्रव्यस्तवभावस्तवरूपमेतद्–अनन्तरोक्तमिह भवति द्रष्टव्यं, किम्भूतमित्याह—अन्योऽन्यसमनुविद्धं, न केवलं, निश्चयतो भणितविषयमेवेति गाथार्थः ॥ ९ ॥ यतेरपि द्रव्यस्तवभेदो, लेशः, अनुमोदनेनास्त्येव द्रव्यस्तवस्य, एतच्चात्र ज्ञेयमनुमोदनमेवं शु(सि)द्धं तन्त्रयुक्त्या वक्ष्यमाणयेति गाथार्थः ॥१०॥ 'तन्त्रे' सिद्धान्ते वन्दनायां, पूजनसत्कारहेतुः–एतदर्थमित्यर्थः, कायोत्सर्गो यतेरपि निर्दिष्टः, 'पूयणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए'त्ति वचनात्, तौ पुनः पूजनसत्कारौ द्रव्यस्तवस्वरूपौ, नान्यरूपाविति गाथार्थः ॥ ११ ॥ एतदेवाह— माल्यादिभिः पूजा, तथा सत्कारः प्रवरवस्त्रालङ्कारादिभिः, अन्ये विपर्ययः इह-प्रवचने, वस्त्रादिभिः (पूजा माल्यादिभिः) सत्कार इति व्याचक्षते, सर्वथा द्विधापि, यथाऽस्तु तथाऽस्तु, द्रव्यस्तवोऽत्राभिधेय इति गाथार्थः ॥१२॥ तन्त्र एव युक्त्यन्तरमाह–समवसरणे वल्यादि द्रव्यस्तवाङ्गं, न चेह यद् 'भगवताऽपि' तीर्थकरेण प्रतिषिद्धं, तदेषोऽत्र द्रव्यस्तवोऽनुज्ञातः उचितेभ्यः प्राणिभ्यो गम्यते तेन भगवतेति गाथार्थः ॥१३॥ न च भगवाननुजानाति 'योगं' व्यापारं मोक्षविगुणं कदाचिदपि, मोहाभावात्, नच तदनुगुणोऽप्यसौ योगः न बहुमतो भवत्यन्येषां, किन्तु बहुमत एवेति गाथार्थः ॥१४॥ य एव भावलेशो वल्यादौ क्रियमाणे स एव च भगवतस्तीर्थकरस्य बहुमत इत्याशङ्क्याह–नासौ–भावलेशो विनेतरेण–द्रव्यस्तवेनेत्यर्थतः सोऽपि–द्रव्यस्तव एवमेव–अनुमत इति गाथार्थः ॥ १५ ॥ एतदेवाह—कार्यमिच्छताऽनन्तरं–मोक्षफलकारि कारणमपीष्टमेव भवति, कथमित्याह—यथाऽऽहारजां तृप्तिमिच्छता इहलोके आहार इष्ट इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ भवनादावपि विधिमाह—जिनभवणकारणाद्यपि द्रव्यस्तवरूपं भरतादीनां श्रावकाणां न वारितं

ओसरणे बलिमाई ण वेह जं भगवयाऽवि पडिसिद्धं ।
ता एस अणुण्णाओ उचिआणं गम्मई तेण ॥ १२१३ ॥
ण य भयवं अणुजाणइ जोगं मोक्खविगुणं कयाइ (ई) वि [पणेअं] ।
तयणुगुणोऽवि अ जोगो ण बहुमओ होइ अण्णेसिं ॥ १२१४ ॥
जो चेव भावलेसो सो चेव य भगवओ बहुमओ उ ।
न तओ विणेअरेणंति अत्थओ सोऽवि एमेव ॥ १२१५ ॥
कज्जं इच्छंतेणं अणंतरं कारणंपि इट्ठं तु । जह आहारजतत्तिं इच्छंतेणेह आहारो ॥ १२१६ ॥
जिणभवणकारणादिऽवि भरहाईणं न वारिअं तेणं ।
जह तेसिं चिअ कामा सल्लविसाईहिं वयणेहिं ॥ १२१७ ॥
ता तंपि अणुमयं चिअ अप्पडिसेहाओं तंतजुत्तीए ।
इअ सेसाणवि एत्थं अणुमोअणमाइ अविरुद्धं ॥ १२१८ ॥

आराहगो अ जीवो सत्तट्ठभवेहिँ सिज्झई णिअमा । संपाविऊण परमं हंदि अहक्खायचारित्तं ॥ १२०८ ॥

अलमत्र प्रसङ्गेन–प्रमाणाभिधानादिना, एवं खलु भवति भावचरणम्–उक्तस्वरूपं, कुत इत्याह—प्रतिभोत्स्यन्ते अन्ये प्राणिन इति भावार्जितकर्म्मयोगेन जिनायतनविषयेणेति गाथार्थः ॥ ५ ॥ अप्रतिपतितशुभचिन्ताभावार्ज्जितकर्म्मपरिणतेस्तु सकाशाज्जिनायतनविषायायाः 'एतस्य' चरणस्य यात्यन्तं, ततः स आराधनां लभते शुद्धामिति गाथार्थः ॥ ६ ॥ एतदेवाह—निश्चयमताद् यदेषा–आराधना चरणप्रतिपत्तिसमयतः प्रभृति आमरणान्तमजस्रम्–अनवरतं संयमपरिपालनं विधिनेति गाथार्थः ॥ ७ ॥ आराधकश्च जीवः परमार्थतः सप्ताष्टभिर्भवैः–जन्मभिः सिद्ध्यति नियमात्, कथमित्याह—सम्प्राप्य 'परमं' प्रधानं हन्दि 'यथाख्यातचारित्रम्' अकषायमिति गाथार्थः ॥ ८ ॥

दव्वत्थयभावत्थयरूवं एअम्मि (एअमिह) होइ दट्ठव्वं ।
अण्णोण्णसमणुविद्धं णिच्छयओ भणियविसयं तु ॥ १२०९ ॥

जइणोऽवि हु दव्वत्थयभेओ अणुमोअणेण अत्थित्ति । एअं च इत्थ णेअं इय सिद्धं तंतजुत्तीए ॥ १२१० ॥
तंतम्मि वंदणाए पूअणसक्कारहेउमुस्सग्गो । जइणोऽवि हु निद्दिट्ठो ते पुण दव्वत्थयसरूवे ॥ १२११ ॥
मल्लाइएहिं पूआ सक्कारो पवरवत्थमाईहिं । अण्णे विवज्जओ इह दुहावि दव्वत्थओ एत्थ ॥ १२१२ ॥

तथापि न भवति तत् सुवर्णं, शेषैर्गुणैः–विषघातित्वादिभिरसद्भिरिति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ प्रस्तुतमधिकृत्याह—य इह शास्त्रे भणिता मूलगुणादयः साधुगुणास्तैर्भवत्यसौ साधुः वर्णेन सता जात्यसुवर्णवत् सति 'गुणनिधौ' विषघातित्वादिरूप इति गाथार्थः ॥ १२०० ॥ दार्ष्टान्तिकमधिकृत्याह–यः साधुर्गुणरहितः सन् भिक्षामटति न भवत्यसौ साधुः, एतावता वर्णेन सता केवलेन, युक्तिसुवर्णवद्, असति गुणनिधौ–विषघातित्वादिरूप इति गाथार्थः ॥ १ ॥ उद्दिश्य कृतं भुङ्क्ते, आकुट्टिकया, षट्कायप्रमर्द्दनो निरपेक्षतया, गृहं करोति देवव्याजेन, प्रत्यक्षं च जलगतान् प्राणिनो यः पिबत्याकुट्टिकया एव, कथं न्वसौ साधुर्भवति ?, नैवेति गाथार्थः ॥ २ ॥ अन्ये त्वाचार्याः इत्थमभिदधति–कषादयः प्रागुक्ताः किल एते–उद्दिष्टभोक्तृत्वादयः 'अत्र' साध्वधिकारे भवन्ति ज्ञातव्या यथाक्रमं, किमुक्तं भवतिः—ताभिः परीक्षाभिः भावसाराभिः साधुपरीक्षा 'इह' प्रक्रमे कर्त्तव्येति गाथार्थः ॥ ३ ॥ निगमयन्नाह–तस्माद् य इह शास्त्रे भणिताः साधुगुणाः—प्रतिदिनक्रियादयस्तैः करणभूतैर्भवत्यसौ भावसाधुः, नान्यथा, अत्यन्तसुपरिशुद्धैः, तैरपि न द्रव्यमात्ररूपैः, मोक्षसिद्धिरितिकृत्वा, भावमन्तरेण तदनुपपत्तेरिति गाथार्थः ॥ ४ ॥ प्रकृतयोजनामाह—

अलमित्थ पसंगेणं एवं खलु होइ भावचरणं तु । पडिबुज्झिस्संतऽण्णे भावज्जिअकम्मजोएणं ॥ १२०५ ॥

अपरिवडिअसुहचिंताभावज्जियकम्मपरिणईओ उ । एअस्स जाइ अंतं तओ स आराहणं लहइ ॥ १२०६ ॥

निच्छयणया जमेसा चरणपडिवत्तिसमयओ पभिई । आमरणंतमजस्सं संजमपरिपालणं विहिणा १२०७

वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ९० ॥ शास्त्रोक्तगुणी साधुः—एवम्भूत एव, न शेषाः—शास्त्रबाह्याः, 'नः' अस्माकं 'प्रतिज्ञा' पक्ष इत्यर्थः, इह न शेषा इत्यत्र 'हेतुः' साधकः अगुणत्वादिति ज्ञेयः, तद्गुणरहितत्वादित्यर्थः, दृष्टान्तः पुनः सुवर्णमिवात्र व्यतिरेकत इति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ सुवर्णगुणानाह—विषघाति सुवर्णं, तथा रसायनं—वयःस्तम्भनं, 'मङ्गलार्थं' मङ्गलप्रयोजनं, विनीतं कटकादियोग्यतया, प्रदक्षिणावर्त्तमग्नितप्तं प्रकृत्या, गुरु सारतया, अदाह्यं सारतयैव, अकुथनीयमत एव, एवमष्टौ सुवर्णे गुणाः भवन्त्यसाधारणा इति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ दार्ष्टान्तिकमधिकृत्याह—इति मोहविषं घातयति केषांचित् शिवोपदेशात्, तथा रसायनं भवति, अत एव, परिणतान्मुख्यं, गुणतश्च मङ्गलार्थं करोति, प्रकृत्या विनीतश्च योग्य इतिकृत्वा एष गाथार्थः ॥ ९३ ॥ मार्गानुसारित्वं सर्वत्र प्रदक्षिणावर्त्तता, गम्भीरश्चेतसा गुरुः, तथा भवति क्रोधाग्निनाऽदाह्यो, ज्ञेयोऽकुथनीयः सदोचितेन शीलभावेनेति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ एवं दृष्टान्तगुणा—विषघातित्वादयः साध्येऽप्यत्र—साधौ भवन्ति ज्ञातव्याः, न हि साधर्म्याभावे एकान्तेनैव प्रायो यद्—यस्माद्भवति दृष्टान्त इति गाथार्थः ॥ ९५ ॥

चतुष्कारणपरिशुद्धं चैतद्भवति, कषेण छेदेन तापेन ताडनया चेति, यदेवम्भूतं तद्विषघातिरसायनादिगुणसंयुक्तं भवति, नान्यत्, परीक्षेयमिति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ 'इतरस्मिन्' साधौ कषादयो यथासङ्ख्यमेते, यदुत—विशिष्टा लेश्या कषः, तथैकसारत्वं छेदः, अपकारिण्यनुकम्पा तापः, व्यसनेऽतिनिश्चलं चित्तं ताडना, एषा परीक्षेति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ तत्कृत्स्नगुणोपेतं सद् भवति सुवर्णं तात्त्विकं, न शेषकं 'युक्ति'रिति युक्तिसुवर्णं, नापि नामरूपमात्रेण बाह्येन एवमगुणः सन् भावापेक्षया भवति साधुरिति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ युक्तिसुवर्णकं पुनः—अतात्त्विकं सुवर्णवर्णमिव यद्यपि क्रियेत कथञ्चित्

इअरम्मि कसाईआ विसिट्ठलेसा तहेगसारत्तं ।
अवगारिणि अणुकंपा वसणे अइनिच्चलं चित्तं ॥ ११९७ ॥

तं कसिणगुणोवेअं होइ सुवण्णं न सेसयं जुत्ती। णवि णामरूवमित्तेण एवं अगुणो हवइ साहू ॥११९८॥

जुत्तीसुवण्णयं पुण सुवण्णवण्णं तु जइवि कीरित्ता (ज्जा)।
णहु होइ तं सुवण्णं सेसेहिँ गुणेहिऽसंतेहिं ॥ ११९९ ॥

जे इह सुत्ते भणिआ साहुगुणा तेहिं होइ सो साहू। वण्णेणं जच्चसुवण्णयं व संते गुणणिहिम्मि॥१२००॥

जो साहू गुणरहिओ भिक्खं हिंडइ ण होइ सो साहू। वण्णेणं जुत्तिसुवण्णयं वऽसंते गुणणिहिम्मि ॥१२०१॥

उद्दिट्ठकडं भुंजइ छक्कायपमद्दणो घरं कुणइ। पच्चक्खं च जलगए जो पिअइ कहण्णु सो साहू?॥ १२०२॥

अण्णे उ कसाईआ किर एए एत्थ होइ णायव्वा । एआहिँ परिक्खाहिं साहुपरिक्खेह कायव्वा ॥ १२०३ ॥

तम्हा जे इह सत्थे साहुगुणा तेहिं होइ सो साहू । अच्चंतसुपरिसुद्धेहिँ मोक्खसिद्धित्ति काऊणं ॥१२०४॥

अत एव—अस्य दुरनुचरत्वात् कारणात् 'निर्दिष्टः' कथितः 'पूर्वाचार्यैः' भद्रबाहुप्रभृतिभिः 'भावसाधु'रिति परमार्थिकयतिरित्यर्थः, हन्दीति पूर्ववत् 'प्रमाणस्थितार्थं' इति प्रमाणेनैव, नान्यथा, तच्च प्रमाणं साधुव्यवस्थापकमिदं भवति—

एकाग्रमना अत्यर्थं विस्रोतसिकारहितः 'तस्याम्' आज्ञायां, तथाऽमूढलक्षश्च सत्प्रतिपत्त्येति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ तथा तैलपात्रधारकज्ञातगतोऽपायावगमादप्रमत्तः, राधावेधकगतो वा अत एव, कथानके प्रतीते, 'एतत्' शीलं शक्नोति 'कर्त्तुं' पालयितुं, न त्वन्यः क्षुद्रसत्त्व इति, अनधिकारित्वादिति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ उपचयमाह—

एत्तोच्चिअ णिद्दिट्ठो पुव्वायरिएहिँ भावसाहुत्ति । हंदि पमाणठिअत्थो तं च पमाणं इमं होइ॥११९०॥

सत्थुत्तगुणी साहू ण सेस इह णो पइण्ण इह हेऊ। अगुणत्ता इति णेओ दिट्ठंतो पुण सुवण्णं च ॥११९१॥

विसघाइरसायणमंगलत्थविणए पयाहिणावत्ते। गुरुए अडज्झऽकुत्थे अट्ठ सुवण्णे गुणा हुंति ॥ ११९२ ॥

इअ मोहविसं घायइ सिवोवएसा रसायणं होइ। गुणओ अ मंगलत्थं कुणइ विणीओ अ जोगत्ति॥११९३॥

मग्गणुसारि पयाहिण गंभीरो गुरुअओ तहा होइ ।
कोहग्गिणा अडज्झो अकुत्थ सइ सीलभावेण ॥ ११९४ ॥

एवं दिट्ठंतगुणा सज्झम्मिवि एत्थ होंति णायव्वा । ण हि साहम्माभावे पायं जं होइ दिट्ठंतो ॥ ११९५ ॥

चउकारणपरिसुद्धं कसछेअत्तावताडणाए अ । जं तं विसघाइरसायणाइगुणसंजुअं होइ ॥ ११९६ ॥

ता संसारविरत्तो अणंतमरणाइरूवमेअं तु । णाउं एअविउत्तं मोक्खं च गुरूवएसेणं ॥ ११८५ ॥

परमगुरुणो अ अणहे आणाएँ गुणे तहेव दोसे अ।
मोक्खत्थी पडिवज्जिअ भावेण इमं विसुद्धेणं ॥ ११८६ ॥

विहिआणुट्ठाणपरो सत्तणुरूवमिअरंपि संधंतो। अण्णत्थ अणुवओगा खवयंतो कम्मदोसेऽवि ॥११८७॥
सव्वत्थ निरभिसंगो आणामित्तंमि सव्वहा जुत्तो। एगग्गमणो धणिअं तम्मि तहाऽमूढलक्खो अ ॥११८८॥
तह तिल्लपत्तिधारयणायगयो राहवेहगगओ वा। एअं चएइ काउं ण तु अण्णो खुद्दसत्तोत्ति ॥११८९॥

यतो दुष्करमेतच्छीलं 'तत्' तस्मात् संसाराद्विरक्तः सन्, कथमित्याह—अनन्तमरणादिरूपम्, आदिशब्दाज्जन्मजरादिग्रहः, एव (त) मेव संसारं ज्ञात्वा 'एतद्वियुक्तं' मरणादिवियुक्तं मोक्षं च ज्ञात्वा 'गुरूपदेशेन' शास्त्रानुसारेणेति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ तथा—'परमगुरोश्च' भगवतोऽनघान् आज्ञायाः गुणान् ज्ञात्वा तथैव दोषांश्च विराधनायाः मोक्षार्थी सन् प्रतिपद्य च भावेनेदं—शीलं विशुद्धेनेति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ विहितानुष्ठानपरः 'शक्त्यनुरूपं' यथाशक्तीत्यर्थः, 'इतरदपि' शक्त्यनुचितं सन्धयन् भावप्रतिपत्त्या, अन्यत्र विहितानुष्ठानाद् अनुपयोगाच्छक्तेः, क्षपयन् कर्मदोषानपि—प्रतिबन्धकानिति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ सर्वत्र वस्तुनि 'निरभिष्वङ्गो' मध्यस्थः, आज्ञामात्रे भगवतः सर्वथा युक्तः, वचनैकनिष्ठ इत्यर्थः,

कारणात् पूर्वाचार्याः—भद्रबाहुप्रभृतयः इदमाहुर्वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ गीतार्थश्च विहारः, तदभेदोपचारात्, द्वितीयो गीतार्थमिश्रो भणितो, विहार एव, 'अतो' विहारद्वयात् तृतीयविहारः—साधुविहरणरूपः नानुज्ञातो जिनवरैर्भगवद्भिरिति गाथार्थः ॥८०॥ अस्य भावार्थमाह—गीतार्थस्य नोत्सूत्रा प्रवृत्तिः, 'तद्युक्तस्य' गीतार्थयुक्तस्येतरस्यापि—अगीतार्थस्य 'तथैव' नोत्सूत्रेति, कुत इत्याह—'नियमेन' अवश्यन्तया चरणवान् यद्—यस्मात् कारणात् 'न जातु' न कदाचिदाज्ञां 'विलङ्घयति' उत्क्रामतीति गाथार्थः॥८१॥न च गीतार्थः सन् अन्यमगीतार्थं न निवारयति अहितप्रवृत्तं, योग्यतां मत्वा निवारणीयस्य, 'एवं' द्वयोरपि—गीतार्थागीतार्थयोश्चरणं परिशुद्धं, वारणप्रतिपत्तिभ्याम्, अन्यथा नैवोभयोरपीति गाथार्थः॥८२॥

ता एव विरइभावो संपुण्णो एत्थ होइ णायव्वो। णिअमेणं अट्ठारससीलंगसहस्सरूवो उ ॥ ११८३ ॥

ऊणत्तं ण कयाइवि इमाण संखं इमं तु अहिगिच्च। जं एअधरा सुत्ते णिद्दिट्ठा वंदणिज्जा उ ॥ ११८४ ॥

'तत्' तस्मादेवम्—उक्तवद्विरतिभावः 'सम्पूर्णः' समग्रः अत्र व्यतिकरे भवति ज्ञातव्य इति, 'नियमेन' अवश्यन्तया अष्टादशशीलाङ्गसहस्ररूप एव, सर्वत्र पापविरतेरेकत्वादिति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ ऊनत्वं न कदाचिदपि एतेषां—शीलाङ्गानां सङ्ख्यामेतामेवाधिकृत्य—आश्रित्य, 'यद्' यस्माद् 'एतद्धराः' अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणः सूत्रे प्रतिक्रमणाख्ये निर्दिष्टा वन्दनीयाः, नान्ये, 'अट्ठारससीलंगसहस्सधारा' इत्यादिवचनप्रामाण्यादिति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ यस्मादेवं तस्मादेतत् महानेव कश्चित्कर्तुमलं न तु यः कश्चिदित्येतदाह—

गीअस्स ण उस्सुत्ता तज्जुत्तस्सेयरस्सवि तहेव । णिअमेण चरणवं जं न जाउ आणं विलंघेइ॥११८१॥
न य गीअत्थो अण्णं ण णिवारइ जोग्गयं मुणेऊणं। एवं दोण्हवि चरणं परिसुद्धं अण्णहा णेव॥ ११८२॥

एतच्च–शीलमत्रैवं–सर्वसावद्ययोगनिवृत्त्यात्मकं विरतिभावमान्तरं प्रतीत्य द्रष्टव्यं, न तु बाह्यामपि प्रवृत्तिं प्रतीत्य, कुत इत्याह—यदसौ–प्रवृत्तिर्भावं विनापि भवति क्वचित्, माध्यस्थ्यादेवेति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ निदर्शनमाह—यथा कायोत्सर्गे स्थितः सन् क्षिप्त उदके केनचित्तपस्वी मोहात्, स उदकवधप्रवृत्तकायोऽपि, तस्य क्षारतया, महात्माऽचलित-भावोऽप्रवृत्त एव, माध्यस्थ्यादिति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—एवमेव मध्यस्थः सन् आज्ञातः क्वचित् प्रवर्त्तमानः–वस्तुनि शिक्षकग्लानाद्यर्थमालम्बनादप्रवृत्त एव ज्ञातव्यः तत्त्वत इति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ आज्ञापरतन्त्रो-ऽसौ–प्रवर्त्तकः, सा पुनः सर्वज्ञवचनत एव आज्ञा एकान्तहिता वर्त्तते, वैद्यकज्ञातेन हितम्, एतदपि यथावत्सर्वजी-वानां, दृष्टादृष्टोपकारादिति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ भावं विनाऽप्येवम्–उक्तवद् भवति प्रवृत्तिः क्वचित्, न बाधते चैषा सर्व-त्रानभिष्वङ्गात्कारणाद्विरतिभावं सुसाधोरिति गाथार्थः ॥ ७७ ॥ उत्सूत्रा पुनः प्रवृत्तिर्बाधते विरतिभावं स्वमतिविक-ल्पशुद्धाऽपि, तत्त्वतोऽशुद्धत्वात्, नियमेन बाधते गीतार्थनिषिद्धप्रतिपत्तिरूपा, नवरं प्रवृत्तिरनभिनिवेशाद्धेतोर्निरनु-बन्धा–अनुबन्धकर्म्मरहितेति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ 'इतरा तु' गीतार्थनिषिद्धप्रतिपत्तिरूपा प्रवृत्तिः 'अभिनिवेशात्' मिथ्या-भिनिवेशेन 'इतरा' सानुबन्धा, न च मूलच्छेद्यविरहेण–चारित्राभावमन्तरेण भवत्येषा–सानुबन्धा प्रवृत्तिः, अत एव

एतद्भावनायाह—यस्मात् समग्रमेतदपि—शीलाङ्गं सर्वसावद्ययोगविरतिरेवाखण्डा तत्त्वेनैकस्वरूपं वर्त्तते, न खण्डरूपत्वमुपैति, अतः केवलाङ्गाभाव इति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

एअं च एत्थ एवं विरईभावं पडुच्च दट्ठव्वं । ण उ बज्झंपि पवित्तिं जं सा भावं विणावि भवे ॥११७३॥

जह उस्सग्गंमि ठिओ खित्तो उदगम्मि केणवि तवस्सी ।
तव्वहपवित्तकाओ अचलिअभावोऽपवत्तो अ ॥ ११७४ ॥

एवं चिअ मज्झत्थो आणाई कत्थई पयट्टंतो । सेहगिलाणादिऽट्ठा अपवत्तो चेव नायव्वो ॥ ११७५ ॥
आणापरतंतो सो सा पुण सव्वण्णुवयणओ चेव । एगंतहिआ विज्जगणाएणं सव्वजीवाणं ॥ ११७६ ॥
भावं विणावि एवं होइ पवित्ती ण बाहए एसा । सव्वत्थ अणभिसंगा विरईभावं सुसाहुस्स ॥११७७॥
उस्सुत्ता पुण बाहइ समइविगप्पसुद्धावि णिअमेणं । गीअणिसिद्धपवज्जणरूवा णवरं णिरणुबंधा॥११७८॥
इअरा उ अभिणिवेसा इअरा ण य मूलछिज्जविरहेणं। होएसा एत्तोच्चिअ पुव्वायरिआ इमं चाहु ॥११७९॥

गीअत्थो उ विहारो विइओ गीअत्थमीसिओ भणिओ ।
एत्तो तइअविहारो णाणुण्णाओ जिणवरेहिं ॥ ११८० ॥

जीवाः—पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाः, अजीवकायश्च पुस्तकंचर्म्मतृणशुपिरपञ्चकरूपः, श्रमणधर्म्मस्तु क्षान्त्यादिर्दशप्रकारः—क्षान्तिमार्द्दवार्जवमुक्तितपःसंयमसत्यशौचाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यरूपः, एवं स्थिते यन्त्रे सति तत्र भावना एषा—वक्ष्यमाणा शीलाङ्गनिष्पत्तिविषया इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ न करोति मनसा, किम्भूतः सन्—आहारसंज्ञाविप्रमुक्तस्तु नियमेन, तथा श्रोत्रेन्द्रियसंवृत्तः, किमित्याह—पृथिवीकायारम्भं, क्षान्त्यादियुक्त इति गाथार्थः ॥६६॥ एवं मार्द्दवादियोगात्—मार्दवयुक्त आर्ज्जवादियुक्त इति श्रुत्या पृथिवीकाये भवन्ति दश भेदाः, यतो दश क्षान्त्यादिपदानि, अप्कायादिष्वप्येवं प्रत्येकं दशैव, एते सर्व एव पिण्डितं तु शतं, यतो दश पृथिव्यादय इति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ श्रोत्रेन्द्रियेणैतल्लब्धं, शेषैरपीन्द्रियैर्यदिदं शतमेव लभ्यते ततः पञ्च शतानि, पञ्चत्वादिन्द्रियाणाम्, आहारसंज्ञायोगादेतानि पञ्च, एवं शेषाभिरपि भयसंज्ञाद्याभिः पञ्च पञ्चेति सहस्रद्वयं निरवशेषं, यतश्चतस्रः संज्ञा इति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ एतन्मनसा सहस्रद्वयं लब्धं, वागादिनैतत्सहस्रद्वयमिति षट् सहस्राणि, त्रीणि करणानीतिकृत्वा, न करोतीत्यनेन योगेनैतानि, शेषेणापि योगेनैतानि षट् षडिति एतानि सर्वाण्यष्टादश भवंति, त्रयो योगाः इतिकृत्वेति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ 'अत्र' शीलाङ्गाधिकारे इदं विज्ञेयम् 'ऐदम्पर्यं' भावार्थगर्भरूपं बुद्धिमद्भिः पुरुषैः, यदुतैकमपि सुपरिशुद्धं शीलाङ्गं, यादृक् शीलाङ्गमुच्यते तादृगित्यर्थः, किमित्याह—'शेपसद्भावे' तदपरशीलाङ्गभाव एवेति गाथार्थः ॥ ७० ॥ निदर्शनमाह—एकोऽप्यात्मप्रदेशोऽत्यन्तसूक्ष्मोऽसङ्ख्येयप्रदेशसङ्गतः—तदन्याविनाभूतो यथैव, केवलस्यासम्भवाद्, 'एतदपि' शीलाङ्गं तथा ज्ञेयम्—अन्याविनाभूतमेव, स्वतत्त्वत्यागः 'इतरथा तु' केवलत्वे, आत्मप्रदेशत्वशीलाङ्गत्वाभाव इति गाथार्थः ॥७१॥

सोइंदिएण एअं सेसहिवि जं इमं तओ पंच। आहारसण्णजोगा इअ सेसाहिं सहस्सदुगं ॥ ११६८ ॥
एवं मणेण वइमाइएसु एअंति छस्सहस्साइं। न करण सेसेहिंपि अ एए सवेऽवि अट्ठारा ॥ ११६९ ॥
एत्थ इमं विण्णेअं अइअंपज्जं तु बुद्धिमंतेहिं। एक्कंपि सुपरिसुद्धं सीलंगं सेससब्भावे ॥ ११७० ॥
एक्को वाऽऽयपएसो संखेअपएससंगओ जह उ। एअंपि तहा णेअं सतत्तचाओ इहरहा उ ॥११७१॥
जम्हा समग्गमेअंपि सवसावज्जजोगविरईओ। तत्तेणेगसरूवं ण खंडरूवत्तणमुवेइ ॥ ११७२ ॥

'यद्' यस्माद् 'एतद्' अधिकृताज्ञाकरणमष्टादशशीलाङ्गसहस्रपालनं ज्ञेयमत्यन्तमात्रसारं, तानि पुनः शीलाङ्गानि भवन्त्येतानि वक्ष्यमाणानीति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ योगाः—मनोव्यापारादयः करणानि—मनःप्रभृतीनि संज्ञा—आहारादिविषयाः इन्द्रियाणि—स्पर्शादीनि भौम्यादयः—पृथिव्यादिजीवाजीवद्विपञ्चकं श्रमणधर्मश्च क्षान्त्यादि, अस्मात् कदम्बकाच्छीलाङ्गसहस्राणां—चारित्रहेतुभेदानामष्टादशकस्य निष्पत्तिर्भवतीति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ व्यासार्थं त्वाह—'करणादयः' कृतकारितानुमतिरूपाः त्रयो योगाः प्रतिकरणं, मनआदीनि तु भवन्ति करणानि—मनोवाक्कायरूपाणि त्रीण्येव, आहारादिसंज्ञाश्चतस्रः—आहारभयमैथुनपरिग्रहविषयाः, श्रोत्रादीनि पश्चानुपूर्व्या इन्द्रियाणि पञ्च, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि, उत्तरोत्तरगुणाधासिसाध्यानि शीलाङ्गानीति ज्ञापनार्थमिन्द्रियेषु पश्चानुपूर्वीति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ भौम्यादयो नव

ज्ञायते यथाक्रमेण गुणकरं तत एवेति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ प्रतिभोत्स्यन्तेऽन्ये प्राणिन इति भावार्जितकर्मणस्तु सकाशात् प्रतिपत्तिः भावचरणस्य मोक्षैकहेतोर्जायते, एतदेव भावचरणं संयमः शुद्ध इति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ भावस्तवश्चैपः—शुद्धः संयमः, कुत इत्याह—स्तोतव्योचितप्रवृत्तेः कारणात् विज्ञेय इति, तथा हि निरपेक्षाऽऽज्ञाकरणमेव कृतकृत्ये स्तोतव्ये हन्द्युचितं, नान्यत्, निरपेक्षत्वादिति गाथार्थः ॥ ६० ॥ 'एतच्च' एवमाज्ञाकरणं भावसाधुं 'विहाय' मुक्त्वा नान्यः क्षुद्रः शक्नोति कर्त्तुमिति, कुत इत्याह—'सम्यक्तद्गुणज्ञानाभावात्' इत्थमाज्ञाकरणगुणज्ञानाभावात्, तथा 'कर्म्मदोषाच्च' चारित्रमोहनीयकर्म्मापराधाच्चेति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ दुष्करत्वे कारणमाह—

जं एअं अट्ठारससीलंगसहस्सपालणं णेअं । अच्चंत भावसारं ताइं पुण होंति एआइं ॥ ११६२ ॥
जोए करणे सण्णा इंदिअ भोमाइ समणधम्मे अ । सीलंगसहस्साणं अट्ठारसगस्स णिप्फत्ती ॥११६३॥
करणाइ तिण्णि जोगा मणमाइणि उ भवंति करणाइं । आहाराई सन्ना चउ सोत्ताइंदिआ पंच ॥ ११६४ ॥
भोमाई णव जीवा अजीवकाओ अ समणधम्मो अ । खंताइ दसपगारो एव ठिए भावणा एसा ॥११६५॥
ण करेइ मणेणाहारसन्नविप्पजढगो उ णियमेण । सोइंदियसंवुडो पुढविकायारंभ खंतिजुओ ॥ ११६६ ॥
इय मद्दवाइजोगा पुढविक्काए हवंति दस भेआ । आउक्कायाईसुवि इअ एअं पिंडिअं तु सयं ॥ ११६७ ॥

वाऽपि' विलम्बितरोगोपशमतुल्यो वापि 'प्रथमो' द्रव्यस्तवः, विनौषधेन स्वत एव 'तत्क्षयतुल्यश्च' रोगक्षयकल्पश्च 'द्वितीयो' भावस्तव इति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ अनयोरेव फलमाह—'प्रथमात्' द्रव्यस्तवात् कुशलबन्धो भवति, तस्य-कुशलबन्धस्य विपाकेन हेतुना 'सुगत्यादयः' सुगतिसम्पद्विवेकादयः, 'ततः' द्रव्यस्तवात्परम्परया 'द्वितीयोऽपि' भावस्तवो भवति, कालेनाभ्यासत इति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ एतदेव विशेषेणाह—

जिणबिंबपइट्ठावणभावज्जिअकम्मपरिणइवसेणं । सुगईअ पइट्ठावणमणहं सइ अप्पणो जम्हा ॥११५७॥
तत्थवि अ साहुदंसणभावज्जिअकम्मओ उ गुणरागो । काले अ साहुदंसण जहक्कमेणं गुणकरं तु ॥ ११५८॥
पडिबुज्झिस्संतऽण्णे भावज्जिअकम्मओ उ पडिवत्ती ।
भावचरणस्स जायइ एअं चिअ संजमो सुद्धो ॥ ११५९ ॥
भावत्थओ अ एसो थोअव्वोच्चिअपवित्तिओ णेओ । णिरवेक्खाणाकरणं कयकिच्चे हंदि उचिअं तु ॥ ११६० ॥
एअं च भावसाहू विहाय णऽण्णो चएइ काउं जे । सम्मं तग्गुणणाणाभावा तह कम्मदोसा य ॥ ११६१ ॥

जिनबिम्बप्रतिष्ठापनभावार्जितकर्मपरिणतिवशेन—एतत्सामर्थ्येन सुगतौ प्रतिष्ठापनमनघं सदाऽऽत्मनो यस्मात् कारणादिति गाथार्थः ॥ ५७॥ 'तत्रापि च' सुगतौ साधुदर्शनभावार्जितकर्मणस्तु सकाशाद् गुणरागो भवति, काले च साधुदर्शनं

कडुगोसहाइजोगा मंथररोगसमसण्णिहो वावि। पढमो विणोसहेणं तक्खयतुल्लो उ बीओ उ ॥११५५॥
पढमाउ कुसलबंधो तस्स विवागेण सुगइमाईआ। तत्तो परंपराए बिइओऽवि हु होइ कालेणं ॥११५६॥

अथोचितानुष्ठानकारणाद्विचित्रयतियोग्यतुल्य एवैषः, विहितत्वात्, यद्—यस्मात् 'तत्' तस्मात् कथं द्रव्यस्तवः ?, भावस्तव एवास्तु, अत्रोत्तरं—तद्द्वारेण—द्रव्यद्वारेणाल्पभावात्—स्तोकभावोपपत्तेरिति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ एतदेव स्पष्टयति—जिनभवनादिविधानद्वारेण—द्रव्यानुष्ठानलक्षणेन एष भवति 'शुभयोगः' शुभव्यापारः, ततश्चोचितानुष्ठानमपि च सन्नेष तुच्छो यतियोगतः सकाशान्नवरमिति गाथार्थः ॥ ६० ॥ तथा चाह—सर्वत्र निरभिष्वङ्गत्वेन हेतुना यतियोग एव महान् भवत्यतः सकाशाद्, एष तु—द्रव्यस्तवोऽभिष्वङ्गात् कारणात् क्वचित्तुच्छेऽपि वस्तुनि तुच्छ एव भवतीति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ यस्मात्त्वभिष्वङ्गः प्रकृत्यैव जीवं दूषयति नियमत एव, तथाऽनुभूतेः, तथा दूषितस्य योगः सर्व एव तत्त्वतः विषघारितयोगतुल्योऽशुद्ध इति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ यतेरदूषितस्य, सामायिकभावेन, हेयात् सर्वथा निवृत्तस्य, तत्स्वभावतया, शुद्धश्च उपादेये वस्तुनि आज्ञाप्रवृत्त्याऽतोऽकलङ्कः सर्वथा स एव—यतियोग इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ अनयोरेवोदाहरणेन स्वरूपमाह—'अशुभतरण्डोत्तरणप्रायः' कण्टकानुगतसाल्मलीतरण्डोत्तरणतुल्यो द्रव्यस्तवः, सापायत्वाद्, असमस्तश्च, तत एव सिद्ध्यसिद्धेः, नद्यादिषु स्थानेषु, इतरः पुनः-भावस्तवः समस्तवाहूत्तरणकल्पः, तत एव मुक्तेरिति गाथार्थः ॥ ५४ ॥ इदमेवोदाहरणान्तरेणाह—'कटुकौषधादियोगात्' कटुकौषधादिसम्बन्धेन 'मन्थररोगशमसन्निभो

अत्राह—आज्ञाराधनं 'एवं' तदुचितान्वेषणप्रवृत्त्येति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ भावार्थदर्शनेन प्रकृतयोजनामाह—यत्पुनरनु ष्ठानं 'एतद्वियुक्तम्' औचित्यान्वेषणादिशून्यमेकान्तेनैव भावशून्यमित्याज्ञानिरपेक्षतया 'तद्' अनुष्ठानं 'विषयेऽपि वीतरागादौ 'न तक' इति न द्रव्यस्तवः, कुत इत्याह—'भावस्तवाहेतुत्वात्' भावस्तवस्याकारणत्वेन, उचित इति यथा भूतो भावस्तवाङ्गं न, अप्रधानस्तु भवतीति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ भोगादिफलविशेषस्तु सांसारिक एवास्त्यतोऽपि–द्रव्यस्त वात् सकाशाद् 'विषयभेदेन' स्तूयमानविशेषेण, तुच्छस्त्वसौ–भोगादिफलविशेषः, कस्माद् ?, भवति प्रकारान्तरे णापि–अकामनिर्जरादिना यत इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

उचियाणुट्ठाणाओ विचित्तजइजोगतुल्लमो एस । जं ता कह दव्वथओ ? तद्दारेणऽप्पभावाओ ॥ ११४९ ॥
जिणभवणाइविहाणद्दारेणं एस होइ सुहजोगो। उचियाणुट्ठाणं चिअ तुच्छो जइजोगओ णवरं ॥ ११५० ॥
सव्वत्थ णिरभिसंगत्तणेण जइजोगमो महं होइ । एसो उ अभिस्संगा कत्थऽवि तुच्छेऽवि तुच्छो उ ॥ ११५१ ॥
जम्हा उ अभिस्संगो जीवं दूसेइ नियमओ चेव। तद्दूसिअस्स जोगो विसघारिअजोगतुल्लोत्ति ॥ ११५२ ॥
जइणो अदूसिअस्सा हेआओ सव्वहा णिअत्तस्स । सुद्धो अ उवादेए अकलंको सव्वहा सो उ ॥ ११५३ ॥
असुहतरंडुत्तरणप्पाओ दव्वत्थओऽसमत्थो अ। णइमाइसु इअरो पुण समत्तबाहुत्तरणकप्पो ॥ ११५४ ॥

एवं चिअ भावथए आणाआराहणाय राओऽवि। जं पुण इअविवरीअं तं दव्वथओऽवि णो होइ ॥११४४॥
भावे अइप्पसंगो आणाविवरीअमेव जं किंचि। इह चित्ताणुट्ठाणं तं दव्वथओ भवे सव्वं ॥ ११४५ ॥
जं वीअरागगामी अह तं णणु सिट्ठणाइवि स एव। सिअ उचिअमेव जं तं आणाआराहणा एवं ॥ ११४६ ॥

जं पुण एअविउत्तं एगंतेणेव भावसुण्णंति।
तं विसअंमिवि ण तओ भावथयाहेउओ निअमा (उचिओ) ॥ ११४७ ॥

भोगाइफलविसेसो उ अत्थि एत्तोऽवि विसयभेएणं। तुच्छो अ तओ जम्हा हवइ पगारंतरेणावि॥११४८॥

'एवमेव' अनेनैव विधिना कुर्वतामेतद्भावस्तवे–वक्ष्यमाणलक्षणे आज्ञाऽऽराधनात् कारणाद् रागोऽपि, तद्रागाच्च द्रव्यस्तवत्वं, यत्पुनर्जिनभवनकारणादि 'एवंविपरीतं' यादृच्छिकं तद्द्रव्यस्तवोऽपि न भवति, उत्सूत्रत्वादिति गाथार्थः ॥४४॥ अभ्युपगमे दोषमाह—'भावे' द्रव्यस्तवभावे च तस्य 'अतिप्रसङ्गः' अतिव्याप्तिः, कथमित्याह—'आज्ञाविपरीतं' आगमविपरीतमेवं यत्किञ्चिदिह–लोके चित्रानुष्ठानं गृहकरणादि तद्द्रव्यस्तवो यथोक्तलक्षणः भवेत् सर्वं, निमित्ताविशेषादिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ यद्वीतरागगाम्यनुष्ठानमथ तद्द्रव्यस्तव इति, अत्राह—ननु 'शिष्टनाद्यपि' आक्रोशनाद्यपि वीतरागगामि सद् द्रव्यस्तव एव, निमित्ताविशेषादितिभावः, स्यात्–उचितमेव यद् वीतरागगाम्यनुष्ठानं तद् द्रव्यस्तव इति,

सुहगंधधूवपाणिअसव्वोसहिमाइएहिं ता ण्हवणं । कुंकुमगाइविलेवणमइसुरहिं मणहरं मल्लं ॥ ११४१ ॥
विविहणिवेअणमारत्तिगाइ धूवथयवंदणं विहिणा । जहसत्ति गीअवाइअणच्चणदाणाइअं चेव॥११४२॥
विहिआणुट्ठाणमिणंति एवमेअं सया करिंताणं । होइ चरणस्स हेऊ णो इहलोगादविक्खाए॥११४३॥

'ततश्च' प्रतिष्ठानन्तरं प्रतिदिनमसौ—श्रावकः कुर्यात् 'पूजाम्' अभ्यर्चनरूपां जिनेन्द्रस्थापनायाः—प्रतिमाया इत्यर्थः, 'विभवानुसारगुर्वीम्' उचितवित्तत्यागेन काले उचित एव नियतां भोजनादिवद्, 'विधानेन' शुचित्वादिनेति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ एतदेवाह—जिनपूजाया विधानमेतत्—शुचिभूतः सन् स्नानादिना 'तस्यामेव' पूजायामुपयुक्तः—प्रणिधानवान् अन्यदङ्गं—शिरःप्रभृत्यस्पृशन् करोति यां पूजां प्रवरवस्तुभिः—सुगन्धिपुष्पादिभिरिति गाथार्थः ॥४०॥ अत्रैव विधिशेषमाह—शुभगन्धधूपपानीयसर्वौषध्यादिभिस्तावत्स्नपनं प्रथममेव, भूयः कुङ्कुमादिविलेपनं, तदन्वतिसुरभि गन्धेन मनोहारि दर्शनेन माल्यमिति गाथार्थः ॥४१॥ विविधं निवेदनमिति—चित्रं निवेद्यम्, आरत्रिकादि, तदनु धूपः, तथा स्तवः, तदनु वन्दनं, 'विधिना' विश्रब्धादिना, तथा यथाशक्ति सङ्गीतवादित्रनर्त्तनदानादि चैव, आदिशब्दादुचितस्मरणमिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

विहितानुष्ठानमिदमित्येवं च चेतस्याधाय एतत् सदा कुर्वतां भवति चरणस्य हेतुरेतदेव, नेहलोकाद्यपेक्षया; आदिशब्दात्कीर्त्यादिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

तया, किमित्यत आह–विशेषपूजाया–दिगादिगतायाः सकाशाद्बहुगुणा 'एषा' सङ्घपूजा, विषयमहत्त्वाद्, एतदाह–यदेष श्रुते भणितः–आगम उक्तः तीर्थकरानन्तरः सङ्घ इत्यतो महानेष इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ एतदेवाह—गुणसमुदायः सङ्घः, अनेकप्राणिस्थसम्यग्दर्शनाद्यात्मकत्वात्, प्रवचनं तीर्थमिति भवन्त्येकार्थिकाः, एवमादयोऽस्य शब्दा इति, तीर्थकरोऽपि चैनं–सङ्घं तीर्थसंज्ञिनं नमति धर्म्मकथादौ गुरुभावत एव, 'नमस्तीर्थाये'ति वचनादेतदेवमिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ अत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह—'तत्पूर्विका' तीर्थपूर्विका अर्हत्ता, तदुक्तानुष्ठानफलत्वात्, 'पूजितपूजा चे'ति भगवता पूजितस्य पूजा भवति, पूजितपूजकत्वाल्लोकस्य, विनयकर्म्म च कृतज्ञताधर्म्मगर्भं कृतं भवति, यद्वा किमन्येन ?, कृतकृत्योऽपि स भगवान् यथा कथां कथयति धर्म्मसम्बद्धां नमति तथा तीर्थं, तीर्थकरनामकर्मोदयादेवौचित्यप्रवृत्तेरिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ 'एतस्मिन्' सङ्घे पूजिते नास्ति 'तद्' वस्तु यत् न 'पूजितम्' अभिनन्दितं भवति, किमित्यत आह–भुवनेऽपि सर्वत्र 'पूज्यं' पूजनीयं न गुणस्थानं कल्याणतः 'ततः' सङ्घादन्यदिति गाथार्थः ॥ ११३८ ॥ 'तत्पूजापरिणामः' सङ्घपूजापरिणामः हन्दि महाविषय एव मन्तव्यः, सङ्घस्य महत्त्वात्, तद्देशपूजातोऽपि एकत्वेन सर्वपूजाऽभावे, 'देवतापूजादिज्ञातेन' देवतादेशपादादिपूजोदाहरणेनेति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ विधिशेषमाह–

तत्तो अ पइदिणं सो करिज्ज पूअं जिणिंदठवणाए। विहवाणुसारगुरुई काले निअयं विहाणेणं॥११३९॥

जिणपूआएँ विहाणं सुईभूओ तीइ चेव उवउत्तो। अण्णंगमच्छिवंतो करेइ जं पवरवत्थूहिं ॥११४०॥

णिप्फण्णस्स य सम्मं तस्स पइट्ठावणे विही एसो । सट्ठाणे सुहजोगे अभिवासणमुचिअपूजाए ॥११३२॥

चिइवंदण थुइवुड्ढी उस्सग्गो साहु सासणसुराए ।

थयसरण पूअकाले ठवणा मंगलगपुव्वा उ ॥ ११३३ ॥ दारगाहा ॥

सत्तीए संघपूआ विसेसपूआउ बहुगुणा एसा । जं एस सुए भणिओ तित्थयराणंतरो संघो ॥११३४॥

गुणसमुदाओ संघो पवयण तित्थंति होंति एगट्ठा । तित्थयरोऽविअ एअं णमए गुरुभावओ चेव॥११३५॥

तप्पुव्विआ अरहया पूइअपूआ य विणयकम्मं च । कयकिच्चोऽवि जह कहं कहेइ णमए तहा तित्थं॥११३६॥

एअम्मि पूइअम्मी णत्थि तयं जं न पूइअं होइ । भुवणेऽवि पूयणिज्जं न गुणट्ठाणं तओ अण्णं ॥ ११३७ ॥

तप्पूआपरिणामो हंदि महाविसयमो मुणेअव्वो । तद्देसपूअओऽवि हु देवयपूआइणाएणं ॥ ११३८ ॥

निष्पन्नस्य च 'सम्यक्' शुभभावधृत्या तस्य प्रतिष्ठापने विधिरेषः—वक्ष्यमाणलक्षणः, स्वस्थाने यत्र तद् भविष्यति, शुभयोगे कालमधिकृत्य, अभिवासना क्रियते 'उचितपूजया' विभवानुसारत इति गाथार्थः ॥ ११३२ ॥ चैत्यवन्दना सम्यक् स्तुतिवृद्धिः, तत्र कायोत्सर्गः 'साधु'रित्यसम्मूढः 'शासनदेवतायाः' श्रुतदेवतायाः, तत्र स्तवस्मरणं चतुर्विंशतिस्तवस्य, पूजा जातिपुष्पादिना, स्थापना उचितसमये 'मङ्गलपूर्वा' नमस्कारपूर्वेति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ शक्त्या सङ्घपूजा विभवोचि-

ततः परं 'धर्म्मं' संयमरूपमिति गाथार्थः ॥२७॥ 'तत्' तस्मादेतदेव 'वित्तं' धनं यदत्र–जिनभवने उपयोगमेति–गच्छति अनवरतं–सदा, 'इय' एवं चिन्ताऽप्रतिपतिता सती स्वाशयवृद्धिरुच्यते, मोक्षफलेयमिति गाथार्थः ॥ २८ ॥ व्याख्याताऽधिकृतद्वारगाथा, एष तावत्समासतो जिनभवनकारणविधिः, अत्रानन्तरकरणीयमाह–

णिप्फाइअ जयणाए जिणभवणं सुंदरं तहिं विंवं ।
विहिकारिअमह विहिणा पइट्ठविज्जा असंभंतो ॥ ११२९ ॥
जिणबिंबकारणविही काले संपूइऊण कत्तारं । विहवोचिअमुल्लप्पणमणहस्स सुहेण भावेण ॥११३०॥
तारिसयस्साभावे तस्सेव हिअत्थमुज्जओ णवरं । णिअमेइ विंवमोल्लं जं उचिअं कालमासज्ज॥११३१॥

निष्पाद्य 'यतनया' परिणतोदकादिग्रहणरूपया 'जिनभवनं' जिनायतनं सुन्दरं 'तत्र' भवने विम्बं भगवतः विधिकारितं सद् अथ विधिना वक्ष्यमाणेन प्रतिष्ठापयेद् 'असम्भ्रान्तः' अनाकुलः सन्निति गाथार्थः ॥२९॥ 'विधिकारित'मित्युक्तं तमाह—जिनबिम्बकारणविधिरयं द्रष्टव्यः, यदुत काले शुभे सम्पूज्य कर्त्तारं वासचन्दनादिभिः विभवोचितमूल्यार्प्पणं सगौरवमस्य अनघस्येति–अपापस्य शुभेन 'भावेन' मनःप्रणिधानेनेति गाथार्थः ॥ ३० ॥ अपवादमाह–तादृशस्य–अनघस्य कर्त्तुरभावे तस्यैव कर्त्तुर्हितार्थमुद्यतोऽनर्थपरिजिहीर्षया, नवरं नियमयति सङ्ख्यादिना विम्बमूल्यं द्रम्मादि यदुचितं कालमाश्रित्य, न परं व्यंसयति नात्मानमिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

त्तमप्रणीतः, सर्वत्र दयाप्रवृत्तेः, प्रभावनैवं तीर्थस्य भवतीति गाथार्थः ॥ २४ ॥ उक्तं फलं भूतकानतिसन्धानं, स्वाशयवृद्धिमाह—

सासयवुड्ढीवि इहं भुवणगुरुजिणिंदगुणपरिन्नाए । तब्बिंबठावणत्थं सुद्धपवित्तीउ नियमेण ॥११२५॥
पिच्छिस्सं एत्थं इह वंदणगनिमित्तमागए साहू । कयपुन्ने भगवंते गुणरयणणिही महासत्ते ॥११२६॥
पडिबुज्झिस्संति इहं दट्ठूण जिणिंदबिंबमकलंकं । अण्णेऽवि भवसत्ता काहिंति तओ परं धम्मं ॥११२७॥
ता एअमेव वित्तं जमित्थमुवओगमेइ अणवरयं ।
इअ चिंताऽपरिवडिआ सासयवुड्ढी उ मोक्खफला ॥ ११२८ ॥

स्वाशयवृद्धिरप्यत्र प्रक्रमे भुवनगुरुजिनेन्द्रगुणपरिज्ञया हेतुभूतया—भवाम्भोधिनिमग्नसत्त्वालम्बनभूतोऽयमित्येवं, 'तद्बिम्बस्थापनार्थं' जिनबिम्बस्थापनार्थैव शुद्धप्रवृत्तेः कारणात्, 'नियमेन' अवश्यन्तया स्वाशयवृद्धिरिति गाथार्थः ॥२५॥ तथा—द्रक्ष्याम्यत्र—भवनेऽहं वन्दननिमित्तमागतान् साधून्—मोक्षसाधकान् भगवतः, किम्भूतानित्याह—कृतपुण्यान् भगवतः तानेव, तथा गुणरत्ननिधीन् तानेव, महासत्त्वान् द्रष्टव्यानिति गाथार्थः ॥ २६ ॥ तथा—'प्रतिभोत्स्यन्ते' प्रतिबोधं यास्यन्ति 'इह' जिनभवने दृष्ट्वा जिनेन्द्रबिम्बं मोहतिमिरापगमहेतुमकलङ्कमन्येऽपि 'भव्यसत्त्वा' लघुकर्म्माणः करिष्यन्ति

म्यादौ शुभमुहूर्त्तेन केनचित्, किमित्याह—सङ्क्रामणेऽपि पुनस्तस्य काष्ठादेर्विज्ञेयाः शकुनादय इति गाथार्थः ॥ २० ॥

कारवणेऽवि अ तस्सिह भिअगाणऽइसंधणं न कायव्वं ।
अवियाहिगप्पयाणं दिट्ठादिट्ठप्फलं एअं ॥ ११२१ ॥

ते तुच्छगा वराया अहिएण दढं उविंति परितोसं । तुट्ठा य तत्थ कम्मं तत्तो अहियं पकुव्वंति॥११२२॥
धम्मपसंसाए तह केइ निबंधंति वोहिबीआइं । अन्ने उ लहुअकम्मा एत्तो च्चिअ संपवुज्झंति॥११२३॥

लोए अ साहुवाओ अतुच्छभावेण सोहणो धम्मं ।
पुरिसोत्तमप्पणीओ पभावणा एव तित्थस्स ॥ ११२४ ॥ दारं ॥

कारणेऽपि च तस्य जिनभवनस्येह 'भृतकानां' कर्म्मकराणामतिसन्धानं न कर्त्तव्यम्, अपि च अधिकप्रदानं कर्त्तव्यं, दृष्टादृष्टफलमेतद्—अधिकदानमिति गाथार्थः ॥ २१ ॥ कथमित्याह—ते भृतकास्तुच्छा वराकाः, अल्पा इत्यर्थः, अधिकेन प्रदत्तेन दृढमुपयान्ति परितोषं, तथास्वभावत्वात्, तुष्टाश्च 'तत्र' प्रक्रान्ते कर्म्मणि 'ततः' प्राक्तनात् कर्म्मणो दत्ताद्वा अधिकं प्रकुर्वन्ति, दृष्टं फलमेतदिति गाथार्थः ॥ २२॥ धर्म्मप्रशंसया तथोर्जिताचारत्वेन केचन भृतका निबध्नन्ति वोधिबीजानि, कुशलभावाद्, अन्ये तु लघुकर्म्माणो भृतका अत एव—औदार्यपक्षपातात् 'सम्प्रवुध्यन्ति' मार्गमेव प्रतिपद्यन्त इति गाथार्थः ॥ २३ ॥ लोके च साधुवादो भवति 'अतुच्छभावेन' अकार्प्पण्येन शोभनो धर्म्म इत्येवंभूतः, तथा पुरुषो-

तस्सवि अ इमो नेओ सुद्धासुद्धपरिजाणणोवाओ ।
तक्कहगहणाओ जो सउणेअरसन्निवाओ उ ॥ १११८ ॥
नंदाइ सुहो सद्दो भरिओ कलसो त्थ सुंदरा पुरिसा ।
सुहजोगाइ अ सउणो कंदिअसद्दाइ इअरो उ ॥ १११९ ॥
सुद्धस्सऽवि गहिअस्सा पसत्थदिअहम्मि सुहमुहुत्तेणं ।
संकामणम्मिवि पुणो विन्नेआ सउणमाईआ ॥ ११२० ॥ दारं ॥

काष्ठाद्यपि दलं कारणमत्र-विधाने शुद्धं यद्देवताद्युपवनाद्, आदिशब्दाच्छ्मशानग्रहः, नाविधिना बलीवर्द्दादिमारणेनोपनीतम्-आनीतं, स्वयं च कारितं यन्नेष्टिकादि, तच्छुद्धमिति गाथार्थः ॥ १७॥ तस्यापि चायं-वक्ष्यमाणो ज्ञेयः शुद्धाशुद्धपरिज्ञानोपायः काष्ठादेः, क इत्याह—तत्कथाग्रहणादौ प्रस्तुते यः शकुनेतरसन्निपात एव, तत्र नान्दीशब्दादयः शकुनाः, इतरे अशकुना इति गाथार्थः ॥१८॥ एतदेवाह-नान्द्यादिः शुभः शब्दः, आनन्दकृत्, तथा भृतः कलशः, शुभोदकादेः, अथ सुन्दराः पुरुषाः, धर्म्मचारिणः, 'शुभयोगादिश्च' व्यवहारलग्नादिः, शकुनो वर्त्तते, आक्रन्दितशब्दादिस्त्वितरः-अपशकुन इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ उक्ता दलशुद्धिः, विधिशेषमाह-शुद्धस्यापि गृहीतस्य काष्ठादेः प्रशस्ते दिवसे शुक्लपञ्च-

णविधिरयं द्रष्टव्यः, यदुत शुद्धा भूमिर्वक्ष्यमाणया शुद्ध्या, तथा दलं च–काष्ठादि शुद्धमेव, तथा 'भृतकानतिसन्धानं' कर्म्मकराव्यंसनं, तथा 'स्वाशयवृद्धिः' शुभभाववर्द्धनं, समासेनैष विधिरिति द्वारगाथासमासार्थः ॥ १२ ॥ व्यासार्थं त्वाह ग्रन्थकारः–द्रव्ये भावे च तथा शुद्धा भूमिः, यथासङ्ख्यं स्वरूपमाह–प्रदेशे तपस्विजनोचिते, 'अकीला वा' अस्थ्यादिरहिता 'द्रव्य' इति द्रव्यशुद्धा, अप्रीतिरहिता–अन्येषां प्राणिनामसमाधिरहिता आसन्नानां भवति 'भावे तु' भावशुद्धेति गाथार्थः ॥ १३ ॥ एतदेव समर्थयते–धर्म्मार्थमुद्यतेन प्राणिना सर्वस्य जन्तोरप्रीतिर्न कार्या सर्वथा, 'इय' एवं पराप्रीत्यकरणेन संयमोऽपि श्रेयान्, नान्यथा, अत्र चार्थे भगवानुदाहरणं–स्वयमेव च वर्द्धमानस्वामीति गाथार्थः ॥ १४ ॥ कथमित्याह–'स' भगवांस्तापसाश्रमात्, पितृव्यभूत(मित्र)कुलपतिसम्बन्धिनः, 'तेषां' तापसानाम् 'अप्रीतिम्' अप्रणिधानं मत्वा, मनःपर्यायेण, किंभूतम्?–'परमं' प्रधानमबोधिवीजं, गुणद्वेषेण, 'ततः' तापसाश्रमाद् गतो भगवान्, हन्तेत्युपदर्शनेऽकालेऽपि–प्रावृष्यपीति गाथार्थः ॥ १५ ॥ कथानकम् आवश्यकादवसेयम् ॥ 'इय' एवं सर्वेणापि परलोकार्थिना सम्यगुपायतः शक्यमप्रणिधानं 'सदा' सर्वकालं 'जनस्य' प्राणिनिवहस्य 'नियमाद्' अवश्यन्तया परिहर्त्तव्यं–न कार्यम्, 'इतरस्मिन्' अशक्ये ह्यप्रणिधाने स्वतत्त्वचिन्तैव कर्त्तव्या, ममैवायं दोष इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ उक्ता भूमिशुद्धिः, काष्ठादिशुद्धिमाह–

कट्ठाईवि दलं इह सुद्धं जं देवयाइ भ (याउव) वणाओ ।
नो अविहिणोवणीअं सयं च काराविअं जं नो ॥ १११७ ॥

ज्ञेत्याह—वर्ण्यंते यस्यां ग्रन्थपद्धतौ स्तवः द्विविधोऽपि द्रव्यभावरूपः 'गुणादिभावेन' गुणप्रधानरूपतयेति गाथार्थः ॥१०॥ एतदेवाह—

दव्वे भावे अ थओ दव्वे भावे अ (भावथय) रागओ विहिणा ।
जिणभवणाइविहाणं भावथओ संजमो सुद्धो ॥ १११ ॥

जिणभवणकारणविही सुद्धा भूमी दलं च कट्ठाई। भिअगाणऽतिसंधाणं सासयवुड्ढी समासेणं॥११२॥
दव्वे भावे अ तहा सुद्धा भूमी पएसऽकीला य । दव्वेऽपत्तिगरहिआ अन्नेसिं होइ भावे उ ॥ ११३ ॥
धम्मत्थमुज्जएणं सव्वस्स अपत्तिअं न कायव्वं । इअ संजमोऽवि सेओ एत्थ य भयवं उदाहरणं ॥११४॥
सो तावसासमाओ तेसिं अप्पत्तिअं मुणेऊणं । परमं अबोहिबीअं तओ गओ हंतऽकालेऽवि ॥ ११५॥
इय सव्वेणऽवि सम्मं सक्कं अप्पत्तिअं सइ जणस्स।नियमा परिहरिअव्वं इअरम्मि सतत्तचिंताओ ॥११६॥दा-

'द्रव्य' इति द्रव्यविषयो 'भाव' इति भावविषयः स्तवो भवति, तत्र 'द्रव्ये' द्रव्यविषयः 'भावस्तवरागतो' वक्ष्यमाण-भावस्तवानुरागेण विधिना वक्ष्यमाणेन जिनभवनादिविधानं, 'विधान'मिति यथासम्भवं करणम्, आदिशब्दाज्जिनबिम्ब-पूजापरिग्रहः, भावस्तवः पुनः 'संयमः' साधुक्रियारूपः 'शुद्धो' निरतिचार इति गाथार्थः ॥ ११ ॥ तत्र—जिनभवनकार-

अणुभूअवत्तमाणो बंधो कयगोत्तिऽणाइमं कह णु ?। जह उ अईओ कालो तहाविहो तह पवाहेण

'अनुभूतवर्त्तमान' इति (अनुभूत) वर्त्तमानभावो बन्धः कृतक इतिकृत्वा स एवम्भूतोऽनादिमान् कथं नु?, प्रवाहतोऽपीतिभावः, अत्रोत्तरम्-यथैवातीतः कालः 'तथाविधः' अनुभूतवर्त्तमानभावोऽप्यनादिमान् तथा प्रवाहेण बन्धोऽप्यनादिमानिति गाथार्थः ॥ ७ ॥ मोक्षोपपत्तिमाह-

दीसइ कम्मावचओ संभवई तेण तस्स विगमोऽवि ।
कणगमलस्स व तेण उ मुक्को मुक्कोत्ति नायव्वो ॥ ११०८ ॥

दृश्यते कर्म्मापचयः कार्यद्वारेण सम्भवति तेन कारणेन 'तस्य' कर्म्मणो विगमोऽपि सर्वथा, कनकमलस्येति निदर्शनं, 'तेन' कर्म्मणा मुक्तः सर्वथा मुक्तो ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

एमाइभाववाओ जत्थ तओ होइ तावसुद्धोत्ति। एस उवाएओ खलु बुद्धिमया धीरपुरिसेण ॥ ११०९ ॥

एवमादिभाववादः-पदार्थवादो यत्रागमेऽसौ भवति तापशुद्धः-तृतीयस्थानसुन्दर इति, एष उपादेयः खलु-एष एव, नान्यः, 'बुद्धिमता' प्राज्ञेन 'धीरपुरुषेण' स्थिरेणेति गाथार्थः ॥ ९ ॥

एअमिहमुत्तमसुअं आईसद्दाओ थयपरिण्णाई । वण्णिज्जइ जीए थउ दुविहोऽवि गुणाइभावेण ॥१११०॥

एतदिहोत्तमश्रुतमुत्तमार्थाभिधानात्, आदिशब्दाद् द्वारगाथोक्ताः स्तवपरिज्ञादयः प्राभृतविशेषा गृह्यन्ते, केयं स्तवप-

देहनाशे 'तस्य' जीवस्य प्राप्नोति नाशः, 'इय' एवं परलोकाभावात् कारणात् बन्धादीनामपि प्रस्तुतानामभाव एवेति गाथार्थः ॥ २ ॥ देहेन कर्त्रा देह एव विषये उपघातानुग्रहाभ्यां हेतुभूताभ्यां बन्धादयः प्राप्ताः, न पुनरमूर्त्त आत्माऽऽमूर्त्तस्यात्मनोऽपरस्य करोति किञ्चिदपि, मुक्तकल्पत्वादिति गाथार्थः ॥ ३ ॥

अकरिंतो अ ण बज्झइ अइप्पसंगा सदेव बंधाओ। तम्हा भेआभेए जीवसरीराण बंधाई ॥११०४॥

मोक्खोऽवि अ बद्धस्सा तयभावे स कह कीस वा ण सया?।
किं वा हेऊहि तहा कहं च सो होइ पुरिसत्थो? ॥११०५॥

तम्हा बद्धस्स तओ बंधोऽवि अणाइमं पवाहेण। इहरा तयभावम्मी पुव्वं चिअ मोक्खसंसिद्धी

अकुर्वंश्च न बध्यते न्यायतः, कुत इत्याह—अतिप्रसङ्गात्, मुक्ते सदैव भावाद् बन्धस्य, अकर्तृत्वाविशेषाद्, यत एवं तस्माद्भेदाभेदे जात्यन्तरात्मके जीवशरीरयोर्बन्धादयो, नान्यथेति गाथार्थः ॥ ४ ॥ मोक्षोऽपि च बद्धस्य सतो भवति, 'तदभावे' बन्धाभावे स कथं मोक्षः ?, नैव, किमिति वा न सदाऽसौ ?, बन्धाभावाविशेषात्, किं वा हेतुभिस्तथा ? यथाऽऽदिभिः, कथं चासौ भवति पुरुषार्थः ?, अयत्नसिद्धत्वादिति गाथार्थः ॥५॥ यत एवम्—तस्माद्बद्धस्यैव असौ—मोक्षः, बन्धोऽप्यनादिमान् 'प्रवाहेण' सन्तत्या, 'इतरथा' एवमनङ्गीकरणेन 'तदभावे' बन्धाभावे सति 'पूर्वमेव' आदावेव मोक्षसंसिद्धिः, तद्रूपत्वात्तस्येति गाथार्थः ॥ ६ ॥ अत्राह—

देहेणं देहम्मि अ उवघायाणुग्गहेहिं वंधाई। ण पुण अमुत्तोऽमुत्तस्स अप्पणो कुणइ किंचिदवि ॥११०३॥

जीवशरीरयोरपि भेदाभेदः, कथञ्चिद्भेदः कथञ्चिदभेद इत्यर्थः, तथोपलम्भात् कारणात्, मूर्त्तामूर्त्तत्वात् तयोः अन्यथा योगाभावात्, स्पृष्टे शरीरे प्रवेदनाच्च, न चामूर्त्तस्यैव स्पर्श इति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ उभयकृतोभयभोगात् कारणात् 'तदभावाच्च' भोगाभावाच्च भवति ज्ञातव्यः जीवशरीरयोर्भेदाभेदः, वन्धादिविषयभावात् कारणाद्, 'इतरथा' एकान्तभेदादौ 'तदसम्भवाच्च' वन्धाद्यसम्भवाच्चेति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ एतदेव प्रकटयन्नाह—अत्र शरीरेण कृतं, कथमित्याह—प्राणवधासेवनया हेतुभूतया यत् कर्म्म तत् खलु चित्रविपाकं सद्वेदयते 'भवान्तरे' अन्यजन्मान्तरे जीव इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ न तु तदेव शरीरं येन कृतमिति, कुत इत्याह—नरकादिषु 'तस्य' शरीरस्य तथाऽभावादिति, भिन्नकृतवेदने चाभ्युपगम्यमानेऽतिप्रसङ्गोऽनवस्थारूपः वलाद् भवतीति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ एवं जीवेन कृतं तत्प्राधान्यक्रूरमनःप्रवृत्तेन यत् कर्म्म—पापादि 'तत्प्रति' तन्निमित्तं रौद्रविपाकं तीव्रवेदनाकारित्वेन वेदयति भवान्तरशरीरं तथाऽनुभवादिति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ न तु केवलो जीवो वेदयते, 'तेन' शरीरेण विमुक्तस्य सतः वेदनाऽभावात् कारणात्, न च स एव जीवस्तच्छरीरमिति, लोकादिविरोधभावाद्, आदिशब्दात्समयग्रह इति गाथार्थः॥ ११०० ॥ 'एवमेव' जीवशरीरयोर्भेदाभेद एव देहवधे सति उपकारे वा देहस्य पुण्यपापे भवतः, 'इतरथा' एकान्तभेदादौ 'घटादिभङ्गादिज्ञाततः' घटादिविनाशकरणोदाहरणेन नैव युज्येते पुण्यपापे इति गाथार्थः ॥ १ ॥ अभ्युपचयमाह—'तदभेदे च' जीवशरीराभेदे च नियमात् 'तन्नाशे'

वृद्धवद् मनुष्यादिभवकृतं पुण्यादि 'वेदयते' अनुभवति देवादिभवगतः सन् 'आत्मा' जीव इति, 'तस्यैव' मनुष्यादेः 'तथाभावाद्' देवादित्वेन भावात्, सर्वमिदं निरुपचरितं स्वकृतभोगादि भवत्युपपन्नं, नान्यथेति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ एकान्तेन तु नित्योऽविकारी अनित्यो वा निरन्वयी कथं नु वेदयते स्वकृतं ?, नैवेत्यर्थः, कथमित्याह–एकस्वभावत्वान्नित्यस्य, तदनन्तरनाशतश्चैवानित्यस्येति गाथार्थः ॥ ९४ ॥

जीवसरीराणंपि हु भेआभेओ तहोवलंभाओ । मुत्तामुत्तत्तणओ छिक्कम्मि पवेअणाओ अ ॥१०९५॥
उभयकडोभयभोगा तयभावाओ अ होइ नायव्वो। बंधाइविसयभावा इहरा तयसंभवाओ अ॥१०९६॥
एत्थ सरीरेण कडं पाणवहासेवणाएँ जं कम्मं । तं खलु चित्तविवागं वेएइ भवंतरे जीवो ॥१०९७॥
न उ तं चेव सरीरं णरगाइसु तस्स तह अभावाओ। भिन्नकडवेअणम्मि अ अइप्पसंगो बला होइ॥१०९८॥
एवं जीवेण कडं कूरमणपयट्टएण जं कम्मं । तं पइ रोद्दविवागं वेएइ भवंतरसरीरं ॥ १०९९ ॥
ण उ केवलओ जीवो तेण विमुक्कस्स वेयणाभावो । ण य सो चेव तयं खलु लोगाइविरोहभावाओ ॥११००॥
एवं चिअ देहवहे उवयारे वावि पुण्णपावाइं । इहरा घडाइभंगाइनायओ नेव जुज्जंति ॥ ११०१ ॥
तयभेअम्मि अ निअमा तन्नासे तस्स पावई नासो । इअ परलोआभावा बंधाईणं अभावाओ ॥ ११०२॥

त्मा—सदसन्नित्यादिरूपः मिथ्यात्वादिभिः करणभूतैर्बध्नाति 'कर्म्म' ज्ञानावरणादि, सम्यक्त्वादिभिस्तु करणभूतैर्मुच्यते, कुत इत्याह—'परिणामभावात्' परिणामत्वादिति गाथार्थः ॥ ८९ ॥

सकडुवभोगोऽवेवं कहंचि एगाहिकरणभावाओ । इहरा कत्ता भोत्ता उभयं वा पावइ सयावि॥१०९०॥
वेएइ जुवाणकयं वुड्ढो चोराइफलमिहं कोई । ण य सो तओ ण अन्नो पच्चक्खाईपसिद्धीओ ॥ १०९१ ॥
ण य णाणण्णो सोऽहं किं पत्तो ? पावपरिणइवसेणं । अणुहवसंधाणाओ लोगागमसिद्धिओ चेव ॥१०९२॥
इअ मणुआइभवकयं वेअइ देवाइभवगओ अप्पा । तस्सेव तहाभावा सव्वमिणं होइ उववण्णं ॥ १०९३ ॥
एगंतेण उ निच्चोऽणिच्चो वा कह णु वेअई सकडं ? । एगसहावत्तणओ तयणंतरनासओ चेव ॥ १०९४ ॥

स्वकृतोपभोगोऽप्येवं—परिणामित्वादात्मनि कथञ्चिदेकाधिकरणभावाच्चित्रस्वभावतया युज्यते, 'इतरथा' नित्याद्येकस्वभावतायां कर्त्ता भोक्ता उभयं वा, वाशब्दादनुभयं वा, प्राप्नोति सदापि, कर्त्राद्येकस्वभावत्वादिति गाथार्थः ॥ ९० ॥ एतदेव भावयति—'वेदयते' अनुभवति 'युवकृतं' तरुणकृतमित्यर्थः वृद्धश्चौर्यादिफलं—बन्धनादि इह कश्चित्, लोकसिद्धमेतत्, न चासौ—वृद्धस्ततो—यूनो नान्यः, किन्त्वन्यः, प्रत्यक्षादिप्रसिद्धेः कारणादिति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ न च नानन्यः, किन्त्वन्योऽपि, कथमित्याह—सोऽहं किं प्राप्तो बन्धनादि? पापपरिणतिवशेन चौर्यप्रभवेन अनुभवसन्धानात् सोऽहमित्यनेन प्रकारेण, 'लोकागमसिद्धितश्चैव' सोऽयमिति लोकसिद्धिः, तत्पापफलमित्यागमसिद्धिरिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ 'एवं

था वैशिष्ट्यायोगात्, तदाह—हन्दि विशिष्टत्वादुक्तेन प्रकारेण भवन्ति विशिष्टाः—स्वसंवेद्याः सुखादयः, आदिशब्दाद्दुःखबन्धादिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ विपक्षे बाधामाह—'इतरथा' यथा स्वरूपेण सत् तथा पररूपेणापि भावे सत्तामात्राद्यादिभावाद्, आदिशब्दादसत्त्वमात्रादिग्रह इति, कथं विशिष्टता प्रत्यात्मवेद्यतया 'तेषां' सुखादीनां ?, 'तदभावे' विशिष्टसुखाद्यभावे 'तदर्थो' विशिष्टसुखार्थो हन्त 'प्रयत्नः' क्रियाविशेषो महामोहोऽसम्भवप्रवृत्त्येति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ नित्योऽप्येकस्वभावः स्थिरतया, 'स्वभावभूते' आत्मभूते कथं न्वसौ नित्यः सन् दुःखे, किमित्याह—'तस्य' दुःखस्योच्छेदनिमित्तं—विनाशाय असम्भवाद्धेतोः प्रवर्त्तेत कथं ?, नैवेति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ एकान्तेनानित्योऽपि च—निरन्वयनश्वरः 'सम्भवसमनन्तरम्' उत्पत्त्यनन्तरम् 'अभावाद्' अविद्यमानत्वात् 'पारिणामिकहेतुविरहात्' तथाभाविकारणाभावेन 'असम्भवाच्च' कारणात् 'तस्ये'त्येकान्तानित्यस्य स कथं प्रवर्त्तेत ?, नैवेति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ एतदेव समर्थयन्नाह—'न विशिष्टकार्यभावो' न घटादिकार्योत्पादो न्याय्यः 'अनतीतविशिष्टकारणत्वात्' अनतिक्रान्तनियतकारणत्वादित्यर्थः 'एकान्ताभेदपक्षे' कार्यकारणयोर्नित्यत्वपक्ष इत्यर्थः, 'नियमाद्' अवश्यमेव नेति, तथा 'भेदपक्षे च' कार्यकारणयोरेकान्तानित्यत्वपक्ष इत्यर्थः, नियमादवश्यमेव नेति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ उभयत्र निदर्शनमाह—पिण्डवत् पटवदिति च दृष्टान्तौ, न घटस्तत्फलं—पिण्डफलमिति प्रतिज्ञा, अनतीतपिण्डभावत्वाद् अभेदपक्षे, पिण्डवद्धेतोः समानत्वाद्, भेदपक्षे पटवत्, 'तदतीतत्वे' घटस्य पिण्डातीततायां 'तस्यैव तथाभावात्' पिण्डस्यैव घटरूपेण भावाद् 'अन्वयादित्वम्' अन्वयव्यतिरेकित्वं वस्तुन इति गाथार्थः ॥८८॥ अतः सदसन्नित्यानित्यादिरूपमेव वस्तु, तथा चाह—एवंविध एवा-

ण विसिट्ठकज्जभावो अणईअविसिट्ठकारणत्ताओ ।
एगंतऽभेअपक्खे निअमा तह भेअपक्खे अ ॥ १०८७ ॥
पिंडो पडोव्व ण घडो तप्फलमणईअपिंडभावाओ । तयईअत्ते तस्स उ तहभावा अन्नयाइत्तं ॥ १०८८ ॥
एवंविहो उ अप्पा मिच्छत्ताईहिँ बंधई कम्मं । सम्मत्ताईएहि उ मुच्चइ परिणामभावाओ ॥ १०८९ ॥

'जीवादिभाववादः' जीवाजीवादिपदार्थवादः यः कश्चित् दृष्टेष्टाभ्यां–वक्ष्यमाणाभ्यां न खलु विरुद्धः, अपि तु युक्त एव, 'बन्धादिसाधकः तथा' निरुपचरितबन्धमोक्षव्यञ्जकः 'अत्र' श्रुतधर्म्मे एष भवति ताप इति गाथार्थः ॥ ८० ॥ एतेन यो विशुद्धः–जीवादिभाववादेन स खलु तापेन भवति शुद्धः, स एव नान्य इति । एतेन वाऽशुद्धः सन् 'शेषयोरपि' कषच्छेदयोस्तादृशो ज्ञेयः–न तत्त्वतः शुद्ध इति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ इहैवोदाहरणमाह—सदसद्रूपे जीवे, स्वरूपपररूपाभ्यां, नित्यानित्याद्यनेकधर्म्मिणि च, द्रव्यपर्यायाभिधेयपरिणामाद्यपेक्षया, यथा 'सुखबन्धादयः' सुखादयोऽनुभूयमानरूपा बन्धादयोऽभ्युपगताः 'युज्यन्ते' घटन्ते, न 'अन्यथा' अन्येन प्रकारेण नियमाद् युज्यन्त इति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ एतदेवाह—'सतो' विद्यमानस्य 'स्वरूपेण' आत्मनियतेन, 'पररूपेण' अन्यसम्बन्धिना तथाऽसतः स्वरूपेणैवाविद्यमानस्य, न च स्वसत्त्वमेवान्यासत्त्वम्, अभिन्ननिमित्तत्वे सदसत्त्वयोर्विरोधात्, तथाहि—सत्त्वमेवासत्त्वमिति व्याहतं, न च तत्तत्र नास्ति, स्वसत्त्ववदसत्त्वे तत्सत्त्वप्रसङ्गादिति पररूपासत्त्वधर्म्मकं स्वरूपसत्त्वं विशिष्टं भवति, अन्य-

विशेषतः ॥ १ ॥ " तथा कन्दर्प्पादिकरणं भ्रूत्क्षेपादिना, तथाऽसभ्यवचनाभिधानं च–ब्रह्मघातकोऽहमित्यादि, एवं किल तद्वेदनीयकर्म्मक्षय इति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ तथा 'अन्यधार्मिकाणां' तीर्थान्तरीयाणामुच्छेदो–विनाशः, यथोक्तम्–"अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वा, असुरा इव विष्णुना । उच्छेदनीयास्तेषां हि, वधे दोषो न विद्यते ॥ १ ॥" इति । तथा भोजनं गृह एवैकान्नं तदनुग्रहाय, तथा असिधारादि चैतत् प्रकृष्टेन्द्रियजयाय, एतत्पापं–पापहेतुत्वाद्वाह्यमनुष्ठानमशोभनमिति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ इहैव तापविधिमाह—

जीवाइभाववाओ जो दिट्ठिट्ठाहिं णो खलु विरुद्धो। बंधाइसाहगो तह एत्थ इमो होइ तावोत्ति ॥ १०८० ॥
एएण जो विसुद्धो सो खलु तावेण होइ सुद्धोत्ति। एएण वा असुद्धो सेसेहिवि तारिसो नेओ ॥ १०८१ ॥
संतासंते जीवे णिच्चाणिच्चायणेगधम्मे अ। जह सुहबंधाईआ जुज्जंति न अण्णहा निअमा ॥ १०८२ ॥
संतस्स सरूवेणं पररूवेणं तहा असंतस्स। हंदि विसिट्ठत्तणओ होंति विसिट्ठा सुहाईआ ॥ १०८३ ॥
इहरा सच्चामित्ताइभावओ कह विसिट्ठया एसिं?। तयभावम्मि तयत्थे हन्त पयत्तो महामोहो ॥ १०८४ ॥
निच्चो वेगसहावो सहावभूअम्मि कह णु सो दुक्खे?। तस्सुच्छेअनिमित्तं असंभवाओ पयट्टिज्जा ॥१०८५॥
एगंतानिच्चोऽवि अ संभवसमणंतरं अभावाओ। परिणामहेउविरहा असंभवाओ उ तस्स त्ति ॥१०८६॥

जह देवाणं संगीअगाइकज्जम्मि उज्जमो जइणो । कंदप्पाईकरणं असब्भवयणाभिहाणं च ॥ १०७८॥
तह अन्नधम्मिआणं उच्छेओ भोअण गिहेगऽण्णं । असिधाराइ अ एअं पावं वज्झं अणुट्ठाणं ॥ १०७९ ॥

सदाऽप्रमत्ततया हेतुभूतया 'संयमयोगेषु' कुशलव्यापारेषु 'विविध[प्र]भेदेषु' अनेकप्रकारेषु या 'धार्म्मिकस्य' साधोः 'वृत्तिः' वर्त्तना एतद्बाह्यमनुष्ठानमिहाधिकृतमिति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ 'एतेन' अनुष्ठानेन न बाध्यते, सम्भवति च वृद्धिं याति 'तद्द्वितयमपि' विधिप्रतिषेधरूपं नियमेन, 'एतद्वचनेन' यथोदितानुष्ठानोक्त्या शुद्धो य आगमः स छेदेन शुद्ध इति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ इहैवोदाहरणमाह—यथा पञ्चसु समितिषु–ईर्यासमित्यादिरूपासु तिसृषु च गुप्तिषु–मनोगुप्त्यादिषु अप्रमत्तेन सता सर्वमेवानुष्ठानं कर्त्तव्यं 'यतिना' साधुना, सदा कायिकाद्यपि, आस्तां तावदन्यदिति गाथार्थः॥७४॥ तथा—ये खलु प्रमादजनकाः परम्परया वसत्यादयः, आदिशब्दात् स्थानदेशपरिग्रहः, तेऽपि वर्जनीया एव, सर्वथा 'मधुकरवृत्त्या' गृहिकुसुमपीडापरिहारेण तथा पालनीय एवात्मा, नाकाले त्याज्य इति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ अत्र व्यतिरेकमाह—यत्र तु प्रमत्ततया हेतुभूतया 'संयमयोगेषु' संयमव्यापारेषु 'विविधभेदेषु' विचित्रेष्वित्यर्थः नो 'धार्म्मिकस्य' तथाविधयतेः 'वृत्तिः' वर्त्तना अननुष्ठानं वस्तुस्थित्या तद् भवति, तत्कार्यासाधकत्वादिति गाथार्थः ॥७६॥ एतेन–अनुष्ठानेन बाध्यते सम्भवति च वृद्धिमुपगच्छति च 'तद्द्वयं' विधिप्रतिषेधरूपं न नियमेन, 'एतद्वचनोपेतः' इत्थंविधानुष्ठानवचनेन (वनः)अन्यः आगमः स छेदेन–प्रस्तुतेन न शुद्ध इति गाथार्थः ॥७७॥ अत्रैवोदाहरणमाह—यथा देवानां सङ्गीतकादिनिमित्तमुद्यमो 'यतेः' प्रव्रजितस्य, यथोक्तम्–"सङ्गीतकेन देवस्य, प्रीती रावणवाद्यतः । तत्प्रीत्यर्थमतो यत्नः, तत्र कार्यो

च्चितमिति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ व्यतिरेकतः कपशुद्धमाह—स्थूलः—अनिपुणः न सर्वविषयः—अव्यापकः सावद्ये वस्तुनि यत्र भवति प्रतिषेधः आगमे, रागादिविकुट्टनसमर्थं न च ध्यानाद्यपि यत्र, स 'तदशुद्धः' कपाशुद्ध इति गाथार्थः ॥ ७० ॥ अत्रैवोदाहरणमाह—यथा पञ्चभिः कारणैः—प्राण्यादिभिः बहुभिश्च—एकेन्द्रियादिभिरेका हिंसा, यथोक्तं—'प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा । प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापद्यते हिंसा ॥ १ ॥' तथा 'अनस्थिमतां शकटभरेणैको घात' इति, तथा मृषा विसंवादे वास्तव इति, आह—"असन्तोऽपि स्वका दोषाः, पापशुद्ध्यर्थमीरिताः । न मृषायै विसंवादविरहात्तस्य कस्यचित् ॥ १ ॥" इत्यादौ विचारे, तथा ध्याने च ध्यातव्यमकारादि, यथोक्तम्—"ब्रह्मोकारोऽत्र विज्ञेयः, अकारो विष्णुरुच्यते । महेश्वरो मकारस्तु, त्रयमेकत्र तत्त्वतः ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ छेदमधिकृत्याह—

सइ अप्पमत्तयाए संजमजोएसु विविहभेएसु । जा धम्मिअस्स वित्ती एअं वज्झं अणुट्ठाणं ॥ १०७२ ॥
एएण न वाहिज्जइ संभवइ अ तं दुगंपि निअमेण । एअव्वयणेणं सुद्धो जो सो छेएण सुद्धोत्ति ॥ १०७३ ॥
जह पंचसु समिईसुं तीसु अ गुत्तीसु अप्पमत्तेणं । सव्वं चिअ कायव्वं जइणा सइ काइगाईवि ॥ १०७४ ॥
जे खलु पमायजणगा वसहाई तेवि वज्जणिज्जाउ । महुअरवित्तीअ तहा पालेअव्वो अ अप्पाणो ॥ १०७५ ॥
जत्थ उ पमत्तयाए संजमजोएसु विविहभेएसु । नो धम्मिअस्स वित्ती अणणुट्ठाणं तयं होइ ॥ १०७६ ॥
एएणं वाहिज्जइ संभवइ अ तद्दुगं न णिअमेण । एअवयणोववेओ जो सो छेएण नो सुद्धो ॥ १०७७ ॥

लब्धश्चरणपरिणामो भावरूप इत्यर्थः, 'ततः चरणपरिणामात् सकाशाद्दुःखविमोक्षः—घातिकर्म्मभवोपग्राहिकर्म्मविमोक्षः । शाश्वतसौख्यस्ततो मोक्ष इति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ प्रासङ्गिकमभिधाय प्रकृते मीलयति—

सुअधम्मस्स परिक्खा तओ कसाईहिं होइ कायव्वा । तत्तो चरित्तधम्मो पायं हेउ (होइ) त्ति काऊणं ॥

'श्रुतधर्मस्य' चारित्रधर्मव्यवस्थाकारिणः 'परीक्षा' विचारणा ततः 'कषादिभिः' कषच्छेदतापैर्भवति कर्त्तव्या, किमित्यत्राह—'ततः' श्रुतधर्म्मात् चरित्रधर्म्मः 'प्रायो' बाहुल्येन भवतीतिकृत्वा, तस्मिन् परीक्षिते स परीक्षित एवेति गाथार्थः६७

सुहुमो असेसविसओ सावज्जे जत्थ अत्थि पडिसेहो ।
रागाइविअडणसहं झाणाइ अ एस कससुद्धो ॥ १०६८ ॥

जह मणवयकाएहिं परस्स पीडा दढं न कायव्वा । झाएअव्वं च सया रागाइविवक्खजालं तु ॥१०६९ ॥
थूलो ण सव्वविसओ सावज्जे जत्थ होइ पडिसेहो । रागाइविअडणसहं न य झाणाईवि तह(य)सुद्धो१०७०
जह पंचहिं बहूएहि व एगा हिंसा मुसं विसंवाए । इच्चाओ झाणम्मि अ झाएअव्वं अगाराइं ॥ १०७१ ॥

'सूक्ष्मो' निपुणोऽशेषविषयः, व्याप्त्येत्यर्थः, 'सावद्ये' सपापे यत्रास्ति प्रतिषेधः श्रुतधर्म्मे, तथा रागादिविकुट्टनसहं—समर्थं ध्यानादि च, एष कषशुद्धः श्रुतधर्म्म इति गाथार्थः ॥६८॥ इत्थं लक्षणमभिधायोदाहरणमाह—यथा मनोवाक्कायैः करणभूतैः परस्य पीडा दृढं न कर्त्तव्या, क्षान्त्यादिभेदेन, तथा ध्यातव्यं च सदा विधिना रागादिविपक्षजालं तु यथो-

सम्मं अन्नायगुणे सुंदररयणम्मि होइ जा सद्धा।
तत्तोऽणंतगुणा खलु विन्नायगुणम्मि बोद्धव्वा ॥ १०६४ ॥
तम्हा उ भावसम्मं एवंविहमेव होइ नायव्वं। पसमाइलिंगजणयं निअमा एवंविहं चेव ॥ १०६५ ॥
तत्तो अ तिव्वभावा परिसुद्धो हेठ (होइ) चरणपरिणामो।
तत्तो दुक्खविमोक्खो सासयसोक्खो तओ मोक्खो ॥ १०६६ ॥

ततश्च 'द्रव्यसम्यक्त्वं' वक्ष्यमाणस्वरूपं, ततश्च द्रव्यसम्यक्त्वात् 'से' तस्य भवति 'भावसम्यक्त्वमेव' वक्ष्यमाणलक्षणं, ततश्चरणक्रमेण—चरणोपशमलक्षणेन केवलज्ञानादिसम्प्राप्तिर्भवति, आदिशब्दात् सिद्धिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ ६२ ॥ द्रव्यसम्यक्त्वादिस्वरूपमाह—जिनवचनमेव तत्त्वं नान्यदित्यत्र रुचिर्भवति द्रव्यसम्यक्त्वम्, अनाभोगवद्रुचिमात्रं, 'यथाभावाद्' यथावस्थित(व)स्तुग्राहिणः ज्ञानाच्छ्रद्धापरिशुद्धं स्वकार्यकारितया भावसम्यक्त्वं—नैश्चयिकमिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ एतदेव भावयति—'सम्यग्(ग)ज्ञातगुणे' मनाग्ज्ञातगुण इत्यर्थः 'सुन्दररत्ने' चिन्तामण्यादौ भवति या 'श्रद्धा' उपादेयविषया 'ततः' श्रद्धाया अनन्तगुणैव तीव्रतया विज्ञातगुणे तस्मिन् बोद्धव्येति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ यस्मादेवं तस्माद् भावसम्यक्त्वमेवंविधमेव यथोक्तलक्षणं भवति ज्ञातव्यं प्रशमादिलिङ्गजनकं, स्वकार्यकृदित्यर्थः, नियमादेवंविधमेव, नान्यदिति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ 'ततश्च' यथोदितात् सम्यक्त्वात् तीव्रो भावः शुभः, ततः तीव्रभावात् परिशुद्धो भवति निष्क-

'तस्य' भव्यत्वस्य 'तत्स्वभावत्वम्' अनुपक्रमणादिस्वभावत्वम्, अत्राह—एवं चार्थतोऽनूपक्रमणादिरूपत्वाभ्युपगमात् इष्ट एव—अभ्युपगत एव मदीयः पक्ष इति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ ततश्च एतदेव भावयति—यत्तद्भव्यत्वमनादिस्वरूपं वर्त्तते, एकमपि च तद्, अनादिमये च न तु प्रकारवद्, अतः स 'तस्य' भव्यत्वस्य तथाभावोऽपि न्यायसाधित उपक्रमणादिरूपः आत्मभूतः, स्वो भावः स्वभाव इतिकृत्वेष्ट एव मदीयः पक्ष इति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ स्वभाववाद एव तर्हि तत्त्ववादः, अनङ्गं शेषाः कर्म्मादय इत्याशङ्क्याह—

ण य सेसाणवि एवं कम्माईणं अणंगया एत्थं। तं चिअ तहासहावं जं तेऽवि अविक्खइ तहेव ॥ १०६० ॥

तस्समुदायाओ चिअ तत्तेण तहा विचित्तरूवाओ। इअ सो सिअवाएणं तहाविहं वीरिअं लहइ ॥ १०६१ ॥

न च शेषाणामप्येवं—स्वभावस्थापने कर्म्मादीनामनङ्गताऽत्र—विचारे, कुत इत्याह—तदेव—भव्यत्वं तथास्वभावं यत् तानपि—कर्मादीनपेक्षते जीववीर्योल्लसनं प्रति, तथैव चित्रतया भवतीति गाथार्थः ॥ ६० ॥ ततश्च—तत्समुदायादेव—स्वभावादिसमुदायादेव 'तत्त्वेन' परमार्थेन 'तथा' तेन प्रकारेण विचित्ररूपात् समुदायात् 'इय' एवं स प्रक्रान्तो जीवः 'स्याद्वादेन' अन्योऽन्यापेक्षया तथाविधं वीर्यं लभते, यत उल्लसत्यपूर्वकरणेनेति गाथार्थः ॥ ६१ ॥

तत्तो अ दव्वसम्मं तओ अ से होइ भावसम्मं तु। तत्तो चरण कमेणं केवलनाणाइसंपत्ती ॥ १०६२ ॥

जिणवयणमेव तत्तं एत्थ रुई होइ दव्वसम्मत्तं। जहभावा णाणसद्धा परिसुद्धं तस्स सम्मत्तं ॥ १०६३ ॥

करणायाह—'कर्म्मादेः' कर्म्मकालपुरुषकारव्रातस्य 'तत्स्वभावत्वं' भव्यत्वोपक्रमणादिस्वभावत्वं यथोक्तफलहेतुर्भविष्यति, अत्राह—एतदपि कर्म्मादि तत्स्वभावत्वमपि कल्प्यमानं न 'तस्य' भव्यत्वस्य 'अतत्स्वभावत्वे' कर्म्मादिभिस्तथोपक्रमणाद्य-स्वभावत्वे किञ्चिदित्याह, 'फलभेदसाधकं' काललिङ्गक्षेत्रादिभेदेन मोक्षसाधकमित्यर्थः । हन्दीत्युपदर्शने चिन्तयितव्यमे-तत् 'सुबुद्ध्या' निपुणबुद्ध्या अभव्यमोक्षप्रसङ्गादिद्वारेणेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ अथ देशनादि—देशनानुष्ठानादि 'नैवं-स्वभावं' न मोक्षजननस्वभावं, 'यद्' यस्मात्ततोऽभव्यानां प्राणिनां (नो) खलु मोक्षप्रसङ्ग इति दोषाभाव इति, अत्राह—कथं त्वन्यत्र—मोक्षगामिनि सत्त्वे 'तद्' देशनादि 'एवं' मोक्षजननस्वभावमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ इहैवाक्षेपपरिहारशेषमाह—

भवत्ते सइ एवं तुल्ले एअंमि कम्ममाईण । तमभवदेसणासममित्थं निअमेण दट्ठवं ॥ १०५७ ॥
अह एअद्दोसभया ण मयं सइ तस्स तस्सभावत्तं । एवं च अत्थओ णणु इट्ठो अ मईअपक्खोत्ति ॥१०५८॥
जं तमणाइसरूवं एक्कंपि हु तं अणाइमं चेव । सो तस्स तहाभावोऽवि अप्पभूओत्ति काऊण ॥१०५९॥

भव्यत्वे सत्येवं—देशनादिमोक्षजननस्वभावमित्याशङ्क्याह—'तुल्ये' सर्वथा सदृश एव 'एतस्मिन्' भव्यत्वे सर्वजीवानां 'कर्म्मादीनां' कर्म्मकालपुरुषकाराणां 'तत्' तत्स्वभावत्वं भव्यत्वोपक्रमणादिरूपं अभव्यदेशनासमं, तत्त्वतो न तत्स्वभा-वत्वमभव्यभव्यत्ववत्सदृशस्यासादृश्यकारणानुपपत्तेः 'अत्र' व्यतिकरे नियमेन द्रष्टव्यम्—अवश्यन्तयैतदेवं भावनीयम्, एवमपि तथाभ्युपगमे सत्यभव्यमोक्षप्रसङ्गोऽनिवृत्त एवेति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ अथैतद्दोषभयात् कारणात् न मतं सदा

जातमिह—लोके मुद्गरन्धनाद्यपि बाह्यम्, आस्तां तावदन्यद्, यत एवं तत् सर्वे—कालादयः समुदिता एव हेतवः, सर्वस्य कार्यस्येति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ अत्रापि—प्रक्रमे तावत् स्वभाव इष्ट एवम्—उक्तेन प्रकारेण, ततो न दोषो 'नः' अस्माकं, कर्म्मवादत्यागस्वभावाभ्युपगमरूपः, 'स पुनः' स्वभावोऽत्र—प्रक्रान्ते विज्ञेयः, किम्भूत इत्याह—भव्यत्वमेव—अनादिपारिणामिकभावलक्षणं चित्रं तु, तदा तथापाकादियोग्यतयेति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ 'तुल्यमेवैत'दित्याशङ्कापनोदायाह—

एअं एगंतेणं तुल्लं चिअ जइ उ सव्वजीवाणं। ता मोक्खोऽवि हु तुल्लो पावइ कालाइभेएणं॥१०५३॥
ण य तस्सेगंतेणं तहासहावस्स कम्ममाईहिं। जुज्जइ फले विसेसोऽभव्वाणवि मोक्खसंगं च॥१०५४॥
कम्माइ तस्सभावत्तणंपि नो तस्स तस्सभावत्ते। फलभेअसाहगं हंदि चिंतिअव्वं सुवुद्धीए॥१०५५॥
अह देसणाइ णेवंसहावओ(मो) जं तओ अभव्वाणं। नो खलु मोक्खपसंगो कहं तु अन्नत्थ तं एवं?॥१०५६॥

एतदपि—भव्यत्वमेकान्तेन—सर्वथा तुल्यमेव—अविशिष्टमेव यदि तु सर्वजीवानां—भव्यानामिष्यते ततो मोक्षोऽपि—तद्योग्यताफलरूपः 'तुल्यः प्राप्नोति' सदृश एवापद्यते, कथमित्याह—'कालाद्यभेदेन' काललिङ्गक्षेत्राद्यभेदेनेति गाथार्थः ॥५३॥ न च 'तस्य' भव्यत्वस्यैकान्तेन—सर्वथा 'तथास्वभावस्य' तुल्यस्वभावस्य सतः 'कर्मादिभ्यः' कर्म्मकालपुरुषकारेभ्यो 'युज्यते' घटते फले विशेषः—मोक्षाख्ये कालादिभेदलक्षणः, कुत इत्याह—अभव्यानामपि मोक्षसङ्गात्, तेषामेतत्स्वभावत्वेऽपि देशनादिभ्यः तद्विशेषापत्तेरिति गाथार्थः ॥५४॥ तत्तुल्यतायामपि कर्म्मादेस्तत्स्वभावत्वात् स फलभेद इति मोहनिरा-

कालो सहाव निअई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता । मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं ॥ १०४९ ॥
सव्वेऽवि अ कालाई इअ समुदाएण साहगा भणिआ । जुज्जंति अ एमेव य सम्मं सव्वस्स कज्जस्स॥१०५०॥
नवि कालाईहिंतो केवलएहिं तु जायए किंचि । इह मोग्गरंधणाइवि ता सव्वे समुदिया हेऊ ॥१०५१॥
एत्थंपि ता सहावो इट्ठो एवं तओ ण दोसो णं। सो पुण इह विन्नेओ भव्वत्तं चेव चित्तं तु ॥१०५२॥

आह—एवं सति परित्यक्तो भवता जैनेन निजोऽत्र—अधिकारे कर्म्मवाद एव, कथमित्याह—भणितप्रकारात् खल्वित्यवधारणे स्वभाववादाभ्युपगमेन हेतुनेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ भण्यतेऽत्र नैकान्तेनास्माकं—जैनानां कर्म्मवाद एवेष्टः, न च न स्वभाववाद इष्टः, श्रुतकेवलिना यतो भणितं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ केनेत्याह—आचार्यसिद्धसेनेन सम्मत्यां भणितं वक्ष्यमाणं, सम्मत्यां वा प्रतिष्ठितयशसा तेन, तथा दुष्षमानिशादिवाकरकल्पत्वात् कारणात्तदाख्येन दिवाकरनाम्नेति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ यद्भणितं तदाह—कालः स्वभावो नियतिः पूर्वकृतं पुरुषकारणं 'एकान्ता' एते कालादय एव कारणं विश्वस्येत्येवम्भूताः मिथ्यात्वं, त एव समासतो भवन्ति सम्यक्त्वं, सर्व एव समुदिताः सन्तः फलजनकत्वेनेति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ एतदेव स्पष्टयति—सर्वेऽपि च कालादयः—अनन्तरोपन्यस्ताः 'इय' (इति) समुदायेन इतरेतरापेक्षाः साधकाः भणिताः प्रवचनज्ञैः, युज्यन्ते चैवमेव सम्यक् साधकाः सर्वस्य कार्यस्य—रन्धनादेः, अन्यथा साधकत्वायोगादिति गाथार्थः ॥ ५० ॥ एतदेवाह—नहि कालादिभ्यः—अनन्तरोदितेभ्यः केवलेभ्य एव जायते किञ्चित् कार्य-

स्वभावत्वात्, भवत्युल्लसिते च जीववीर्ये 'तत्'सम्यक्त्वं, 'तदपि च' जीववीर्योल्लसनं प्रायस्तत एव–श्रुतधर्म्मादिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ कथमेतदेवमित्याह–यथा 'क्षारादिभ्यः' क्षारमृत्पुटपाकादिभ्यः असकृदपि तथास्वभावतया 'अप्राप्तवेधपरिणामः' अनासादितशुद्धिपूर्वरूप इत्यर्थः 'जात्यमणिः'पद्मरागादिरिति योगः 'विध्यति' शुद्धिपूर्वरूपमासादयति 'तेभ्य एव' क्षारमृत्पुटपाकादिभ्यो जात्यमणिः 'शुद्ध्यति' एकान्तनिर्म्मलीभवति, तत एव–क्षारादेरिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह–तथा श्रुतधर्म्मादेव यथोक्तलक्षणात् सकाशाद् असकृदप्यप्राप्तवीर्यपरिणामः–अनासादिततथाविधकुशलभावः समुल्लसति, स्ववीर्यस्फुरणेन, 'तत एव' स्ववीर्योल्लासात् श्रुतधर्म्माद्वा पारम्पर्येण भव्यो जीवो 'विशुध्यति च' सम्यग्दर्शनादिक्रमेण सिध्यतीति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ इहैव भावार्थमाह–तस्यैवेष स्वभावो जीवस्य यत्तावत्सु, तस्य यावन्तस्ते, 'तथाऽतीतेषु' तेन प्रकारेण–तदाचार्यसन्निधानादिना व्यपगतेषु 'श्रुतसंयोगेषु' द्रव्यश्रुतसम्बन्धिषु 'ततः' तदनन्तरं ततः स्वभावाद्वा तथाविधं वीर्यं लभते, यथाविधेन ग्रन्थिं भित्त्वा दर्शनाद्यवाप्य सिद्ध्यतीति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

आहेवं परिचत्तो भवया णिअगोऽत्थ कम्मवाओ उ। भणिअपगाराओ खलु सहाववायब्भुवगमेणं॥१०४६॥
भण्णइ एगंतेणं अम्हाणं कम्मवाय नो इट्ठो। ण य णो सहाववाओ सुअकेवलिणा जओ भणिअं॥१०४७॥
आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठिअजसेणं । दूसमणिसादिवागरकप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥ १०४८॥

ग्रैवेयकाणि, क्रियामात्रफलमेतन्निरनुबन्धित्वात्तुच्छमिति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ यदि नामैवं ततः किमित्याह—लिङ्गे च यथोदिते सति 'यथायोगं' यथासम्भवं भवति 'अदः' श्रुतधर्म्मः प्राणिनाम्, उपपत्तिमाह—सूत्रपौरुष्यादि 'यद्' यस्मात् 'तत्र' लिङ्गे 'नित्यकर्म्म' नित्यकरणीयं प्रज्ञप्तं वीतरागैर्भगवद्भिरिति गाथार्थः ॥ ४० ॥ निगमयन्नाह—'एवम्' उक्तेन प्रकारेण प्राप्तोऽयं खलु—श्रुतधर्म्मः न च सम्यक्त्वम्, इयता कालेन सिद्धिप्रसङ्गात्, तत्'कथं' केन प्रकारेण 'ततः' श्रुतधर्म्माद्'एतत्' सम्यक्त्वं ?, कथं वा एष एव श्रुतधर्म्मः एतस्य—सम्यक्त्वस्य कालभेदेन भवतः सतो हेतुः ?, नैव, तद्भावभावित्वाभावादिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ अत्रोत्तरमाह—

भण्णइ पत्तो सो ण उ उल्लसिअं जीववीरिअं कहवि। होउल्लसिए अ तयं तंपि अ पायं तओ चेव ॥१०४२॥

जह खाराईहिंतो असइंपि अपत्तवेहपरिणामो। विज्झइ तेहिंतो च्चिअ जच्चमणी सुज्झइ तओ उ॥१०४३॥

तह सुअधम्माओच्चिय असइंपि अपत्तविरिअपरिणामो।
उल्लसई तत्तो च्चिअ भव्वो जीवो विसुज्झइ अ ॥ १०४४ ॥

तस्सेव य(वे)स सहावो जं तावइएसु तह अईएसु। सुअसंजोएसु तओ तहाविहं वीरिअं लहइ ॥१०४५॥

भण्यते प्राप्तोऽसौ श्रुतधर्म्मः पुरा बहुधैव, न तूल्लसितं कर्म्मविजयाय 'जीववीर्यम्' आत्मसामर्थ्यं कथमपि, तथा-

पश्चादपि तस्य—हेतोरपरस्य घटने किं कारणम् ?, अथाकारणं तदपरहेतुघटनं नित्यं तद्भावाभावौ, तदविशेषात्, कारणाभावे चापरहेतुघटनस्य नाहेतुः कश्चिदपर इति गाथार्थः ॥ २४ ॥ एतदेवाह—तस्यापि—हेतुघटनहेतोरेवमयोगाद्, अकारणसकारणत्वेनोक्तदोषानिवृत्त्या, उपचयमाह—'कर्म्मायत्ताश्च' कर्म्मपरिणतिहेतुकाश्च 'सर्वसंयोगा' बाह्याभ्यन्तराः, तदपि कर्म्मोत्कृष्टस्थितेरारभ्य ग्रन्थिं यावत् कर्म्मग्रन्थिमनन्तशः—अनन्तां वारां प्राप्तम्, आगमोऽयमिति गाथार्थः ॥ २५ ॥ न चैतद्भेदत इति—ज्ञातावेकवचनं न चैतद्भेदेभ्यः—उत्कृष्टस्थितिग्रन्थ्यपान्तरालवर्त्तिभ्यः तदन्यत्कर्म्म, ततश्चैतदन्तर्गतेनैवानेन भाव्यम्, एतच्च अत्र व्यतिकरे चरितार्थं—निष्ठितप्रयोजनं इत्यर्थः । कुत इत्याह—सकृद्भावाद् अनादिमता कालेन वहुधाऽप्राप्तेः, एवं सति सम्यक्त्वं कथं कालभेदेन—अतीतादिना ?, उक्तवत्तत्त्वतो हेत्वविशेषादिति गाथार्थः ॥ २६ ॥ अत्रोत्तरमाह—किमन्येन हेतुनाऽत्र ?, तत एव—श्रुतधर्म्मात् प्राय 'इदं' सम्यक्त्वं भवति, औपशमिकव्यवच्छेदार्थं प्रायोग्रहणं, यच्च कालभेदेनैतदतीतादिना भवति 'अत्रापि' कालभेदेन भवने 'तक एव' श्रुतधर्म्म एव हेतुः, अत्राह—नन्वसौ—श्रुतधर्म्मः प्राप्तः पुरा 'बहुधा' अनेकश इति गाथार्थः ॥ २७ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—सर्वजीवानामेव सांव्यवहारिकराश्यन्तर्गतानां 'यद्' यस्मात् 'सूत्रे' प्रज्ञापनादौ ग्रैवेयकेषु नवस्वप्युपपातो भणितः, तन्मुक्तशरीराणामानन्त्याभिधानात्, न चासौ—उपपातः एतल्लिङ्गं जिनप्रणीतं मुक्त्वा, यतो भणितमागमज्ञैः पूर्वसूरिभिरिति गाथार्थः ॥ २८ ॥ किं तदित्याह—
ये 'व्यापन्नदर्शना' निह्नवादयः 'लिङ्गग्रहणं कुर्वन्ति' प्रतिदिनं रजोहरणादिधारणमनुतिष्ठन्ति, न क्रीडया, अपि तु 'श्रामण्ये' श्रमणभावविषयं (ये) स्वबुद्ध्या, तेषामपि च अपिशब्दादनादिमिथ्यादृष्टीनामपि च उपपात 'उत्कृष्टः' सर्वोत्तमो यावद्

किं अन्नेण तओ च्चिअ पायमिअं जं च कालभेएणं।
एत्थवि तओऽवि हेऊ नणु सो पत्तो पुरा बहुहा ॥१०३७॥

सव्वजिआणं चिअ जं सुत्ते गेविज्जगेसु उववाओ। भणिओ ण य सो एअं लिंगं मोत्तुं जओ भणियं ॥१०३८॥
जे दंसणवावन्ना लिंगग्गहणं करिंति सामण्णे। तेसिं पिअ उववाओ उक्कोसो जाव गेविज्जा ॥ १०३९ ॥
लिंगे अ जहाजोग्गं होइ इमं सुत्तपोरिसाईअं। जं तत्थ निच्चकम्मं पन्नत्तं वीअरागेहिं ॥१०४०॥
एवं पत्तोऽयं खलु न य सम्मत्तं कहं तओ एअं ?। कह वेसोच्चिअ एअस्स कालभेएण हेउत्ति ॥१०४१॥

भूतार्थश्रद्धानं च सम्यक्त्वं भवति, भूतार्थवाचकात् प्राय इति 'श्रुतधर्म्माद्' आगमात्, स पुनः प्रक्षीणदोषस्य वचनमेवेति गाथार्थः ॥ ३० ॥ किमित्यत्राह–यस्मादपौरुषेयं नैकान्तेनेह विद्यते वचनं, पुरुषव्यापाराभावेऽनुपलब्धेः, भूतार्थवाचकं न च सर्वमप्रक्षीणदोषस्य वचनमिति, तस्माद्यथोक्त एव श्रुतधर्म इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

आह–'ततोऽपि' श्रुतधर्मात् न नियमात् 'जायते' भवति भूतार्थश्रद्धानं तु-सम्यक्त्वं, कुत इत्याह–यदसावपि श्रुतधर्म्मः प्राप्तपूर्वोऽनन्तशः सर्वजीवैः,द्रव्यलिङ्गग्रहण इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ न चास्ति कश्चिदन्योऽत्र हेतुः सम्यक्त्वस्याप्राप्तपूर्व इति, कथमित्याह–यदनादौ संसारे संसरतः केन सार्द्धं न घटितो योगः ?, सर्वेण घटित इति गाथार्थः ॥३३॥

च मोक्षवीजं वर्त्तते, तत्पुनः स्वरूपेण भूतार्थश्रद्धानरूपं तथा प्रशमादिलिङ्गगम्यमेतत् शुभात्मपरिणामरूपं, जीवधर्म्म इति गाथार्थः ॥ २८ ॥ तस्मिन् सति सुखं ज्ञेयं—सम्यक्त्वे अकलुषभावस्य हन्दि जीवस्य—शुद्धाशयस्य, अनुवन्धश्च शुभः खलु तस्मिन् सति धर्म्मप्रवृत्तस्य ' भावेन ' परमार्थेनेति गाथार्थः ॥ २९ ॥

भूअत्थसद्दहाणं च होइ भूअत्थवायगा पायं । सुअधम्माओ सो पुण पहीणदोसस्स वयणं तु ॥१०३०॥

जम्हा अपोरिसेअं नेगंतेणेह विज्जई वयणं । भूअत्थवायगं न य सव्वं अपहीणदोसस्स ॥१०३१॥

आह तओऽवि ण नियमा जायइ भूअत्थसद्दहाणं तु । जं सोऽवि पत्तपुव्वो अणंतसो सव्वजीवेहिं॥१०३२॥

ण य अत्थि कोइ अन्नो एत्थं हेऊ अपत्तपुव्वोत्ति ।
जमणादौ संसारे केण समं णप्पडि (णं सद्धिं ण पडि) जोगो ॥ १०३३ ॥

पच्छावि तस्स घडणे किं कारणमह अकारणं तं तु । निच्चं तब्भावाई कारणभावे अ णाहेऊ ॥ १०३४ ॥

तस्सावि एवमजोगा कम्मायत्ता य सव्वसंजोगा ।
तंपुक्कोसट्ठिईओ गंठिं जाऽणंतसो पत्तं ॥ १०३५ ॥

ण य एयभेयओ तं अन्नं कम्मं अणेण चरियत्थं । सइभावाऽणाइमया कह सम्मं कालभेएणं ? ॥१०३६॥

एत्थ य अवंचिए ण हि वंचिज्जइ तेसु जेण तेणेसो ।
सम्मं परिक्खिअव्वो बुहेहिं मइनिउणदिट्ठीए ॥ १०२६ ॥
कल्लाणाणि अ इहइं जाइं संपत्तमोक्खबीअस्स । सुरमणुएसु सुहाइं नियमेण सुहाणुबंधीणि ॥१०२७॥
सम्मं च मोक्खबीअं तं पुण भूअत्थसद्दहणरूवं । पसमाइलिंगगम्मं सुहायपरिणामरूवं तु ॥ १०२८ ॥
तम्मि सइ सुहं नेअं अकलुसभावस्स हंदि जीवस्स ।
अणुबंधो अ सुहो खलु धम्मपवत्तस्स भावेण ॥ १०२९ ॥

एभिः कषादिभिर्यो न परिशुद्धस्त्रिभिरपि अन्यतरस्मिन् वा कषादौ न सुष्ठु निर्घ(र्व)टितः, न व्यक्त इत्यर्थः, स तादृशो धर्म्मः—श्रुतादिः 'नियमाद्' अवश्यन्तया ' फले' स्वसाध्ये विसंवदति—न तत्साधयतीति गाथार्थः ॥ २४ ॥ एष चोत्तमो 'यद्' यस्मात् पुरुषार्थो वर्त्तते, ' अत्र ' धर्मे वञ्चितः स नियमाद् वञ्चयते लोकः सकलेषु कल्याणेषु वक्ष्यमाणेषु, न सन्देहः, इत्थमेवैतदिति गाथार्थः ॥ २५ ॥ अत्र चावञ्चितः सन् न हि वञ्चयते तेषु कल्याणेषु येन हेतुना तेनैष सम्यग् परीक्षितव्यः श्रुतादिधर्म्मः बुधैर्मतिनिपुणदृष्ट्या—सूक्ष्मबुद्ध्येति गाथार्थः ॥ २६ ॥ कल्याणानि चात्र—विचारे यानि सम्प्राप्त-मोक्षबीजस्य प्राणिनः सुरमनुष्येषु सुखानि विचित्राणि नियमेन शुभानुबन्धीनि, न्याय्यत्वादिति गाथार्थः ॥२७॥ सम्यक्त्वं

बज्झाणुट्ठाणेणं जेण न बाहिज्जई तयं नियमा। संभवइ अ परिसुद्धं सो उण धम्मम्मि छेउत्ति॥१०२२॥

जीवाइभाववाओ बंधाइपसाहगो इहं तावो। एएहिं सुपरिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥१०२३॥

सम्यग् धर्मविशेषः पारमार्थिकः यत्र ग्रन्थरूपे कषच्छेदतापपरिशुद्धः–त्रिकोटिदोषवार्जितः वर्ण्यते, सम्यक् निर्व्यूढमेवंविधं भवति ग्रन्थरूपं, तच्चोत्तमश्रुतादि, उत्तमश्रुतं–स्तवपरिज्ञा इत्येवमादीति गाथार्थः ॥ २० ॥ कषादिस्वरूपमाह–प्राणवधादीनां पापस्थानानां सकललोकसम्मतानां यस्तु प्रतिषेधः शास्त्रे, ध्यानाध्ययनादीनां यश्च विधिस्तत्रैव, एष धर्मकषो वर्त्तत इति गाथार्थः ॥ २१ ॥ 'बाह्यानुष्ठानेन' इतिकर्त्तव्यतारूपेण येन न बाध्यते 'तद्' विधिप्रतिषेधद्वयं नियमात्, सम्भवति चैतत्परिशुद्धं–निरतिचारं, स पुनस्तादृशः प्रक्रमादुपदेशोऽर्थो वा धर्म्मच्छेद इति गाथार्थः ॥ २२ ॥ जीवादिभाववादः–पदार्थवादः 'बन्धादिप्रसाधकः' बन्धमोक्षादिगुणः इह ताप उच्यते, एभिः कषादिभिः सुपरिशुद्धः सन् धर्मः श्रुतानुष्ठानरूपः धर्मत्वमुपैति, सम्यग्भवतीति गाथार्थः ॥ २३ ॥

एएहिं जो न सुद्धो अन्नयरंमि उ ण सुट्ठु निव्वडिओ।
सो तारिसओ धम्मो नियमेण फले विसंवयइ॥ १०२४ ॥

एसो उ उत्तमो जं पुरिसत्थो इत्थ वंचिओ नियमा। वंचिज्जइ सयलेसुं कल्लाणेसुं न संदेहो ॥१२०५॥

चिरप्रव्रजितं वन्दते 'अर्हन्' केवली यावद्भवत्यनभिज्ञः स चिरप्रव्रजितः, जानानो धर्मतामेनां–व्यवहारगोचरामिति गाथार्थः ॥ १६ ॥ यद्येवं कः प्रकृतोपयोग इत्याह–अत्र तु ' जिनवचनाद् ' 'भासन्तो होती'त्यादेः सूत्रात् सूत्राशातनायां दोपबहुलत्वात् कारणाद् भापमाणज्येष्ठस्यैव कर्त्तव्यं भवति ' कृतिकर्म्म ' वन्दनं नेतरस्येति गाथार्थः ॥ १७ ॥ व्याख्येयमाह–

वक्खाणेअव्वं पुण जिणवयणं णंदिमाइ सुपसत्थं । जं जम्मि जम्मि कालेजावइअं भावसंजुत्तं ॥१०१८॥

सिस्से वा णाऊणं जोग्गयरे केइ दिट्ठिवायाई । तत्तो वा निज्जूढं सेसं ते चेव विअरंति ॥१०१९॥

व्याख्यानयितव्यं पुनस्तेन जिनवचनं, नान्यत्, नन्द्यादि सुप्रशस्तं–संवेगकारि यत् यस्मिन् यस्मिन् काले यावत प्रचरति ' भावसंयुक्तं ' भावार्थसारमिति गाथार्थः ॥ १८ ॥ शिष्यान् वा ज्ञात्वा योग्यतरान् कांश्चन दृष्टिवादादि, व्याख्यानयितव्यम्, ततो वा–दृष्टिवादादेः ' निर्व्यूढम्'आकृष्टं शेपं नन्द्यादि, त एव योग्याः वितरन्ति–तदन्येभ्यो ददतीति गाथार्थः ॥ १९ ॥ निर्व्यूढलक्षणमाह–

सम्मं धम्मविसेसो जहिअं कसछेअतावपरिसुद्धो । वण्णिज्जइ निज्जूढं एवंविहमुत्तमसुआइ ॥ १०२० ॥

पाणवहाईआणं पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो । झाणज्झयणाईणं जो अ विही एस धम्मकसो ॥१०२१॥

एत्थ उ जिणवयणाओ सुत्तासायणबहुत्तदोसाउ। भासंतजिट्ठगस्स उ कायव्वं होइ किइकम्मं ॥ १०१७ ॥

व्याख्यानसमाप्तौ सत्यां, किमित्याह—योगं कृत्वा कायिकादीनाम्, आदिशब्दाद् गुरुविश्रामणादिपरिग्रहः, वन्दन्ते ततो ज्येष्ठं—प्रत्युच्चारकं श्रवणाय, अन्ये पूर्वमेव भणन्ति—यदुतादावेव ज्येष्ठं वन्दंत इति गाथार्थः ॥९॥ चोदयति कश्चिद्-यदि तु 'ज्येष्ठः' पर्यायवृद्धः कथञ्चित् सूत्रार्थधारणाविकलो जडतया कर्म्मदोषात्, ततश्च व्याख्यानलब्धिहीनोऽसौ वर्त्तते, एवं च निरर्थकं वन्दनं तस्मिन्निति गाथार्थः ॥ १० ॥ अथ वयःपर्यायाभ्यां लघुरपि कश्चिद् भापक इह ज्येष्ठो गृह्यते, रत्नाधिकवन्दने पुनस्तस्यापि लघोः आशातना भदन्त! भवतीति गाथार्थः ॥ ११ ॥ अत्राह—यद्यपि 'वयआदिभिः' वयसा पर्यायेण च लघुकः सन् 'सूत्रार्थधारणापटुः' दक्षः व्याख्यानलब्धिमान् यः कश्चित् स एवेह प्रक्रमे गृह्यते ज्येष्ठः, न तु वयसा पर्यायेणै(ण)वेति गाथार्थः ॥ १२ ॥ आशातनापि नैवं भवति प्रतीत्य जिनवचनं भाषकं, यस्माद् वन्दनकं तद्रत्नाधिकस्तेन गुणेनापि—भाषणलक्षणेन स एवेति गाथार्थः ॥ १३ ॥ एतदेव भावयति—न वयोऽत्र—प्रक्रमे सामान्यगुणचिन्तायां वा प्रमाणं, न च 'पर्यायोऽपि' प्रव्रज्यालक्षणः निश्चयनयेन, व्यवहारतस्तु युज्यते वयः पर्यायश्च, उभयनयमतं पुनः प्रमाणं सर्वत्रैवेति गाथार्थः ॥ १४ ॥ यतः—निश्चयतो दुर्विज्ञेयमेतत्—को भावे कस्मिन् शुभाशुभतरादौ वर्त्तते श्रमणः, ततश्चाकर्त्तव्यमेवैतत्प्राप्नोति, व्यवहारतस्तु क्रियत एवैतद् यः पूर्वम्—आदौ स्थितश्चारित्रे, आदौ प्रव्रजित इति गाथार्थः ॥ १५ ॥ युक्तं चैतदित्याह—व्यवहारोऽपि बलवान् वर्त्तते, यत् छद्मस्थमपि सन्तं

वक्खाणसमत्तीए जोगं काऊण काइआईणं । वंदंति तओ जिट्ठं अण्णे पुव्विच्चिअ भणंति ॥१००९॥
चोएइ जई जिट्ठो कहिंचि सुत्तत्थधारणाविकलो । वक्खाणलद्धिहीणो निरत्थयं वंदणं तम्मि ॥१०१०॥

अह वयपरिआएहिं लहुओऽविहु भासगो इहं जिट्ठो ।
रायणिअवंदणे पुण तस्सऽवि आसायणा भंते! ॥१०११॥

जइऽवि वयमाइएहिं लहुओ सुत्तत्थधारणापडुओ ।
वक्खाणलद्धिमं जो सो च्चिअ इह घिप्पई जिट्ठो ॥ १०१२ ॥

आसायणावि नेवं पडुच्च जिणवयणभासगं जम्हा । वंदणगं रायणिओ तेण गुणेणंपि सो चेव ॥ १०१३ ॥

ण वयो एत्थ पमाणं ण य परिआओ उ निच्छयणएणं ।
ववहारओ उ जुज्जइ उभयणयमयं पुण पमाणं ॥ १०१४॥

निच्छयओ दुन्नेअं को भावे कम्मि वट्टई समणो ? । ववहारओ उ कीरइ जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि॥१०१५॥
ववहारोऽवि हु बलवं जं छउमत्थंपि वंदई अरहा । जा होइ अणाभिन्नो जाणंतो धम्मयं एयं ॥१०१६॥

साधवः ते ' ततश्च ' तदनन्तरमुपयुक्ताः सन्तः प्रत्युपेक्ष्य पोत्तिं तया कायं च युगपद्वन्दन्ते गुरुं, न विषमं, भावनताः सन्त इति गाथार्थः ॥ ४ ॥ सर्वेऽपि च भूयः कायोत्सर्गं कुर्वन्ति अनुयोगप्रारम्भार्थं, तत्समाप्तौ च सर्वे पुनरपि वन्दन्ते गुरुमेव, ज्येष्ठार्यमित्यन्ये ; तदनु नासन्ने नातिदूरे गुर्ववग्रहं विहाय गुरुवचनप्रतीच्छका भवन्त्युपयुक्ता इति गाथार्थः ॥ ॥ ५ ॥ श्रवणविधिमाह–

निद्दाविगहापरिवज्जिएहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं । भत्तिबहुमाणपुव्वं उवउत्तेहिं सुणेअव्वं ॥१००६॥
अहिकंखंतेहिं सुभासिआइं वयणाइं अत्थमहुराइं । विम्हिअमुहेहिं हरिसागएहिं हरिसं जणंतेहिं ॥१००७॥
गुरुपरिओसगएणं गुरुभत्तीए तहेव विणएणं । इच्छिअसुत्तत्थाणं खिप्पं पारं समुवयंति ॥१००८॥

निद्राविकथापरिवर्जितैः सद्भिः वाह्यचेष्टया, तथा गुप्तैः–संवृतैः वाह्यचेष्टयैव, कृतप्राञ्जलिभिः, अनेन प्रकारेण भक्तिबहुमानपूर्वं गुरौ उपयुक्तैः सूत्रार्थं श्रोतव्यमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥ तथा–अभिकाङ्क्षद्भिः–अभिलषद्भिः सुभाषितानि गुरोः सम्बन्धीनि वचनानि ' अर्थमधुराणि' परलोकानुगुणार्थानि विस्मितमुखैः शोभनार्थोपलब्ध्यागतहर्षैः रोमोद्गमादिना हर्षं जनयद्भिरुपयुक्ततया गुरोरिति गाथार्थः ॥ ७ ॥ अत्र फलमाह–गुरुपरितोषगतेन, गुरौ परितोषजातेनेत्यर्थः, गुरुभक्त्या तथैव विनयेन, भक्तिः–उपचारः विनयो–भावप्रतिबन्धः, ईप्सितसूत्रार्थानां विचित्राणां क्षिप्रं पारं समुपयान्ति, अनेनैव विधिना कर्म्मक्षयोपपत्तेरिति गाथार्थः ॥ ८ ॥

मज्जण निसिज्ज अक्खा किइकम्मुस्सग्ग वंदणं जिट्ठे। भासंतो होइ जिट्ठो न उ पज्जाएण तो वंदे ॥१००१॥

ठाणं पमज्जिऊणं दोन्नि निसिज्जाउ हौंति कायव्वा।

एक्का गुरुणो भणिआ बीआ पुण होइ अक्खाणं ॥ १००२ ॥

दो चेव मत्तगाइं खेले काइअ सदोसगस्सुचिए। एवंविहोऽवि णिच्चं वक्खाणिज्जत्ति भावत्थो ॥१००३॥
जावइआ उ सुणिंती सव्वेवि हु ते तओ अ उवउत्ता। पडिलेहिऊण पोत्तिं जुगवं वंदंति भावणया॥१००४॥
सव्वेऽवि उ उस्सग्गं करिंति सव्वे पुणोऽवि वंदंति । नासन्ने नाइदूरे गुरुवयणपडिच्छगा हौंति ॥१००५॥

मार्जनं व्याख्यास्थानस्य, निषद्या गुर्वादेः, अक्षाः—चन्दनका उपनीयन्ते, 'कृतिकर्म' वन्दनमाचार्याय, कायोत्सर्गोऽनुयोगार्थं, वन्दनं ज्येष्ठविषयम्, इह भाषमाणो भवति ज्येष्ठः नतु पर्यायेण, ततो वन्देत तमेवेति गाथार्थः ॥ १ ॥ व्याख्यार्थं त्वाह—स्थानं प्रमृज्य, व्याख्यास्थानं, द्वे निषद्ये भवतः कर्त्तव्ये सम्यगुचितकल्पैः, तत्रैका गुरोर्भणिता निषीदननिमित्तं, द्वितीया पुनर्भवति मनागुच्चतरा अक्षाणां, समवसरणोपलक्षणमेतदिति गाथार्थः ॥ २ ॥ विधिविशेषमाह—द्वे एव मात्रके भवतः—श्लेपमात्रकं कायिकमात्रकं च, सदोषकस्य गुरोः, न सर्वस्य, उचिते भूभागे भवतः, ऐदंपर्यमाह—एवंविधोऽपि सदोषः सन् नित्यं व्याख्यानयेदिति प्रस्तुतभावार्थ इति गाथार्थः ॥ ३ ॥ यावन्तः श्रृण्वन्ति व्याख्यानं सर्वेऽपि

याद्यनेकनयार्थप्रधानमिति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ भगवति सर्वज्ञे तत्प्रत्ययकारिता—सर्वज्ञ एवमाहेत्येव, गम्भीरसार-भणितिभिः, न तुच्छग्राम्योक्तिभिरिति, संवेगकरं नियमाच्छ्रोतृणामौचित्येन व्याख्यानं भवति कर्त्तव्यं, नान्यथेति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ एतदेवाह—भवन्ति तु 'विपर्यये' अन्यथाकरणे दोषा अत्र, कुत इत्याह—एतद्विपर्ययादेव कारणात्, 'तत्' तस्मादुपसम्पन्नानां सतां शिष्याणामेव यथोक्तबुद्धिमान् कुर्यात् व्याख्यानमिति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ कालादन्यथा-करणे अदोषाशङ्कां परिहरन्नाह—

कालोऽवि वितहकरणे णेगंतेणेह होइ सरणं तु । णहि एअम्मिवि काले विसाइ सुहयं अमंतजुअं॥९९८॥
एत्थं च वितहकरणं नेअं आउट्टिआउ सव्वंपि । पावं विसाइतुल्लं आणाजोगो अ मंतसमो ॥ ९९९ ॥
ता एअम्मिवि काले आणाकरणे अमूढलक्खेहिं । सत्तीए जइअव्वं एत्थ विही हंदि एसो अ॥१०००॥

कालोऽपि 'वितथकरणे' विपरीतकरणे नैकान्तेनेह—प्रक्रमे भवति शरणमेव, कुत इत्याह—नह्येतस्मिन्नपि काले—दुष्षमा-लक्षणे विषादि प्रकृतिदुष्टं सत् सुखदममन्त्रयुतं तु भवतीति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ अत्र च प्रक्रमे वितथकरणं ज्ञेयं आकु-ट्टिकया—उपेत्यकरणेन सर्वमपि 'पापं' निन्द्यं विषादितुल्यं, विपाकदारुणत्वाद्, 'आज्ञायोगश्च' सूत्रव्यापारश्च अत्र मन्त्रसमः,तद्दोषापयनादिति सूत्रार्थः ॥ ९९ ॥ उपसंहरन्नाह—यस्मादेवं तस्मादेतस्मिन्नपि काले—दुष्षमारूपे 'आज्ञा-करणे' सौत्रविधिसम्पादने अमूढलक्षैः सद्भिः शक्त्या यतितव्यमुपसम्पदादौ, अत्र विधिरेष व्याख्यानकरणे, हन्दीत्युप-दर्शने, एष च वक्ष्यमाणलक्षण इति गाथार्थः ॥ १००० ॥

जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे अ आगमिओ। सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥९९३॥
आणागिज्झो अत्थो आणाए चेव सो कहेयव्वो। दिट्ठंतिअ दिट्ठंता कहणविहि विराहणा इहरा ॥९९४॥

यस्मात् द्वयोरपि 'अत्र' प्रवचने भणितं प्रज्ञापककथनभावयोः, पदार्थयोरित्यर्थः, 'लक्षणं' स्वरूपं, कैरित्याह—'अनघमतैः(तिभिः)'अवदातबुद्धिभिः पूर्वाचार्यैः, कुत इत्याह-आगमात्, नतु स्वमनीषिकयैवेति गाथार्थः॥९२॥ किंभूतं तदित्याह—यो 'हेतुवादपक्षे' युक्तिगम्ये वस्तुनि 'हेतुको' हेतुना चरति, आगमे चागमिको, न तत्रापि मतिमोहनीं युक्तिमाह, 'स' एवंभूतः स्वसमयप्रज्ञापको भगवदनुमतः, सिद्धान्तविराधकोऽन्यः, तल्लाघवापादनादिति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ तथा—आज्ञाग्राह्योऽर्थः—आगमग्राह्यः आज्ञयैवासौ कथयितव्यः, आगमेनैवेत्यर्थः, दार्ष्टान्तिको 'दृष्टान्ताद्' दृष्टान्तेन, कथनविधिरेष सूत्रार्थे, विराधनेतरथा कथनस्येति गाथार्थः ॥ ९४ ॥

तो आगमहेउगयं सुअम्मि तह गोरवं जणंतेणं। उत्तमनिदंसणजुअं विचित्तणयगब्भसारं च ॥९९५॥
भगवंते तप्पच्चयकारि(य) गंभीरसारभणिईहिं। संवेगकरं निअमा वक्खाणं होइ कायव्वं ॥ ९९६ ॥
होंति उ विवज्जयम्मी दोसा एत्थं विवज्जयादेव। ता उवसंपन्नाणं एवं चिअ बुद्धिमं कुज्जा ॥ ९९७ ॥

'तत्' तस्मादागमहेतुगतं यथाविषयमुभयोपयोगेन व्याख्यानं कर्त्तव्यमिति योगः, श्रुते तथा गौरवं जनयता, न यथा तथाभिधानं, न हेयबुद्धिं प्रकुर्वता, तथा उत्तमनिदर्शनयुतं—अहीनोदाहरणवत्, तथा 'विचित्रनयगर्भसारं च' निश्च-

जीतं वर्त्तते, सुयोगतः प्रतिपत्तिशुद्धौ सत्याम्, ' अथ ' अनन्तरं निवेदनं गुरवे विधिना प्रवचनोक्तेन, उपसम्पदित्यर्थः, तत्र श्रुतस्कन्धादौ नियमः—एतावन्तं कालं यावदित्येवमर्हदादिसाक्षिकी स्थापना, कायोत्सर्गपूर्विकेत्यन्ये, उभयनियमश्चायम् ' आभाव्यानुपालना चैव ' शिष्येण नालबद्धवल्लिव्यतिरिक्तं देयं, गुरुणाऽपि स सम्यक् पालनीय इति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ इह प्रयोजनमाह—अस्वामित्वं भवति, निःसङ्गतेत्यर्थः, तथा पूजा गुरोः कृता भवति, ' इतरापेक्षया ' अनालबद्धवल्लिनिवेदनेन इतरगुर्वपेक्षयेति भावः, तथा 'जीत'मिति कल्पोऽयमेव, एवं भगवता दृष्ट इति ' शुभभावा ' दित्यनेन प्रकारेण शुभाशयोपपत्तेः परिणमति श्रुतं, यथार्थतया चारित्रशुद्धिहेतुत्वेन शिष्यस्य, नान्यथेत्याभाव्यदानं शिष्येण कर्त्तव्यं, ग्रहणमत एव तस्य गुरुणापि कर्त्तव्यं, तदनुग्रहधिया, न लोभादिति गाथार्थः ॥ ९० ॥
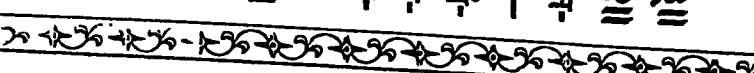
अथ व्याख्यानयितव्यं किमपि श्रुतं, कथमित्याह—

अह वक्खाणेअव्वं जहा जहा तस्स अवगमो होइ । आगमिअमागमेणं जुत्तीगम्मं तु जुत्तीए ॥९१॥

यथा यथा श्रोतुरवगमो भवति, परिज्ञेत्यर्थः, तत्रापि स्थितिमाह—आगमिकं वस्तु आगमेन, यथा 'स्वर्गेऽप्सरसः, उत्तराः कुरव' इत्यादि, युक्तिगम्यं पुनर्युक्त्यैव, यथा देहमात्रपरिणाम्यात्मेत्यादीति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ किमित्येतदेवमित्याह—

जम्हा उ दोण्हवि इहं भणिअं पन्नवगकहणभावाणं ।
लक्खणमणघमईहिं पुव्वायरिएहिं आगमओ ॥ ९२ ॥

अप्परिणयपरिवारं अप्परिवारं च णाणुजाणावे। गुरुमेसोऽवि सयं विअ एतदभावे ण धारिज्जा ॥९८७॥

उपसम्पन्नानां स कल्पो–व्यवस्था स्वगुरुसकाशे यथासम्भवं गृहीतसूत्रार्थः सन् तत्प्रथमतया, तदधिकग्रहणसमर्थः प्राज्ञः सन्ननुज्ञातस्तेन—गुरुणोपसम्पद्यते विवक्षितसमीप इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ तत्रापि—' अपरिणतपरिवारं ' शिक्षकप्रायपरिवारम्, 'अपरिवारं च ' एकाकिप्रायं नानुज्ञापयेत् गुरुं शिष्यः, अनेकदोषप्रसङ्गाद्, ' एषोऽपि' गुरुः स्वयमेवैतदभावे–परिणतपरिवाराद्यभावे न धारयेद्, विसर्जयेदिति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ तत्र—

संदिट्ठो संदिट्ठस्स अंतिए तत्थ मिह परिच्छाओ (च्छाउ) ।
साहुअसग्गे चोअण तिदु(गु)वरि गुरुसम्मए चागो ॥ ९८८ ॥
गुरुफरुसाहिगकहणे सुजोगओ अह निवेअणं विहिणा ।
सुअखंधादो निअमो आहव्वऽणुपालणा चेव ॥ ९८९ ॥

अस्सामित्तं पूआ इअराविक्खाए जीअ सुहभावा। परिणमइ सुअं आहव्वदाणगहणं अओ चेव॥९९०॥

सन्दिष्टः सन् गुरुणा सन्दिष्टस्य गुरोः समीपे, उपसम्पद्येतेति वाक्यशेषः, तत्र ' मिथः ' परस्परं परीक्षा भवति तयोः, साधूनाममार्गे चोदनं करोत्यागन्तुकः, मिथ्यादुष्कृतादाने त्रयाणां वाराणामुपरि गुरुकथनं, तत्सम्मते शीतलतया त्यागः, असम्मते निवासः, तेषामपि तं प्रति अयमेव न्याय इति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ गुरोरपि तं प्रति परुपाधिकक्थनं

कर्म्मदोषेण हेतुनाऽहितमेव विज्ञेयं व्याख्यानं, दोषोदये औषधसमानं, विपर्ययकारीति गाथार्थः ॥ ८० ॥ कथमित्याह— ' तयोः ' अतिपरिणामकापरिणामकयोः ' तत एव ' व्याख्यानात् जायते यतोऽनर्थः, विपर्यययोगात्, ततो न ' तद् ' व्याख्यानं मतिमान् गुरुस्तयोरेव—अतिपरिणामकापरिणामकयोर्हिताय अनर्थप्रतिघातेन कुर्यात्, नेति वर्त्तते, ' पूज्याः ' पूर्वगुरवः तथा चाहुरिति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ आमे घटे निषिक्तं सत् यथा जलं तं घटमानं विनाशयति, ' इय ' एवं सिद्धान्तरहस्यमप्यल्पाधारं प्राणिनं विनाशयतीति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ न परम्परयापि ' ततः ' अतिपरिणामकादेः मिथ्याभिनिवेशभावितमतेः सकाशाद् अन्येषामपि श्रोतॄणां जायते पुरुषार्थः शुद्धरूप एव, [अ]मिथ्याप्ररूपणादिति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ एतदेवाह—अपिच ' तक एव ' अतिपरिणामादिक एव प्रायो मिथ्याभिनिवेशभावितमतेः सकाशात्, तस्य च भावः तद्भावो—मिथ्याभिनिवेशभावोऽनादिमानितिकृत्वा जीवानां भावनासहकारिविशेषाद्, 'इय' एवं मत्वा ' तदर्थं ' तद्धितायैव योग्येभ्यो विनेयेभ्यः कुर्याद् व्याख्यानं विधिनेति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

उवसंपण्णाण जहाविहाणओ एव गुणजुआणंपि । सुत्तत्थाइकमेणं सुविणिच्छिअमप्पणा सम्मं ॥९८५॥

उपसम्पन्नानां सतां ' यथाविधानतः ' सूत्रनीत्या एवं गुणयुक्तानामपि, नान्यथा, तदपरिणत्यादिदोषात्, कथं कर्त्तव्यमित्याह—सूत्रार्थादिक्रमेण यथाबोधं सुविनिश्चितमात्मना सम्यग्, न शुकप्रलापप्रायमिति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ तद्भावनायैवाह—

उवसंपयाय कप्पो सुगुरुसगासे गहिअसुत्तत्थो । तदहिगगहणसमत्थोऽणुन्नाओ तेण संपज्जे ॥९८६॥

तेसि तओच्चिय जायइ जओ अणत्थी तओ ण तं मइमं। तेसिं चेव हियट्ठा करिज्ज पुज्जा तहा चाहु॥९८१॥
आमे घडे निहत्तं जहा जलं तं घडं विणासेइ । इअ सिद्धंतरहस्सं अप्पाहारं विणासेइ ॥ ९८२ ॥

न परंपरयावि तओ मिच्छाभिनिवेसभाविअमईओ ।
अन्नेसिंऽपिअ जायइ पुरिसत्थो सुद्धरूवो अ ॥ ९८३ ॥
अविअ तओ चिअ पायं तव्भावोऽणाइमंति जीवाणं ।
इअ मुणिऊण तयत्थं जोगाण करिज्ज वक्खाणं ॥ ९८४ ॥

यावश्च कल्पिकोऽत्र भण्यते, स पुनरावश्यकादिसूत्रस्य यावत्सूत्रकृतं–द्वितीयमङ्गं तावद् यद् येनाधीतमिति–पठित-मित्यर्थः तस्यैव, नान्यस्येति गाथार्थः ॥ ७७ ॥ ' छेदसूत्रादिषु च ' निशीथादिषु ' स्वसमयभावेऽपि ' स्वकालभावेऽपि ' भावयुक्तो यः ' विशिष्टान्तःकरणवान् ' प्रियधर्म्मः ' तीव्ररुचिः ' अवद्यभीरुः ' पापभीरुः स पुनरयमेवम्भूतः परिणामको ज्ञेयः, उत्सर्गापवादविषयप्रतिपत्तेरिति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ एतदेवाह—' सः ' परिणामकः उत्सर्गापवाद-योर्विषयविभागमौचित्येन यथावस्थितमेव सम्यक् परिणमयति एवमेवमित्येवं हितं ' ततः ' तस्मात्कारणात्तस्येदं भवति व्याख्यानं, सम्यग्बोधादिहेतुत्वेनेति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ अतिपरिणामकापरिणामकयोः पुनः शिष्ययोश्चित्र-

बुद्धिजुआ गुणदोसे सुहुमे तह बायरे य सवत्थ । सम्मत्तकोडिसुद्धे तत्तट्ठिइए पवज्जंति ॥ १७५ ॥
धम्मत्थी दिट्ठत्थे हढोव पंकम्मि अपडिबंधाउ । उत्तारिज्जंति सुहं धन्ना अन्नाणसलिलाओ ॥ १७६ ॥

मध्यस्थाः प्राणिनः असद्ग्राहं, तत्त्वावबोधशत्रुम्, अत एव-माध्यस्थ्यात् क्वचिद्वस्तुनि न कुर्वन्ति, अपि तु मार्गानुसारिमतय एव भवन्ति, तथा 'शुद्धाशयाश्च' मायादिदोषरहिताः प्रायो भवन्ति मध्यस्थाः, तथाऽऽसन्नभव्याश्च, अतस्तेषु सफलः परिश्रम इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ बुद्धियुक्ताः प्राज्ञा गुणदोषान् वस्तुगतान् सूक्ष्मांस्तथा वादरांश्च सर्वत्र-विध्यादौ सम्यक्त्वकोटिशुद्धान्-कषच्छेदतापशुद्धान् तत्त्वस्थित्या-अतिगम्भीरतया प्रपद्यन्ते साध्विति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ धर्म्मार्थिनः प्राणिनः 'दृष्टार्थे' ऐहिके हढ इव-वनस्पतिविशेषः पङ्के अप्रतिबन्धात् कारणाद् 'उत्तार्यन्ते' पृथक् क्रियन्ते सुखं 'धन्याः' पुण्यभाजः, कुतः?-अज्ञानसलिलात्-मोहादिति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

पत्तो अ कप्पिओ इह सो पुण आवस्सगाइसुत्तस्स । जा सूअगडं ता जं जेणाधीअंति तस्सेव ॥ १७७॥
छेअसुआईएसु अ ससमयभावेऽवि भावजुत्तो जो । पिअधम्मऽवज्जभीरू सो पुण परिणामगो णेओ॥१७८॥
सो उस्सग्गाईणं विसयविभागं जहट्ठिअं चेव । परिणामेइ हिअं ता तस्स इमं होइ वक्खाणं ॥ १७९ ॥
अइपरिणामगऽपरिणामगाण पुण चित्तकम्मदोसेणं। अहियं चिअ विपणेयं दोसुदए ओसहसमाणं॥१८०।

मिति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ परमश्चैषः—जिनवचनप्रयोगः हेतुः केवलज्ञानस्य, अवन्ध्य इत्यर्थः, कुत इत्याह—अन्यप्राणिनां
मोहापनयनात्, परार्थकरणात् तथा संवेगातिशयभावेन उभयोरपीति गाथार्थः ॥ ७० ॥

एवं उववूहेउं अणुओगविसज्जणट्ठ उस्सग्गो । कालस्स पडिक्कमणं पवेअणं संघविहिदाणं ॥ १७१ ॥

एवमुपबृंह्य तमाचार्यमनुयोगविसर्ज्जनार्थमुत्सर्गः क्रियते, कालस्य प्रतिक्रमणं तदन्वेव, प्रवेदनं निरुद्धस्य, सङ्घवि-
धिदानं यथाशक्ति नियोगत इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

पच्छा य सोऽणुओगी पवयणकज्जम्मि निच्चमुज्जुत्तो । जोगाणं वक्खाणं करिज्ज सिद्धंतविहिणा उ॥१७२॥

मज्झत्था बुद्धिजुआ धम्मत्थी ओघओ इमे जोगा ।
तह चेव पयत्थाई (य पत्ताई) सुत्तविसेसं समासज्ज ॥ १७३ ॥

पश्चाच्चासावनुयोगी—आचार्यः प्रवचनकार्ये नित्यमुद्युक्तः सन् योग्येभ्यो विनेयेभ्यो व्याख्यानं कुर्यादित्याज्ञा
सिद्धान्तविधिनैवेति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ योग्यानाह—'मध्यस्थाः' सर्वत्रारक्तद्विष्टाः 'बुद्धियुक्ताः' प्राज्ञाः 'धर्मा-
र्थिनः' परलोकभीरवः 'ओघतः' सामान्येनैते योग्याः सिद्धान्तश्रवणस्य, तथैव प्राप्तादयो योग्याः, आदिशब्दात्परि-
णामकादिपरिग्रहः, 'सूत्रविशेषम्' अङ्गचूडादिरूपं समाश्रित्येति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ मध्यस्थादिपदानां गुणानाह—

मज्झत्थाऽसग्गाहं एत्तोच्चिअ करथई न कुव्वंति । सुद्धासया य पायं होंति तहाऽऽसन्नभव्वा य ॥ १७४ ॥

दत्त्वा उत्तिष्ठति निषद्यायाः आचार्य अत्रान्तरे, तत्रोपविशति शिष्योऽनुयोगी, ततो वन्दते गुरुस्तं शिष्यसहितः, शेषसाधुभिः सन्निहितैरिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ भणति च कुरु व्याख्यानमिति तमभिनवाचार्य, तत्र स्थित एव ततोऽसौ करोति तद्व्याख्यानमिति, नन्द्यादि यथाशक्त्येति, तद्विषयमित्यर्थः, पर्षदं वा ज्ञात्वा योग्यमन्यदपीति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ आचार्यनिषद्यायामुपविशनमभिनवाचार्यस्य, वन्दनं च तथा गुरोः प्रथममेवाचार्यस्य, तुल्यगुणख्यापनार्थं लोकानां न तदा दुष्टं 'द्वयोरपि' शिष्याचार्ययोः, या(जी)तमेतदिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ वन्दंते ततः साधवः व्याख्यानसमनन्तरं, उत्तिष्ठति च ततः पुनर्निषद्यायाः अभिनवाचार्यः, तत्र निषद्यायां निषीदति च गुरुर्मौलः, उपबृंहणमत्रान्तरे, प्रथममन्ये तु—व्याख्यानादाविति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

धण्णो सि तुमं णायं जिणवयणं जेण सव्वदुक्खहरं । ता सम्ममिअं भवया पउंजियव्वं सया कालं॥९६८॥
इहरा उ रिणं परमं असम्मजोगो अजोगओ अवरो । ता तह इह जइअव्वं जह एत्तो केवलं होइ ॥९६९॥
परमो अ एस हेऊ केवलनाणस्स अन्नपाणीणं । मोहावणयणओ तह संवेगाइसयभावेण ॥ ९७० ॥

धन्योऽसि त्वं सम्यग् ज्ञातं जिनवचनं येन भवता 'सर्वदुःखहरं' मोक्षहेतुः, तत्सम्यगिदं भवता—प्रवचननीत्या प्रयोक्तव्यं 'सदा' सर्वकालमनवरतमिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ इतरथा ऋणं परममेतत्, सदाऽप्रयोगे सुखशीलतया, असम्यग्योगश्चायोगतोऽप्यपरः—पापीयान् द्रष्टव्यः, तत् तथेह यतितव्यमुपयोगतो यथाऽतः केवलं भवति—परमज्ञान-

नोच्चैन, ततः किमित्याह–स्थित एवोर्ध्वस्थानेन 'नमस्कारं' पञ्चमङ्गलकमाकर्षयति–उपठति, नन्दीं च सम्पूर्णग्रन्थ-पद्धतिमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ 'इतरोऽपि' शिष्यः स्थितः सन्नूर्ध्वस्थानेन शृणोति, मुखवस्त्रिकया विधिगृहीतया स्थगितमुखकमलः सन्निति, स एव विशेष्यते–'संविग्नो' मोक्षार्थी उपयुक्तस्तत्रैकाग्रतया, अनेन प्रकारेणात्यन्तं 'शुद्ध-परिणामः' शुद्धाशय इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ तत 'आकृष्य' पठित्वा नन्दीं भणति 'गुरुः' आचार्यः—अहमस्य साधोरुपस्थितस्यानुयोगम्—उक्तलक्षणमनुजानामि 'क्षमाश्रमणानां' प्राक्तनऋषीणां हस्तेन, न स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ कथमित्याह—'द्रव्यगुणपर्यायैः' व्याख्याङ्गरूपैरेषोऽनुज्ञात इति, अत्रान्तरे वन्दित्वा शिष्यः सन्दिशत यूयं किं भणामीत्यादि वचनजातं यथैव सामायिके तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ यदत्र नानात्वं तदभिधातुमाह—नवरमत्र सम्यग् धारय, आचारासेवनेनेत्यर्थः, अन्येभ्यस्तथा प्रवेदय सम्यगेवेति भणति, कदे-त्याह–इच्छाम्यनुशास्तौ शिष्येण कृतायां सत्यामाचार्य इति गाथार्थः ॥ ६० ॥ त्रिप्रदक्षिणीकृते सति शिष्येण तत उपविशति गुरुः, अत्रान्तरेऽनुज्ञाकायोत्सर्गः, कृते च कायोत्सर्गे तदनु सनिषद्ये गुरौ त्रिप्रदक्षिणं वन्दनं भावसारं शिष्यस्य व्यापारोऽयमिति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ उपविशति गुरुसमीपे तन्निषद्यायामेव दक्षिणपार्श्वे शिष्यः, 'सः' गुरुः कथयति तस्य त्रीन् वारान्, किमित्याह—आचार्यपारम्पर्येणागतानि पुस्तकादिष्वलिखितानि तत्र मन्त्रपदानि विधिना सर्वार्थसाधकानीति गाथार्थः ॥ ६२ ॥ तथा—ददाति त्रीन् मुष्टीनाचार्योऽक्षाणां–चन्दनकानां सुरभिगन्धसहितानां वर्द्धमानान् प्रति मुष्टिं, सोऽपि च शिष्यः उपयुक्तः सन् गृह्णाति विधिनेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ एवं व्याख्याङ्गरूपानक्षान्

देइ तओ मुट्ठीओ अक्खाणं सुरभिगंधसहिआणं।
वड्ढंतिआओ सोऽवि अ उवउत्तो गिण्हई विहिणा ॥ ९६३ ॥

उट्ठेति निसिज्जाओ आयरिओ तत्थ उवविसइ सीसो। तो वंदई गुरू तं सहिओ सेसेहिँ साहूहिं ॥९६४॥
भणइ अ कुण वक्खाणं तत्थ ठिओ चेव तो तओ कुणइ। णंदाइ जहासत्ती परिसं नाऊण वा जोग्गं ९६५
आयरियनिसिज्जाए उवविसणं वंदणं च तह गुरुणो। तुल्लगुणखावणट्ठा न तया दुट्ठं दुविण्हंपि ॥ ९६६ ॥
वंदंति तओ साहू उट्ठइ अ तओ पुणो णिसिज्जाओ। तत्थ निसीअई गुरू उववूहण पढममन्ने उ ॥ ९६७॥

प्रत्युपेक्षते तदनन्तरं मुखवस्त्रिकां द्वावपि, तथा च मुखवस्त्रिकया सशिरः पुनः कायं प्रत्युपेक्षते इति, ततः शिष्यः द्वादशावर्त्तवन्दनपुरस्सरमाह–सन्दिशत यूयं स्वाध्यायं ' प्रस्थापयामः ' प्रकर्षेण वर्त्तयाम इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ प्रस्थापय इत्यनुज्ञाते सति गुरुणा ततो 'द्वावपि' गुरुशिष्यौ प्रस्थापयत इति, 'ततः' तदनन्तरं गुरुर्निषीदति स्वनिषद्यायां, ' इतरोऽपि ' शिष्यः निवेदयति तं स्वाध्यायमिति गाथार्थः ॥ ५४ ॥ ततश्च ' द्वावपि ' गुरुशिष्यौ विधिना प्रवचनोक्तेन अनुयोगं प्रस्थापयतः उपयुक्तौ सन्तौ, वन्दित्वा 'ततः' तदनन्तरं शिष्यः, किमित्याह–अनुज्ञापयत्यनुयोगं गुरुणेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ अभिमन्त्र्य चाचार्यमन्त्रेणाक्षान्–चन्दनकान् वन्दते ' देवान् ' चैत्यानि ततो गुरुर्विधिना प्रवच-

पट्ठवसु अणुण्णाए तत्तो दुअगावि पट्ठवेइत्ति। तत्तो गुरू निसीअइ इअरोऽवि णिवेअइ तयंति ॥ १५४ ॥

तत्तोऽवि दोऽवि विहिणा अणुओगं पट्ठविंति उवउत्ता।
वंदित्तु तओ सीसो अणुजाणावेइ अणुओगो ॥ १५५ ॥

अभिमंतिऊण अक्खे वंदइ देवे तओ गुरू विहिणा। ठिअ एव नमोक्कारं कड्ढइ नंदिं च संपुन्नं ॥ १५६ ॥

इअरोऽवि ठिओ संतो सुणेइ पोत्तीइ ठइअमुहकमलो। संविग्गो उवउत्तो अच्चंतं सुद्धपरिणामो ॥१५७॥

तो कड्ढिऊण नंदिं भणइ गुरू अह इमस्स साहुस्स। अणुओगं अणुजाणे खमासमणाण हत्थेणं ॥१५८॥

दव्वगुणपज्जवेहि अ एस अणुन्नाउ वंदिउं सीसो। संदिसह किं भणामो? इच्चाइ जहेव सामइए॥ १५९ ॥

नवरं सम्मं धारय अन्नेसिं तह पवेअह भणाइ। इच्छामणुसट्ठीए सीसेण कयाइ आयरिओ ॥ १६० ॥

तिपयक्खिणीकए तो उवविसए गुरु कए अ उस्सग्गे।
सणिसेज्जत्तिपयक्खिण वंदण सीसस्स वावारो ॥ १६१ ॥

उवविसइ गुरुसमीवे सो साहइ तस्स तिन्नि वाराओ। आयरियपरंपरएण आगए तत्थ मंतपए ॥१६२॥

धः शेषाणामपि सिद्धान्तानां करोति, तथाविधलोकं प्रति सिद्धान्तमिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ तथा—अविनिश्चितः समये न सम्यगुत्सर्गापवादज्ञो भवति सर्वत्रैव, ततश्चाविषयप्रयोगतोऽनयोः—उत्सर्गापवादयोस्तथाविधः स्वपरविनाशको नियमात्, कूटवैद्यवदिति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ 'तत्' तस्मात्तस्यैव—अधिकृतानुयोगधारिणो हितार्थं परलोके तथा तच्छिष्याणां भाविनाम् अनुमोदकानां च तथाविधाज्ञप्राणिनां तथाऽऽत्मनश्च हितार्थं आज्ञाराधनेन धीरो गुरुः योग्याय विनेयाय अनुजानाति 'एवं' वक्ष्यमाणेन विधिनाऽनुयोगमिति गाथार्थः ॥ ५० ॥

तिहिजोगम्मि पसत्थे गहिए काले निवेइए चेव । ओसरणमह णिसिज्जारयणं संघट्टणं चेव ॥ ९५१ ॥

तत्तो पवेइआए उवविसइ गुरू उ णिअनिसिज्जाए । पुरओ अ ठाइ सीसो सम्ममहाजायउवकरणो ॥९५२॥

तिथियोगे प्रशस्ते सम्पूर्णशुभादौ गृहीते काले विधिना निवेदिते चैव गुरोः समवसरणम्, अथ निषद्यारचनम्, उचित-भूमावक्षगुरुनिषद्याकरणमित्यर्थः, 'सङ्घट्टनं चैव' अनिक्षेप इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ 'ततः' तदनन्तरं रचकेन साधुना 'प्रवेदितायां' कथितायां वसत्यामुपविशति गुरुः—आचार्य एव, न शेषसाधवः, क्वेत्याह—निजनिषद्यायां, या तदर्थमेव रचितेति, पुरतश्च शिष्यः तिष्ठति प्रक्रान्तः सम्यग्—असम्भ्रान्तः 'यथाजातोपकरणो' रजोहरणमुखवस्त्रिकादिधर इति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

पेहिंति तओ पोत्तिं तीए अ ससीसगं पुणो कायं । बारस वंदण संदिस सज्झायं पट्ठवामोत्ति ॥९५३॥

अविणिच्छिओ अ समए तह २ सिद्धंतपडिणीओ ॥ १४७ ॥

सव्वण्णूहिँ पणीयं सो उत्तममइसएण गंभीरं । तुच्छकहणाए हिट्टा सेसाणवि कुणइ सिद्धंतं ॥१४८॥

अविणिच्छिओ ण सम्मं उस्सग्गववायजाणओ होइ ।
अविसयपओगओ सिं सो सपरविणासओ निअमा ॥ १४९ ॥

ता तस्सेव हिअट्ठा तस्सीसाणमणुमोअगाणं च ।
तह अप्पणो अ धीरो जोगस्सऽणुजाणई एवं ॥ १५० ॥

कालोचितसूत्रार्थेऽस्मिन् विषये तस्मात् 'सुविनिश्चितस्य' ज्ञाततत्त्वस्यानुयोगः—उक्तलक्षणः 'नियमाद्' एकान्तेन अनुज्ञातव्यो गुरुणा, न श्रवणत एव—श्रवणमात्रेणैव, कथमित्याह—यतो भणितं सम्मत्यां सिद्धसेनाचार्येणेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ यथा यथा बहुश्रुतः श्रवणमात्रेण सम्मतश्च तथाविधलोकस्य 'शिष्यगणसम्परिवृतश्च' किमित्याह—बहुमूढपरिवारश्च, अमूढानां तथाविधापरिग्रहणाद्, 'अविनिश्चितश्च' अज्ञाततत्त्वश्च 'समये' सिद्धान्ते तथा तथाऽसौ वस्तुस्थित्या 'सिद्धान्तप्रत्यनीकः' सिद्धान्तविनाशकः, तल्लाघवापादनादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ एतदेव भावयति—सर्वज्ञैः प्रणीतं 'सः' अविनिश्चितः 'उत्तमं' प्रधानमतिशयेन 'गम्भीरं' भावार्थसारं 'तुच्छकथनया' अपरिणतदेशनयाऽ-

नाणाईणमभावे होइ विसिट्ठाणऽणत्थगं सव्वं । सिरतुंडमुंडणाइवि विवज्जयाओ जहऽन्नेसिं ॥ ९४३ ॥
ण य समइविगप्पेणं जहा तहा कयमिणं फलं देइ । अवि आगमाणुवाया रोगचिगिच्छाविहाणं व ॥ ९४४॥
इय दव्वलिंगमित्तं पायमगीआओँ जं अणत्थफलं । जायइ ता विण्णेओ तित्थुच्छेओ अ भावेणं ॥ ९४५ ॥

ज्ञानादीनामभावे सति भवति विशिष्टानां, किमित्याह—अनर्थकं 'सर्वं' निरवशेषं शिरस्तुण्डमुण्डनाद्यपि, आदिशब्दाद्भिक्षाटनादिपरिग्रहः, कथमनर्थकमित्याह—विपर्ययात् कारणाद्, यथाऽन्येषां—चरकादीनामिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ न च स्वमतिविकल्पेन आगमशून्येन यथा तथा कृतमिदं—शिरस्तुण्डमुण्डनादि फलं ददाति स्वर्गापवर्गलक्षणम्, अपिच 'आगमानुपाताद्' आगमानुसारेण कृतं ददाति, किमिवेत्याह—रोगचिकित्साविधानवत्, तदेकप्रमाणत्वात् परलोकस्येति गाथार्थः ॥४४॥ 'इय' एवं द्रव्यलिङ्गमात्रं भिक्षाटनादिफलं प्रायोऽगीतार्थाद् गुरोः सकाशाद् 'यद्' यस्मादनर्थफलं विपाके जायते 'तत्' तस्माद्विज्ञेयः तीर्थोच्छेद एव 'भावेन' परमार्थेन, मोक्षलक्षणतीर्थफलाभावादिति गाथार्थः ॥४५॥ द्वारम् ॥

कालोचिअसुत्तत्थे तम्हा सुविणिच्छियस्स अणुओगो ।
नियमाऽणुजाणिअव्वो न सवणओ चेव जह भणिअं ॥ ९४६ ॥
जह जह वहुस्सुओ सम्मओ अ सीसगणसंपरिवुडो अ ।

अयोग्यानुज्ञायां शिष्यनाशस्तीर्थोच्छेदः

भवत्यवज्ञेति, कथं क्वेत्यत्राह—प्रवचनधरोऽयमितिकृत्वा 'तस्मिन्' प्रवचने, 'इय' एवं प्रवचनखिंसा इह ज्ञेया, अहो असारमेतद् यदयमेतदभिज्ञः सर्वेवमाहेति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ द्वारम् ॥

सीसाण कुणइ कह सो तहाविहो हंदि नाणमाईणं । अहिआहिअसंपत्तिं संसारुच्छेअणिं परमं ? ॥१४०॥
अप्पत्तणओ पायं हेआइविवेगविरहओ वावि । नहु अन्नओवि सो तं कुणइ अ मिच्छाभिमाणाओ ॥१४१॥
तो तेऽवि तहाभूआ कालेणवि होंति नियमओ चेव । सेसाणवि गुणहाणी इअ संताणेण विन्नेआ ॥ १४२ ॥

'शिष्याणा'मिति शिष्येषु करोति कथमसौ तथाविधः अज्ञः सन् 'हन्दी' त्युपप्रदर्शने ज्ञानादीनां गुणानां—ज्ञानादिगुणानामधिकाधिकसंप्राप्तिं, वृद्धिमित्यर्थः, किम्भूतामित्याह—संसारोच्छेदिनीं सम्प्राप्तिं 'परमां' प्रधानामिति गाथार्थः ॥४०॥ तथा—'अल्पत्वात्' तुच्छत्वात् कारणात् 'प्रायो' बाहुल्येन, न हि तुच्छोऽसतीं गुणसम्पदमारोपयति, तथा हेयादिविवेकविरहतो वाऽपि, हेयोपादेयपरिज्ञानाभावत इत्यर्थः, न ह्यन्यतोऽपि—बहुश्रुतादसौऽज्ञस्तां प्राप्तिं करोति तेषु, कुत इत्याह—'मिथ्याभिमानाद्' अहमप्याचार्य एव कथं मच्छिष्या अन्यसमीपे शृण्वन्तीत्येवंरूपादिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ ततस्तेऽपि-शिष्याः तथाभूता—मूर्खा एव कालेन बहुनापि भवन्ति नियमत एव, विशिष्टसम्पर्काभावात्, शेषाणामपि—अगीतार्थशिष्यसत्त्वानां गुणहानिः 'इय' एवं 'सन्तानेन' प्रवाहेन विज्ञेयेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ द्वारम् ॥

सो थेवओ वराओ गंभीरपयत्थभणिइमग्गंमि । एगंतेणाकुसलो किं तेसि कहेइ सुहुमपयं ? ॥ १३८॥
जंकिंचिभासगं तं दट्ठूण वुहाण होअवण्णत्ति । पवयणधरो उ तम्मी इअ पवयणखिंसमो णेआ ॥१३९॥

अनुयोगो व्याख्यानमुच्यते 'जिनवरवचनस्य' आगमस्य, तस्यानुज्ञा पुनरियं, यदुत कर्त्तव्यमिदं व्याख्यानं भवता विधिना, न यथा कथञ्चित्, सदाऽप्रमत्तेन सर्वत्र समवसरणादाविति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ कालोचिततदभावे-अनुयोगाभावे-वचनं निर्विषयमेवैतदिति-तदनुज्ञावचनं, दृष्टान्तमाह-'दुर्गतसुते' दरिद्रपुत्रे यथेदं वचनं, यदुत दद्यास्त्वमेतानि रत्नानि, रत्नाभावान्निर्विषयं, तथेदमप्यनुयोगाभावादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ असत्प्रवृत्तिनिमित्तापोहायाह—किमपि यावत्तावदधीतमित्येतदालम्बनं न तत्त्वतो भवति गुणैर्गुरूणामत्र-व्यतिकरे, कुशादितुल्यम् , अनालम्बनमित्यर्थः, कस्मात्?-अतिप्रसङ्गात् , स्वल्पस्य श्रावकादिभिरप्यधीतत्वात् , अतो मृषावादो गुरोस्तदनुजानत इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ 'अनुयोगी' आचार्यः लोकानां किल संशयनाशको 'दृढम्' अत्यर्थं भवति, तं 'अल्लियन्ति' उपयान्ति ततस्ते लोकाः प्रायः, किमर्थमित्याह-'कुशलाधिगमहेतोः' धर्म्मपरिज्ञानायेति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ ततः किमित्याह-स स्तोको वराकश्च, अल्पश्रुत इत्यर्थः, 'गम्भीरपदार्थभणितिमार्गे' वन्धमोक्षस्वतत्त्वलक्षणे एकान्तेनाकुशलः-अनभिज्ञः किं तेभ्यः कथयति-लोकेभ्यः सूक्ष्मपदं-वन्धादिगोचरमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ ततश्च-यत्किञ्चिद्भाषकं तम् , असम्बद्धप्रलापिनमित्यर्थः, दृष्ट्वा 'वुधानां' विदुषां

'एवम्' उक्तेन प्रकारेण व्रतेषु स्थापना 'श्रमणानां' साधूनां वर्णिता 'समासेन' सङ्क्षेपेण, अनुयोगगणानुज्ञां प्रागुद्दिष्टामतः परं, किमित्याह—'सम्प्रवक्ष्यामि' सूत्रानुसारतो ब्रवीमीति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ किमित्ययं प्रस्ताव इत्याह—

जम्हा वयसंपन्ना कालोचिअगहिअसयलसुत्तत्था । अणुओगाणुन्नाए जोगा भणिआ जिणिंदेहिं ॥१३२॥
इहरा उ मुसावाओ पवयणखिंसा य होइ लोगम्मि । सेसाणवि गुणहाणी तित्थुच्छेओ अ भावेणं॥ १३३ ॥

यस्माद्व्रतसम्पन्नाः साधवः कालोचितगृहीतसकलसूत्रार्थाः, तदात्वानुयोगवन्त इत्यर्थः, 'अनुयोगाज्ञायाः' आचार्यस्थापनारूपायाः योग्या भणिता जिनेन्द्रैः, नान्य इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ कस्मादित्याह-दारगाहा, 'इतरथा' अनीदृशानुयोगानुज्ञायां मृषावादो गुरोस्तमनुजानतः, प्रवचनखिंसा च भवति लोके, तथाभूतप्ररूपकात् , शेषाणामपि च गुणहानिः सञ्ज्ञायकाभावात्, तीर्थोच्छेदश्च भावेन ततः सम्यग्ज्ञानाद्यप्रवृत्तेरिति द्वारगाथार्थः ॥ ३३ ॥ व्यासार्थं त्वाह—

अणुओगो वक्खाणं जिणवरवयणस्स तस्सऽणुण्णाओ । कायव्वमिणं भवया विहिणा सइ अप्पमत्तेणं१३४
कालोचिअतयभावे वयणं निव्विसयमेवमेअंति । दुग्गयसुअंमि जहिमं दिज्जाहि इमाइं रयणाइं ॥१३५॥
किंपिअ अहिअंपि इमं णालंबणमो गुणेहिं गरुआणं । एत्थं कुसाइतुल्लं अइप्पसंगा मुसावाओ ॥१३६॥
अणुओगी लोगाणं किल संसयणासओ दढं होइ । तं अह्निअंति तो ते पायं कुसलाभिगमहेउं ॥१३७॥

एवं वएसु ठवणा समणाणं वन्निआ समासेणं। अणुओगगणाणुन्नं अओ परं संपवक्खामि ॥ ९३१ ॥

उपसर्गा भगवतोऽपश्चिमतीर्थकरस्य, गर्भहरणं—सङ्क्रामणमस्यैव, 'स्त्रीतीर्थं च' मल्लिस्वामितीर्थं च, अभव्या पर्षत् भगवत एव, कृष्णस्यापरकङ्कागमनम्, अवतरणं चंद्रसूर्ययोः सह विमानाभ्यां भगवत एव समवसरण इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ हरिवंशकुलोत्पत्तिः मिथुनापहारेण, चमरोत्पातश्च सौधर्म्मगमनं, अष्टशतसिद्धिरेकसमयेन, असंयतानां पूजा, धिग्वर्णादीनां, दशाप्येते भावा अनन्तेन कालेन भवन्तीति गाथार्थः ॥ २७ ॥ ननु नेदं—मरुदेवीचरितमिह पठितम्, अश्रवणाद्, एतदाशङ्क्याह—'सत्यम्' एवमेतद्, उपलक्षणं त्वेतान्याश्चर्याणि अतोऽन्यभावेऽप्यविरोधः, तथा च आश्चर्यभूतमिति च भणितं मया पूर्वं, किमुक्तं भवति ?—नैतदप्यनवरतम्, अनन्तादेव कालादेतद्भवति, यदुतासंसारं वनस्पतिभ्य उद्धृत्य सिध्यतीति गाथार्थः ॥ २८ ॥ किं न सर्वेषामेतदित्याह—तथा मरुदेविकल्पितभव्यत्वाभावात् सर्वेषां तथा प्रथममनुद्वर्त्तनात् तद्वदेव 'अकालाच्च' तथाविधकालाभावाच्च तथेत्वरगुणयोगाद्धेतोः अन्येषां न साधारणमेतत्—मरुदेव्युदाहरणमिति गाथार्थः ॥ २९ ॥ प्रकृतयोजनामाह—'इय' एवं चरणमेव 'परमं' प्रधानं निर्वाणप्रसाधनम् 'इति' एवं सिद्धमेतदिति, 'तद्भावे' चरणप्राधान्यभावेऽधिकृतं खलु शेषमप्येतदर्थमेव, गुरुगच्छाद्यासेवनाद्यपि सिद्धं, 'कृतं प्रसङ्गेन' पर्याप्तमानुषङ्गिकेणेति गाथार्थः ॥ ३० ॥ एतदुपसंहारेण द्वारान्तरसम्बन्धाभिधित्सयाऽऽह—

तइअं दारं सम्मत्तं

मरुदेविसामिणीए ण एवमेअंति सुव्वए जेणं । सा खु किल वंदणिज्जा अच्चंतं थावरा सिद्धा ॥१२४॥
सच्चमिणं अच्छेरगभूअं पुण भासिअं इमं सुत्ते । अन्नेऽवि एवमाई भणिया इह पुव्वसूरीहिं ॥ १२५ ॥

'मरुदेवीस्वामिन्याः' प्रथमतीर्थकरमातुः नैवमेतत् यदुतैवं, तथा चरमशरीरत्वमित्येवं, श्रूयते येन कारणेनागमे, सा किल वन्दनीया, किलशब्दः परोक्षाप्तवादसंसूचकः, अत्यन्तं स्थावरा सिद्धा, कदाचिदपि त्रसत्वाप्राप्तेस्तस्या इति गाथार्थः ॥ २४ ॥ अत्रोत्तरमाह—सत्यमिदम्—एवमेतत् आश्चर्यभूतं पुनः, नौघविषयमेव, भाषितमिदं सूत्रे मरुदेवीचरितं, तथा च अन्येऽप्येवमादयो भावाः आश्चर्यरूपा एत्र भणिता 'इह' प्रवचने 'पूर्वसूरिभिः' पूर्वाचार्यैरिति गाथार्थः ॥२५॥ तानेवाह—

उवसग्ग गब्भहरणं इत्थीतित्थं अभाविआ परिसा । कण्हस्स अवरकंका अवयरणं चंदसूराणं ॥१२६॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती चमरुप्पाओ अ अट्ठसय सिद्धा । अस्संजयाण पूआ दसवि अणंतेण कालेणं ॥ १२७ ॥
नणु नेअमिहं पढिअं सच्चं उवलक्खणं तु एआइं । अच्छेरगभूअंपिअ भणिअं नेअंपि अणवरयं ॥१२८॥
तहभवत्ताऽभावा पढममणुवट्टणादकालाओ । इत्तरगुणजोगा खलु न सव्वसाहारणं एअं ॥ १२९ ॥
इअ चरणमेव परमं निव्वाणपसाहणंति सिद्धमिणं । तब्भावेऽहिगयं खलु सेसंपि कयं पसंगेणं ॥१३०॥

सूत्रे भणितं भावमङ्गीकृत्य क्रमभवनममीषामिति गाथार्थः ॥ १८ ॥ एतदेवाह—सम्यक्त्वे लब्धे ग्रन्थिभेदेन भावरूपे पल्योपमपृथक्त्वेन, तथाविधेन कर्म्मस्थितेरपगमेन, श्रावको भवति, भावतो देशविरत इत्यर्थः, 'चारित्रोपशमक्षयाणां' सर्वचारित्रोपशमश्रेणिक्षपकश्रेणीनां सागरोपमाणि सङ्ख्येयान्यन्तरं भवति, प्राक्तनरकर्म्मस्थितेः सङ्ख्येयेषु सागरोपमेषु क्षीणेषु भावत उत्तरोत्तरलाभो भवतीति गाथार्थः ॥ १९ ॥ एवमप्रतिपतिते सम्यक्त्वे सति देवमनुजजन्मसु संसरतो भवति अन्यतरश्रेणिवर्जम्, एकजन्मनि तदुभयाभावाद्, एकभवेन वा कर्म्मविगमापेक्षया, तथैव 'सर्वाणि' सम्यक्त्वादीनीति गाथार्थः ॥२०॥ प्रकृतयोजनामाह—नैवम्—उक्तेन प्रकारेण चरणाभावे सति मोक्ष इति, प्रतीत्य भावचरणमेव यथोदितं, 'द्रव्यचरणे' पुनः प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यादिलक्षणे 'भजना' कदाचिद् भवति कदाचिन्न, कथमित्याह—सोमादीनामन्तकृत्केवलिनामभावात्, सोमेश्वरकथानकं प्रकटमिति गाथार्थः ॥ २१ ॥ तेषामपि च तत्तत्पूर्वकमेवेत्येतदाह—

'तेषामपि' सोमादीनां भावचरणं 'तथाविधं' झटित्येवान्तकृत्केवलित्वफलदं 'द्रव्यचरणपूर्वं तु' उपस्थापनादिद्रव्यचारित्रपूर्वमेव 'अन्यभवापेक्षया' जन्मान्तराङ्गीकरणेन विज्ञेयम्, उत्तमत्वेन हेतुना, उत्तममिदं न यथाकथञ्चित्प्राप्यते इति गाथार्थः ॥ २२ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—तथाऽन्तकृत्केवलिफलदं चरमशरीरत्वमनेकभवकुशलयोगतः—अनेकजन्मधर्म्माभ्यासेन 'नियमात्' नियमेन प्राप्यते, किमित्येवमित्याह—'यद्' यस्मात् 'मोहः' असत्प्रवृत्तिहेतुः अनादिमानितिकृत्वाऽभ्यासतः सात्मीभूतत्वाद् दुर्विजयः, नाल्पैरेव भवैर्जेतुं शक्यत इति गाथार्थः ॥ २३ ॥ अत्राह—

एवं अप्परिवडिए सम्मत्ते देवमणुअजम्मेसुं । अन्नयरसेढिवज्जं एगभवेणं व सव्वाइं ॥ १२० ॥
नेवं चरणाभावे मोक्खत्ति पडुच्च भावचरणं तु । दव्वचरणम्मि भयणा सोमाईणं अभावाओ ॥१२१॥
तेसिंपि भावचरणं तहाविहं दव्वचरणपुव्वं तु । अन्नभवाविक्खाए विन्नेअं उत्तमत्तेणं ॥ १२२ ॥
तह चरमसरीरत्तं अणेगभवकुसलजोगओ निअमा । पाविज्जइ जं मोहो अणाइमंतोत्ति दुव्विजओ ॥१२३॥

ननु दर्शनस्य 'सूत्रे' आगमे प्राधान्यं युक्तितो गम्यते, यतो भणितमत्र, किमित्याह–'सिध्यन्ति' निर्वान्ति चरणरहिताः प्राणिनो दर्शनवलात्, दर्शनरहिता न सिद्ध्यन्ति, मिथ्यादृष्टीनां सिद्ध्यभावादिति गाथार्थः ॥ १५ ॥ एतदेव समर्थयन्नाह–एवं सूत्रे श्रुते दर्शनमेव तु न्यायात् निर्वाणप्रसाधकमिति एतत् प्राप्तं वलात्, कथमित्याह–नियमेन, यतोऽनेन–दर्शनेनास्य निर्वाणस्य तद्भावभावित्वं, न चरणेनेति गाथार्थः ॥ १६ ॥ अत्रोत्तरमाह–'एतस्य' दर्शनस्य हेतुभावः सिद्धिं प्रति यथा 'दीनारस्य' रूपकविशेषस्य 'भूतिभावे' विशिष्टसम्पदुत्पत्तौ इतरेतरभावात् ततो व्यादिभवनेन, न केवलादेव दीनारादनन्तरभावेन, तथापि लोके क्वचित् व्यपदेशो दीनारात् सम्पदिति गाथार्थः ॥ १७ ॥ दार्ष्टान्तिकयोजनामाह–'इय' एवं दर्शनाप्रमादात् सकाशात् 'शुद्धेः' चारित्रमोहमलविगमेन श्रावकत्वादिसम्प्राप्तिर्भवति भावतः श्रेण्यवसाना, न तु दर्शनमात्रात् केवलादेव मोक्ष इति, 'यतो' यस्मात्

निच्छयनअस्स चरणायविघाए नाणदंसणवहोऽवि । ववहारस्स उ चरणे हयम्मि भयणा उ सेसाणं ११४

'एतत्' चारित्रं 'उत्तमं खलु' उत्तममेव 'निर्वाणप्रसाधनं' मोक्षसाधनं जिना ब्रुवते, अत एतदुपाये यत्नः कार्यः इत्यैदम्पर्यम्, उत्तमत्वे युक्तिमाह–'यद्' यस्मात् ज्ञानदर्शनयोरपि तत्त्वदृष्ट्या फलमेतदेव–चारित्रं निर्दिष्टं, तत्साधकत्वादिति गाथार्थः ॥ १२ ॥ एतेन तु पुनः–चारित्रेण रहिते 'निश्चयतः' परमार्थेन नैव 'ते' ज्ञानदर्शने ते अपि, कुत इत्याह–स्वफलस्यासाधकत्वात्, चारित्राजननादित्यर्थः, पूर्वाचार्यास्तथा चाहुरधिकृतानुपात्येतदिति गाथार्थः ॥ १३ ॥ निश्चयनयस्य दर्शनं–यदुत चरणात्मविघाते सति ज्ञानदर्शनवधोऽपि, स्वकार्यासाधनेन तत्त्वतस्तयोरसत्त्वात्, व्यवहारस्य तु दर्शनं–यदुत चरणे हते सति भजना 'शेषयोः' ज्ञानदर्शनयोः, स्यातां वा नवेति गाथार्थः ॥ १४ ॥ आह–

णणु दंसणस्स सुत्ते पाहन्नं जुत्तिओ जओ भणिअं । सिज्झंति चरणरहिआ दंसणरहिआ न सिज्झंति ११५

एवं दंसणमेव उ निव्वाणपसाहगं इमं पत्तं । निअमेण जओ इमिणा इमस्स तब्भावभावित्तं ॥११६॥

एअस्स हेउभावो जह दीणारस्स भूइभावम्मि । इअरेअरभावाओ न केवलाणंतरत्तेणं ॥ ११७ ॥

इअ दंसणऽप्पमाया सुद्धीओ सावगाइसंपत्ती । नउ दंसणमित्ताओ मोक्खोत्ति जओ सुए भणियं ॥११८॥

सम्मत्तंमि उ लद्धे पलिअपुहुत्तेण सावओ होज्जा । चरणोवसमखयाणं सागर संखंतरा होंति ॥११९॥

चारित्रं,
केवलदर्श-
नपक्षनि-
रासः

पायं च तेण विहिणा होइ इमंति निअमो कओ सुत्ते। इहरा सामाइअमित्तओऽवि सिद्धिं गयाऽणंता॥११०॥
पुव्विं असंतगंपि अ विहिणा गुरुगच्छमाइसेवाए । जायमणेगेसि इमं पच्छा गोविंदमाईणं ॥ १११ ॥

'विस्रोतसिकारहितः' संयमानुसारिचेतोविघातवर्जितः सन् 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण गुर्वासेवनादिना चरणपरिणाम-चिन्त्यचिन्तामणिकल्पं रक्षेत, पुरुषं भातु लब्धं सन्तम्, अलब्धं वा प्राप्नुयादेवमेवेति गाथार्थः ॥८॥ एतदेव भावयन्नाह—नोपस्थापनायामेव कृतार्थां सत्यां नियमाच्चरणमिति, कुत इत्याह—द्रव्यतो येन कारणेन सा अभव्यानामपि भणि-ता उपस्थापना अङ्गारमर्दकादीनां, छद्मस्थगुरूणां विधिकारकाणां सफला चाज्ञाराधनादिति गाथार्थः ॥ ९ ॥ उपस्थाप-नाविधेः फलवत्तामाह—प्राथमिकेन विधिनोपस्थापनागतेन भवत्येतत् छेदोपस्थाप्यं चारित्रमिति नियमः कृतः सूत्रे, दश-वैकालिकादिपाठाद्यनन्तरमुपस्थापनायाः, 'इतरथा' अन्यथा सामायिकमात्रतोऽपि अवधेः प्राप्या सिद्धिं गताः अनन्ताः प्राणिन इति गाथार्थः ॥ १० ॥ अनियममेव दर्शयति—'पूर्वं' उपस्थापनाकाले असदपि चैतच्चरणं विधिना गुरुगच्छा-दिसेवया हेतुभूतया 'जातम्' अभिव्यक्तम् अनेकेषामिदं पश्चात् 'गोपेन्द्रादीनां' गोपेन्द्रवाचकवरोदकगणिप्रभृतीनामिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ पक्षान्तरसमर्थनायैवाह—

एअं च उत्तमं खलु निव्वाणपसाहणं जिणा बिंति । जं नाणदंसणाणवि फलमेअं चेव निद्दिट्ठं ॥११२॥
एएण उ रहिआइं निच्छयओ नेअ ताइं ताइंपि । सफलस्स साहगत्ता पुव्वायरिआ तहा चाहु ॥११३॥

'विधिना' आसनाचलनादिनेति गाथार्थः ॥ २ ॥ एतदेवाह—जिनधर्मसुस्थितानां सम्बन्धीनि शृणुयाच्चरितानि—चेष्टितानि पूर्वसाधूनां महात्मनां, साधयेच्चान्येभ्यः, कथयेदित्यर्थः, यथार्हं भावसाराणि, विनयपरिणत्यनुरूपाणीति गाथार्थः ॥ ३ ॥ यथा—भगवान् ! दशार्णभद्रो राजर्षिः सुदर्शनः स्थूलभद्रो वज्रश्च सफलीकृतगृहत्यागाः महापुरुषाः साधव एवंविधा भवन्तीति गाथार्थः । कथानकानि क्षुण्णत्वान्न लिखितानि ॥४॥ तथैतत्कर्त्तव्यम्, अनुमोदामहे 'तेषां' दशार्णभद्रादीनां भगवतां चरितं निरतिचारं, यथोक्ताचारमित्यर्थः, संवेगबहुलतया 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण सर्वत्र विशोधयेदात्मानं कर्ममलादिति गाथार्थः ॥ ५ ॥ अत्रैव गुणमाह—एवं क्रियमाणे आत्मनः स्थिरत्वं भवति, तथा 'तत्कुलवर्त्ती' दशार्णभद्रादिकुलवर्त्ती अहमित्यस्माद्बहुमानात् तद्धर्म्मसमाचरणं—दशार्णभद्रादिधर्म्मसेवनं भवति, एवमप्येतत् परोपाधिद्वारेण विशिष्टानुष्ठानं कुशलमेवावस्थान्तर इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ अन्येषामपि चैवम्—उक्तेन प्रकारेण स्थिरत्वादीनि भवन्ति, नियमेन श्रवणात् सकाशाद्, एवं शुभसन्तान एव, एवं तेभ्योऽपि तदन्येषां स्थिरत्वादिभावाद्, अयं च जन्मान्तरेऽपि 'विकथामथनो' विकथाविनाशनो मुणितव्यः, तदन्येषां तद्विनाशनेनेति गाथार्थः ॥ ७ ॥ अधिकृतद्वारगाथायां सर्वद्वाराणामैदम्पर्यमाह—

विस्सोअसिगारहिओ एव पयत्तेण चरणपरिणामं । रक्खिज्ज दुल्लहं खलु लद्धमलद्धं व पाविज्जा ॥ १०८ ॥

णो उवठावणएच्चिअ निअमा चरणंति दव्वओ जेण।साऽभवाणवि भणिआ छउमत्थगुरूण सफला य १०९

इति संस्तारकपरावर्त्तने विधिर्भणितः इह तीर्थकरादिभिरिति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ प्रकृतोपयोगमाह—एतस्यापि–विधेः प्रतिषेधात्–प्रतिषेधेन 'नियमेन' अवश्यन्तया द्रव्यतोऽपि कायविहारेणापि मोहोदये सति 'यतेः' भिक्षोः 'विहारख्यापनफलं' विहारख्यापनार्थम् 'अत्र' अधिकारे विहारग्रहणं कृतमाचार्येणेति गाथार्थः ॥ १०० ॥ प्रयोजनान्तरमाह–आदित एवारभ्य प्रतिबन्धवर्जनार्थं स्वक्षेत्रादौ हन्दि शिक्षकाणां विहारग्रहणं, विधिस्पर्शनार्थं, अथवा प्रयोजनान्तरमेतत्, शिष्यकविशेषादिविषयमेव, विशेषः–अपरिणामकादिर्विहरणशीलो वेति गाथार्थः ॥ १ ॥ उक्तं विहारद्वारम्, यतिकथाद्वारमाह–

सज्झायाईसंतो तित्थयरकुलाणुरूवधम्माणं । कुज्जा कहं जईणं संवेगविवड्ढणं विहिणा ॥ १०२ ॥
जिणधम्मसुट्ठिआणं सुणिज्ज चरिआइं पुव्वसाहूणं । साहिज्जइ अन्नेसिं जहारिहं भावसाराइं ॥ १०३ ॥
भयवं दसन्नभद्दो सुदंसणो थूलभद्द वइरो अ । सफलीकयगिहचाया साहू एवंविहा होंति ॥ १०४ ॥
अणुमोएमो तेसिं भगवंताण चरिअं निरइआरं । संवेगबहुलयाए एव विसोहिज्ज अप्पाणं ॥ १०५ ॥
इअ अप्पणो थिरत्तं तक्कुलवत्ती अहंति बहुमाणा । तद्धम्मसमायरणं एवंपि इमं कुसलमेव ॥ १०६ ॥
अण्णेसिंपि अ एवं थिरत्तमाईणि होंति निअमेणं । इह सो संताणो खलु विकहामहणो मुणेअव्वो ॥ १०७ ॥

स्वाध्यायादिश्रान्तः सन् तीर्थकरकुलानुरूपधर्म्माणां महात्मनां किमित्याह—कुर्यात् कथां यतीनां संवेगविवर्द्धनीं

एअस्सवि पडिसेहो निअमेणं दव्वओवि मोहुदए। जइणो विहारखावणफलमित्थ विहारगहणं तु॥१००॥
आईओचिअ पडिबंधवज्जणत्थं च हंदि सेहाणं। विहिफासणत्थमहवा सेहविसेसाइविसयं तु॥१०१॥दारं

अप्रतिबद्धश्च सदा—अभिष्वङ्गरहित इत्यर्थः, गुरूपदेशेन हेतुभूतेन, क्वेत्याह—'सर्वभावेषु' चेतनाचेतनेष्वप्रतिबद्धः, किमित्याह—मासादिविहारेण समयप्रसिद्धेन विहरेत्, 'यथोचितं' संहननाद्यौचित्येन 'नियमात्' नियोगेन विहरेदिति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—मुक्त्वा 'मासकल्पं' मासविहारं अन्यः 'सूत्रे' सिद्धान्ते नास्त्येव विहारः, तथाऽश्रवणात्, तत् 'कथं' कस्मादादिग्रहणमनन्तरगाथायाम्, एतदाशङ्क्याह—कार्ये तथाविधे सति 'न्यूनादिभावात्' न्यूनाधिकभावात् कारणात् तदादिग्रहणमिति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ नन्वेवमपि गुरुविहारात् सकाशाद्विहारः सिद्ध एव 'एतस्य' उपस्थापितसाधोः भेदेन किमिति भणितो विहार इत्याशङ्क्याह—'मोहजयार्थं' चारित्रविघ्नजयाय ध्रुवो येन कारणेन तस्य विहार इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ एतद्भावनायैवाह—'इतरेषां' गुर्वादीनां 'कारणेन' संयमवृद्धिहेतुना 'नित्यवासोऽपि' एकत्र बहुकाललक्षणो द्रव्यतो भवेत्—अपरमार्थावस्थानरूपेण, 'भावतस्तु' परमार्थेनैव 'गीतानां' गीतार्थभिक्षूणां न कदाचिदसौ—नित्यवासो भवति, किंभूतानां ?—'विधिपराणां' यतनाप्रधानानामिति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ अत्रैव विधिमाह—'गोचरादीना'मिति गोचरबहिर्भूम्यादीनाम् 'अत्र' विहाराधिकारे परावर्त्तनं तु केषांचित्कदाचिदौचित्येन 'मासादौ' ऋतुबद्धे मासे वर्षासु च चतुर्षु यथासम्भवं, सत्सु गोचरादिष्वित्यर्थः, 'नियोगो' नियम एव 'संस्तारक'

प्रधानं स्त्रियस्तेषां—विषयाणामित्यनेन हेतुना 'विशेषतो' विशेषेण उपदेशः स्त्रीविषय इति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ प्रतिपक्षभावनागुणमाह—

जह च्चेव असुहपरिणामओ य दृढ बंधओ हवइ जीवो ।
तह च्चेव विवक्खंमी खवओ कम्माण विन्नेओ ॥ ८९४ ॥ दारं

यथैव तावदशुभपरिणामतः सकाशात् तत्स्वाभाव्येन 'दृढम्' अत्यर्थं बन्धको भवति जीवः, कर्म्मणामिति योगः, 'तथैव' तेनैव प्रकारेण 'विपक्षे' शुभपरिणामे सति क्षपकः कर्म्मणां विज्ञेयः, तत्स्वाभाव्यादेवेति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ व्याख्यातं भावनाद्वारम्, अधुना विहारद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह—

अप्पडिबद्धो अ सया गुरूवएसेण सव्वभावेसु । मासाइविहारेणं विहरिज्ज जहोचिअं नियमा ॥ ८९५ ॥
मोत्तूण मासकप्पं अन्नो सुत्तम्मि नत्थि उ विहारो । ता कहमाइग्गहणं? कज्जे ऊणाइभावाओ ॥ ८९६ ॥
एअंपि गुरुविहाराओँ विहारो सिद्ध एव एअस्स। भेएण कीस भणिओ ? मोहजयट्ठा धुवो जेणं ॥८९७॥
इयरेसि कारणेणं नीआवासोऽवि दव्वओ हुज्जा। भावेण उ गीआणं न कयाइ तओ विहिपराणं॥८९८॥
गोअरमाईआणं एत्थं परिअत्तणं तु मासाओ। जहसंभवं निओगो संथारम्मी विही भणिओ॥८९९॥

दोसम्मि अ सइ मित्तिं माइत्ताई अ सव्वजीवाणं । मोहम्मि जहाथूरं वत्थुसहावं सुपणिहाणं ॥ ८९२ ॥

यो येन वाध्यते 'दोषेण' रागादिना, किंभूतेन ?–'चेतनादिविषयेण' स्त्र्याद्यालम्बनेन, स खलु–भावकः तस्य–रागादेर्विपक्षं तद्विपक्षीयं 'तद्विपयं' चेतनादिविषयमेव 'भावयेत्' चिन्तयेदिति गाथार्थः ॥ ९० ॥ एतदेव लेशतो दर्शयति–'अर्थ' इत्यर्थविषये 'रागभावे' रागोत्पादे 'तस्यैव तु' अर्थस्य 'अर्जनादिसङ्क्लेशम्' अर्जनरक्षणक्षयेषु चित्तदौःस्थ्यं ?, धर्म्मार्थः तद्ग्रह इत्याशङ्क्याह—भावयेत् शास्त्रानुसारेण 'धर्म्महेतुं' धर्म्मनिवन्धनं 'अभावमो'त्ति अभावमेव तथा च तस्यैव–अर्थस्य, तथा चोक्तमन्यैरपि—"धर्म्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी । प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूराद्स्पर्शनं वरम् ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ द्वेषे च सति चेतनविषये मैत्रीं भावयेत्, तथा मातृत्वादि च सर्वजीवानाम् 'उषितश्च गर्भवसतावनेकशस्त्वमिह सर्वसत्त्वाना'मित्यादिना प्रकारेण, एतच्चाजीवद्वेषोपलक्षणं, तत्रापि लोष्टादौ स्खलनादिभावे कर्म्मविपाकं भावयेत्, तथा मोहे च सति 'यथास्थूरं' प्रतीत्यनुसारेण 'वस्तुस्वभावं' चेतनाचेतनधर्म्मं 'सुप्रणिधानं' चित्तदार्ढ्येन भावयेदिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ उक्ताधिकाराभिधाने प्रयोजनमाह—

एत्थ उ वयाहिगारा पायं तेसिं पडिवक्खमो विसया ।
थाणं च इत्थिआओ तेसिंति विसेस उवएसो ॥ ८९३ ॥

अत्र तु प्रकृते व्रताधिकारात् कारणात् प्रायस्तेषां–व्रतानां 'प्रतिपक्षः' प्रत्यनीका 'विषया एव' शब्दादयः, स्थानं च

ह्यतां चैव चिन्तयेदिति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ तथा—जात्यादिगुणविभूषितवरधवनिरपेक्षतां च भावयेत्, धवो–भर्त्ता, तस्यैव चातिनिकृतिप्रधानतां चैव पापस्य, निष्कृतिः–मायेति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ एतदेवाह—चिन्तयति कार्यमन्यत् चेतसा, अन्यत्संस्थापयते क्रियया, भाषतेऽन्यद्वाचा, 'प्रारभते' करोत्यन्यत्, मुहुः प्रारब्धत्यागेन, सर्वथा मातृग्रामो 'निकृतिसारः' मायाप्रधान इति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ तथा—तस्यैव च मातृग्रामस्य 'भूयः' पुनः २ प्रकृत्या नीचगामित्वमनुत्तमत्वात्, सदासौख्यमोक्षप्रापकसद्ध्यानरिपुत्वं ध्यायेत्, तथेदं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ तस्यैवात्युग्रपरमसन्तापजनकनरकानलैकहेतुत्वं भावयेत्, 'ततश्च' मातृग्रामाद्विरक्तानामिहैव प्रशमादिलाभगुणान् भावयेदिति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ 'परलोके च' आगामिजन्मादिरूपे 'सदा' सर्वकालं 'तद्विरागबीजादेव' मातृग्रामविरागकारणादेव भावयेत्, किमित्याह–शारीरमानसानेकदुःखमोक्षं, सकलदुःखक्षयरूपमित्यर्थः, किमित्याह–'सुमोक्षं (सौख्यं) च' अभावरूपादिव्युदासेन निरुपमसुखरूपमिति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ भावनागुणमाह—भावयत 'इदम्' अनन्तरोदितं तत्त्वं 'गाढं संवेगशुद्धयोगस्य' अत्यन्तं संवेगेन शुद्धव्यापारस्य, किमित्याह—क्षीयते क्लिष्टकर्म, अशुभमित्यर्थः, चरणविशुद्धिस्ततः–क्लिष्टकर्मक्षयानन्तरं 'नियमात्' नियमेनेति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ इहैव व्यापकं विधिमाह—

जो जेणं बाहिज्जइ दोसेणं चेयणाइविसएणं । सो खलु तस्स विवक्खं तव्विसयं चेव भाविज्जा ॥८९०॥

अत्थम्मि रागभावे तस्सेव उवज्जणाइसंकेसं । भाविज्ज धम्महेउं अभावमो तह य तस्सेव ॥ ८९१ ॥

सम्यग् भावयितव्यानि सूत्रानुसारत इत्यर्थः, 'अशुभमनोहस्त्यङ्कुशसमानि' अकुशलपरिणामहस्त्यङ्कुशतुल्यानि, तथा विषयविषागदभूतानि, अगदः—परमौषधरूपः,नवरं स्थानान्येतानि—वक्ष्यमाणलक्षणानि भावयितव्यानीति गाथार्थः॥७६॥ विजने देशे श्मशानादिषु स्थितेन, आदिशब्दादारामादिपरिग्रहः, गीतार्थसाधुसहितेन, नैकाकिना, भावयितव्यं, 'प्रथमम्' आदावेव अस्थिरत्वं जीवलोकस्य सर्वत्राऽऽस्थाविघातीति गाथार्थः ॥ ७७ ॥ जीवितं यौवनं ऋद्धिः—सम्पत् प्रियसंयोगादि, आदिशब्दादप्रियत्वादिपरिग्रहः, अस्थिरं सर्वमेतत्, किम्भूतमित्याह—विषमखरमारुताहतकुशाग्रजलबिन्दुना सदृशम्, अतीवास्थिरमिति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ 'विषयाश्च' शब्दादयो 'दुःखरूपाः' सम्मोहनाः विषयवतां, तथा चिन्ताऽऽयासबहुदुःखसञ्जननाः, तदन्वेव तथानुभवनात्, तथा मायेन्द्रजालसदृशाः तुच्छाः, किम्पाकफलोपमाः 'पापा' चिरसावसाना इति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ एवं भावनान्तरं ततश्च 'मातृग्रामस्य' स्त्रीजनस्य 'निदानं' निमित्तं रुधिरादि, आदिशब्दाच्छुक्रादिपरिग्रहः, रक्तोत्कटा स्त्रीत्येवमुपन्यासः, 'भावयेदि'त्येतदभ्यस्येत्, तथा कलमलकमांसशोणितपुरीषपूर्णं च कंकालं भावयेदिति गाथार्थः ॥ ८० ॥ तस्यैव च मातृग्रामस्य समरागाभावं, नहि प्रायेण समा प्रीतिर्भवतीति प्रतीतमेतत्, सति तस्मिन् समरागे तथा 'विचिन्तयेत्' भावयेत्, किमित्याह—सन्ध्याभ्रकाणामिव 'सदा' सर्वकालं 'निसर्गचलरागतां चैव' प्रकृत्याऽस्थिररागतामिति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ असदारम्भाणां तथा—प्राणवधादीनां सर्वेषां लोकगर्हणीयानां, जघन्यानामित्यर्थः, 'परलोकवैरिणाम्' अन्यजन्मशत्रूणां कारणतां चैव यत्नेन मातृग्रामस्य चिन्तयेदिति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ तस्यैव च मातृग्रामस्य अनिलानलभुजङ्गेभ्योऽपि पार्श्वतः सम्यक् प्रकृतिदुर्ग्राह्यस्य च मनसो दुर्ग्रा-

भावनादिः भावना च ८७५-८९

विसया य दुक्खरूवा चिंतायासबहुदुक्खसंजणणा । माइंदजालसरिसा किंवागफलोवमा पावा ॥ ८७९॥
तत्तो अ माइगामस्स निआणं रुहिरमाइ भाविज्जा । कलमलगमंससोणिअपुरीसपुण्णं च कंकालं ॥८८०॥
तस्सेव य समरागाभावं सइ तम्मि तह विचिंतिज्जा । संझब्भगाण व सया निसग्गचलरागयं चेव ॥८८१॥
असदारंभाण तहा सव्वेसिं लोगगरहणिज्जाणं । परलोअवेरिआणं कारणयं चेव जत्तेणं ॥ ८८२ ॥
तस्सेव यानिलानलभुअगेहिंतोऽवि पासओ सम्मं । पगई दुग्गिज्झस्सव मणस्स दुग्गिज्झयं चेव ॥८८३॥
जच्चाइगुणविभूसिअवरधवणिरविक्खयं च भाविज्जा । तस्सेव य अइनिअडीपहाणयं चेव पावस्स ॥८८४॥
चिंतेइ कज्जमन्नं अण्णं संठवइ भासए अन्नं । पाढवइ कुणइमन्नं मायग्गामो निअडिसारो ॥ ८८५ ॥
तस्सेव य झाएज्जा भुज्जो पयईअ णीयगामित्तं । सइसोक्खमोक्खपावगसज्झाणरिवुत्तणं तहय ॥८८६॥
अच्चुग्गपरमसंतावजणगनिरयाणलेगहेउत्तं । तत्तो अ विरत्ताणं इहेव पसमाइलाभगुणं ॥ ८८७ ॥
परलोगम्मि अ सइ तव्विरागबीजाओ चेव भाविज्जा । सारीरमाणसाणेगदुक्खमोक्खं सुसोक्खं च ॥८८८॥
भावेमाणस्स इमं गाढं संवेगसुद्धजोगस्स । खिज्जइ किलिट्ठकम्मं चरणविसुद्धी तओ निअमा ॥८८९॥

चाराणां नरकादिषु गुरुकं 'तद्' अशुभफलं, कालाद्यशुभापेक्षया, आदिशब्दात् क्लिष्टतिर्यक्परिग्रहः, इत्थं भेतदशौचित्यं तद्, अन्यथा कस्तस्य हेतुः?, महातिचारान् मुक्त्वेति गाथार्थः ॥७३॥ उपसंहरन्नाह—'एवम्' उक्तेन प्रकारेण विचारणायां सत्यां सदा संवेगाद्धेतोः किमित्याह—चरणपरिशुद्धिः, शुद्धिनिकरणतया, 'इतरथा' विचारणामन्तरेण सम्मूर्च्छनजप्राणितुल्यता जडतया कारणेन, असावत्यर्थं दोषाय भवति ज्ञातव्या प्रव्रज्यायामपीति गाथार्थः ॥७४॥ उक्तं विचारद्वारं, भावनाद्वारमभिधातुमाह—

एवं पवट्टमाणस्स कम्मदोसा य होज्ज इत्थीसु । रागोऽहवा विणा तं विहिआणुट्ठाणओ चेव ॥ ८७५ ॥

एवमपि प्रवर्त्तमानस्य गुर्वाद्यपरित्यागेन, किमित्याह—कर्म्मदोषात् कारणाद् भवेत् स्त्रीषु रागः, स्त्रीविषयोऽभिष्वङ्ग इत्यर्थः, तत्र 'सम्मं भावेयव्वा' इति वक्ष्यति, अथवा विना तं स्त्रीविषयं रागं विहितानुष्ठानत एव च कारणाद् यतीनामाचारत्वादेवेति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ किमित्याह—

सम्मं भावेअव्वाइं असुहमणहत्थिअंकुससमाइं । विसयविसागयभूआइं णवरं ठाणाइं एआइं ॥ ८७६ ॥

विजणम्मि मसाणाइसु ठिएण गीअत्थसाहुसहिएणं । भावेअव्वं पढमं अथिरत्तं जीवलोअस्स ॥ ८७७ ॥

जीअं जोव्वणमिड्ढी पिअसंजोगाइ अत्थिरं सव्वं । विसमखरमारुआहयकुसग्गजलबिंदुणा सरिसं ॥८७८॥

मेव हन्दि मोक्षस्य हेतुरिति योगः ?, नैवेत्यभिप्रायः, किंभूतानामित्याह—'अतिचाराश्रयभूतानां' प्रभूतातिचारवता-
मिति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ मार्गानुसारिणं विकल्पमाह—एवं च घटते एतद्—अनन्तरोदितं, प्रपद्य यश्चिकित्सां कुष्ठादे-
रतिचारं–तद्विरोधिनं, किमित्याह—सूक्ष्ममपि करोति स खलु तस्यातिचारः विपाकेऽतिरौद्रो भवति, दृष्टमेतद्, एवं
दार्ष्टान्तिकेऽपि भविष्यतीति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ अतिचारक्षपणहेतुमाह—प्रतिपक्षाध्यवसानं क्लिष्टाच्छुद्धं तुल्यगुणमधि-
कगुणं वा प्रायेण 'तस्य' अतिचारस्य क्षपणहेतुरपि, यदृच्छापि क्वचिदिति प्रायोग्रहणं, नालोचनामात्रं तथाविधभाव-
शून्यं, कुत इत्याह—'तेपामपि' ब्राह्मयादीनां प्राणिनामोघेन–सामान्येन 'तद्भावाद्' आलोचनादिमात्रभावादिति गाथार्थः
॥ ६९ ॥ एवं प्रमत्तानामपि साधूनां 'प्रत्यतिचारम्' अतिचारं २ प्रति विपक्षहेतूनां–यथोक्ताध्यवसानानां आसेवने सति
न दोपः, अतिचारक्षयात्, इत्येवं धर्म्मचरणं यथाभिहितं शुद्धत्वात् मोक्षस्य हेतुरिति गाथार्थः ॥ ७० ॥ अत्रैवैदंपर्य-
माह—सम्यकृतप्रतीकारमगदमन्त्रादिना वह्वपि विपं न मारयति यथा भक्षितं सत्, स्तोकमपि च 'विपरीतम्' अकृतप्र-
तीकारं मारयति एपोपमा अत्र–अतिचारविचार इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ विपक्षमाह—ये प्रतीकारविरहिताः अतिचारेषु
प्रमादिनो द्रव्यसाधवः तेपां पुनस्तद्–धर्मचरणं 'यथोदितं' चिन्त्यं न भवतीत्यर्थः, एतदेव स्पष्टयति—दुर्गृहीतशरो-
दाहरणात्, शरो यथा दुर्गृहीतो हस्तमेवावकृन्तति, 'श्रामण्यं दुष्परामृष्टं, नरकानुपकर्षती' त्यस्मादनिष्टफलमप्येतद्–धर्म्म-
चरणं द्रव्यरूपं भणितं मनीपिभिरिति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ एतदेव सामान्येन द्रढयन्नाह—क्षुद्रातिचाराणामेवौघतो धर्म्म-
सम्बन्धिनां मनुष्यादिष्वशुभफलं ज्ञेयं, स्त्रीत्वदारिद्र्यादि, आदिशब्दात् तथाविधतिर्यक्परिग्रहः, 'इतरेपां पुनः' महाति-

पडिवक्खज्झवसाणं पाएणं तस्स खवणहेऊवि । णालोअणाइमित्तं तेसिं ओघेण तब्भावा ॥ ८६९ ॥
एव पमत्ताणंपि हु पइअइआरं विवक्खहेऊणं । आसेवणे ण दोसोत्ति धम्मचरणं जहाऽभिहिअं ॥ ८७० ॥
सम्मं कयपडिआरं वहुअंपि विसं न मारए जह उ । थेवंपि अ विवरीअं मारइ एसोवमा एत्थ ॥ ८७१ ॥
जे पडिआरविरहिआ पमाइणो तेसि पुण तयं विंति । दुग्गहिअसराहरणा अणिट्ठफलयंपिमं भणिअं ८७२
खुद्दइआराणं चिअ मणुआइसु असुहमो फलं नेअं । इअरेसु अ निरयाइसु गुरुअं तं अन्नहा कत्तो? ॥ ८७३ ॥

एवं विआरणाए सइ संवेगाओ चरणपरिवुड्डी ।
इहरा संमुच्छिमपाणितुल्लया (दढं) होइ दोसा य ॥ ८७४ ॥ दारं

'सम्यक्' सूक्ष्मेण न्यायेन विचारयितव्यमर्थपदं भावनाप्रधानेन सता, तस्या एवेह प्रधानत्वात्, तथा विषये च स्थापयितव्यं, तदर्थपदं, कुत इत्याह—बहुश्रुतगुरुसकाशात्, न स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ॥६५॥ एतदेवाह—यथा 'सूक्ष्मातिचाराणां' लघुचारित्रापराधानां, किंभूतानामित्याह—ब्राह्मीप्रमुखादिफलनिदानानां—कारणानां, प्रमुखशब्दात् सुन्दरीपरिग्रहः, आदिशब्दात्तपस्तपनप्रभृतीनां, यद् गुरुफलमुक्तं सूत्रे स्त्रीत्वकिल्बिषिकत्वादि एतत् कथं घटते ? युक्त्या, कोऽस्य विषयः ? इति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ तथा—सत्येतास्मिंश्चैव यथार्थ एव, कथं प्रमत्तानामयतनसाधूनां धर्मचरण-

'क्षुद्रसत्त्वाः' द्रमकप्रायाः, किम्भूता इत्याह–क्लिष्टकर्म्मोदयात् सम्भूताः, पापकर्म्मोदयोत्पन्ना इत्यर्थः । त एव विशेष्यन्ते-विषकण्टकादितुल्याः–प्रकृत्या परापकारपराः 'धर्म्मे' चारित्रे 'दृढम्' अत्यर्थं प्रवर्त्तन्ते, न कदाचिदिति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ अतोऽन्ये तु प्रवर्त्तन्त इति भङ्ग्याऽऽह—कुशलाशयहेतुत्वात् कारणात् तथा विशिष्टसुखहेतुतश्च कारणान्नियमन, किमित्याह–शुद्धं पुण्यफलमेव हेतुशुद्धेः जीवं पापान्निवर्त्तयति, तत्सङ्गेऽपि न एषः (अचारित्री), कुशलत्वादेः प्रकृष्टसुख-साधनत्वादिति गाथार्थः ॥ ६२ ॥ उपसंहरन्नाह–अलमत्र–प्रक्रमे प्रसङ्गेन, बाह्यमप्यनशनादितपउपधानमेवम्–उक्तेन न्यायेन कर्त्तव्यं, बुद्धिमता सत्त्वेन, किमधिकृत्येत्याह–कर्मक्षयमिच्छता सतेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ अभ्यन्तरं पुनस्तपः प्रायश्चित्तादि प्रायः सिद्धं सर्वेषामेव यतीनां–मोक्षवादिनां स्वरूपेण, 'एतस्य' अभ्यन्तरस्य तपसः अकरणं पुनः प्रतिषिद्धं सर्वभावेन सर्वेषामेव यतीनामिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ उक्तं तपोद्वारं, विचारद्वारमधिकृत्याह–

सम्मं विआरिअव्वं अत्थपदं भावणापहाणेणं । विसए अ ठाविअव्वं बहुस्सुअगुरुसयासाओ ॥ ८६५ ॥
जइ सुहुमइआराणं बंभीपमुहाइफलनिआणाणं । जं गरुअं फलमुत्तं एअं कह घडइ जुत्तीए ? ॥८६६॥
सइ एअम्मि अ एवं कहं पमत्ताण धम्मचरणं तु ? । अइआरासयभूआण हंदि मोक्खस्स हेउत्ति ॥ ८६७ ॥
एवं च घडइ एवं पवज्जिउं जो तिगिच्छमइआरं । सुहुमंपि कुणइ सो खलु तस्स विवागम्मि अइरोद्दो८६८॥

अब्भिंतरं तु पायं सिद्धं सव्वेसिमेव उ जईणं । एअस्स अकरणं पुण पडिसिद्धं सव्वभावेण ॥ ८६१ ॥ दारं

'एतेन' अनन्तरोदितेन अनशनादेः शुभभावहेतुत्वेन यदपि केचन बाला भणन्तीति योगः, किमित्याह—नानशनादि दुःखमितिकृत्वा 'मोक्षाङ्गं' मोक्षकारणं, कुत इत्याह—कर्म्मविपाकत्वात्, कारणमपि, कर्म्मवदिति, एतदपि 'प्रतिषिद्धं' निराकृतमेवावसेयमिति, गाथार्थः ॥ ५६ ॥ एतदेव स्पष्टयति—'यद्' यस्माद् 'इय' एवमुक्तेन प्रकारेण 'इदम्' अनशनादि 'न दुःखं' न दुःखहेतुः, तथा कर्म्मविपाकफलमपि, सर्वथा साक्षात्कारित्वेन, नैवमनशनादि, कुत इत्याह—क्षायोपशमिकभावे जीवस्वरूपे 'एतदि'ति भावतोऽनशनादि 'जिनागमे भणितं' वीतरागवचने पठितमिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ एतदेव प्रकटयन्नाह—क्षान्त्यादिसाधुधर्म्मे "खंती य मद्दवऽज्जव मुत्ती तव संजमे अ बोद्धव्वे । सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥ १ ॥"त्ति तस्मिंस्तपोग्रहणमस्ति, स च साधुधर्म्मः क्षायोपशमिके भावे निर्दिष्टः, चारित्रधर्म्मत्वात्, दुःखं चौदयिक एव सर्वं विनिर्दिष्टं भगवद्भिः, असातोदयात्मकत्वादिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ कर्म्मविपाकत्वादिति च यदुक्तमत्राह—न च कर्मविपाकोऽपि सामान्येन सर्व एव 'सर्वथा' पारम्पर्यादिभेदेनापि मोक्षाङ्गं, किन्तु मोक्षाङ्गमपि, कथमित्याह—'शुभसम्बन्धी' कुशलानुबन्धिनिरनुबन्धकर्म्मसम्बन्धी यस्मादिष्यते 'एषः' कर्म्मविपाकः 'समये' सिद्धान्ते मोक्षाङ्गमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—ये केचन सामान्येन 'महापुरुषा' बलदेवतीर्थकरादयः, किम्भूता इत्याह—'धर्म्माराधनसहाः' चारित्राराधनसमर्थाः, इह लोके जम्बूद्वीपादौ, ते किमित्याह—'कुशलानुबन्धिकर्मोदयादितः' कुशलानुबन्धिनिरनुबन्धिकर्म्मोदयादित्यर्थः, ते विनिर्दिष्टाः समय इति गाथार्थः ॥ ६० ॥ एतदेव व्यतिरेकेणाह—न कदाचित्

तपसः क्षायोपशमिकता ८५५-६४

॥ १३२ ॥

एअं अणुभवसिद्धं जइमाईणं विसुद्धभावाणं । भावेणऽण्णेसिंपि अ रायाणिद्देसकारीणं ॥ ८५५ ॥

'एतद्' अनन्तरोदितमाज्ञाराधनस्य शुभभावहेतुत्वम् 'अनुभवसिद्धं' स्वसंवेदनप्रतिष्ठितं 'यत्यादीनां' साधुश्रावकाणां 'विशुद्धभावानां' लघुकर्म्मणाम्, आस्तां तावदेतदिति निदर्शनमाह—'भावेन' अन्तःकरणबहुमानेन अन्येषामपि च प्राणिनां राजादिनिर्देशकारिणाम्, अनुभवसिद्धमेव निर्देशसम्पादनेषु, निर्देश आज्ञेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

एएण जंति केई नाणसणाई दुहंपि (ति) मोक्खंगं । कम्मविवागत्तणओ भणंति एअंपि पडिसिद्धं॥८५६॥
जं इय इमं न दुक्खं कम्मविवागोऽवि सव्वहा णेवं। खाओवसमिअभावे एअंति जिणागमे भणिअं॥८५७॥
खंताइ साहुधम्मे तवगहणं सो खओवसमिअम्मि । भावम्मि विनिद्दिट्ठो दुक्खं चोदइअगे सव्वं ॥८५८॥
ण य कम्मविवागोऽविहु सव्वोऽविहु सव्वहा ण मोक्खंगं। सुहसंबंधी जम्हा इच्छिज्जइ एस समयम्मि८५९
जे केइ महापुरिसा धम्माराहणसहा इहं लोए । कुसलाणुबंधिकम्मोदयाइओ ते विनिद्दिट्ठा ॥८६०॥
न कयाइ खुद्दसत्ता किलिट्ठकम्मोदयाओं संभूआ । विसकंटगाइतुल्ला धम्मम्मि दढं पयट्टंति ॥ ८६१ ॥
कुसलासयहेऊओ विसिट्ठसुहहेउओ अ णिअमेणं । सुद्धं पुन्नफलं चिअ जीवं पावा णिअत्तेइ ॥८६२॥
अलमित्थ पसंगेणं बज्झंपि तवोवहाणमो एवं । कायव्वं बुद्धिमया कम्मक्खयमिच्छमाणेणं ॥ ८६३ ॥

तुल्लमिअमणसणाओ न य तं सुहझाणवाहगंपि इहं। कायव्वंति जिणाणा किंतु ससत्तीए जइअव्वं ॥८५२॥
ता जह न देहपीडा ण यावि चिअमंससोणिअत्तं तु। जह धम्मझाणवुड्डी तहा इमं होइ कायव्वं ॥८५३॥

स्यादेतत्—न शुभाशयात् कारणात् चारित्रलाभेन श्रुतोपयुक्तस्य सतः 'मुणिततत्त्वस्य' ज्ञातपरमार्थस्य 'ब्रह्म' इति ब्रह्मचर्ये भवति पीडा, नेति वर्त्तते, तथा संवेगाच्च कारणात् मोक्षानुरागेण भिक्षोरिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ अत्रोत्तरमाह—तुल्यमिदं—शुभाशयादि अनशनादौ तपसि, न च 'तद्' अनशनादि शुभध्यानबाधकमपि 'अत्र' धर्मे कर्त्तव्यमिति 'जिनाज्ञा' जिनवचनं, किन्तु स्वशक्त्या यतितव्यमत्र जिनाज्ञेति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ यस्मादेवं तस्माद् यथा न देहपीडा संयमोपघातिनी, न चापि चितमांसशोणितत्वं संयमोपघातकमेव, तथा यथा धर्मध्यानवृद्धिर्देहस्वास्थ्येन तथेदम्—अनशनादि भवति कर्त्तव्यं, यथोक्तम्—"कायो न केवलमयं परितापनीयो, मृष्टै रसैर्बहुविधैर्न च लालनीयः। चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति यथोत्पथेषु, वश्यानि येन च तथा चरितं जिनानाम् ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ उपचयमाह—

पडिवज्जइ अ इमं खलु अणाआराहणेण भव्वस्स। सुहभावहेउभावं कम्मखयउवसमभा(भ)वेण ॥ ८५४॥

प्रतिपद्यते चेदम्—अनशनादि खल्वित्यवधारणे, प्रतिपद्यत एव, आज्ञाराधनेन तीर्थकृतां भव्यस्य प्राणिनः, किं प्रतिपद्यत इत्याह—'शुभभावहेतुभावं' कल्याणांशनिमित्तत्वं, कर्म्मक्षयोपशमभावेन आज्ञाराधनफलेन हेतुनेति गाथार्थः ॥५४॥ अस्यैवानुभवसिद्धतामाह—

सइ तम्मि विवेगीवि हु साहेइ ण निअमओ निअं कज्जं ।
किं पुण तेण विहूणो अदीहदरिसी अतस्सेवी ? ॥ ८४९ ॥

तम्हा उ अणसणाइवि पीडाजणगंपि ईसि देहस्स । बंभं व सेविअव्वं तवोवहाणं सया जइणा ॥ ८५० ॥

न 'अनशनादिविरहात्' अनशनाद्यभावेन 'प्रायेण' बाहुल्येन त्यजति साम्प्रतं विशेषेण कुत्सितायां 'देहः' कायः, किं न त्यजतीत्याह—चितमांसशोणितत्वं, पातुमेधमित्यर्थः, यस्मादेवं 'तस्मादेतदपि' अनशनादि कर्तव्यं प्रसाधिनेति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ चितमांसशोणितदोषमाह—चितमांसशोणितस्य तु प्राणिनः, किमित्याह—अशुभप्रवृत्तेः कामविषयायाः कारणं 'परो' प्रधानं सञ्जायते 'मोहोदयः' क्लिष्टचित्तपरिणामः, कुत इत्याह—सहकारिविशेषयोगेन, चितमांसशोणितत्वनिमित्तविशेषादिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ विवेकादयो न भविष्यतीति केचिदित्यत आह—सति 'तस्मिन्' मोहोदये विवेक्यपि सत्त्वः 'साधयति' निर्वर्तयति न 'नियमतः' अवश्यन्तया निजं कार्यम्—अशुभप्रवृत्तिनिरोधरूपं, किं पुनः 'तेन' विवेकेन विहीनः साधयिष्यति ?, किम्भूतः ?—'अदीर्घदर्शी' अनालोचकः, क इत्याह—'अतत्सेवी' अनागतमेवानशनाद्यसेवी बाल इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ यस्मादेवं—तस्मादनशनाद्यपि सूक्ष्मं पीडाजनकमपि देहस्य, न चेतसः, किमिवेत्याह—'ब्रह्मवत्' ब्रह्मचर्यवत् सेवितव्यं तपउपधानं सदा 'यतिना' प्रव्रजितेनेति गाथार्थः ॥ ५० ॥ पराभिप्रायमाह—

सिअ णो सुहासयाओ सुओवउत्तस्स मुणिअतत्तस्स । बंभंमि होइ पीडा संवेगाओ अ भिक्खुस्स ॥ ८५१ ॥

करादिभिः दुःखक्षयकारणात् 'सुविहितैः' साधुभिर्भवति नोद्यन्तव्यम् ?, उद्यन्तव्यमेव, 'समत्ययाये' चापलादिपर्गमेऽ मानुष्य इति गाथार्थः ॥ ४२॥ अस्यैव प्रकृतोपयोगितामाह–व्रतरक्षणं 'परं' प्रधानं खलु, किं तदित्याह—तपउपधानम्, इह लोके काले वा जिनवरा ब्रुवते, 'अतश्च' तपउपधानाद् गुणवृद्धिः 'सम्यक्' प्रशस्ता 'नियमेन' अवश्यन्तया, मोक्षफला गुणवृद्धिरिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ तपउपधानस्वरूपमाह–'शुभयोगवृद्धिजनकं' शुभानुबन्धित्वेन शुभध्यानसमन्नितमासेवनाकालेऽनशनादि प्रवचनोक्तं यत् 'अनाशंसं' निरभिसन्धि तत् खलु–अनशनादि तपउपधानं मन्तव्यं, न तु स्वाग्रहप्रकाममिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ ओघत बाह्याभ्यन्तररूपं तत्र आह–'अनशनम्' इत्वरादिरूपम् 'ऊनोदरता' अल्पाहारादिलक्षणा 'वृत्तिसङ्क्षेपः' अटनगृहमानादिः 'रसपरित्यागः' विकृतिपरिहारः कायक्लेशः ऊर्द्धस्थानादिना 'संलीनता च' इन्द्रियनोइन्द्रियगुप्तता, एतद्बाह्यं तपो भवति, बाह्यमिव बाह्यं, सर्वलोकविदितत्वादेवेति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ 'प्रायश्चित्तम्' आलोचनादि 'विनयो' ज्ञानादिगोचरः 'वैयावृत्त्यम्' आचार्यादिविषयं, तथैव 'स्वाध्यायो' वाचनादिलक्षणः, 'ध्यानं' धर्म्मध्यानादि व्युत्सर्गोऽपि च कारणगृहीतस्य मनागशुद्धस्यान्यलाभे सत्याहारादेः, एतदभ्यतरं तु ज्ञातव्यं तपः, अभ्यन्तरमिवाभ्यन्तरं, सर्वलोकाविदितत्वादिति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ केचिदनशनादि नेच्छन्त्येव तान् प्रति तद्गुणमाह–

नो अणसणाइविरहा पाएण चएइ संपयं देहो । चिअमंससोणिअत्तं तम्हा एअंपि कायव्वं ॥ ८४७॥

चिअमंससोणिअस्स उ असुहपवित्तीएँ कारणं परमं ।
संजायइ मोहुदओ सहकारिविसेसजोएणं ॥ ८४८ ॥

कायव्वं च मइमया सत्तऽणुरूवं तवोवहाणंति । सुत्तभणिएण विहिणा सुपसत्थं जिणवराइण्णं ॥ ८४० ॥

तित्थयरो चउनाणी सुरमहिओ सिज्झिअव्वय धुवम्मि ।
अणिगूहिअबलविरिओ तवोवहाणम्मि उज्जमइ ॥ ८४१ ॥

किं पुण अवसेसेहिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं । होइ न उज्जमिअव्वं सपच्चवायम्मि माणुस्से ? ॥ ८४२॥
चयरक्खणं परं खलु तवोवहाणम्मि जिणवरा बिंति । एत्तो उ गुणविवड्ढी सम्मं निअमेण मोक्खफला ८४३
सुहजोगवुड्ढिजणयं सुहझाणसमन्निअं अणसणाई । जमणासंसं तं खलु तवोवहाणं मुणेअव्वं ॥ ८४४ ॥
अणसणमूणोअरिआ वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ । कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होई ॥ ८४५ ॥
पायच्छित्तं विणओ वेआवच्चं तहेव सज्झाओ । झाणं उस्सग्गोऽविअ अब्भिंतरओ उ नायव्वो ॥ ८४६ ॥

कर्तव्यं च 'मतिमता' बुद्धिमता 'शक्त्यनुरूपं' यथाशक्ति किमित्याह—'तपउपधानं' तपोऽनुष्ठानमिति सूत्रभणितेन 'विधिना' प्रकारेण 'शुभशस्तं' मांगल्यं जिनवराचरितं च उपधानमिति गाथार्थः ॥ ४० ॥ अस्यैव कर्तव्यतामाह—'तीर्थकरो' भुवनगुरुः चतुर्ज्ञानी, मत्यादिभिर्ज्ञानैः, 'सुरमहितो' देवपूजितः सिद्धव्ये ध्रुवे, तेनैव जन्मना, अनिगूहितबलवीर्यः सन् 'तपउपधाने' अनशनादौ 'उद्यच्छते' यत्नं करोतीति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ यत्र तीर्थकरोऽप्येवं तत्र किं पुनरवशेषैः—अतीर्थ-

त्याह–एकाङ्गिकोऽनेकाङ्गिकश्च–फलककविमयादिः, उत्कृष्टः स्वरूपेण, तथा पुस्तकपञ्चकं, तद्यथा–गण्डिकापुस्तकः छिवाटीपुस्तकः कच्छविपुस्तकः मुष्टिपुस्तकः सम्पुटकश्चेति, तथा 'फलकं' पट्टिका समवसरणफलकं वा उत्कृष्ट इति प्रधानापेक्षया औपग्रहिक उपधिः 'सर्व' इत्यक्षादिः सर्व एवेति गाथार्थः ॥ २७ ॥ अनयोरौघिकौपग्रहिकयोरेवोपध्योर्द्वयोरपि विशेषलक्षणमभिधातुमाह—

ओहेण जस्स गहणं भोगो पुण कारणा स ओहोही ।
जस्स उ दुगंपि निअमा कारणओ सो उवग्गहिओ ॥ ८३८ ॥
मुच्छारहिआणेसो सम्मं चरणस्स साहगो भणिओ ।
जुत्तीए इहरा पुण दोसा इत्थंपि आणाई ॥ ८३९ ॥ दारं ।

'ओघेन' सामान्येन भोगे अभोगे वा 'यस्य' पात्रादेर्ग्रहणम्–आदानं, भोगः पुनः 'कारणात्'निमित्तेनैव भिक्षाटनादिना स ओघोपधिरभिधीयते, यस्य तु पीठकादेर्द्वयमपि–ग्रहणं भोगश्चेत्येतन्नियमात्कारणतो–निमित्तेन ग्रहादिना स पीठकादि औपग्रहिकः, कादाचित्कप्रयोजननिर्वृत्त इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ अस्यैव गुणकारितामाह–'मूर्च्छारहितानाम्' अभिष्वङ्गवर्जितानां यतीनामे(ष) द्विविधोऽपि पात्रपीठकादिरूप उपधिः 'सम्यग्' अधिकरणरक्षाहेतुत्वेन चरणस्य साधको भणितः, तीर्थकरगणधरैः, 'युक्त्ये'ति मानभोगयतनया,इतरथा पुनः–अयुक्त्या यथोक्तमानभोगाभावे दोषा 'अत्रापि' उपधौ गृह्यमाणे भुज्यमाने वा आज्ञादय इति गाथार्थः ॥ २९ ॥ उक्तमुपकरणद्वारं, तपोविधानद्वारमभिधित्सुराह–

पीठकं काष्ठच्छगणात्मकं लोकसिद्धमानं, त्रेहवत्यां वसतौ वर्षाकाले वा ध्रियत इत्यौपग्रहिकं, संयतीनां त्वागताभ्यागतसाधुनिमित्तमिति, निषद्या पादपुञ्छणं प्रसिद्धप्रमाणं, जिनकल्पिकादीनां न भवति, निषीदनाभावात्, दण्डकोऽप्येवमेव, नवरं निवारणाभावात् एषः, प्रमार्जनी वसतेर्दण्डकपुच्छनाभिधाना एव, 'घट्टकः' पात्रमुखादिकरणाय लोहमयः, 'सूची' शीवनादिनिमित्तं वेण्वादिमया, नखरदनी प्रतीता लोहमय्येव, शोधनकद्वयं कर्णशोधनकदन्तशोधनकाभिधानं लोहमयादि जघन्यस्तु अयं जघन्यः औपग्रहिकः खलूपधिरिति गाथार्थः ॥ २४ ॥ एनमेव मध्यममभिधातुमाह—

वर्षात्राणविषयं पञ्चकं, तद्यथा—कम्बलमय १ सूत्रमय २ तालपत्रसूची ३ पलाशपत्रकुट ४ शीर्षकं छत्रकं ५ चेति, लोकसिद्धप्रमाणानीति, तथा चिलिमिलीपञ्चकं, तद्यथा—सूत्रमयी (ऊर्णामयी वाकमयी) दण्डमयी कण्टकमयीति, प्रमाणमस्याः गच्छापेक्षया, सागारिकप्रच्छादनाय तदावरणात्मिकैवेयमिति, संस्तारद्वयं च शुषिराशुषिरभेदभिन्नं, शुषिरः तृणादिकृतः, तदन्यकृतस्त्वशुषिर इति, तथा दण्डादिपञ्चकं पुनः, तद्यथा—दण्डको विदण्डकः यष्टिर्वियष्टिः नालिका चेति, मात्रकत्रितयं, तद्यथा—कायिकमात्रकं संज्ञामात्रकं खेलमात्रकमिति, तथा पादलेखनिका वटादिकाष्ठमयी कर्दमापनयनीति गाथार्थः ॥ २५ ॥ चर्म्मत्रिकं वर्ध्रतलिकाकृत्तिरूपं, तथा 'पट्टद्वयं' संस्तारपट्टोत्तरपट्टलक्षणं ज्ञातव्यः मध्यम उपधिरेष औपग्रहिकः । आर्याणां वारकः पुनः सागारिकोदकनिमित्तं मध्यमोपधावुक्तलक्षणो भवत्यतिरिक्तः, नित्यं जनमध्य एव तासां वासादिति गाथार्थः ॥ २६ ॥ एनमेवोत्कृष्टमभिधातुमाह—अक्षाः—चन्दनकादयः संस्तारकश्च, किंविशिष्ट इ-

तथा 'समवसरणं' व्याख्याने खात्रार्दा चतुर्हस्ता, सा एतन्निषण्णप्रच्छादनार्थोपगुज्यते, यतो न तत्र संयतीभिरपवेष्टव्यं, सा च 'मसृणा' अशुषिरा भवतीति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

खंधेगरणी चउहत्थवित्थडा वायविहुयरक्खट्ठा । दारं । खुज्जकरणीवि कीरइ रूववईए कुडहहेऊ ॥८३२॥

स्कन्धकरणी चतुर्हस्तविस्तृता भवति, सा च वातविधूतरक्षार्थं, प्रयोजनान्तरमाह–कुब्जकरण्यपि क्रियते, सा रूपवत्याः संयत्याः कुड्डभनिमित्तमिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

संघाइमे परो वा सव्वो वेसो समासओ उवही । पासगबद्धमझुसिरो जं वाऽऽइण्णं तयं णेअं ॥ ८३३ ॥

सङ्घात्य इतरो वा–एकाङ्गिकः यथालाभसम्भवात् सर्वोऽप्येष समासत उपधिः अनन्तरोदितः पाशकबद्धः अशुषिरो भवति, यच्चाऽऽचरितमत्र विपरिसीवनादि तत् ज्ञेयं सुसाध्वाचरणादित एवेति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ उक्त ओघोपधिरौपग्रहिकमाह–

पीढग निसिज्ज दंडग पमज्जणी घट्टए डगलमाई । पिप्पलग सूई नहरणि सोहणगदुगं जहण्णो उ ॥८३४॥
वासत्ताणे पणगं चिलिमिणिपणगं दुगं च संथारे । दंडाईपणगं पुण मत्तगतिग पायलेहणिआ ॥ ८३५ ॥
चम्मतियं पट्टदुगं नायव्वो मज्झिमो उवहि एसो । अज्जाण वारओ पुण मज्झिमओ होइ अइरित्तो ॥८३६॥
अक्खग संथारो वा एगमणेणंगिओ अ उक्कोसो । पोत्थगपणगं फलगं उक्कोसोवग्गहो सव्वो ॥ ८३७ ॥

दोन्नि तिहत्थायामा भिक्खट्ठा एक्क एक्क उच्चारे। ओसरणे चउहत्था निसण्णपच्छायणे मसिणा ॥८३१॥

कमठगमानं स्वरूपसम्बन्धि 'उदरप्रमाणतो' निजोदरप्रमाणेन संयतीनां विज्ञेयं, सदा ग्रहणं पुनस्तस्य-कमठकस्य 'लहुसकदोषा'दिति अल्पत्वापराधाद् 'आसां' संयतीनां, लम्बनग्रहणेऽप्रीत्या अकुशलपरिणामभावादिति गाथार्थः ॥२४॥ अथवग्रहानन्तकं नौसंस्थितम्, एतच्च गुह्यदेशरक्षणार्थं भवति, रक्षा च दर्शनस्य मोहोदयहेतुत्वात्, तत्पुनः स्वरूपमानाभ्यां यथासङ्ख्यं घनमसृणं स्वरूपेण देहमाश्रित्य प्रमाणेन भवतीति गाथार्थः ॥ २५ ॥ पट्टोऽपि भवति 'तासां' संयतीनां, किंविशिष्ट इत्याह—देहप्रमाणेनैव भवति विज्ञेयः, प्रमाणमानेन, स्वरूपतस्तु छादयन्नवग्रहानन्तकं, कटिबन्धोऽसौ भवति मल्लकच्छेवेति गाथार्थः ॥ २६ ॥ अर्द्धोरुकमपि 'तौ द्वावपि' अवग्रहानन्तकपट्टौ 'गृहीत्वा' अवष्टभ्य छादयति कटिभागं, तथा जानुप्रमाणावलम्बनेन चलनी भवति, सा चासीविता स्वरूपतो लङ्खिकाया इवेति गाथार्थः ॥ २७ ॥ अन्तर्निवसनी पुनर्लीना—सुश्लिष्टा, सा च कटिं यावदर्द्धजङ्घाभ्यामारभ्य, तथा बाह्या निवसनी यावत् खलुकः तावत् कट्यां दवरकेण प्रतिबद्धा भवतीति गाथार्थः ॥ २८ ॥ छादयत्यनुकुचितौ—श्लथावित्यर्थः 'गण्डौ' स्तनौ पुनः कञ्चुकः असीवित इति, तथा एवमेवोत्कच्छिका छादयति, सा नवरं दक्षिणे पार्श्वे भवतीति गाथार्थः ॥२९॥ वेकच्छिका तु पट्टो भवति, सा तु कञ्चुकमुत्कच्छिकां च छादयन्ती भवति, तथा संघाट्यश्चतस्रो भवन्ति, एका द्विहस्ता द्वे त्रिहस्ते एका चतुर्हस्ता, तत्र द्विहस्ता उपाश्रये भवति, न तां विहाय प्रकटदेहया कदाचिदासितव्यमिति गाथार्थः ॥ ३० ॥ द्वे त्रिहस्तायामे भवतः, तयोर्भिक्षार्थमेका एका उच्चारे भवति, भेदग्रहणं गोचराद्युपलब्धतुल्यवेषादिपरिहारार्थं,

स्वरूपेण महतीन्द्रिय इत्यर्थः, एते चार्यदेशोत्पन्नादिगुणवन्तोऽप्यब्राज्याः प्राप्नुवन्ति, अतस्तेषामनुग्रहार्थम्-अनुग्रहनिमित्तं, 'लिङ्गोदयार्थं च' लिङ्गोदयदर्शननिवारणार्थं चेति भावः, 'पट्टस्तु' चोलपट्ट इति गाथार्थः॥२२॥आर्याणामधिकृत्याह-

पत्ताईण पमाणं दुहावि जह वण्णिअं तु थेराणं । मोत्तूण चोलपट्टं तहेव अज्जाण दट्ठव्वं ॥ ८२३ ॥

पात्रादीनां प्रमाणं 'द्विधापि' गणनया स्वरूपेण च यथा वर्णितं स्थविराणां मुक्त्वा चोलपट्टं तथैवार्याणामपि द्रष्टव्यं, तेषां प्रमाणमिति गाथार्थः ॥ २३ ॥

कमढपमाणं उदरप्पमाणओ संजईण विण्णेअं । सइगहणं पुण तस्सा लहुसगदोसा इमासिं तु ॥ ८२४॥
अह उग्गहणंतग णावसंठिअं गुज्झदेसरक्खट्ठा । तं पुण सरूवमाणे घणमसिणं देहमासज्ज ॥ ८२५॥
पट्टोवि होइ तासिं देहपमाणेण चेव विण्णेओ । छायंतोग्गहणंतग कडिबंधो मल्लकच्छा व ॥ ८२६ ॥
अद्धोरुगोऽवि ते दोऽवि गिण्हिउं छायए कडीभागं । जाणुपमाणा चलणी असीविआ लंखिआए व ॥८२७॥
अंतोनिअंसणी पुण लीणा कडि जाव अद्धजंघाओ । बाहिरिआ जा खलुगा कडीइ दोरेण पडिबद्धा॥८२८॥
छाएइ अणुकुईए गंडे पुण कंचुओ असीविअओ । एमेव य उक्कच्छिय सा णवरं दाहिणे पासे ॥८२९॥
वेकच्छिआ उ पट्टो कंचुअमुक्कच्छिअं च छाइंती । संघाडीओ चउरो तत्थ दुहत्था उवसयम्मि ॥८३०॥

साध्वादीनां मानं प्रमाणं च ८१९-५०

सूवोदणस्स भरिओ दुगाउअद्धाणमागओ साहू । भुंजइ एगट्ठाणे एअं किर मत्तगपमाणं ॥ ८१९ ॥

सूपौदनस्य भृतं श्लथस्येत्यर्थः, द्विगव्यूताध्वागतः साधुः, एतावता श्रमेण, भुङ्क्ते एकस्थाने यदुपविष्टः सन्निति किल मात्रकप्रमाणम्, अयमासवाद इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ प्रयोजनमाह—

आयरिए अ गिलाणे पाहुणए दुल्लभे असंथरणे । संसत्तभत्तपाणे मत्तयभोगो अणुन्नाओ ॥ ८२० ॥

'आचार्य'इत्याचार्ये सति मात्रकग्रहणं, तदर्थं तत्र प्रायोग्यग्रहणाद्, एवं ग्लाने च, तथा प्राघूर्णके, दुर्लभे वा घृतादौ, असंस्तरणे वा अपर्याप्तलाभेऽप्यन्यार्थं ग्रहणात्, एवं संसक्तभक्तपाने देशे काले च वर्षाकाले मात्रकभोगोऽनुज्ञातः साधूनां भगवद्भिरिति गाथार्थः ॥ २० ॥ चोलपट्टकप्रमाणमाह—

दुगुणो चउग्गुणो वा हत्थो चउरस्स चोलपट्टो उ । थेरजुवाणाणऽट्ठा सण्हे थुल्लम्मि अ विभासा ॥८२१॥

द्विगुणश्चतुर्गुणो वा कृतः सन् हस्तश्चतुरस्रो भवति चोलपट्टस्तु अग्रसन्धारणाय, स्थविरयूनोरर्थाय—एतन्निमित्तं श्लक्ष्णे स्थूले च विभाषा, चशब्दाद् द्विगुणचतुर्गुणे च, एतदुक्तं भवति—स्थविरस्य द्विगुणो भवति श्लक्ष्णश्च, तदिन्द्रियस्य प्रबलसामर्थ्याभावात्, अल्पेनाप्यावरणात्, स्पर्शनानुपघातात्, यूनि विपर्यय इति गाथार्थः ॥२१॥ एतत्प्रयोजनमाह—

वेउव्वऽवावडे वाइए अ ही खद्धपजणणे चेव । तेसिं अणुग्गहट्ठा लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ ॥ ८२२ ॥

'वैक्रियाप्रावृत' इत्यप्रावृतस्य वैक्रिये वेदोदयादिना, 'वातिके च' वातोच्छूने 'ह्रीः' लज्जा भवति, खद्धप्रजनने चैव,

'आदाने' ग्रहणे कस्यचित् 'निक्षेपे' मोक्षे स्थाननिषीदनत्वग्वर्त्तनसङ्कोचनेषु 'पूर्वम्' आदौ प्रमार्जनार्थं भूभागादेः लिङ्गार्थं चैव साधो रजोहरणं भवतीति गाथार्थः ॥ १५ ॥ मुहपोत्तिकाप्रमाणमाह—

चउरंगुलं विहत्थी एअं मुहणंतगस्स उ पमाणं । बीओऽवि अ आएसो मुहप्पमाणाउ निप्फन्नं ॥८१६॥

चतुरङ्गुलं वितस्तिः एतत् समुदितं सत् मुखानन्तकस्य तु 'प्रमाणं' प्रमाणरूपं, द्वितीयोऽपि च आदेशः अत्रैव मुखप्रमाणान्निष्पन्नं, यावता मुखं प्रच्छाद्यत इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ एतत्प्रयोजनमाह—

संपातिमरयरेणूपमज्जणट्ठा वयंति मुहपोत्तिं । णासं मुहं च बंधइ तीए वसही पमज्जंतो ॥ ८१७ ॥

सम्पातिमरजोरेणुप्रमार्जनार्थं इति—एतन्निमित्तं वदन्ति मुखपोत्तिं तीर्थकरादयः, तथा नासां मुखं च बध्नाति तया वसत्यादि प्रमार्जयन्, आदिशब्दादुच्चारभूमौ नासिकार्शोदोषपरिहारायेति गाथार्थः ॥ १७ ॥ मात्रकप्रमाणमाह—

जो मागहओ पत्थो सविसेसयरं तु मत्तगपमाणं । दोसुवि दव्वगहणं वासावासे अहीगारो ॥ ८१८ ॥

यो मागधः प्रस्थः 'दो असतीओ पसती' इत्यादिनिष्पन्नः, एतत्सविशेषतरं मात्रकप्रमाणं भवति, 'द्वयोरपि' ऋतुबद्धवर्षाकालयोर्मात्रकग्रहणं वैयावृत्त्यकरसंघाटकं प्रति, तथा चाह—'द्रव्यग्रहणं' गुर्वादिप्रायोग्यग्रहणमिति, एतच्च ऋतुबद्धेऽसंसक्तदेशे चैवम्, अन्यदा तु सर्वसङ्घाटकानामेव तद्ग्रहणमिति, तेषामप्युपग्रहलाभादावेव नान्यदा, यत आह—वर्षावासेऽधिकारो मात्रकस्य, संसक्तादिसम्भवादिति गाथार्थः ॥ १८ ॥ आदेशान्तरमाह—

सहनशीलः, एतानाश्रित्य 'साधारणावग्रहकात्' साधारणावग्रहनिमित्तं तथा 'अलब्धिकारणम्' अविद्यमानलब्धिनिमित्तं 'पात्रग्रहणं तु' पात्रग्रहणमेव जिनैरभिहितं इति गाथार्थः ॥ ११ ॥ कल्पप्रमाणमाह—

कप्पा आयपमाणा अड्ढाइज्जा उ आयया हत्था। दो चेव सुत्तिआ उन्निओ अ तइओ मुणेयव्वो॥८१२॥

कल्पा आत्मप्रमाणाः, सातिरेका अनतिरेकमाना वा स्थविराणाम्, अर्द्धतृतीयांस्तु 'आयता' दीर्घा हस्तान् जिनकल्पिकानां, द्वावेव सौत्र ऊर्णामयश्च तृतीयः, एतेषां मन्तव्य इति गाथार्थः ॥ १२ ॥ एतत्प्रयोजनमाह—

तणगहणानलसेवानिवारणा धम्मसुक्कझाणट्ठा। दिट्ठं कप्पग्गहणं गिलाणमरणट्ठया चेव ॥ ८१३ ॥

तृणग्रहणानलसेवानिवारणार्थं तथाविधसंहननिनां, तथा धर्म्मशुक्लध्यानार्थं समाध्यापादनेन, दृष्टं कल्पग्रहणं जिनैः, 'ग्लानमरणार्थं चैव' ग्लानमृतप्रच्छादनार्थमिति गाथार्थः ॥१३॥ अवसरप्राप्तं रजोहरणमानमाह—

बत्तीसंगुलदीहं चउवीसं अंगुलाइं दंडो से। सेस दसा पडिपुण्णं रयहरणं होइ माणेणं ॥ ८१४ ॥

द्वात्रिंशदङ्गुलं दीर्घं रजोहरणं भवति सामान्येन, तत्र चतुर्विंशतिरङ्गुलानि दण्डः 'से' तस्य रजोहरणस्य 'शेषाः' अष्टाङ्गुला दशाः, प्रतिपूर्णं सह पादपुञ्छननिषद्यया रजोहरणं भवति 'मानेन' प्रमाणेनेति गाथार्थः ॥ १४ ॥ प्रयोजनमाह—

आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीअणतुअट्टसंकोए। पुव्विं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥ ८१५ ॥

मानं तु 'रजस्त्राणे' रजस्त्राणविषयं भाजनप्रमाणेन भवति निष्पन्नं, तच्चैवं वेदितव्यमित्याह-आदक्षिणं कुर्वत् कुर्वत्य- दारभ्य पात्रस्य 'मध्ये चतुरङ्गुल'मिति मुखे चत्वार्यङ्गुलानि यावत् प्राप्नोति, अधिकं तिष्ठतीति गाथार्थः ॥ ८ ॥ एतत्प्र- योजनमभिधत्ते—

मूसगरयउक्केरे वासे सिण्हा रए अ रक्खट्ठा । होंति गुणा रयताणे एवं भणिआ जिणिंदेहिं ॥८०९॥

'मूषकरजउत्कर' इति, षष्ठ्यर्थे सप्तमी, मूषकरजउत्करस्य ग्रीष्मादिषु वर्षायां 'सिण्हायाः' अवश्यायस्य रजसश्च रक्षार्थं ध्रियमाणे भवन्ति 'गुणाः' चारित्रवृद्ध्यादयो रजस्त्राणे, एवं भणितं जिनेन्द्रैरिति गाथार्थः ॥ ९ ॥ इत्थं प्रयो- जनवक्तव्यतावसानं पात्रनिर्योगमभिधाय पात्रप्रयोजनमाह—

छक्कायरक्खणट्ठा पायग्गहणं जिणेहिं पन्नत्तं । जे अ गुणा संभोगे हवंति ते पायगहणेऽवि ॥ ८१० ॥
अतरंतबालवुड्ढा सेहाऽऽएसा गुरू असहुवग्गो । साहारणोग्गहालद्धिकारणा पायगहणं तु ॥ ८११ ॥

षट्कायरक्षणार्थं पात्रग्रहणं जिनैः प्रज्ञप्तं, रक्षणं चाधाकर्मपरिशातनादिपरिहारेण, ये च गुणाः 'सम्भोगे' मण्डल्यां भवन्ति ते पात्रग्रहणेऽपि गुणा इति गाथार्थः ॥ १० ॥ तानेवाह—'अतरन्तबालवृद्धाः' ग्लानबालवृद्धा इत्यर्थः, तथा 'शिक्षकादेशौ' अभिनवप्रव्रजितप्राघूर्णकौ, तथा 'गुरुः' आचार्यादिः, तथा 'असहिष्णुवर्गः' सुखिपालित-

स्वरूपेण पटलानि यावन्ति भवन्ति तावन्ति वश्य इति गाथार्थः ॥ ३ ॥ ग्रीष्मेषु भवन्ति चत्वारि, प्रयोजनं पूर्ववत्, पञ्च हेमन्ते, प्रयोजनं पूर्ववदेव, षट् च वर्षासु, प्रयोजनं पूर्ववत्, एतानि खलु मध्यमानि पटलान्येवं भवन्ति, तेषां प्रभूततराणामेव स्वकार्यसाधनात्, 'अतस्तु' अत ऊर्ध्वं जघन्यानि स्वरूपेण पटलानि यावन्ति भवन्ति तावन्ति वश्य इति गाथार्थः ॥४॥ ग्रीष्मेषु पञ्च पटलानि षट् पुनर्हेमन्ते सप्त वर्षासु, त्रयाणामपि प्रयोजनं पूर्ववत्, एवं त्रिविधे कालच्छेदे पात्रावरणानि भवन्ति पटलानि, समासप्रयोजनमेतदेतेषामिति गाथार्थः ॥ ५ ॥ उद्दिष्टसङ्ख्याभेदभावात् सङ्ख्यामानम-भिधायैतेषामेव प्रमाणमानमाह—

अड्ढाइज्जा हत्था दीहा बत्तीसअंगुला रुंदा । बिइअं पडिग्गहाओ ससरीराओ उ निप्फन्नं ॥ ८०६ ॥

अर्द्धतृतीया हस्ता दीर्घाणि—आयतानि षट्त्रिंशदङ्गुलानि 'रुन्दानि' विस्तीर्णानि, द्वितीयं पटलमानं 'प्रतिग्रहाद्' भाजनात् स्वशरीराच्च निष्पन्नम्, एतदुभयोचितमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥ एतत्प्रयोजनमाह—

पुप्फफलोदगरयरेणुसउणपरिहार एयरक्खट्ठा । लिंगस्स य संवरणे वेओदयरक्खणे पडला ॥ ८०७ ॥

पुष्पफलोदकरजोरेणुशकुनपरिहारः—काकादिपुरीषः एतद्रक्षार्थं, लिङ्गस्य च संवरणे—संरक्षणे स्थगने 'वेदोदयरक्षणे' स्त्रीपुंवेदोदयरक्षणविषये पटलान्युपयोगीनीति गाथार्थः ॥ ७ ॥ रजस्त्राणप्रमाणमाह—

माणं तु रयत्ताणे भाणपमाणेण होइ निप्फन्नं । पायाहिणं करितं मज्झे चउरंगुलं कमइ ॥ ८०८ ॥

जेहिं सविआ ण दीसइ अंतरिओ तारिसा भवे पडला।
तिण्णि व पंच व सत्त व कयलीपत्तोवमा सुहुमा (लहुया) ॥ ८०२ ॥
गिम्हासु तिन्नि पडला चउरो हेमंत पंच वासासु। उक्कोसगा उ एए एत्तो पुण मज्झिमे वोच्छं ॥ ८०३ ॥
गिम्हासु हुंति चउरो पंच य हेमंति छच्च वासासु। एए खलु मज्झिमगा एत्तो उ जहन्नए वोच्छं॥८०४॥
गिम्हासु पंच पडला छप्पुण हेमंति सत्त वासासु। तिविहम्मि कालछेए पायावरणा भवे पडला ॥८०५॥

यैः 'सविता' आदित्यः न दृश्यते अन्तरितः सामान्येन तादृशानि भवन्ति स्वरूपेण पटलानि, तानि च त्रीणि वा पञ्च वा सप्त वा कालापेक्षया, कदलीगर्भोपमानि मसृणश्लक्ष्णानि लघूनि सुकुमाराणीति गाथार्थः ॥ २ ॥ एतदेव स्पष्टयति—सामान्येन तादृशानि भवन्ति स्वरूपेण पटलानि, तानि च त्रीणि वा-ग्रीष्मेषु सर्वेष्वेव त्रीणि पटलानि भवन्ति, कालस्यात्यन्तरूक्षत्वात् द्रुतं पृथिवीरजःप्रभृतिपरिणतेः, तेन पटलभेदायोगादिति । चत्वारि पटलानि हेमन्ते, कालस्य स्निग्धत्वात्, विमर्देन पृथ्वीरजःप्रभृतिपरिणतेः तेन पटलभेदसम्भवादिति, पञ्च वर्षासु सर्वास्वेव पटलानि भवन्ति, कालस्यात्यन्तस्निग्धत्वात् अतिचिरेण रजःप्रभृतिपरिणतेः तेन पटलभेदयोगादिति, 'उत्कृष्टान्येतानि' नानारूपापेक्षया चेहोत्कृष्टत्वपरिग्रहः, अत्यन्तशोभनानि पटलान्येवं भवन्ति, अतः पुनः—अतः ऊर्ध्वं 'मध्यमानि वक्ष्ये' मध्यमानि

पटलकमानम्

कश्चित् नौवित्तकादिः रोधकादिष्वापद्विशेषेषु, 'तत्र' रोधकादौ 'तस्य' नान्दीभाजनस्योपयोगः, शेषकालं प्रतिक्रुष्टः तस्योपयोग इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥

पत्ताबंधपमाणं भाणपमाणेण होइ कायव्वं । जह गंठिम्मि कयम्मी कोणा चतुरंगुला होंति ॥७९८॥

पात्रबन्धप्रमाणं, किमित्याह—भाजनप्रमाणेन करणभूतेन भवति कर्त्तव्यं, किंविशिष्टमित्याह—यावद् ग्रन्थौ कृते सति कोणौ चतुरङ्गुलौ भवतः, त्रिकालविषयत्वात् सूत्रस्यापवादिकमिदं, सदा (तदा) ग्रन्थ्यभावादिति गाथार्थः ॥९८॥

पत्तगठवणं तह गोच्छओ अ पायपडिलेहणी चेव । तिण्हंपि ऊ पमाणं विहत्थि चउरंगुलं चेव ॥ ७९९ ॥

पात्रस्थापनमूर्णामयं तथा गोच्छकश्च पात्रप्रतिलेखनी चैव—मुहपोत्ती, एतेषां त्रयाणामपि प्रमाणं प्रस्तुतं 'वितस्तिश्चतुरङ्गुलं चैव' षोडशाङ्गुलानीति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ एतेषां प्रयोजनमाह—

रयमाइरक्खणट्ठा पत्ताबंधो अ पत्तठवणं च । होइ पमज्जणहेउं तु गोच्छओ भाणवत्थाणं ॥ ८०० ॥

पायपमज्जणहेउं केसरिआ इत्थ होइ नायव्वा । पडलसरूवपमाणाइ संपयं संपवक्खामि ॥ ८०१ ॥

रजःप्रभृतिरक्षणार्थं पात्रबन्धश्चोक्तलक्षणः, पात्रस्थापनं च भवति प्रमार्जनहेतोः, एतन्निमित्तमेव गोच्छकः भाजनवस्त्राणां—पटलादीनामिति गाथार्थः ॥ ८०० ॥ पात्रप्रमार्जनहेतोः, किमित्याह—केसरिका अत्र भवति ज्ञातव्या, पटलस्वरूपप्रमाणादि, आदिशब्दात् प्रयोजनं, साम्प्रतं प्रवक्ष्यामीति गाथार्थः ॥ १ ॥

एवं(यं) चेव पमाणं सविसेसयरं अणुग्गहपवत्तं । कंतारे दुब्भिक्खे रोहगमाईसु भइअव्वं ॥ ७९५ ॥
वेआवच्चकरो वा णंदीभाणं धरे उवग्गहिअं । सो खलु तस्स विसेसो पमाणजुत्तं तु सेसाणं ॥७९६॥
दिज्जाहि भाणपूरं तु रिद्धिमं कोइ रोहमाईसु । तहियं तस्सुवओगो सेसं कालं पडिक्कुट्टो ॥ ७९७ ॥

तिस्रो वितस्तयः एता एव लोकप्रसिद्धाः चतुरङ्गुलं च—चत्वारि चाङ्गुलानि 'भाजनस्य' पात्रस्य मध्यमप्रमाणम्, एतच्च परिधिदवरकस्य गृह्यते, अतो मानाद्धीनं पात्रं च जघन्यं भवति, 'अतिरेकतरं तु' बृहत्तरं तूत्कृष्टमानादप्युत्कृष्टं भवतीति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ इदं पुनरन्यत् प्रमाणं पात्रस्य निजाहाराद् भवति निष्पन्नं फालप्रमाणछिद्रं उदरप्रमाणेन च यदन्नं तन्मानमिति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ उत्कृष्टवृड्मासे—ज्येष्ठादौ द्विगव्यूताध्वनः आगतः साधुः, एवं कालाध्वभ्यां खिन्नः, तस्यास्य चतुरङ्गुलन्यूनं भृतं सत् सद्रवाहारस्य यत् पर्याप्तमेव साधोर्भवति भोजनम्, एतदेव मानमस्येति गाथार्थः ॥९४॥ आह च—'एतदेव' अनन्तरोदितं प्रमाणं भोजनस्य सविशेषतरं प्रमाणमनुग्रहप्रवृत्तं—द्वितीयपदेनेत्यर्थः, आह च—कान्तारे दुर्भिक्षे 'रोधकादिषु' रोधकतदन्यभयेषु 'भजितव्यम्' अधिकतरमपि भवतीति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ वैयावृत्यकरो वा विपुलनिर्जरार्थं नान्दीभाजनं महाप्रमाणं धारयति औपग्रहिकं, नौघिकं, स खलु 'तस्य' वैयावृत्यकरस्य विशेषः, प्रमाणयुक्तं तु शेषाणां साधूनामिति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ नान्दीभाजनप्रयोजनमाह—दद्यात् यस्माद्भाजनपूरमेव ऋद्धिमान्,

तिण्णेव य पच्छागा अब्भिंतरबाहिणिअसणी चेव । संघाडि खंधकरणी पत्तं उक्कोस उवहिम्मि ॥ ७८९ ॥
पत्ताबंधो पडला रयहरणं मत्त कमढ रयताणं । उग्गहपट्टो अद्धोरु चलणि उक्कच्छिकंचुवेकच्छी ॥७९०॥
मुहपोत्ती केसरिआ पत्तट्ठवणं च गोच्छओ चेव । एसो चउव्विहो खलु अज्जाण जहण्णओ उवही ॥७९१॥

उत्कृष्टोऽष्टविध उपधिः मध्यमो भवति त्रयोदशविधस्तु, तथा जघन्यश्चतुर्विधः खलु, तत ऊर्ध्वं गोपमहिकं जानीहीति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ त्रय एव प्रच्छादकाः अभ्यन्तरनिवसनी बहिर्निवसनी चैव सङ्घाटी स्कन्धकरणी पात्रं उत्कृष्टोपध्यार्याणामिति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ पात्रबन्धः पटलानि रजोहरणं मात्रकं कमढकं रजस्त्राणं अवग्रहानन्तकपट्टः अर्द्धोरुकं चलनिका उत्कक्षिका कञ्चुकः वैकक्षिका मध्यमोपध्यार्याणामिति गाथार्थः ॥ ९० ॥ जघन्यमाह—मुखपोती केसरिका पात्रस्थापनं च गोच्छकश्चैव एष चतुर्विधः खल्वार्याणां जघन्य उपधिरिति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ उक्तमोघोपधेर्गणनाप्रमाणं, प्रमाणमानमाह—

तिन्नि विहत्थी चउरंगुलं च भाणस्स मज्झिम पमाणं । एत्तो हीण जहन्नं अइरेगयरं तु उक्कोसं ॥ ७९२ ॥
इणमन्नं तु पमाणं णिअगाहाराओ होइ निप्फन्नं । कालप्पमाणसिद्धं उअरपमाणेण य वयंति ॥ ७९३ ॥
उक्कोसतिसामासे दुगाउअद्धाणमागओ साहू । चउरंगुलूण भरिअं जं पज्जत्तं तु साहुस्स ॥ ७९४ ॥

एसो पुण सव्वेसिं जिणाइआणं तिहा भवे उवही । उक्कोसगाइभेओ पच्छित्ताईण कज्जम्मि ॥७८४॥

'एष पुनः' अनन्तरोदितः 'सर्वेषां' जिनादीनां पूर्वोपन्यस्तानां त्रिधा भवत्युपधिः, कथमित्याह—'उत्कृष्टादिभेदः' उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्च, अयं च प्रायश्चित्तादीनां कार्ये—प्रायश्चित्तपरिभोगनिमित्तमिति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

उक्कोसओ चउद्धा चउ छद्धा होइ मज्झिमो उवही। चउहा चेव जहण्णो जिणथेराणं नवं वोच्छं ॥७८५॥

तिन्नेव य पच्छागा पडिग्गहो चेव होइ उक्कोसो। गोच्छय पत्तगठवणं मुहणंतग केसरि जहण्णो ॥७८६॥

पडलाइँ रयत्ताणं पत्ताबंधो जिणाण रयहरणं। मज्झो पट्टगमत्तगसहिओ एसेव थेराणं ॥ ७८७ ॥

उत्कृष्ट उपधिः 'चतुर्द्धा' चतुष्प्रकारः, चतुर्द्धा षड्धा च भवति मध्यम उपधिः, अवरो इतरो जघन्यः चतुर्विधः [illegible] जिनस्थविराणां नवं वक्ष्ये इति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ त्रय एव प्रच्छादकाः प्रतिग्रहश्चैव भवत्युत्कृष्ट उपधिः, गोच्छकः पात्रस्थापनं मुखानन्तकं केसरीत्ययं जघन्य उपधिरिति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ पटलानि च रजस्त्राणं पात्रबन्धो 'जिनानां' जिनकल्पिकानां रजोहरणं मध्यमः, पट्टकमात्रकसहितः 'एष एव' प्रागुक्तः 'स्थविराणां' स्थविरकल्पिकानां मध्यम इति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ आर्या अधिकृत्याह—

उक्कोसो अट्ठविहो मज्झिमओ होइ तेरसविहो उ। अवरो चउव्विहो खलु अज्जाणं होइ विण्णेओ ॥७८८॥

जिनकल्पिस्थविरकल्पिकार्यिकाणां उपधिः

कोपधियोगेन, पात्रकोपधिः सप्तविधः द्विविधेन युक्तो नवविधः, एवं त्रिविधादिष्वपि योजनीयं, दशविध एकादशविधो द्वादशविध इति, आह च—यावत् द्वादशविधः उत्कृष्टो गणनाप्रमाणेनेति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ स्थविरकल्पिकानधिकृत्याह—

एए चेव दुवालस मत्तग अइरेग चोलपट्टो अ। एसो अ चोद्दसविहो उवही पुण थेरकप्पंमि ॥७७९॥

'एत एव' अनन्तरोदिताः द्वादशोपधिभेदाः,के ते?, पत्तं पत्तावन्धो पायट्ठवणं च पायकेसरिया० भेदाः, मात्रकमतिरिक्तं चोलपट्टकश्च, एतद्द्वययुक्तः एष एव चतुर्दशविध उपधिः पुनः 'स्थविरकल्पे' स्थविरकल्पविषय इति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ आर्या अधिकृत्याह—

पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिआ। पडलाइँ रयत्ताणं गोच्छओ पायणिज्जोगो ॥ ७८० ॥
एए चेव उ तेरस अभिन्नरूवा हवंति विण्णेआ। उवहिविसेसा निअमा चोद्दसमे कमढए चेव ॥ ७८१ ॥
उग्गहऽणंतगपट्टो अद्धोरुअ चलणिआ य बोद्धव्वा। अब्भितरबाहिणिअंसणी अ तह कंचुए चेव ॥ ७८२ ॥
ओकच्छिअ वेकच्छिअ संघाडी चेव खंधकरणी अ। ओहोवहिम्मि एए अज्जाणं पण्णवीसं तु ॥७८३॥

पूर्ववत् ॥ ८० ॥ पूर्ववदेव, नवरं चतुर्दशं कमढगं चैवेति ॥ ८१ ॥ अवग्रहानन्तकपट्टः अर्द्धोरुकं चलनिका च बोद्धव्या, अभ्यन्तरनिवसनी बहिर्निवसनी च तथा कञ्चुकश्चैवेति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ उत्कक्षिका वैकक्षिका सङ्घाटी चैव स्कन्धकरणी च ओघोपधौ एते आर्याणां सम्बन्धिनि पञ्चविंशतिस्तु भेदा इति गाथार्थः ॥ ८३ ॥

द्वादशविधोऽप्येषः—अनन्तरोदितः उत्कृष्टो जिनानां भवति, सम्भव एषः, न पुनः सर्वेषामेव एव—द्वादशविधो भवति (नियमात्), कुत इत्याह—'प्रकल्पभाष्ये' निशीथभाष्ये यतो भणितमिति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ किं भणितमित्याह—

विअतिअचउक्कपणगं नवदसएक्कारसेव बारसगं ।
एए अट्ठ विअप्पा उवहिंमि उ होंति जिणकप्पे ॥ ७७५ ॥

रयहरणं मुहपोत्ती दुविहो कप्पेक्कजुत्त तिविहो उ । रयहरणं मुहपोत्ती दुकप्प एसो चउद्धा उ ॥७७६॥
तिण्णेव य पच्छागा रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ती । पाणिपडिग्गहिआणं एसो उवही उ पंचविहो ॥७७७॥
पत्तगधारीणं पुण णवाइभेया हवंति नायव्वा । पुव्वुत्तोवहिजोगो जिणाण जा बारसुक्कोसो ॥ ७७८ ॥

द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकनवदशैकादशद्वादशकं एतेऽनन्तरोदिताः अष्टौ विकल्पा उपधौ भवन्ति जिनकल्पे इति गाथार्थः ॥७५॥ एतानेव दर्शयति—रजोहरणं मुखपोत्तीत्ययं द्विविधः, कल्पैकयुक्तः त्रिविधस्तु अयमेवानन्तरोदितः, तथा रजोहरणं मुखपोत्ती 'द्विकल्प' इति कल्पद्वयमेव चतुर्द्धेति गाथार्थः ॥७६॥ त्रयः प्रच्छादकाः—कल्पाः रजोहरणं चैव भवति मुखपोत्ती 'पाणिप्रतिग्रहाणां' हस्तभोजिनामेष उपधिस्तु पञ्चविध इति गाथार्थः ॥७७॥ पात्रकधारिणां पुनः 'जिनानां' जिनकल्पिकानां नवादिभेदाः' नवदशैकादशद्वादशरूपा भवन्ति ज्ञातव्याः, कथमित्याह—'पूर्वोक्तोपधियोगात्' द्विभेदादिपूर्वो-

जिनक-
ल्पिकोप-
धि...
...

जिणा बारसरूवाणि, थेरा चोद्दसरूविणो । अज्जाणं पन्नवीसं तु, अओ उड्ढं उवग्गहो ॥ ७७१ ॥

'जिनाः' जिनकल्पिका द्वादशरूपाणि मानमित्यर्थः, पात्रादीन्युपधिमुपभुञ्जत इति वाक्यशेषः, एवं 'स्थविराः' स्थविरकल्पिकाश्चतुर्दशरूपिणः, पात्रादिचतुर्दशोपधिरूपवन्तः, 'आर्याणां' संयतीनां 'पञ्चविंशतिस्तु' पञ्चविंशतिरेव 'रूपाणि' पात्रादीन्युपधिरुत्सर्गतो भवन्ति, अत ऊर्ध्वाद् उपधेरूर्ध्वमुपग्रह इति—यथासम्भवमौपग्रहिक उपधिर्भवतीति श्लोकसमुदायार्थः ॥ ७१ ॥ अवयवार्थं त्वाह ग्रन्थकारः—

पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिआ । पडलाइँ रयत्ताणं च गोच्छओ पायणिज्जोगो ॥ ७७२ ॥
तिण्णेव य पच्छागा रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ती । एसो दुवालसविहो उवही जिणकप्पियाणं तु ॥ ७७३ ॥

पात्रं पात्रबन्धः पात्रस्थापनं च पात्रकेसरिका पटलानि रजस्त्राणं च गोच्छकः पात्रनिर्योगः, एतेषां स्वरूपं प्रमाणाधिकारे वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ त्रय एव प्रच्छादकाः, कल्पा इत्यर्थः, रजोहरणं चैव भवति 'मुहपोत्ती' मुखवस्त्रिका, एष द्वादशविध उपधिः अनन्तरोदितः जिनकल्पिकानां भवतीति गाथार्थः ॥ ७३ ॥

बारसविहोऽवि एसो उक्कोस जिणाण न उण सव्वेसिं ।
एसेव होइ निअमा पकप्पभासे जओ भणिअं ॥ ७७४ ॥

संयोजना—योजना १ प्रमाणं पिण्डस्य २ अङ्गारो भोजन एव रागः ३ धूमो द्वेषः ४ कारणं ५ र वेदनादि, ५ 'उपकरणभक्त-
पान' इत्युपकरणभक्तपानविषया सबाह्याभ्यन्तरा 'प्रथमा' संयोजना, तत्रोपकरणबाह्यसंयोजना [illegible]
[illegible] लब्धमितकल्पनायाः प्रक्षेपणम्, अभ्यन्तरसंयोजना तु वसतौ शरीरभोगे, एवं भक्तपानेऽपि योजनमिति गाथार्थः
॥६७॥ द्वात्रिंशत्कवला मानमाहारस्य, एतच्च पुंसः, स्त्रियाः पुनरष्टाविंशतिः, रागद्वेषाभ्यां धूमाङ्गारमिति, रागेण परिभोगेऽ-
ङ्गारश्चारित्रदाहात्, द्वेषेण तु धूमः, चारित्रेन्धनप्रदीपनात्, वैयावृत्त्यादीनि कारणान्याहारपरिभोगे, आदिशब्दाद्वे-
दनादिपरिग्रहः, 'अविधावतिचार' इति अत्राविधौ क्रियमाणे व्रतातिचारो भवतीति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ ॥ व्याख्यातं
भक्तद्वारम्, अधुनोपकरणद्वारमाह—

उवगरणंपि धरिज्जा जेण न रागस्स होइ उप्पत्ती । लोगम्मि अ परिवाओ विहिणा य पमाणजुत्तं तु ॥६९॥

'उपकरणमपि' वस्त्रपात्रादि धारयेत्, किंविशिष्टमित्याह—येन न रागस्य भवत्युत्पत्तिः, तद्गुरुत्वादात्मन एव, लोके
च परिवादः—खिंसा येन न भवति, 'विधिना च' यतनया प्रत्युपेक्षणादिना धारयेत् 'प्रमाणयुक्तं च' न न्यूनाधिकमिति
गाथार्थः ॥ ६९ ॥

दुविहं उवहिपमाणं गणणपमाणं पमाणमाणं च । जिणमाइआण गणणापमाणमेअं सुए भणिअं ॥७०॥

द्विविधमुपधिप्रमाणं, कथमित्याह—गणनाप्रमाणं मानप्रमाणं च, सङ्ख्या स्वरूपमानमित्यर्थः, 'जिनादीनां' जिनकल्पि-
कप्रभृतीनां गणनाप्रमाणम् 'एतद्' वक्ष्यमाणलक्षणं श्रुते भणितमिति गाथार्थः ॥ ७० ॥

शङ्कितं म्रक्षितं निक्षिप्तं पिहितं संहृतं दायकम् उन्मिश्रं अपरिणतं लिप्तं छर्दितमित्येते एषणादोषाः दश भवन्तीति गाथासमासार्थः ॥६२॥ व्यासार्थमाह—कम्मादि शङ्कितमेतत् (कर्मादि शङ्कते तत्), यदेव शङ्कितं तद् गृह्णतः तदेवापद्यत इत्यर्थः, म्रक्षितं उदकादिना तु यच्चुक्तं मण्डकादि, निक्षिप्तं सजीवादौ सचित्ते मिश्रे च, पिहितं तु फलादिना स्थगितं, पुष्पफलादिनेति गाथार्थः ॥६३॥ मात्रकगतमयोग्यं कुथितरसादि पृथिव्यादिषु कायेषु क्षिप्त्वा ददातीत्येतत्संहृतं, दायका 'वालादयो' वालवृद्धादयः अयोग्या दानग्रहणं प्रति, 'वीजाद्युन्मिश्रं' वीजकन्दादियुक्तमुन्मिश्रमुच्यत इति गाथार्थः॥६४॥ अ-परिणतं द्रव्यमेव सजीवमित्यर्थः, भावो वा द्वयोः सम्बन्धिनो दाने एकस्य दातुरपरिणतः, दानं समक्षयोरेवेत्यनिसृष्टाद्भेदः, लिप्तं वसादिना गर्हितद्रव्येण, छर्दितं तु परिशातनावदेयमिति गाथार्थः ॥ ६५ ॥

एवं बायालीसं गिहिसाहूभयसमुब्भवा दोसा । पंच पुण मंडलीए णेआ संजोअणाईआ ॥ ७६६ ॥

'एवम्' उक्तेन प्रकारेण द्विचत्वारिंशत्सङ्ख्या गृहिसाधूभयसमुद्भवा—एतत्प्रभवाः दोषाः पिण्डस्य, पञ्च पुनर्मण्डल्यां उपविष्टस्य ज्ञेयाः दोषाः संयोजनाद्या इति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ ॥ एतानेवाह—

संजोअणा पमाणे इंगाले धूम कारणे चेव । उवगरणभत्तपाणे सबाहिरब्भंतरा पढमा ॥ ७६७ ॥

बत्तीसकवल माणं रागद्दोसेहिं धूमइंगालं । वेआवच्चाईआ कारणमविहिम्मि अइयारो ॥ ७६८ ॥ दारं

परिशातादि वा 'पिण्डार्थम्' आहारनिमित्तं करोति मूलकर्म्मैव, साधुरुगुत्था 'एते' अनन्तरोदिता भणिता उत्पादना-दोषा इति गाथार्थः ॥ ६० ॥ उक्ता उत्पादनादोषाः, एषणादोषानाह–

एसण गवेसणऽण्णेसणा य गहणं च होंति एगट्ठा। आहारम्मिह पगया तीएँ य दोसा इमे हुंति ॥७६१॥

एषणमेषणा, एवं गवेषणा अन्वेषणा च ग्रहणं चेति भवन्त्येकार्थाः एते शब्दा इति, सा चाहारस्येह प्रकृता, 'तस्याश्च' एषणाया दोषाः दश भवन्ति, वक्ष्यमाणलक्षणा इति गाथार्थः ॥ ६१ ॥

संकिअ मक्खिअ णिक्खित्त पिहिअ साहरिअ दायगुम्मीसे ।
अपरिणय लित्त छड्डिअ एसणदोसा दस भवंति ॥ ७६२ ॥
कम्माइ संकिइ (संकइ) तयं मक्खिअमुदगाइणा उ जं जुत्तं ।
णिक्खित्तं सच्चित्ते पिहिअं तु फलाइणा थइअं ॥ ७६३ ॥

मत्तगगयं अजोग्गं पुढवाइसु छोढु देइ साहरिअं। दायग बालाईआ अजोग बीजाइ उम्मीसं ॥७६४॥
अपरिणयं दव्वं चिअ भावो वा दोण्ह दाण एगस्स। लित्तं वसाइणा छडिअं तु परिसाडणावंतं ॥ ७६५ ॥

गब्भपरिसाडणाइ व पिंडत्थं कुणइ मूलकम्मं तु। साहुसमुत्था एए भणिआ उप्पायणादोसा॥ ७६०॥

धात्री दूती निमित्तं आजीवः वनीपकश्चिकित्सा च क्रोधो मानो माया लोभश्च भवन्ति दशैते उत्पादनादोषा इति गाथासमासार्थः ॥ ५४ ॥ पूर्वं पश्चात्संस्तवो विद्या मन्त्रश्च चूर्णयोगश्च उत्पादनायाः सम्बन्धिन एते दोषाः षोडशमो दोषो मूलकर्म चेति गाथासमासार्थः ॥ ५५॥ व्यासार्थं त्वाह–'धात्रीत्व'मिति बालमधिकृत्य मज्जनादिधात्रीभावं करोति कश्चित्साधुः, व्यञ्जन (साधुर्व्यंजनः) पिण्डार्थं–भोजननिमित्तं, तथैव 'दूतीत्वं' दुहित्रादिसंदेशनयनलक्षणं, तीतादिनिमित्तं वा कथयति पिण्डनिमित्तमेव, जात्यादि चाऽऽजीवति तत्कर्मप्रशंसादिना, आदिशब्दाच्छिल्पादिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥५६॥ यो यस्य शाक्यभिक्ष्वादेः कश्चिद्भक्तः उपासकादिः 'वनति' संभजते सेवते तं तत्प्रशंसनेनैव, 'भुञ्जते चित्रकर्मस्थिता इवे' त्येवं शाक्यभिक्ष्वादि प्रशंसति वा। 'आहारार्थम्' आहारनिमित्तं करोति वा मूढश्चारित्रमोहेन सूक्ष्मेतरां चिकित्सां, तत्र सूक्ष्मा वैद्यसूचनादि बादरा प्रतीतेति गाथार्थः ॥५७॥ क्रोधफलसम्भावनाप्रत्युत्पन्नः सन् ज्ञातो भवति क्रोधपिण्डस्तु, क्षपकर्षेरिव, गृहिणः करोत्यभिमानं दानं प्रतीति मानपिण्डः, सेवतिकासाधोरिव, मायया दापयति तथा वेषपरावर्त्तादिनेति मायापिण्डः, चेल्लकस्येवेति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ अतिलोभात् पर्यटत्याहारार्थमिति लोभपिण्डः, सिंहकेसरकयतेरिव, आहारार्थमेव 'संस्तवं' परिचयं द्विविधं करोति, पूर्वपश्चाद्भेदेन, एवमाहारार्थमेव प्रयुङ्क्ते विद्यां मन्त्रं चूर्णं च योगं च, तत्र देवताधिष्ठितोऽक्षरविन्यासो विद्या, देवाधिष्ठितस्तु मन्त्रः, चूर्णः पादलेपादिः, योगो वशीकरणादीति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ गर्भ-

प्राभृतिका तथाऽध्यवपूरक उक्तलक्षणो 'अविशोधिरिति' अविशोधिकोटी-उद्धरणायनर्हा, विशोधिकोटिस्तदन्या, औद्देशिकादिरूपा उद्धरणार्हेति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ उक्ता उद्गमदोषाः, उत्पादनादोषानाह-

उप्पायण संपायण निव्वत्तणमो अ हुंति एगट्ठा । आहारम्मिह पगया तीऍ य दोसा इमे होंति ॥७५३॥

'उत्पादने'ति उत्पादनमुत्पादना, एवं सम्पादना निर्वर्त्तना चेति भवन्त्येकार्था एते शब्दा इति, सा चाहारस्येह-अधिकारे प्रकृता, तस्याश्चोत्पादनायाः सम्बन्धिनो दोषाः एते भवन्ति-वक्ष्यमाणलक्षणा इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

धाई दूइ निमित्ते आजीव वणिमगे तिगिच्छा य । कोहे माणे माया लोहे अ हवंति दस एए ॥ ७५४ ॥

पुव्विं पच्छा संथव विज्जा मंते अ चुण्णजोगे अ । उप्पायणाऍ दोसा सोलसमे मूलकम्मे अ ॥७५५॥

धाइत्तणं करेई पिंडत्थाए तहेव दूइत्तं । तीआइनिमित्तं वा कहेइ जायाइ वाऽऽजीवं ॥ ७५६ ॥

जो जस्स कोइ भत्तो वणेइ तं तप्पसंसणेणेव । आहारट्ठा कुणइ य मूढो सुहुमेअरतिगिच्छं ॥ ७५७ ॥

कोहप्फलसम्भावणपडुपण्णो होइ कोहपिंडो उ ।
गिहिणो कुणइऽभिमाणं मायाऍ दवावए तह य ॥ ७५८ ॥

अतिलोभा परिअडइ आहारट्ठा य संथवं दुविहं । कुणइ पउंजइ विज्जं मंतं चुण्णं च जोगं च ॥ ७५९ ॥

॥ ४७ ॥ प्रामित्यं नाम यत् साधूनामर्थे उच्छिद्यान्यतः 'दियावेइ'त्ति ददाति । परावर्त्तितं च गौरवादिभिः कोद्रवौद-
नादिना शाल्योदनादि यद् ददाति तत्परावर्त्तितं भणितमिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ स्वग्रामपरग्रामात् यदुद्ग्राहिमकादि
आनेतुं, ददातीति वर्त्तते, अभ्याहृतं तु तदेवंभूतं भवति । तथा छगणमृत्तिकादिनोपलिप्तमुद्भिद्य यद्ददाति तदुद्भिन्न-
मभिधीयत इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ मालापहृतं तु भणितं तीर्थकरगणधरैः यन्मण्डकादि मालादिभ्यो ददाति गृहीत्वा,
आदिशब्दात् अधोमालादिपरिग्रहः । आच्छेद्यं चाच्छिद्य यत्स्वामी भृत्यादीनां सम्बन्धि ददाति तद् भणितमिति, आदिश-
ब्दात्कर्मकरादिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥५०॥ अनिसृष्टं 'सामान्यम्' अनेकसाधारणं गोष्ठिकभक्तादि, आदिशब्दाच्छ्रेणिभ-
क्तादि, ददत एकस्याननुज्ञातस्य । 'स्वार्थम्' आत्मनिमित्तं मूलाद्रहणे कृते सति साधुनिमित्तं मुद्गादिसेतिकादेः प्रक्षेपो-
ऽध्यवपूरको भवतीति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ अत्र विशोध्यविशोधिकोटिभेदमाह—

कम्मुद्देसिअचरिमतिग पूइअं मीस चरिमपाहुडिआ ।
अज्झोअर अविसोहिअ विसोहिकोडी भवे सेसा ॥७५२॥

'कर्म्म' त्वाधाकर्म्म तथा 'औद्देशिकचरमत्रिक' मिति कर्म्मौद्देशिकस्य मोदकचूरीपुनःकरणादौ यच्चरमं त्रिकं पाखण्डि-
श्रमणनिर्ग्रन्थविषयं समुद्देशादि तथा पूर्ति भक्तपानलक्षणां तथा मिश्रजातं उक्तलक्षणं तथा 'चरमप्राभृतिका' बादर-

आधाकर्म्म औद्देशिकं पूतिकर्म्म मिश्रजातं च तथा स्थापना प्राभृतिका च प्रादुष्करणं क्रीतं पामिच्चम् ॥ ४१ ॥ परावर्त्तितं अभ्याहृतं उद्भिन्नं मालापहृतं च तथा आच्छेद्यं अनिसृष्टमध्यवपूरकश्च षोडश इति गाथाद्वयपदोपन्यासार्थः ॥४२॥ सचित्तं सत् फलादि यदचित्तं साधूनामर्थे क्रियते, तथा यच्च अचित्तमेव तन्दुलादि पच्यते साधूनामर्थे, आधाकर्म्म ब्रुवेत तीर्थकरादय इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ उद्दिश्य च 'साध्वादीन्' निर्ग्रन्थशाक्यादीन् 'ओमात्यये' दुर्भिक्षापगमे भिक्षावितरणं प्राभृतकादीनां यत् (तत्) उद्दिष्टौद्देशिकं, यच्चोद्धरितमोदनादि मिश्रयित्वा व्यञ्जनादिना वितरणं तत्कृतौद्देशिकं, यच्च तप्त्वा गुडादिना मोदकचूरीबन्धवितरणं तत्कर्म्मौद्देशिकमिति, एवं चेतसि निधाय सामान्येनोपसंहरति—औद्देशिकं तत्, तुशब्दः स्वगतभेदविशेषणार्थ इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ 'कर्म्मावयवसमेतं' आधाकर्म्मावयवसमन्वितं सम्भाव्यते यत्तत् 'पूति' उपकरणभक्तपानपूतिभेदभिन्नं । 'प्रथममेव' आरम्भादारभ्य गृहिसंयतयोः 'मिश्रं' साधारणं उपस्कृतादि 'मिश्रं तु' मिश्रजातमिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ साध्ववभाषितक्षीरादिस्थापनं स्थापना साध्वर्थं, साधुना याचिते सति तन्निमित्तं क्षीरादेः स्थापनं स्थापनोच्यत इति । 'सूक्ष्मेतरे'ति सूक्ष्मा बादरा च, उत्सर्पणमवसर्प्पणं चाङ्गीकृत्य प्राभृतिका भवति, सूक्ष्मा—अर्द्धकर्त्तिते दारकेन भोजनं याचिता सती साधावागते दास्यामीत्युत्सर्प्पणं करोति, साध्वर्थाय चोत्थिता पुत्रक! तवापि ददामीत्यवसर्प्पणं, बादरा तु समवसरणादौ विवाहादेरेव च (उत्सर्प्पणादि) कुर्वतः, कुर्वतः प्राभृतकत्वात् प्राभृतिका इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ नीचद्वारान्धकारे गृहे भिक्षाग्रहणाय गवाक्षकरणादि, आदिशब्दात्प्रदीपमण्यादिपरिग्रहः, 'प्रादुष्करण'मिति प्रकाशकरणं । 'द्रव्यादिभिः' द्रव्यभावैः क्रयणं साध्वर्थं—साधुनिमित्तं क्रीतमेवादिति गाथार्थः

आहाकम्मुद्देसिअ पूईकम्मे अ मीसजाए अ । ठवणा पाहुडिआए पाउअरण कीअ पामिच्चे ॥ ७४१ ॥
परिअट्टिए अभिहडुब्भिन्ने मालोहडे अ अच्छिज्जे । अणिसिट्ठे अज्झोअर सोलस पिंडुग्गमे दोसा ॥७४२॥
सच्चित्तं जमचित्तं साहूणऽट्ठाइ कीरई जं च । अच्चित्तमेव पच्चइ आहाकम्मं तयं भणिअं ॥ ७४३ ॥
उद्देसिअ साहुमाई उमच्चए भिक्खविअरणं जं च । उक्खरिअं मीसेउं तविअं उद्देसिअं तं तु ॥७४४॥
कम्मावयवसमेअं संभाविज्जइ जयं तु तं पूई । पढमं चिअ गिहिसंजयमीसुवक्खडाइ मीसं तु ॥७४५॥
साहोभासिअखीराइठावणं ठवण साहुणट्ठाए । सुहुमेअरसुस्सक्कणमवसक्कणमो य पाहुडिआ ॥७४६॥
नीअदुवारंधारे गवक्खकरणाइ पाउकरणं तु । दव्वाइएहिं किणणं साहूणट्ठाए कीअं तु ॥ ७४७ ॥
पामिच्चं जं साहूणऽट्ठा उच्छिदिउं दिआवेइ । पल्लट्टिउं च गोरसमाई परिअट्टिअं भणिअं ॥ ७४८ ॥
सग्गामपरग्गामा जमाणिउं आहडंति तं होइ । छगणाइणोवलित्तं उब्भिदिअ जं तमुब्भिण्णं ॥७४९॥
मालोहडं तु भणिअं जं मालाईहिं देइ घेत्तूणं । अच्छिज्जं च अछिंदिअ जं सामी भिच्चमाईणं ॥ ७५० ॥
अणिसिट्ठं सामन्नं गोट्ठिअभत्ताइ ददउ एगस्स । सट्ठा मूलाद्दहणे अज्झोअर होइ पक्खेवो ॥ ७५१ ॥

संसग्गीए दोसा निअमादेवेह होइ अविकरिया । लोए गरिहा पावे अणुमइमो तह य आणाई ॥ ७३७॥

संसर्गात् संसेवया, पार्श्वस्थादिभिः सहेति गम्यते, दोषा इमे नियमादेवेह, या च यावती च अदत्यक्रिया तदुपरोधेन, तथा लोके गर्हा भवति—सर्व एवैते एवम्भूता इति, तथा पापेऽनुमतिर्भवति पार्श्वस्थादिसम्बन्धिनां(नि), तत्सङ्गमात्तन्निमित्तत्वादनुमतेः, तथा आज्ञादयश्च दोषा भवन्तीति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ साम्प्रतं भक्तविधिमाह—

भत्तंपि हु भोत्तवं सम्मं बायालदोसपरिसुद्धं । उग्गममाई दोसा ते अ इमे हुंति नायवा ॥ ७३८ ॥

'भक्तमपि' ओदनादि भोक्तव्यं 'सम्यग्' आशंसारहितेन 'द्विचत्वारिंशद्दोषपरिशुद्धं' कल्पनीयम्, उद्गमादयो दोषा अत्र गृह्यन्ते, ते चामी—वक्ष्यमाणलक्षणा भवन्ति ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

सोलस उग्गमदोसा सोलस उप्पायणाएँ दोसा उ । दस एसणाएँ दोसा बायालीसं इइ भवंती ॥७३९ ॥

षोडश उद्गमे दोषाः—आधाकर्मप्रभृतयः, षोडश उत्पादनायां दोषाः—धात्र्यादयः, दश पिण्डैषणायां दोषाः—शङ्कितादयः, द्विचत्वारिंशदेवं भवन्ति समुदिता इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ एतदेव भावयति—

तत्थुग्गमो पसूई पभवो एमाइँ हुंति एगट्ठा । सो पिंडस्साहिगओ तस्स य भेया इमे होंति ॥ ७४० ॥

तत्रोद्गमः प्रसूतिः प्रभव एवमादयो भवन्त्येकार्थाः शब्दाः, सः—उद्गमः पिण्डस्याधिकृतः तस्य च भेदा एते भवन्ति वक्ष्यमाणा इति गाथार्थः ॥ ४० ॥

भावुग अभावुगाणि अ लोए दुविहाणि होंति दव्वाणि। वेरुलिओ तत्थ मणी अभावुगो अन्नदव्वेहिं ॥७३४॥
जीवो अणाइनिहणो तब्भावणभाविओ अ संसारे। खिप्पं सो भाविज्जइ मेलणदोसाणुभावेण॥ ७३५॥
अंबस्स य निंबस्स य दोण्हंपि समागयाइं मूलाइं। संसग्गीए विणट्ठो अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥७३६॥

भाव्यन्ते—प्रतियोगिना स्वगुणैरात्मभावमापाद्यन्त इति भाव्यानि—वेल्लुकादीनि प्राकृतशैल्या भावुकान्युच्यन्ते, अथवा प्रतियोगिनि सति तद्गुणापेक्षया तथा भवनशीलानि भावुकानि, 'लषपतपदस्थाभूवृषे' त्यादावुकञ् ताच्छीलिकत्वादिति, तद्विपरीतानि अभाव्यानि-वज्रादीनि लोके द्विप्रकाराणि भवन्ति 'द्रव्याणि' वस्तूनि, वैडूर्यस्तत्र मणिः अभाव्योऽन्य-द्रव्यैः—काचादिभिरिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ स्यान्मतिः—जीवोऽप्येवंभूत एव भविष्यति, न पार्श्वस्थादिसंसर्गेण तद्भावं यास्यतीति, एतच्च असत्, यतः—'जीवः' प्राङ्निरूपितशब्दार्थः, स अनादिनिधनः, अनाद्यपर्यन्त इत्यर्थः, 'तद्भावनाभावितश्च' पार्श्वस्थाद्याचरितप्रमादादिभावनाभावितश्च 'संसारे' तिर्यङ्नरनारकामरभवानुभूतिलक्षणे, ततश्च तद्भावनाभावितत्वात् 'क्षिप्रं' शीघ्रं स 'भाव्यते' प्रमादादिभावनया आत्मीक्रियते 'मीलनदोषानुभावेन' संसर्गदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ अथ भवतो दृष्टान्तमात्रेण परितोषः ततो मद्विवक्षितार्थप्रतिपादकोऽपि दृष्टान्तोऽस्त्येव, शृणु—सिक्तनिम्बोदकवासितायां भुवाम्रवृक्षः समुत्पन्नः, पुनस्तस्य आम्रस्य च निम्बस्य च द्वयोरपि 'समागते' एकीभूते मूले, ततश्च 'संसक्त्या' सङ्गत्या विनष्टः आम्रो निम्बत्वं प्राप्तः, तिक्तफलः संवृत्त इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

दोषान्तरोपदर्शनेन प्रकृतमेव समर्थयन्नाह—

जो जारिसेण मित्तिं करेइ अचिरेण तारिसो होइ। कुसुमेहिं सह वसंता तिलावि तग्गंधिया हुंति ॥ ७३१ ॥

सुचिरंपि अच्छमाणो वेरुलिओ कायमणिअउम्मीसो ।
न उवेइ कायभावं पाहण्णगुणेण निअएणं ॥ ७३२ ॥
सुचिरंपि अच्छमाणो नलथंभो उच्छुवाडमज्झम्मि ।
कीस न जायइ महुरो? जइ संसग्गी पमाणं ते ॥ ७३३ ॥

वर्जयेच्च 'संसर्गं' सम्बन्धमित्यर्थः, कैरित्याह–पार्श्वस्थादिभिः 'पापमित्रैः' अकल्याणमित्रैः सह, कुर्याच्च संसर्गमप्रमत्तः सन् शुद्धचारित्रैर्धीरैः साधुभिः सहेति गाथार्थः ॥३०॥ किमित्येतदेवमिति?, अत्राह–यः कश्चित् यादृशेन येन केनचित् सह 'मैत्रीं' संसर्गरूपां करोति सोऽचिरेण तादृशो भवति, अत्र निदर्शनमाह–कुसुमैः सह वसन्तः सत्तिलका अपि सुगन्धिनो भवन्ति–कुसुमगन्धिन एवेति गाथार्थः ॥३१॥ अत्राह–'सुचिरमपि' प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् 'वैडूर्यो' मणिविशेषः काचाश्च ते मणयश्च काचमणयः कुत्सिताः काचमणयः काचमणिकाः तैः उत्–प्राबल्येन मिश्रः काचमणिकोन्मिश्रः 'नोपैति' न याति 'काचभावं' काचधर्मं 'प्राधान्यगुणेन' वैमल्यगुणेन 'निजेन' आत्मीयेन, एवं सुसाधुरपि पार्श्वस्थादिभिर्न यातीति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ तथा–'सुचिरमपि' प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् 'नलस्तम्बो' वृक्षविशेषः इक्षुवाटमध्ये इक्षुसंसर्गात् किमिति न जायते मधुरः?, यदि संसर्गी प्रमाणं तवेति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ अत्रोत्तरमाह–

भाव्यात्, साधु तपो वनवास इति लोके गर्हा, निवारणं तद्द्रव्यान्यद्रव्याणां, तीर्थपरिहाणिर्लोकाप्रवृत्त्येति गाथार्थः ॥ २२ ॥ विशेषतः स्थानादिदोषानाह—परिव्रज्यितं स्थितमोहायितं च विप्रेक्षितं च 'सविलासं' सविभ्रमं शृङ्गारांश्च बहुविधान्—विशिष्टचेष्टा(वेषा)दीन् दृष्ट्वा भुक्तेतरयोर्दोषाः—स्मृत्यादय इति गाथार्थः ॥२३॥ तद्गतानाह—'जल्लमलपङ्किताङ्गानामपि' बहुलमलक्लिन्नाङ्गानामपीति भावः, लावण्यश्रीर्येषां साधुदेहानां श्रामण्येऽपि सुरूपा तथैवाहं मन्ये शतगुणा आसीद् गृहवास इति गाथार्थः ॥२४॥ शब्ददोषानाह—गीतानि च पठितानि च हसितानि च 'मञ्जुलांश्च' मधुरांश्चोल्लापान् भूषणशब्दान् राहस्यांश्च श्रुत्वा 'तथा' तेन भुक्तेतरप्रकारेण ये दोषा इति गाथार्थः ॥२५॥ तद्गतानाह—गम्भीरो मधुरस्फुटो विशदः ग्राहकः सुस्वरः स्वरो येषां साधूनां स्वाध्यायस्य मनोहारी, गीतस्य तु कीदृशः भवति ?, शोभनतर इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ 'एवम्'उक्तेन प्रकारेण परस्परं मोहनीयदुर्विजयकर्मदोषेण भवति दृढं प्रतिबन्धः, यस्मादेवं तस्मात् स्त्रीप्रतिबद्धं वर्जयेत्स्थानमिति, गाथार्थः ॥ २७ ॥ पशुपण्डकेष्वपि 'इह' लोके मोहानलदीपितानां सत्त्वानां 'यद्' यस्मात् भवति प्रायोऽशुभा प्रवृत्तिः, पूर्वभवाभ्यासतः तथा भवतीति गाथार्थः ॥ २८ ॥ यस्मादेवं तस्माद्यथोक्तदोषैर्वर्जितां वसतिं 'निर्ममो' ममत्वशून्यः निराशंसः इहलोकादिषु वसतिं सेवेत 'यतिः' साधुः, विपर्यये आज्ञादयो दोषा इति गाथार्थः ॥ २९ ॥ संसर्गदोषमाह—

वज्जिज्ज य संसग्गं पासत्थाईहिं पावमित्तेहिं । कुज्जा य अप्पमत्तो सुद्धचरित्तेहिं धीरेहिं ॥ ७३० ॥

चंकमिअं ठिअमुट्ठिअं च विप्पेक्खिअं च सविलासं । सिंगारे अ बहुविहे दट्ठुं भुत्तभोए दोसा ॥ ५२३ ॥
जल्लमलपंकिआणवि लावण्णसिरी उ जह सि देहाणं । सामण्णेऽवि सुरूवा सयगुणिआ आसि गिहवासे ॥
गीयाणि अ पढिआणि अ हसिआणि य मंजुला य उल्लावा । भूसणसद्दे राहस्सिए अ सोऊण जे दोसा ॥
गंभीरमहुरफुडविसयगाहगो सुस्सरो सरो जेसिं । सज्झायस्स मणहरो गीअस्स णु केरिसो होइ ? ॥ ५२६ ॥
एवं परोप्परं मोहणिज्जदुविजयकम्मदोसेणं । होइ दढं पडिबंधो तम्हा तं वज्जए ठाणं ॥ ५२७ ॥
पसुपंडगेसुवि इहं मोहाणलदीविआण जं होइ । पायमसुहा पवित्ती पुव्वभवब्भासओ तहय ॥५२८॥
तम्हा जहुत्तदोसेहिं वज्जिअं निम्ममो निरासंसो । वसहिं सेविज्ज जई विवज्जए आणमाईणि ॥५२९॥ दारं ॥

स्त्रीवर्जितां विजानीत, स्त्रीणां यत्र स्थानस्थे, न दृश्यन्ते इति वाक्यशेषः, शब्दाश्च न श्रूयन्ते यत्र, ना अपि च—स्त्रिय-स्तेषां—पुरुषाणां न पश्यन्ति स्थानस्थे न शृण्वन्ति च शब्दानिति गाथार्थः ॥ २० ॥ एतदेव व्याचष्टे—स्थानं यत्र तिष्ठन्ति मिथःकथादिभिर्नवरं स्त्रियः, मिथःकथा—रहस्याः, आदिशब्दात् शारीरस्थित्यादिविधयः, स्थाने निषण्णानां, स्याच्छन्दः कदाचित भवत्यपि विप्रकृष्टे, येनैतदेवं ततो वर्ज्यं स्थानमिति गाथार्थः ॥ २१ ॥ अत्र दोषमाह—यत्र हि ब्रह्मव्रतस्यागुप्तिर्भवति, प्रतिषिद्धवसतिनिवासात्, उड्डाहश्च भवति, आलापदर्शनेन प्रीतिवृद्धिश्च भवति, आत्मा-

स्वार्थं गृहस्थैः परिकर्माविप्रयुक्ता उत्तरगुणानाश्रित्य सा वसतिरल्पविधैव, अल्पशब्दोऽभाववाचक इति गाथार्थः ॥ १७ ॥ स्वार्थमिति विशेषतोऽभ्याचष्टे—

एत्थ य सट्ठा णेआ जा णिअभोगं पडुच्च कारविआ। जिणबिंबपइट्ठत्थं अहवा तक्कम्मतुल्लत्ति ॥७१८॥

अत्र स्वार्था ज्ञेया वसतिः याऽऽत्मीयभोगं प्रतीत्य कारिता स्वामिना, जिनबिम्बप्रतिष्ठार्थमथवा कारिता, तत्कर्मतुल्या जिना वा (जिनार्चा)कर्मतुल्येति गाथार्थः ॥ १८ ॥ अत्र स्वार्थशब्दघटनामाह—

वयणाओ जा पवित्ती परिसुद्धा एस एव सत्थोत्ति। अण्णेसिं भावपीडाहेऊओ अण्णहाऽणत्थो ॥७१९॥

'वचनात्' आगमात् या प्रवृत्तिः 'परिशुद्धा' निरतिचारा, एष एव स्वार्थः, उभयलोकहितत्वात्, 'अन्येषां' गृहस्थ भावसाधूनां 'भावपीडाहेतुत्वात्' चारित्रपीडानिमित्तत्वेन, 'अन्यथा' वचनबाह्यया प्रवृत्त्याऽनर्थः परमार्थत इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ स्त्र्यादिविवर्जितां प्रतिपादयन्नाह—

थीवज्जिअं विआणह इत्थीणं जत्थ ठाणरूवाइं। सद्दा य ण सुव्वंती तावि अ तेसिं न पिच्छंति ॥७२०॥

ठाणं चिट्ठंति जहिं मिहोकहाईहिं नवरमित्थीओ। ठाणे निअमा रूवं सिअ सद्दो जेण तो वज्जं ॥७२१॥

बंभवयस्स अगुत्ती लज्जाणासो अपीइवुड्ढी अ। साहु तवो वणवासो निवारणं तित्थपरिहाणी ॥७२२॥

जा खलु जहुत्तदोसेहिं वज्जिआ कारिआ सयट्ठाए। परिकम्मविप्पमुक्का सा वसही अप्पकिरिआ उ ॥१७॥

कालमतिक्रान्ता कालातिक्रान्ता, उप–सामीप्येन स्थानं यस्यां सोपस्थाना, अभिक्रान्ता अन्यैः, अनभिक्रान्ता तैरेव, चः समुच्चये, वर्ज्या तदन्यकर्तॄणां, महावर्ज्या परलोकपीडया, सावद्या महासावद्या श्रमणसाधुनिश्राभेदेन, अल्पक्रिया च–निरवद्यैवेति गाथासमासार्थः ॥ १२ ॥ अवयवार्थं त्वाह—'ऋता'विति ऋतुवद्धे मासं समतीता या निवासेन उपलक्षणाद्वर्षाकाले वा चतुरो मासान् समतीता तु कालातीतैव सा भवेच्छय्या, शय्येति वसतिः, अन्ये तु पाठान्तर इत्थं व्याचक्षते–ऋतुवर्षयोः समतीता निजं कालं–ऋतुवद्धे मासं वर्षाकाले चतुर इति, शेषं मूलवत्, 'सैवोपस्थाना' सैव–मासादिकल्पोपयुक्ता उपस्थानवती भवति, कथमित्याह—'तद्द्विगुणद्विगुण'मित्युभयकालसम्परिग्रहार्थं वीप्सा, 'अवर्ज्जयित्वा' अपरिहृत्य, मासकल्पे मासद्वयं वर्ज्जनीया, वर्षावस्थाने चतुर्म्मासिकद्वयमिति गाथार्थः ॥ १३ ॥ यावतामियं यावत्का यावत्कैव शय्या नान्या 'अन्यैः' चरकादिभिर्न्निषेविता सती अभिक्रान्तोच्यते, सैवान्यैरपरिभुक्ता सती अनभिक्रान्तैव, न सन्निधिमात्रेणैवेत्याह–प्रविशतः सतः इत्थम्भूतेति गाथार्थः ॥ १४ ॥ आत्मार्थकृतां दत्त्वा 'यतिभ्यः' साधुभ्योऽन्यां करोति वर्ज्यैव, यस्मात् तां पूर्वकृतां वर्ज्जयन्ति परदानेन, ततो भवेद्वर्ज्येति गाथार्थः ॥ १५ ॥ पाषण्डकारणात् खलु आरम्भोऽभिनव एव वसतिविषयो यस्यां सा महावर्ज्या, श्रमणार्थमारम्भो यस्यां सा सावद्या, महासावद्या च साधूनामर्थे आरम्भो यस्यां, निर्ग्रन्थादयः श्रमणा इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ 'या खल्वि'ति या पुनर्यथोक्तदोषैर्वर्जिता कारिता

चतुःशालायां वसतौ विशेषः एवमेव तु विभागः, 'इह' तन्त्रे मूलादिगुणानाम्, आह-यद्येवं साक्षात् किं नोक्त इत्यत्राह-साक्षात् पुनः शृणुत यद्गणितो न-येन कारणेन नोक्त इति गाथार्थः ॥ १० ॥

विहरंताणं पायं समत्तकजाण जेण गामेसुं। वासो तेसु अ वसही पट्ठाइजुआ तओ तासिं ॥ ७११ ॥

विहरतां प्रायः साधूनां समाप्तकार्याणां स्वगच्छ एव श्रुतापेक्षया येन कारणेन ग्रामादिषु वासः व्याक्षेपपरिहारार्थं, तेषु च ग्रामादिषु वसतिः पृष्ठीवंशादियुक्तैव भवति, ततस्तासामेव-वसतीनां साक्षाद्गणनमिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ इदानीं सामान्यत एव वसतिदोषान् प्रतिपादयन्नाह—

कालाइक्कंत १ उवट्ठावणा २ ऽभिकंत ३ अणभिकंता ४ य ।
वजा ५ य महावजा ६ सावज ७ मह ८ प्पकिरिआ ९ य ॥ ७१२ ॥

उउ मासं समईआ कालाईआ उ सा भवे सिजा। सा चेव उवट्ठाणा दुगुणा दुगुणं अवजित्ता ॥७१३॥
जावंति आ उ सिजा अन्नेहि निसेविआ अभिक्कंता। अन्नेहि अपरिभुत्ता अणभिक्कंता उ पविसंतो ॥७१४॥
अत्तट्ठकडं दाउं जईण अन्नं करिंति वज्जा उ। जम्हा तं पुव्वकडं वजंति तओ भवे वजा ॥ ७१५ ॥
पासंडकारणा खलु आरंभो अहिणवो महावजा। समणट्ठा सावजा महसावज्जा य साहूणं ॥ ७१६ ॥

मूलगुणैरुपेतेत्येतत्साधून् मनस्याधाय न कृतमित्यन्यकारणापत्तेः, अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यात्, तस्मिंश्च सति यथाकृतत्वानुपपत्तेरित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ ७ ॥ उत्तरगुणेषु मूलगुणान् प्रतिपादयन्नाह—

वंसगकडणोक्कंपण छावणलेवणदुवारभूमीए । सप्परिकम्मा वसही एसा मूलुत्तरगुणेसु ॥ ७०८ ॥

दूमिअ धूमिअ वासिअ उज्जोविअ बलिकडा अवत्ता य ।
सित्ता सम्मट्ठाऽविअ विसोहिकोडीगया वसही ॥ ७०९ ॥

अत्र वृद्धव्याख्या—'वंसग' इति दंडका कुड्डाण 'कडणं' डंडगोवरि ओलवणी 'उक्कंपणं' दब्भादिणाऽऽच्छायणं कुड्डाण लेवणं बाहल्लाइकरणं दुवारस्स विसमाए समीकरणं भूमिकम्मं, एसा सपरिकम्मा उत्तरगुणेसु, एए मूलोत्तरगुणा इत्यर्थः ॥८॥ इमे उत्तरोत्तरगुणा विसोहिकोडिट्ठिया वसहीए उवघायकरा—दूमितं उल्लोइयं, दुग्गंधाए धूवाइणा धूवणं, दुग्गंधाए चेव पडवासादिणा वासणं, रयणपईवाइणा उज्जोवणं, कूराइणा बलीकरणं, छगणमाट्टिएण पाणिएण अवत्ता, उदगेण केवलं सित्ता" 'सम्मृष्टा' समार्जिता इत्यर्थः, 'विसोहिकोडिं गया वसहि'त्ति अविसोहिकोडिए ण होइत्ति वुत्तं हवइ' वृद्धव्याख्यया गाथाद्वयार्थः ॥ ९ ॥

चाउस्सालाईए विन्नेओ एवमेव उ विभागो । इह मूलाइगुणाणं सक्खा पुण सुण ण जं भणिओ ॥७१०॥

तुल्यो वासः, अछत्रतुल्यस्तु स्वातन्त्र्यप्रधानो न गच्छवासः, तत्फलाभावादिति गाथार्थः ॥ ४ ॥ शेषद्वारेष्वपि प्रयोजनातिदेशमाह—

एवं वसंहाईसुवि जोइज्जा ओघसुद्धभावेऽवि । सइ थेरदिन्नसंथारगाइभोगेण साफल्लं ॥७०५॥ दारं ॥

एवं वसत्यादिष्वपि द्वारेषु योजयेत् साफल्यमिति योगः, 'ओघशुद्धभावेऽपि' सामान्यशुद्धत्वे सत्यपि, कथमित्याह—सदा स्थविरदत्तसंस्तारकादिभोगेन, न तु यथाकथञ्चिदिति गाथार्थः ॥ ५ ॥ द्वारम् । इदानीं वसतिविधिमाह—

मूलुत्तरगुणसुद्धं थीपसुपंडगविवज्जिअं वसहिं । सेविज्ज सव्वकालं विवज्जए होंति दोसा उ ॥ ७०६ ॥

मूलगुणोत्तरगुणपरिशुद्धां तथा स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितां वसतिं सेवेत सर्वकालं, 'विपर्यये' अशुद्धस्त्र्यादिसंसक्तायां वसतौ भवन्ति दोषा इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ तत्र मूलगुणदुष्टामाह—

पट्टीवंसो दो धारणाउ चत्तारि मूलवेलीओ । मूलगुणेहुववेआ एसा उ अहागडा वसही ॥ ७०७ ॥

पृष्ठिवंशो मध्यवलकः धारिण्यौ यत्प्रतिष्ठः असावेव चतस्रो मूलवेल्यः चतुर्षु पार्श्वेषु मूलगुणैरुपपेतेति, एतदपि यत्र साधून् मनस्याध्याय कृतमियं मूलगुणैरुपपेता, न तु शुद्धा, तथा चाह—'एषा' आधाय कृता वसतिः आधाकर्म्मिकीत्यर्थः, अन्ये तु व्याचक्षते—पृष्ठिवंशो द्वे धारणे चतस्रो मूलवेल्य इति पूर्ववत्, मूलगुणैरुपपेतेत्येतत् साधून् मनस्याधाय न कृतं यत्र एषा यथाकृता वसतिः शुद्धेत्यर्थः, एतच्चायुक्तं, वसतिदोषप्रतिपादनाधिकारात्, तथा यथाकृतत्वासम्भवात्,

परित्यक्तज्ञातिवर्गः त्यजेत् तं सूत्रविधिना गच्छमिति गाथार्थः ॥ ७०० ॥ किमित्यत आह—शिष्यः सज्झिलको वा—धर्म्मभ्राता गणिच्चको वा—एकगणस्थो न सुगतिं नयति, किन्तु यानि तत्र ज्ञानदर्शनचरणानि परिशुद्धानि तानि सुगतिमार्ग इति गाथार्थः ॥ १ ॥ पराभिप्रायमाह—

नणु गुरुकुलवासम्मी जायइ नियमेण गच्छवासो उ । जम्हा गुरुपरिवारो गच्छोत्ति निदंसिअं पुव्विं ॥७०२॥

ननु गुरुकुलवासे सति जायते गच्छवासस्तु ध्रुवः, कुत इत्याह—यस्माद् गुरुपरिवारो गच्छ इत्येतन्निदर्शितं पूर्वं भवतेति गाथार्थः ॥ २ ॥ अत्रोत्तरम्—

सच्चमिणं तंमज्झे तदेगलद्धीएँ तदुचिअकमेणं । जह होज्ज तस्स हेऊ वसिज्ज तह खावणत्थमिणं ॥७०३॥

सत्यमिदं यदभ्यधायि भवता, किन्तु 'तन्मध्ये' गच्छमध्ये 'तदेकलब्ध्या' गच्छैकलब्ध्या हेतुभूतया 'तदुचितक्रमेण' गच्छोचितक्रमेणयथा भवेत् तस्य गच्छवासस्य हेतुः वसेत् तथा, नान्यथेति ख्यापनार्थमिदं गच्छग्रहणमिति गाथार्थः ॥ ३ ॥ अन्यथा चायमगच्छवास एवेत्याह—

मोत्तूण मिहुवयारं अण्णोऽण्णगुणाइभावसंबद्धं । छत्तमढछत्ततुल्लो वासो उ ण गच्छवासोत्ति ॥७०४॥

मुक्त्वा मिथ उपकारं, परस्परोपकारमित्यर्थः, 'अन्योऽन्यगुणादिभावसम्बद्धं' प्रधानोपसर्जनभावसंयुक्तं, छत्रमठच्छत्र-

केसिंचि विणयकरणं अन्नेसिं कारणं अइपसत्थं । नासंतकुसलजोए सारणमवि होइ एमेव ॥ ६९७ ॥
एमेव य विण्णेअं अहियपवित्तीएँ वारणं एत्थं । अहिअयरे किच्चंमि अ चोअणमिइ सपरफलसिद्धी ॥६९८॥

'गुरुपरिवारः' साधुवर्गो गच्छः, तत्र वसतां गच्छे निर्जरा विपुला भवति, कुत इत्याह–विनयात्, तथा स्मारणादिभिः करणभूतैः न दोषप्रतिपत्तिर्भवतीति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ एतदेवाह–केषाञ्चिद्विनयकरणं (सु) चरितानाम्, अन्येषां कारणं विनयस्य शिक्षकाणाम्, अतिप्रशस्तमेतत्, तथा नश्यत्कुशलयोग इति एतद्विषयं स्मारणमपि भवति 'एवमेव' केषाञ्चित्क्रियते केचित्कुर्वन्तीति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ एवमेव च विज्ञेयम्, अहितप्रवृत्तेर्वारणमत्र–गच्छ इति, तथा अधिकतरे कृत्ये च गुणस्थानके चोदनं ज्ञेयम्, इत्येवं स्वपरफलसिद्धिरिति गाथार्थः ॥ ९८ ॥

अण्णोण्णाविक्खाए जोगम्मि तहिं तहिं पयट्टंतो । निअमेण गच्छवासी असंगपयसाहगो भणिओ ६९९
सारणमाइविउत्तं गच्छंपिहु गुणगणेहिं परिहीणं । परिवत्तणाइवग्गो चइज्ज तं सुत्तविहिणा उ ॥७००॥
सीसो सज्झिलओ वा गणिव्वओ वा न सोग्गइं नेइ । जे तत्थ नाणदंसणचरणा ते सुग्गईमग्गो ॥७०१॥

अन्योऽन्यापेक्षया उक्तन्यायेन योगे तत्र तत्र–विनयादौ प्रवर्त्तमानः सन् नियमेन गच्छवासी साधुः असङ्गपदसाधको ज्ञेयः, असङ्गो मोक्ष इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ इहैवापवादमाह–स्मारणादिवियुक्तं गच्छमपि गुणगणेन परिक्षीणं सन्तं

गुरुगुणयुक्तं तु 'गुरुम्' आचार्यं 'इभ्यः' अर्थवान् सुस्वामिनमिव न मुञ्चेत्, किमर्थमित्याह—चरणधनफलनिमित्तं, कथं फलमित्याह—प्रतिदिनगुणभावयोगेनेति गाथार्थः ॥८९॥ एतदेवाह—तत्र हि गुरुदर्शनं प्रशस्तं, तस्य पुण्यसम्भारभावात्, विनयश्च तथा महानुभावस्य वन्दनादिकरणेन, अन्येषां मार्गदर्शनं, गुरुकुलवासस्य मार्गत्वात्, निवेदनापालनं चैव, प्रव्रज्याकाले आत्मा तस्मै निवेदित इति गाथार्थः ॥ ९० ॥ वैयावृत्त्यं परमं तत्सन्निधानात् तद्गामि, बहुमानः तथा च गौतमादिपु गुरुकुलनिवासिषु, तीर्थकराज्ञाकरणं तेनास्योपदिष्टत्वात्, शुद्धो ज्ञानादिलाभश्च विधिसेवनेनेति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ अङ्गीकृतसाफल्यं, दीक्षायाः ज्ञानादिसाधनत्वात्, 'ततश्च' तत्फलात् ज्ञानादेः परः परोपकारोऽपि भवति, शुद्धस्य भवत्येवं, पर्यायजन्मन्यादित आरभ्य, प्रायः शुभशिष्यसन्तानः, शुद्धकुलप्रासवे(त्वावाप्ते)रिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ 'इय' एवं निष्कलङ्कमार्गानुसेवनं क्रियमाणं भवति शुद्धमार्गस्य, किमित्याह—जन्मान्तरेऽपि कारणम्, अभ्यासात्, अतश्च मार्गो, नियमेन मोक्षः परम्परयेति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ एवं गुरुकुलवासः परमपदनिबन्धनं यतः उक्तन्यायात् तेन तद्भवसिद्धिकैरपि गौतमप्रमुखैराचरितो, न्याय्यत्वादिति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ 'तत्' तस्माद् 'एनं' गुरुकुलवासमाचरेत् त्यक्त्वा निजं कुलं दीक्षाङ्गीकरणेन कुलप्रसूतः पुमानिति, 'इतरथा' अन्यथा उभयपरित्यागः, उभयं गृहिप्रव्रज्याकुलद्वयं, स पुनरुभयत्यागः नियमादनर्थफल इति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ द्वारम् ॥

गुरुपरिवारो गच्छो तत्थ वसंताण निज्जरा विउला। विणयाओ तह सारणमाईहिं न दोसपडिवत्ती ॥ ६९६ ॥

गुर्वादिषु यतितव्यं, शोभनेषु एषा आज्ञेति भगवतो, येन हेतुना तद्भङ्गे खलु दोषः अशोभनसेवनया, इतरस्मिन्नारा-
धने गुणो 'नियोगेन' अवश्यन्तयेति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ ॥ निगमयन्नाह— तस्मात् तीर्थकराज्ञामाराधयन् विशुद्ध-
परिणामः सन् गुर्वादिषु विधिना यतेत चरणस्थितः साधुः शोभनेष्विति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ एवं द्वारगाथाया ऐदम्पर्यार्थ-
मभिधाय विशेषतः प्रतिद्वारं प्रकृतयोजनामाह—

चरणधणफलनिमित्तं पइदिणगुणभावजोएण ॥६८९॥
गुरुगुणजुत्तं तु गुरुं इब्भो सुस्सामिअं व ण मुएज्जा । अन्नेसि मग्गदंसण निवेअणा पालणं चेव ॥ ६९० ॥
गुरुदंसणं पसत्थं विणओ य तहा महाणुभावस्स । तित्थयराणाकरणं सुद्धो नाणाइलंभो अ ॥ ६९१ ॥
वेयावच्चं परमं बहुमाणो तह य गोअमाईसु । सुद्धस्स हवइ एवं पायं सुहसीससंताणो ॥ ६९२ ॥
अंगीकयसाफल्लं तत्तो अ परो परोवगारोऽवि । जम्मंतरेऽवि कारणमओ अ निअमेण मोक्खोत्ति ॥६९३॥
इअ निक्कलंकमग्गाणुसेवणं होइ सुद्धमगस्स । तब्भवसिद्धीएहिवि गोअमपमुहेहिं आयरिओ ॥६९४॥
एवं गुरुकुलवासो परमपयनिबंधणं जओ तेणं ।

ता एअमायरिज्जा चइऊण निअं कुलं कुलपसूओ ।
इहरा उभयच्चाओ सोउण नियमा अणत्थफलो ॥ ६९५ ॥ दारं ।

योगः, कुत इत्याह—सुस्वामिविरहात् कुनृपविषयवासिजनवत्, तथा क्लिष्टजनमध्यवासात् चौरपल्लिवासिजनवदिति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ तथा चालक्षणगृहवासयोगात् दुष्टपशुपुरुषवद्गृहवासिजनवत्, तथा दुष्टसङ्गतो विपरीतसंङ्गतकारिजनवत्, तथैव स्थितिनिवन्धनविरुद्धभक्तोपभोगाद् अपथ्यभोगजनवदिति गाथार्थः ॥८०॥ तथा योगितवस्त्रादेः देहध्वंसितयोगयोगितोपकरणभोगिजनवत्, तथा अजीर्णभोगाद् अजीर्णसङ्कलिकायुक्तजनवत्, तथा कुविचाराद् राजापथ्यविचारमुखरजनवत्, तथा अशुभाध्यवसानाद् देहविरुद्धक्रोधादिभावनाप्रधानजनवत्, तथा अयोग्यस्थानविहारात् प्रदीप्ताद्यनिर्गतजनवदिति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ तथा च विरुद्धकथातश्च राजाद्यपभापिजनवत्, प्रकटं दृश्यत एतद् 'वित्तपत्तयोऽपि' महाधनिन इत्यर्थः, लोकेऽस्मिन् प्राप्नुवन्ति वित्तविनाशं—भूयो दरिद्रा भवन्ति 'तथा तथा' उक्तवदकुशलयोगेनेति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ सुस्वाम्यादेः पुनः, उक्तकदम्बकविपर्ययात् तथा तथा तदुपकारतः तत्प्रभावयोगेन हेतुभूतेन वर्द्धयन्ति वित्तमनघं—शोभनं वित्तपतयः सुखावहमुभयलोके—उभयलोकहितमिति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ दार्ष्टान्तिकयोजनमाह— एवमेव भाववित्तं हन्दि चारित्रमपि नियमतो ज्ञेयं, चयापचयवत्, अत्र सुस्वामिजनगृहादितुल्यास्तु गुर्वादयो वेदितव्या इति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ कुत इत्याह— एतेषां 'प्रभावेन' सामर्थ्येन 'विशुद्धस्थानानां' गुर्वादीनां चरणहेतूनामप्रतिवद्धसामार्थ्यानां नियमादेव चारित्रं वर्द्धते, नात्रान्यथाभावः, विधिसेवनापराणां सुशिष्याणामिति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ एवमेवेत्युक्तं, तदपवादमाह— वित्ते स्वाम्यादिषु शोभनेतरेषु नवरं विभापापि दैवयोगेन चयापचयावाश्रित्य, आज्ञाविराधनात् कारणादाराधनातश्च अशोभनादिषु, नत्वत्र भाववित्त इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

तहय अलक्खणगिहवासजोगओ दुट्ठसंगयाओ अ। तह चेव ठिइनिवंधणविरुद्धभत्तोवभोगाओ ॥६८०॥

जोगिअवत्थाईओ अजिन्नभोगाओँ कुविआराओ।
असुहज्झवसाणाओ अजोग्गठाणे विहाराओ ॥ ६८१ ॥

तहय विरुद्धकहाओ पयडं वित्तवइणोऽवि लोगम्मि। पावंति वित्तणासं तहा तहाऽकुसलजोएणं ॥ ६८२ ॥
सुस्सामिगाइओ पुण तहा तहा तप्पभावजोएणं। वड्ढिंति वित्तमणहं सुहावहं उभयलोगम्मि ॥ ६८३ ॥
एमेव भाववित्तं हंदि चरित्तंपि निअमओ णेअं। इत्थं सुसामिजणगेहमाइतुल्ला उ गुरुमाई ॥ ६८४ ॥
एएसि पभावेणं विसुद्धठाणाण चरणहेऊणं। निअमादेव चरित्तं वड्ढइ विहिठा(से)वणपराणं ॥६८५॥
वित्तंमि सामिगाईसु नवर विभासावि दिव्वजोएण। आणाविराहणाओ आराहणाओँ ण उ एत्थ ॥६८६॥
गुरुमाइसु जइअवं एसा आणत्ति भगवओ जेणं। तब्भंगे खलु दोसा इअरंमि गुणो उ नियमेण ॥ ६८७ ॥
तम्हा तित्थयराणं आराहंतो विसुद्धपरिणामो। गुरुमाइएसु विहिणा जइज्ज चरणट्ठिओ साहू ॥ ६८८॥

यथा प्राप्तमपि 'वित्तम्' ऐश्वर्यं 'विपुलमपि' महदपि कथंचिद्दैवयोगेन वित्तपतयः प्राप्नुवन्ति वित्तविनाशमिति
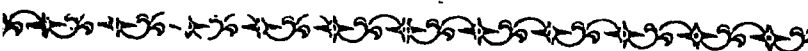
प्रवचनोक्तेन, ततः परिणते सति प्रवेशो मण्डल्याम्, अपरिणते प्रवेश्यमाने भवन्ति आज्ञादय इति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

अणुवट्ठविअं सेहं अकयविहाणं च मंडलीए उ ।
जो परिभुंजइ सहसा सो गुत्तिविराहओ भणिओ ॥ ६७६ ॥

अनुपस्थापितं शिष्यकं व्रतेषु अकृतविधानं च—अकृतायामाम्ङ्गादिसमाचारं च मण्डल्यामेव यः परिभुङ्क्ते 'सहसा' तत्क्षणमेव स गुप्तिविराधको भणितः अर्हद्भिरिरि गाथार्थः ॥ ७६ ॥ यस्मादेवम्—

तम्हा पवयणगुत्तिं रक्खंतेण भवधारिणिं परमं । परिणयओ च्चिअ सेहो पवेसिअवो जहा विहिणा ॥ ६७७ ॥

तस्मात् प्रवचनगुप्तिं रक्षता सता, किंविशिष्टाम्?—भवधारिणीं 'परमां' प्रधानां परिणत एव शिक्षकः प्रवेशयितव्यः मण्डल्यां 'यथा विधिना' देशनापुरस्सरेणेति गाथार्थः ॥ ७७ ॥ व्रतपालनोपायमाह—

गुरुगच्छवसहिसंसग्गि-भत्तउवगरणतवविआरेसुं । भावणविआरजइकहठाणेसु जइज्ज एसोऽवि ॥ ६७८ ॥

गुरुगच्छवसतिसंसर्गभक्तोपकरणतपोविचारेषु, एतस्मिन् विषये, तथा भावनाविहारयतिकथास्थानेषु यतेत, 'एषोऽपि' शिष्य इति गाथार्थः ॥ ७८ अस्या एव गाथाया ऐदम्पर्यमाह—

जह पाविअंपि वित्तं विउलंपि कहिंचि देवजोगेणं । सुस्सामिअविरहाओ किलिट्ठजणमज्झवासाओ ॥

अभिगतं ज्ञात्वा शिष्यं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति गुरवः वामपार्श्वे शिष्यं स्थापयित्वा, व्रतं त्रीन् वारानेकैकं पठन्ति, पुनः प्रादक्षिण्यं नमस्कारपाठेन, निवेदनं-'युष्माभिरपि महाव्रतान्यारोपितानि इच्छामोऽनुशास्ति'मित्यादिलक्षणं, 'गुरुगुण' इति 'गुरुगुणैर्वर्द्धस्व' इत्याचार्यवचनं, दिग् द्विविधा त्रिविधा वा भवति साधुसाध्वीभेदेनेति गाथासमासार्थः ॥ ६७ ॥

व्यासार्थमाह—

उद्उल्लाइपरिच्छा अभिगय नाऊण तो वए दिंति । चिइवंदणाइ काउं तत्थवि अ करिंति उस्सग्गं ॥६६८॥

गुरवो वामगपासे सेहं ठावित्तु अह वए दिंति। एक्किक्कं तिक्खुत्तो इमेण ठाणेणमुवउत्ता ॥ ६६९ ॥

कोप्परपट्टगगहणं वामकरानामिआय मुहपोत्तिं । रयहरण हत्थिदंतुल्लएहिं हत्थेहुवट्ठावे ॥ ६७० ॥

पायाहिणं निवेअण करिंति सिस्सा तओ गुरू भणइ ।
वड्ढाहि गुरुगुणेहिं एत्थ परिच्छा इमा वऽण्णा ॥ ६७१ ॥

ईसिं अवणयगत्ता भमंति सुविसुद्धभावणाजुत्ता। अहिसरणम्मि अ वुड्ढी ओसरणे सो व अन्नो वा ॥६७२॥

दुविहा साहूण दिसा तिविहा पुण साहुणीण विण्णेआ। होइ ससत्तीए तवो आयंबिलनिव्विगाईआ॥६७३॥

तत्तो अ कारविज्जइ त(ज)हाणुरूवं तवोवहाणं तु।आयंबिलाणि सत्त उ किल निअमा मंडलिपवेसे ॥६७४॥

कहिऊणं कायवए इअ तेसुं नवरमभिगएसुं तु। गीएण परिच्छिज्जा सम्मं एएसु ठाणेसु ॥ ६६३ ॥

कथयित्वा कायव्रतानि 'इय' एवं-उक्तेन प्रकारेण 'तेषु' कायव्रतेषु नवरमभिगतेष्वेव, नानभिगतेषु, 'गीतेने'ति गीतार्थेन साधुना परीक्षयेत् 'सम्यग्' असाभ्रान्तः सन् एतेषु स्थानेषु-वक्ष्यमाणेष्विति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

उच्चाराइ अथंडिल वोसिर ठाणाइ वावि पुढवीए। नइमाइ दगसमीवे सागणि निक्खित्त तेउम्मि ॥६६४॥

वियणऽभिधारण वाए हरिए जह पुढविए तसेसुं च। एमेव गोअरगए होइ परिच्छा उ काएहिं ॥६६५॥

उच्चारादि अस्थण्डिले व्युत्सृजति, तत्परीक्षार्थं गीतार्थः,स्थानादि वा पृथिव्यां करोति,स्थानं-कायोत्सर्गः, आदिशब्दान्निषीदनादिपरिग्रहः, नद्यादावुदकसमीपे उच्चाराद्येव व्युत्सृजति,तथा सान्नौ निक्षिप्ततेजसि स्थण्डिलादौ उच्चाराद्येव करोतीति गाथार्थः ॥६४॥ तथा-व्यञ्जनाभिधारणं वाते करोति,हरिते यथा पृथिव्यां उच्चाराद्येव व्युत्सृजति, त्रसेषु च-द्वीन्द्रियादिषु यथा पृथिव्यामिति, एवमेव यथासम्भवं गोचरगते शिक्षके भवति परीक्षा कार्या, रजःसंस्पृष्टग्रहणादिनेति गाथार्थः ॥६५॥

जइ परिहरई संमं चोएइ व घाडिअं तहा(या) जोग्गो। होइ उवठावणाए तीएवि विही इमो होइ ॥६६६॥

यदि परिहरति सम्यक् स्वतः चोदयति वा 'घाटिकं' द्वितीयं अयुक्तमेतदित्येवं, तथा(दा) योग्यो भवत्युपस्थापनायाः, इतरथा भजना, 'तस्याश्च' उपस्थापनाया विधिरयं भवति-वक्ष्यमाणलक्षण इति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

अहिगय णाउस्सग्गं वामगपासम्मि वयतिगेक्केक्कं। पायाहिणं निवेअण गुरुगुण दिस दुविह तिविहा वा॥

छट्ठम्मि दिआगहिअं दिअभुत्तं एवमाइ चउभंगो । अइआरो पन्नत्तो धीरेहिं अणंतनाणीहिं ॥ ६६२ ॥

प्रथमे व्रते अभिहितस्वरूपे एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां जीवानां सङ्घट्टनपरितापनोद्रापणादीन्यतिचारः, उद्रापणं महत्पीडाकरणमिति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ द्वितीये व्रते 'मृषावादे' इति मृषावादविरतिरूपे सः—अतिचारः सूक्ष्मो वादरश्च ज्ञातव्यः,तत्र प्रचलादिभिर्भवति 'प्रथमः' सूक्ष्मः,प्रचलायसे किं दिआ?, न पयलामी'त्यादि,क्रोधादिनाऽभिभाषणं द्वितीयः परिणामभेदादिति गाथार्थः ॥५६॥ तृतीयेऽपि व्रते— अदत्तादानविरतिरूपे 'एवमेव च' सूक्ष्मवादरभेदेन द्विविधः खल्वेषः-अतिचारो भवति विज्ञेयः,तत्र तृणडगलच्छारमल्लादि अविदत्तमनाभोगेन गृह्णतः प्रथमः—सूक्ष्मोऽतिचार इति गाथार्थः॥५७॥ 'साधर्मिकाणां' साधुसाध्वीनां 'अन्यसधर्माणां' चरकादीनां गृहिणां च क्रोधादिभिः प्रकारैः सचित्ताचित्तादि अपहरतः तथापरिणामाद्भवति द्वितीयस्तु—वादर इति गाथार्थः ॥५८॥ 'मैथुनस्ये'ति मैथुनविरतिव्रतस्यातिचारः करकर्म्मादिभिर्भवति ज्ञातव्यः, परिणामवैचित्र्येण, तद्गुप्तीनां च तथानुपालनं न सम्यगित्यतिचार एवेति गाथार्थः॥५९॥पञ्चमे व्रते सूक्ष्मोऽतिचार 'एषः' वक्ष्यमाणलक्षणो भवति ज्ञातव्यः, काकादिश्वगोभ्यो रक्षणं प्रसारिततिलादेः, तथा 'कप्पट्टग'त्ति वाले ममत्वं मनागिति गाथार्थः ॥६०॥ द्रव्यादीनां ग्रहणं लोभात् पुनस्तथा परिणामादेव वादरो मन्तव्यः, सर्वत्र व्रते भावो वाऽतिचारो द्रष्टव्यः, अतिरिक्तधारणं चोपधेः, मुक्त्वा ज्ञानाद्युपकारं, वादर एवेति गाथार्थः ॥६१॥ षष्ठे व्रते दिवागृहीतं दिवाभुक्तं सन्निधेः परिभोगेन एवमादिश्चतुर्भङ्गः तथाविधपरिणामयोगादतिचारः प्रज्ञप्तो धीरैरनन्तज्ञानिभिरिति गाथार्थः ॥ ६२ ॥

ग्रामादिष्विति, आदिशब्दान्नगरादिपरिग्रहः, तथा चोक्तं–"से गामे वा नगरे वा," इत्यादि, अल्पबहुविवर्ज्जनं तृतीयो मूलगुणः, सूत्रोपन्यासक्रमादिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ दिव्यादिमैथुनस्य चेति, आदिशब्दान्मनुष्यादिपरिग्रहः, तथा चोक्तं–'से दिवं वा माणुसं वे'त्यादि, विवर्ज्जनं सर्वेषां चतुर्थस्तु मूलगुणः, सूत्रोपन्यासक्रमादेव, पञ्चमो मूलगुणः ग्रामादिषु, आदिशब्दान्नगरादिपरिग्रह एव, यथोक्तं–"से गामे वा नगरे वे'त्यादि, अल्पबहुविवर्ज्जनमेव सर्वथैवेति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ अशनादिभेदभिन्नस्याहारस्यैव चतुर्विधस्यापि स्वतन्त्रसिद्धस्य, निशि सर्वथा विरमणं भोगमाश्रित्य 'चरमः' पश्चिम एषः, षष्ठ इत्यर्थः, श्रमणानां मूलगुण इति गाथार्थः ॥ ५४ ॥ साम्प्रतममीषामेव व्रतानामतिचारानाह–

पढमंमी एगिंदिअविगलिंदिपाणिंदिआण जीवाणं। संघट्टणपरिआवणमोद्दवणाईणि अइआरो ॥ ६५५ ॥
बिइअम्मि मुसावाए सो सुहुमो बायरो उ नायव्वो। पयलाइ होइ पढमो कोहादभिभासणं बिइओ॥६५६॥
तइअम्मिवि एमेव य दुविहो खलु एस होइ विन्नेओ। तणडगलछारमल्लग अविदिन्नं गिण्हओ पढमो ६५७
साहम्मिअन्नसाहम्मिआण गिहिगाण कोहमाईहिं। सच्चित्ताचित्ताई अवहरओ होइ बिइओ उ ॥ ६५८॥
मेहुन्नस्सऽइआरो करकम्माईहि होइ नायव्वो । तग्गुत्तीणं च तहा अणुपालणमो ण सम्मं तु ॥ ६५९ ॥
पंचमगम्मि अ सुहुमो अइआरो एस होइ णायव्वो । कागाइसाणगोणे कप्पट्ठगरक्खणममत्ते ॥ ६६० ॥
दव्वाइआण गहणं लोहा पुण बायरो मुणेअव्वो । अइरित्तु धारणं वा मोत्तुं नाणाइउवयारं ॥ ६६१ ॥

द्वीन्द्रियादयः पुनः प्रसिद्धा एव कृमिपिपीलिकाभ्रमरादय इति, आदिशब्दो मक्षिकादिस्वभेदप्रख्यापकः, एतान् कथयित्वा ततः पश्चाद्व्रतानि 'साहेज्ज'त्ति कथयेद् 'विधिनैव' सूत्रार्थादिनेति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ कानि पुनस्तानीत्याह—

पाणाइवायविरमणमाई णिसिभत्तविरइपज्जंता । समणाणं मूलगुणा पन्नत्ता वीअरागेहिं ॥ ६५० ॥
सुहुमाईजीवाणं सव्वेसिं सव्वहा सुपणिहाणं । पाणाइवायविरमणमिह पढमो होइ मूलगुणो ॥६५१॥
कोहाइपगारेहिं एवं चिअ मोसविरमणं बीओ । एवं चिअ गामाइसु अप्पबहुविवज्जणं तइओ ॥६५२॥
दिव्वाइमेहुणस्स य विवज्जणं सव्वहा चउत्थो उ । पंचमगो गामाइसु अप्पबहुविवज्जणं चेव ॥ ६५३ ॥
असणाइभेअभिन्नस्साहारस्स चउविहस्सावि । णिसि सव्वहा विरमणं चरमो समणाण मूलगुणो ॥६५४॥

प्राणातिपातविरमणादीनि निशिभक्तविरतिपर्यन्तानि व्रतानि श्रमणानां मूलगुणाः प्रज्ञप्ताः वीतरागैरिति गाथार्थः ॥ ५० ॥ एकैकस्वरूपमाह—सूक्ष्मादीनां जीवानामिति, आदिशब्दाद्बादरादिपरिग्रहः, यथोक्तं—" से सुहुमं वा बादरं वे'त्यादि, सर्वेषामिति नतु केषाञ्चिदेव, 'सर्वथा' सर्वैः प्रकारैः कृतकारितादिभिः, 'सुप्रणिधानं' दृढसमाधानेन, प्राणातिपातविरमणमितिः, विरमणं—निवृत्तिः, 'इहे'ति मनुष्यलोक एव प्रवचने वा प्रथमो भवति मूलगुणः, शेषाधारत्वात् सूत्रक्रमप्रामाण्याच्च प्रथम इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ क्रोधादिभिः प्रकारैरिति, आदिशब्दाल्लोभादिपरिग्रहः, यथोक्तं—'से कोहा वा लोभा वे' त्यादि, एवमेव—सर्वस्य सर्वथा सुप्रणिधानं मृषाविरमणं द्वितीयो मूलगुणः, सूत्रक्रमप्रामाण्यादेव, एवमेव—यथोक्तं

विशेषणान्नाकाशादिभिरनेकान्तिकः, अथवा द्वितीयं प्रमाणं–सचेतना अन्तरिक्षभवा आपः, स्वाभाविकव्योमसम्भूतसम्पातत्वात्, मत्स्यवत्। तथा सचेतनं तेजः, यथायोग्याहारोपादानेन वृद्धिविशेषतद्विकारवत्त्वात्, पुरुषवत्। तथा चेतनावान् वायुः, अपरप्रेरिततिर्यगनियमितदिग्गतिमत्त्वाद्, गवादिवत्, तिर्यगेवेति अन्तर्नीतावधारणात् परमाण्वादिभिरनैकान्तिकासम्भवः, तथा वकुलाशोकदाडिमाम्रबीजपूरककूष्माण्डीकालिङ्गीत्रपुषीप्रभृतयो वक्ष्यमाणपक्षसम्बन्धिनो वनस्पतिविशेषाश्चेतनाः जन्मजराजीवनमरणरोहणक्षताहारोपादानदौर्हृदामयचिकित्सासम्बन्धित्वात्, यत्र यत्र जन्मजीवनादिमत्त्वमुपलभामहे तत्र तत्र चेतनत्वमपि, यथा वनितासु, यत्र यत्र चेतनत्वं नास्ति तत्र तत्र जन्मादिमत्त्वमपि नास्ति, यथा शुष्कतृणभस्मादिष्विति वैधर्म्यदृष्टान्तः, कदाचित्परस्याशङ्का–प्रत्येकमेते हेतव उपात्ता इत्यनैकान्तिकाः, तद्यथा–जन्मवत्त्वादिति केवलोऽनैकान्तिकः पक्षधर्म्मः, अचेतनेष्वपि दृष्टत्वात्, जातं दधीति व्यवहारवत्, तथा जरावत्त्वमपि जीर्णं वासः जीर्णा सुरेति व्यवहारवत्, तथा जीवनहेतुरप्यनेकान्तिकः, सञ्जीवितं विषं, तथा मृतं कुसुम्भमिति व्यवहारात्, तथा सीधोर्गुडाहारवारणं विनष्टानां च मद्यानां उपक्रमैः प्रकृतिप्रत्यापादनं चिकित्सेत्युच्यते, सत्यं, प्रत्येकमेतेऽनैकान्तिकाः, सर्वे तु समुदिता न क्वचिदप्यचेतने दृष्टाः, चेतनेष्वेव वनिताप्रभृतिषु दाडिमबीजपूरिकाकूष्माण्डीवल्ल्यादिषु च दृष्टा इत्यनैकान्तिकव्यावृत्तिरिति कृतं प्रसङ्गेनेति, प्रकृतं प्रस्तुमः ॥ ४८ ॥

बेइंदियादओ पुण पसिद्धया किमिपिपीलिभमराई। कहिऊण तओ पच्छा वयाइं साहिज्ज विहिणा उ ॥

भूमीखयसाभाविअसंभवओ दद्दुरो व जलमुत्तं । अहवा मच्छोव्व सभाववोमसंभूअपायाओ ॥ ६४६ ॥
आहाराओ अणलो विड्ढिविगारोवलंभओ जीवो ।
अपरप्पेरिअतिरिआणिअमिअदिग्गमणओ अनिलो ॥ ६४७ ॥
जम्मजराजीवणमरणरोहणाहारदोहलामयओ । रोगतिगिच्छाईहि अ नारिव सचेअणा तरवो ॥६४८॥

मांसाङ्कुर इव मषादिः समानजातीयरूपाङ्कुरोपलम्भात् कारणात् पृथिवीविद्रुमलवणोपलादयः पार्थिवा भवन्ति सचित्ता इति प्रयोगगाथार्थः, प्रयोगस्तु संस्कृत्य कर्त्तव्य इति ॥ ४५ ॥ भूमिखातस्वाभाविकसम्भवाद्धेतोर्दर्दुरवज्जलमुक्तं, सचित्तमिति वर्त्तते, अथवा मत्स्यवत्सचित्तं जलमुक्तं, स्वभावेन व्योमसम्भूतस्य पातात् कारणादिति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ आहाराद्धेतोरनलो जीव इति योगः, तथा वृद्धिविकारोपलम्भादिति, अपरप्रेरिततिर्यगनियमितदिग्गमनतश्चानिल इत्यनिलोऽपि जीवः, पुरुषाश्वौ दृष्टान्ताविति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ ॥ जन्मजराजीवनमरणरोहणाहारदौर्हृदामयात् कारणात् रोगचिकित्सादिभ्यश्च नारीवत् सचेतनास्तरव इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ इय(ह) एवमासां गाथानामक्षरगमनिका, प्रयोगास्त्वेवं द्रष्टव्याः—चेतना विद्रुमलवणोपलादयः स्वाश्रयस्थाः पृथिवीविकाराः, समानजातीयाङ्कुरोत्पत्तिमत्त्वात्, अर्शोविकाराङ्कुरवत्, शेषाश्चाभ्रपटलाञ्जनहरितालमनःशिलाशुद्धपृथ्वीशर्कराप्रभृतयः सचेतनाः पृथिवीविकारत्वाद्विद्रुमलवणादिवत्, पूर्वप्रमाणेन दृष्टान्तस्य प्रसाधितत्वात्। तथा चेतना आपः,क्वचित्खातभूमिस्वाभाविकसम्भवाद्दर्दुरवत्, क्वचिदिति

एतेन 'ज्ञातेन' उदाहरणेन चतुरिन्द्रियादयोऽवगन्तव्याः, एकेन्द्रियपर्यन्ता जीवाः, पश्चानुपूर्व्या चतुरिन्द्रियादिलक्षण-येति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

तत्थ चउरिंदिआई जीवे इच्छंति पायसो सव्वे। एगिंदिएसु उ बहुआ विप्पडिवन्ना जओ मोहा ॥६४५॥

तत्र चतुरिन्द्रियादीन् द्वीन्द्रियावसानान् जीवान् इच्छन्ति प्रायः सर्वेऽपि वादिनः, एकेन्द्रियेषु तु बहवो विप्रतिपन्नाः, यतो मोहाद्धेतोरिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ ततः किमित्याह—

जीवत्तं तेसिं तउ जह जुज्जइ संपयं तहा वोच्छं। सिद्धंपि अ ओहेणं संखेवेणं विसेसेणं ॥ ६४३ ॥

जीवत्वं 'तेषाम्' एकेन्द्रियाणां ततः यथा 'युज्यते' घटते साम्प्रतं तथा वक्ष्ये, सिद्धमपि चौघेन-सामान्येन, सङ्क्षेपेण विशेषेणेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

आह नणु तेसि दीसइ दव्विंदिअमो ण एवमेएसिं। तं कम्मपरिणईओ न तहा चउरिंदिआणं व ॥ ६४४ ॥

आह—ननु 'तेषां' बधिरादीनां दृश्यते 'द्रव्येन्द्रियं' निर्वृत्त्युपकरणलक्षणं, नैवमेतेषाम्—एकेन्द्रियाणाम्, अत्रोत्तरमाह—'तद्' द्रव्येन्द्रियं कर्मपरिणतेः कारणात् न तथा तिष्ठत्येव, चतुरिन्द्रियाणामिव, तथाहि— चतुरिन्द्रियाणां श्रोत्रद्रव्येन्द्रियमपि नास्ति, अथ च ते जीवा इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

मंसंकुरो इव समाणजाइरूवंकुरोवलंभाओ। पुढवीविद्दुमलवणोवलादओ हुंति सच्चित्ता ॥ ६४५ ॥

कथितेऽपि सत्यनवगतकायव्रतार्थं च, अपरीक्ष्याधिगतेऽपि नोपस्थापयेद्व्रतेष्विति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ एतदेव भावयति—

एगिंदियाइ काया तेसिं (फरिसणभावे) सेसिंदिआणऽभावेऽवि। बहिराईण व णेअं सोत्ताइगमेऽवि जीवत्तं

एकेन्द्रियादयः कायाः, तेषां स्पर्शनभाव एव 'शेषेन्द्रियाणां' रसनादीनामभावेऽपि वधिरादीनामिव ज्ञेयम्, आदिशब्दादन्धादिपरिग्रहः, श्रोत्रादिविगमेऽपि जीवत्वं, तथा कर्म्मविपाकादिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ तथा च—

जइ णाम कम्मपरिणइवसेण बहिरस्स सोअमावरिअं।
तयभावा सेसिंदिअभावे सो किंनु अज्जीवो ? ॥ ६३९ ॥

यदि नाम कर्म्मपरिणतिवशेन वधिरस्य जन्तोः श्रोत्रमावृत्तं, 'तदभावात्' श्रोत्राभावात् शेषेन्द्रियभावे सति 'असौ' वधिरः किं नु अजीवः ?, जीव एवेति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ तथा—

बहिरस्स य अंधस्स य उवहयघाणरसणस्स एमेव। सइ एगंमिवि फासे जीवत्तं हंत ! किमजुत्तं? ॥६४०॥

वधिरस्य चान्धस्य च, किंविशिष्टस्येत्याह—उपहतघ्राणरसनस्य, 'एवमेव' यथा वधिरस्य, सत्येकस्मिन्नपि स्पर्शने जीवत्वं हन्त ! किमयुक्तम् ?, हन्त ! सम्प्रेषणे, नैवायुक्तमिति गाथार्थः ॥ ४० ॥

एएणं नाएणं चउरिंदिअमाइओऽवगंतव्वा। एगिंदिअपज्जंता जीवा पच्छाणुपुव्वीए ॥ ६४१ ॥

कायानां जीवत्वं

समयं तु अणेगेसुं पत्तेसुं अणभिओगमावलिया ।
एगदुहओऽवि ठिआ समराइणिआ जहासन्नं ॥ ६२६ ॥ दारं ॥

'राया रायाणो'त्ति एगो राया बितिओ रायमच्चो समं पव्वइया, एत्थवि जहा पियापुत्ताणं तहा दट्ठव्वं, एएसिं जो अहि-गयरो रायाई इयरंमि अमच्चाइए ओमे पढमे उवट्ठाविज्जमाणे अप्पत्तियं करिज्ज पडिभज्जेज्ज वा कारणसहावो वा बहुरु-सिज्जा ताहे सो अपत्तोऽवि इयरेहिं समगमुवट्ठाविज्जइ, अहवा 'राय'त्ति जत्थ एगो राया जो अमच्चाईयाण सव्वेसिं राय-णिओ भण्णइ, 'रायाणो'त्ति जत्थ पुण दुन्नितिन्निरायाणो समं पव्वइया समं च पत्ता उवट्ठाविज्जंता समराइणिया कायव्व त्ति दोसु पासेसु ठविज्जंति, एसेवऽत्थो भण्णइ ॥५५॥ पुव्वं पियापुत्ताइसंबंधेण असंबद्धेसु बहुसु समगमुवट्ठाविज्जमाणेसु गुरुणा अण्णेण वा अभिओगो ण कायव्वो इओ ठाह त्ति, एगागिओ दुहओ वा ठाविएसु जो जहा गुरुस्स आसण्णो सो तहा जेट्ठो, उभयपासट्ठिया समा समराइणिया, एवं दो ईसरा दो सिट्ठी दो अमच्चा, 'नियग'त्ति दो वणिया, 'घड'त्ति गोट्ठी दो गोट्ठी-ओ, दो गोट्ठिया पव्वइया दो महाकुलेहिंतो पव्वइया, सव्वे समा समगं वा समराइणिया कायव्वा, एएसिं चेव पुव्वगतो पुव्वं चेव उवट्ठावेयव्वो'त्ति एतद्व्याख्या ॥ ५५ ॥ एवं व्यतिरेकतोऽप्यस्या विधिरुक्तः, साम्प्रतं कथनविधिमाह—

अकहित्ता कायवए जहाणुरूवं तु हेउणातेहिं । अणभिगयतदत्थं वाऽपरिच्छिउं नो उवट्ठावे ॥ ६२७ ॥

अकथयित्वा अर्थतः कायव्रतानि यथानुरूपमेव श्रोत्रपेक्षया हेतुज्ञाताभ्यां, ज्ञातम्—उदाहरणम्, 'अनधिगततदर्थं वे'ति

णाद्, अनिष्टफलमेतदिति गाथार्थः ॥३२॥ अतः परं वृद्धसम्प्रदायः–'अह दोऽवि पियापुत्तजुगलगाणि तो इमो विही—

दो थेर खुड्ड थेरे खुड्डग वोच्चत्थ मग्गणा होइ। रन्नो अमच्चमाई संजइमज्झे महादेवी ॥ ६३३ ॥
दो पुत्तपिआ पुत्ता एगस्स पुत्तो पत्त न उ थेरो। गाहिउ सयं व विअरइ रायणिओ होउ एसऽविआ ॥६३४॥

दो थेरा सपुत्ता समयं पव्वाविया, एवं 'दो थेर'त्ति दोऽवि थेरा पत्ता ण ताव खुड्डगा, थेरा उवट्ठावेयव्वा, 'खुड्डग'त्ति दो खुड्डा पत्ता ण थेरा, एत्थवि पण्णवणुवेहा तहेव, 'थेरे खुड्डग'त्ति दो थेरा खुड्डगो य एगो एत्थ उवट्ठावणा, अहवा दो खुड्डगा थेरो य एगो पत्तो, एगे थेरे अपावमाणम्मि एत्थ इमं गाहासुत्तं ॥ ३३ ॥

पुव्वद्धं कण्ठ्यं, आयरिएण वसभेहिं वा पण्णवणं गाहिओ विअरइ सयं वा वियरइ ताहे खुड्डगो उवट्ठाविज्जउ, अणिच्छे रायदिट्ठंतपण्णवणा तहेव, इमो विसेसो–सो य अपत्तथेरो भण्णइ–एस ते पुत्तो परममेधावी पुत्तो उवट्ठाविज्जइ, तुमं ण विसज्जेसि तो एए दोऽवि पियापुत्ता राइणिया भविस्संति, तं एयं विसज्जेहि, एसवि ता होउ एएसिं रातिणिउत्ति, अओ परमणिच्छे तहेव विभासा, इयाणिं पच्छद्धं—'रण्णो अमच्चाइ'त्ति राया अमच्चो य समगं पव्वाविया, जहा पियापुत्ता तहा असेसं भाणियव्वं, आदिग्गहणेणं सिट्ठिसत्थवाहाणं रण्णा सह भाणियव्वं, संजइमज्झेऽवि दोण्हं मायाधितीणं दोण्ह य मायाधितीजुवलयाणं महादेवीअमच्चीण य एवं चेव सव्वं भाणियव्वं ॥ ३४ ॥

राया रायाणो वा दोण्णिवि सम पत्त दोसु पासेसु। ईसरसिट्ठिअमच्चे निअम घडा कुला दुवे खुड्डे ॥६३५॥

'त्रयाणां' सम्यक्श्रुतदेशविरतिसामायिकानां सहस्रपृथक्त्वं, पृथक्त्वमिति द्विप्रभृतिरानवभ्यः, शतपृथक्त्वं च भवति 'विरतेः' सर्वविरतिसामायिकस्य एकेन जन्मनैतद्, अत एवाह—एकभवे 'आकर्षा' ग्रहणमोक्षलक्षणा एतावन्तो भवन्ति ज्ञातव्याः, परतस्त्वप्रतिपातोऽलाभो वेति गाथार्थः ॥ २९ ॥

एएसिमंतरे वाऽपण्णवणिज्जुत्ति नत्थि दोसो उ । अच्चागो तस्स पुणो संभवओ निरइसइगुरुणा ॥ ६३० ॥

'एतेषाम्' आकर्षाणामन्तरे वा सामायिकाभावेऽप्रज्ञापनीय इतिकृत्वा नास्त्येव दोषो यथोक्त इति, अत्यागः 'तस्य' सामायिकशून्यस्यापि, तस्य वा सामायिकस्य, पुनः सम्भवाद्धेतोः, केनेत्याह—निरतिशयगुरुणा, तद्गतरागभावेन योग्यत्वादिति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अइसंकिलेसवज्जणहेऊ उचिओ अणेण परिभोगो । जीअं किलिट्ठकालोत्ति एव सेसंपि जोइज्जा ॥६३१॥

अति(सं)क्लेशवर्ज्जनहेतोः कारणात् तस्यैव उचितः स्यात् अनेन सम्भोग उपध्यादिरूपः जीतं वर्तते—कल्प एषः, किमित्यत आह—क्लिष्टकाल इतिकृत्वा, एवं शेषमपि अत्र शास्त्रे भावमधिकृत्य दूषणाभासपरिहारं योजयेदिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ गमनिकान्तरमधिकृत्याह—

अहवा वत्थुसहावो विन्नेओ रायभिच्चमाईणं । जत्थंतरं महंतं लोगविरोहो अणिट्ठफलं ॥ ६३२ ॥

अथवा वस्तुस्वभावो विज्ञेयः अत्र प्रक्रमे राज[प्र]भृत्यादीनां यत्रान्तरं महत् तद्विषयं, किमिति ?, लोकविरोधात् कार-

यस्मात् द्वितीयं चारित्रमेषा–उपस्थापना, 'प्रथमस्य' सामायिकस्याभावे कथं तत्?, नैव, असति तस्मिंस्तस्यारोपणं द्वितीयस्य अज्ञानप्रकाशकं नवरं, गगनकीलकवदसम्भवादिति गाथार्थः ॥ २५ ॥ अत्रोत्तरम्—

सच्चमिणं निच्छयओऽपन्नवणिज्जो न तम्मि संतम्मि । ववहारओ असुद्धे जायइ कम्मोदयवसेणं ॥६२६॥

सत्यमिदं 'निश्चयतो' निश्चयनयमाश्रित्य अप्रज्ञापनीयः तस्मिन् सुन्दरेऽपि वस्तुनि न 'तस्मिन्' सामायिके यथोदितरूपे सति, 'व्यवहारतस्तु' व्यवहारनयमतेन अशुद्धे सामायिके जायते 'अप्रज्ञापनीयकर्म्मोदयवशेन' अशुभकर्म्मविपाकेनेति गाथार्थः ॥ २६ ॥ एतदेव समर्थयति—

संजलणाणं उदओ अप्पडिसिद्धो उ तस्स भावेऽवि । सो अ अइआरहेऊ एएसु असुद्धगं तं तु ॥६२७॥

सञ्ज्वलनानां कषायाणामुदयः अप्रतिषिद्ध एव 'तस्य' सामायिकस्य भावेऽपि, स च सञ्ज्वलनोदयः अतिचारहेतुर्वर्त्तते, 'एतेषु' अतिचारेषु सत्सु अशुद्धं 'तत्' सामायिकं भवतीति गाथार्थः ॥ २७ ॥ उपपत्त्यन्तरमाह—

पडिवाईविअ एअं भणिअं संतेऽवि दव्वलिंगम्मि । पुण भावीविअ असई कत्थइ जम्हा इमं सुत्तं ॥६२८॥

प्रतिपात्यपि चैतत् सामायिकं भणितं भगवद्भिः, सत्यपि द्रव्यलिङ्गे बाह्ये, पुनर्भाव्यपि चासकृत् क्वचित्प्राणिनि, भणितं यस्मादिदं सूत्रं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ २८ ॥

तिण्ह सहस्सपुहुत्तं सयपुहुत्तं च होइ विरईए । एगभवे आगरिसा एवइआ होंति नायव्वा ॥ ६२९ ॥

अह तहावि ण पत्तो थेरो ताहें इमा विही ॥२२॥ अणुण्णाए खुड्डुं उवट्ठावेंति, अह नेच्छइ थेरो ताहे पण्णविज्जइ दंडियदिट्ठं-तेण, आदिसद्दाओ अमच्चाई, जहा एगो राया रज्जपरिब्भट्ठो सपुत्तो अण्णरायाणमोलग्गिउमाढत्तो, सो राया पुत्तस्स तुट्ठो, तं से पुत्तं रज्जे ठावितुमिच्छइ, किं सो पिया णाणुजाणइ ?, एवं तव जइ पुत्तो महव्वयरज्जं पावइ किं ण मण्णसि ?, एवंपि पण्णविओ जइ निच्छइ ताहे चउति(ठवति)पंचाहं, पुणोऽवि पण्णविज्जइ, अणिच्छे पुणोऽवि पंचाहं, पुणोवि पण्णविज्जइ, अणिच्छे पंचाहं ठंति, एवतिएण कालेण जइ पत्तो जुगवमुवट्ठावणा, अओ परं थेरे अणिच्छेऽवि खुड्डो उवट्ठाविज्जइ, अहवा 'वत्थुसहावेण ज्ञाधीतं'ति वत्थुस्स सहावो वत्थुसहावो—माणी, अहं पुत्तस्स ओमयरो कज्जामित्ति उण्णिक्खमिज्जा, गुरुस्स खुड्डुस्स वा पओसं गच्छिज्जा, ताहे तिण्हवि पंचाहाणं परओऽवि संचिक्खाविज्जइ जाव अहीयंति गाथार्थः ॥ २३ ॥ पराभिप्रायमाह—

इय जोऽपण्णवणिज्जो कहण्णु सामाइअं भवे तस्स? । असइ अ इमंमि नाया जुत्तोवट्ठावणा णेवं ॥६२४॥

'इय' एवं यः अप्रज्ञापनीयः, साधुवचनमपि न बहु मन्यते, कथं नु 'सामायिकं' सर्वत्र समभावलक्षणं भवेत् तस्य ?, नैवेत्यर्थः, असति चास्मिन्—सामायिके 'न्यायात्' शास्त्रानुसारेण युक्ता उपस्थापना न 'एवं' पञ्चाहादित्यागेनेति गाथार्थः ॥ २४ ॥ किमित्यत आह—

जं बीअं चारित्तं एसा पढमस्सऽभावओ कह तं ? । असइ अ तस्सारोवणमण्णाणपगासगं नवरं ॥६२५॥

'एताम्' अनन्तरोदितां भूमिमप्राप्तं सन्तं शिक्षकं यः अन्तर एवोपस्थापयति, स किमित्याह–'सः' इत्थंभूतो गुरुः आज्ञामनवस्थां मिथ्यात्वं विराधनां– संयमात्मभेदां प्राप्नोतीति गाथार्थः ॥ १९ ॥

रागेण व दोसेण व पत्तेऽवि तहा पमायओ चेव । जो नवि उट्ठावेई सो पावइ आणमाईणि ॥ ६२० ॥

रागेण वा शिक्षकान्तरे दो(द्वे)षेण वा तत्र प्राप्तानपि शिक्षकान् तथापि प्रमादतश्चैव योऽपि गुरुर्नोपस्थापयति स प्राप्नोत्याज्ञादीन्येवेति गाथार्थः ॥ २० ॥

पिअपुत्तमाइआणं(समगं)पत्ताणमित्थ जो भणिओ । पुव्वायरिएहि कमो तमहं वोच्छं समासेणं ॥६२१॥

पितृपुत्रादीनां प्राप्ताप्राप्तानामत्र अधिकारे यो भणितः 'पूर्वाचार्यैः' भद्रबाहुस्वाम्यादिभिः क्रमस्तमहं वक्ष्ये समासेन, सङ्क्षिप्तरुचिसत्त्वानुग्रहायैवेति गाथार्थः ॥ २१ ॥

पितिपुत्त खुड्ड थेरे खुड्डग थेरे अपावमाणम्मि । सिक्खावण पन्नवणा दिट्ठंतो दंडिआईहिं ॥ ६२२ ॥

थेरेण अणुण्णाए उवठाणिच्छे व ठंति पंचाहं । तिपणमणिच्छिऽवुवरिं वत्थुसहावेण जाहीअं ॥६२३॥

अत्र वृद्धव्याख्या–दो पितपुत्ता पव्वइया, जइ ते दोऽवि जुगवं पत्ता तो जुगवं उवट्ठाविज्जंति, अह 'खुड्डे'त्ति खुड्डे सुत्तादीहिं अपत्ते 'थेरे'त्ति थेरे सुत्ताईहिं पत्ते थेरस्स उवट्ठावणा, 'खुड्डग'त्ति जइ पुण खुड्डगो सुत्ताईहिं पत्तो थेरे पुण अपावमाणंमि तो जाव सुज्झंतो उवट्ठावणादिणो एति ताव थेरो पयत्तेण सिक्खाविज्जइ, जदि पत्तो जुगवमुवट्ठाविज्जंति,

आज्ञादयो दोषा जिनैर्भणिताः, उपस्थापनां कुर्वत इति सामर्थ्याद् गम्यते, यस्मादेवं तस्मात् 'प्राप्तादीन्' अनन्तरोदित-गुणयुक्तान् उपस्थापयेदिति गाथार्थः ॥ १५ ॥

सेहस्स तिन्नि भूमी जहण्ण तह मज्झिमा य उक्कोसा। राइंदि सत्त चउमासिआ य छम्मासिगा चेव ॥६१६॥

शिक्षकस्य तिस्रो भूमयो भवन्ति, जघन्या तथा मध्यमा उत्कृष्टा च, आसां च मानं रात्रिन्दिवानि सप्त, चातुर्मासिकी च षण्मासिकी चैव यथासङ्ख्यमिति गाथार्थः ॥ १६ ॥ का कस्येत्येतदाह—

पुव्वोवट्ठपुराणे करणजयट्ठा जहन्निआ भूमी । उक्कोसा उ दुमेहं पडुच्च अस्सद्दहाणं च ॥ ६१७ ॥

'पूर्वोपस्थापितपुराणे' क्षेत्रान्तरप्रव्रजिते करणजयार्थं जघन्या भूमिः उपस्थापनायाः, उत्कृष्टा दुर्मेधसं प्रतीत्य, सूत्रग्रहणाभावाद्, अश्रद्दधानं च सम्यगधिगमाभावादिति गाथार्थः ॥ १७ ॥

एमेव य मज्झिमिया अणहिज्जंते असद्दहंते अ। भाविअमेहाविस्सवि करणजयट्ठा य मज्झिमिया ॥६१८॥

एवमेव च मध्यमा उपस्थापनाभूमिः अनधिगते अश्रद्दधाने च, प्राक्तनाद्विशिष्टतरे लघुतरा वेति हृदयं, भावितमेधाविनोऽप्यपुराणस्य करणजयार्थं मध्यमैव नवरं लघुतरेति गाथार्थः ॥ १८ ॥

एअं भूमिमपत्तं सेहं जो अंतरा उवट्ठावे । सो आणाअणवत्थं मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ६१९ ॥

अविरतिमूलं कम्मं तत्तो अ भवोत्ति कम्मखवणत्थं। ता विरई कायव्वा सा य वया एव खयहेऊ ॥६१२॥

इहाविरतिमूलं कर्म्म, 'ततश्च' कर्म्मणो 'भवः' संसार इति, यस्मादेवं कर्म्मक्षपणार्थं 'तत्' तस्माद्विरतिः कर्त्तव्या, सा च विरतिः व्रतानि एवं क्षयहेतूनि इति गाथार्थः॥ १२ ॥

अहिगयसत्थपरिण्णाइगाओ परिहरणमाइगुणजुत्ता । पिअधम्मवज्जभीरू जे ते वयठावणाजोगा ॥६१३॥

अधिगतशस्त्रपरिज्ञाद्य एव, आदिशब्दाद्दशवैकालिकादिपरिग्रहः, परिहरणादिगुणयुक्ताः, आदिशब्दात् श्रद्धासंवेगादिपरिग्रहः, प्रियधर्म्माणः तथा 'अवद्यभीरवः' पापभीरव इति भावः, ये इत्थंभूतास्ते व्रतस्थापनाया योग्या इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ तथा चाह—

पढिए अ कहिअ अहिगय परिहर उवठावणाइ सो कप्पो। छक्कं तीहिँ विसुद्धं परिहर नवएण भेएणं॥६१४॥

पठिते च उचितसूत्रे कथिते तदर्थे अभिगते—सम्यगवधारिते तस्मिन् परिहरति च प्रतिषिद्धं यः उपस्थापनायाः स 'कल्प्यः' कल्पनीयो योग्य इति भावः, स चोपस्थापितः सन् किं कुर्यादित्याह—'षट्कं' पृथिव्यादिषट्कं 'त्रिभिः' मनः—प्रभृतिभिर्विशुद्धं परिहरेत् नवकेन भेदेन—कृतकारितादिलक्षणेनेति गाथार्थः ॥ १४ ॥ विपर्यये दोषमाह—

अप्पत्ते अकहित्ता अणभिगयऽपरिच्छणे अ आणाई। दोसा जिणेहि भणिआ तम्हा पत्तादुवट्ठावे ॥ ६१५ ॥

अप्राप्ते पर्यायेण अकथयित्वा कायादीन् 'अनभिगताऽपरीक्षणयोश्चे'ति अनभिगततत्त्वेऽपरीक्षणे च तस्य सूत्रविधिना

एसा पइदिणकिरिआ समणाणं वन्निआ समासेणं। अहुणा वएसु ठवणं अहाविहिं कित्तइस्सामि॥६०९॥

एषा 'प्रतिदिनक्रिया' चक्रवालसामाचारी श्रमणानां वर्णिता समासेन, सङ्क्षिप्तरुचिसत्त्वानुग्रहाय सङ्क्षेपेणेत्यर्थः, पञ्चवस्तुके द्वितीयं वस्तु व्याख्यातम् ॥ अथ तृतीयं व्याचिख्यासयाऽऽह—अधुना व्रतेषु स्थापनां 'यथाविधि' यथान्यायं कीर्त्तयिष्यामीति गाथार्थः ॥ ९ ॥ किमिति ?, एतदेवाह—

पइदिणकिरियाइ इहं सम्मं आसेविआएँ संतीए ।
वयठवणाए धन्ना उविंति जं जोग्गयं सेहा ॥ ६१० ॥ द्वितीयं द्वारं समाप्तम् ॥

प्रतिदिनक्रियया इह सम्यगासेवितया सत्या, किमित्याह—व्रतस्थापनायाः 'धन्याः' पुण्यभाजनाः उपयान्ति 'यद्' यस्मात् कारणाद् योग्यतां शिक्षका इति गाथार्थः ॥ १० ॥ इति प्रतिदिनक्रियानामकं द्वितीयं वस्तु

संसारक्खयहेऊ वयाणि ते जेसि १ जह य दायव्वा २ ।
पालेअव्वा य जहा ३ वोच्छामि तहा समासेणं ॥ ६११ ॥ (सूयागाहा)

संसारक्षयहेतूनि 'व्रतानि' प्राणातिपातादिविरत्यादीनि तानि येभ्यो यथा वा दातव्यानि पालयितव्यानि च 'यथा' येन प्रकारेण वक्ष्ये 'तथा' समासेनैवेति, सूचागाथासमासार्थः ॥ ११ ॥ व्यासार्थं त्वाह—

छउमत्थो परमत्थं विसयगयं सव्वहा न याणाइ । सेअममिच्छत्ताओ इमस्स मग्गाणुसारित्तं ॥६०५॥

छद्मस्थः 'परमार्थं' याथात्म्यं विषयगतं सर्वथा न जानाति, तच्चेष्टाव्यभिचारात्, श्रेयः अमिथ्यात्वाद्—आस्तिक्येन 'अस्य' छद्मस्थस्य 'मार्गानुसारित्वम्' आगमपारतन्त्र्यमिति गाथार्थः ॥ ५ ॥ व्यतिरेकमाह—

जो पुण अविसयगामी मोहा सविअप्पनिम्मिओ सुद्धो ।
उवले व कंचणगओ सो तम्मि असुद्धओ भणिओ ॥ ६०६ ॥

यः पुनरविषयगामी परिणामो मोहात् स्वविकल्पनिर्म्मितः शुद्धो, न वस्तुस्थित्या, उपल इव काञ्चनगतः धत्तूरकादिदोषात् स तत्राशुद्धो भणितः तत्त्वज्ञैरिति गाथार्थः ॥ ६ ॥ अत्रैवोपचयमाह—

मोत्तूणुक्कडदोसं साहम्माभावओ नहि कयाइ । हवइ अतत्ते तत्तं इइपरिणामो पसिद्धमिणं ॥६०७॥

मुक्त्वोत्कटदोषं प्राणिनं साधर्म्याभावात् कारणात् नहि कदाचित्, किमित्याह—भवत्यतत्त्वे तत्त्वम्, इति—एवम्भूतः परिणामः प्रसिद्धमिदं लोके इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

देवयजइमाईसुवि एसो एमेव होइ दट्ठव्वो । विसयाविसयविभागा बुहेहिँ मइनिउणबुद्धीए ॥६०८॥

देवतायत्यादिष्वप्येषः—परिणाम एवमेव भवति द्रष्टव्यः, विषयाविषयविभागात् लिङ्गशुद्ध्या, बुधैर्मतिनिपुणदृष्ट्या, इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उपसंहरन्नाह—

छद्मस्थस्य परिणामो मानं

सीसस्स हवइ एत्थं परिणामविसुद्धिओ गुणो चेव ।
सविसयओ एसो च्चिअ सत्थो सव्वत्थ भणियमिणं ॥ ६०१ ॥

शिष्यस्य भवत्यत्रं, न दोष इति योगः, अपि तु परिणामविशुद्धेः कारणाद् गुण एव शिष्यस्य, स्वविषयो ह्यदुष्टालम्बन 'एष एव' परिणामः 'शस्तः' शोभनः 'सर्वत्र' वस्तुनि, भणितमिदं वक्ष्यमाणं, भगवद्भिरिति गाथार्थः ॥१॥ किं तदित्याह—

परमरहस्समिसीणं समत्तगणिपिडगहत्थसाराणं । परिणामिअं पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं ॥६०२॥

'परमरहस्यं' धर्मगुह्यं ऋषीणामेतत् समस्तगणिपिटकाभ्यस्तसाराणां, विदितागमतत्त्वानामित्यर्थः, यदुत पारिणामिकं प्रमाणं धर्म्ममार्गे निश्चयमवलम्बमानानां, शेषं व्यभिचारीति गाथार्थः ॥ २ ॥ एतदेवाह—

अंगारमद्दगस्सवि सीसा सुअसंपयं जओ पत्ता । परिणामविसेसाओ तम्हा एसो इहं पवरो ॥ ६०३ ॥

अङ्गारमर्दकस्याप्यभव्याचार्यस्य शिष्याः श्रुतसम्पदं यतः प्राप्ताः—भावरूपामेव परिणामविशेषात्, छद्मस्थनिरूपणया शुद्धादित्यर्थः, तस्मादेषः—परिणामः 'इह' परलोकमार्गे प्रवर इति गाथार्थः ॥ ३ ॥ यथा विधिस्तमाह—

एसो पुण रागाईहऽबाहिओ विसयसंपयट्टो उ । सुहुमाणाभोगाओ ईसिं विगलोऽवि सुद्धोत्ति ॥६०४॥

एष पुनः—परिणामो रागादिभिरबाधितः सन् विषयसंप्रवृत्तश्च, नाविषयगामी, सूक्ष्मानाभोगात् सकाशादीषद्विकलोऽपि—विषयान्यथात्वादिना, शुद्ध इति गाथार्थः ॥ ४ ॥ एतदेव समर्थयन्नाह—

तं पुण विचित्तमित्थं भणियं जं जम्मि जम्मि अंगाओ।
तं जोगविहाणाओ विसेसओ एत्थ णायव्वं ॥ ५९८ ॥ दारं।

'तत्पुनः' उपधानं विचित्रम् 'अत्र' प्रवचने भणितं यद् यस्मिन् यस्मिन् 'अङ्गादौ' अङ्गश्रुतस्कन्धाध्ययनेषु तत् 'योगविधानाद्' ग्रन्थात् विशेषतः 'अत्र' अधिकारे ज्ञातव्यमिति ॥ ९८ ॥ द्वारं ॥

गुरुणावि चरणजोए ठिएण देअं विसुद्धभावेणं। भावा भावपसूई पायं लोगेऽवि सिद्धमिअं ॥ ९९ ॥

'गुरुणाऽपि' आचार्यादिना चरणयोगे स्थितेन शुद्धव्यापाररूपे, देयं एतत्सूत्रं 'विशुद्धभावेन' उपयुक्तेन, किमित्येतदेवमित्याह—भावाद्भावप्रसूतिः शुभाच्छुभस्य, प्रायो लोकेऽपि सिद्धमिदं—भाविताद्वक्तुर्भावप्रतिपत्तिरिति गाथार्थः ॥ ९९ ॥

बज्झचरणाउ नेअं विसुद्धभावत्तणं विसुद्धाओ।
बज्झे सइ आणाओ इअराभावेवि न उ दोसो ॥ ६०० ॥

बाह्यचरणात् सकाशात् ज्ञेयं 'विशुद्धभावत्वम्' आन्तरं चरणरूपं, विशुद्धाद् बाह्यचरणात्, न ह्यान्तरेऽसति यथोदिते बाह्ये यत्नः, शिष्यमधिकृत्याह—बाह्ये सति चरणे आज्ञातः कारणात् 'इतराभावेऽपि' आन्तरचरणाभावेऽपि तु न दोषः, छद्मस्थस्येति गाथार्थः ॥ ६०० ॥ तथा चाह—

यथैव तु विधिरहिताः, के इत्याह—मन्त्रादयो, हन्दि नैव सिध्यन्ति, आदिशब्दाद्विद्यादिग्रहः, भवन्ति चापकारपरा इहैव तथैवैतदपि विज्ञेयं—सूत्राविधिकरणमिति गाथार्थः ॥ ९४ ॥

ते चेव उ विहिजुत्ता जह सफला हुंति एत्थ लोअम्मि ।
तह चेव विहाणाओ सुत्तं नियमेण परलोए ॥ ५९५ ॥

त एव तु विधियुक्ता—मन्त्रादयः यथा सफला भवन्ति अत्र लोके, दृश्यत एवैतत्, तथैव विधानाद्धेतोः सूत्रं नियमेन परलोके, विधियुक्तं सफलमिति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ एतदेवाह—

विहिदाणम्मि जिणाणं आणा आराहिया धुवं होइ। अण्णेसिं विहिदंसणकमेण मग्गस्सऽवत्थाणं ॥५९६॥

विधिदाने सूत्रस्य जिनानामाज्ञाऽऽराधिता ध्रुवं भवति, सम्यक् प्रवृत्तेः, तथाऽन्येषां प्राणिनां विधिदर्शनक्रमेण मार्गस्यावस्थानम्, उन्मार्गदर्शनाभावादिति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

सम्मं जहुत्तकरणे अन्नेसिं अप्पणो अ सुपसत्थं। आराहणाऽऽययफला एवं सइ संजमायाणं ॥५९७॥

सम्यक्त्वं भवति यथोक्तकरणे सत्यन्येषां—तद्द्रष्टॄणामात्मनश्च, सुप्रशस्तमिति सम्यक्त्वविशेषणं, आराधना आयतफला, आयतो—मोक्षः, 'एवं सति' विधिकरणे, संयमात्मनोरिति गाथार्थः ॥ ९७ ॥

उपधाना-करणे दोषः

यत्केवलिना भणितम्—उपधानादि केवलज्ञानेन तत्त्वतो ज्ञात्वा तस्यान्यथा विधाने—करणे आज्ञाभङ्गः केवलिनः महापापो, भगवदश्रद्धानादिति गाथार्थः ॥ ९० ॥ एवमाज्ञादोषः, अनवस्थादोषमाह—

एगेण कयमकज्जं करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो । सायाबहुलपरंपर वोच्छेओ संजमतवाणं ॥ ५९१ ॥

एकेन कृतमकार्यं केनचित्संसाराभिनन्दिना करोति तत्प्रत्ययं तदेव पुनरन्यः संसाराभिनन्द्येव, एवं सातबहुलपरम्परया प्राणिनां व्यवच्छेदः संयमतपसोः शुद्धयोरिति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ एवमनवस्थादोषो, मिथ्यात्वदोषमाह—

मिच्छत्तं लोअस्सा न वयणमेयमिह तत्तओ एवं । वितहासेवण संकाकारणओ अहिगमेअस्स ॥५९२॥

मिथ्यात्वं लोकस्य भवति, कथमित्याह—न वचनमेतत्—जैनम् 'इह'अधिकारे 'तत्त्वतः' परमार्थतः एवम्, अन्यथाऽयमेवं न कुर्यादिति शङ्कया, तथा वितथासेवनया हेतुभूतया शङ्काकारणत्वात् लोकस्य अधिकं मिथ्यात्वमेतस्य—वितथकर्त्तुरिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ एवं मिथ्यात्वदोषः, विराधनादोषमाह—

एवं चऽणेगभविया तिव्वा सपरोवघाइणी नियमा । जायइ जिणपडिकुट्ठा विराहणा संजमायाए ॥ ५९३ ॥

एवं च आज्ञादेः 'अनेकभविकी' प्रभूतजन्मानुगता 'तीव्रा' रौद्रा स्वपरोपघातिनी 'नियमाद्' एकान्तेन 'जायते' भवति, जिनप्रतिकुष्टा विराधना संयममात्मनोः अकुशलानुबन्धेनेति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ इहैवैदम्पर्यमाह—

जह चेव उ विहिरहिया मंताई हंदि णेव सिज्झंति । होंति अ अवयारपरा तहेव एयंपि विन्नेअं ॥ ५९४ ॥

वती, एकादशवार्षिकस्य चामूनीति हृदयस्थनिर्देशः क्षुल्लिकाविमानादीन्यध्ययनानि कालयोग्यतामङ्गीकृत्य पञ्च ज्ञातव्यानि,
तद्यथा—'खुड्डिया विमाणपविभत्ती (महल्लिया विमाणपविभत्ती) अंगचूलिया वग्गचूलिया वियाहचूलिय'त्ति गाथार्थः
॥८४॥ द्वादशवार्षिकस्य 'तथा' कालपर्यायेण अरुणोपपातादीनि पञ्चाध्ययनानि, तद्यथा—'अरुणोववाए वरुणोववाए गरुलो-
ववाए वेलंधरोववाए वेसमणोववाए', त्रयोदशवार्षिकस्य तथोत्थानश्रुतादीनि चत्वारि, तद्यथा—'उट्ठाणसुयं समुट्ठाणसुयं
देविंदोववाओ णागपरियावणियाओ'त्ति गाथार्थः ॥८५॥ चतुर्दशवर्षस्य 'तथा' पर्यायेण आशीविषभावनां जिना ब्रुवते,
पञ्चदशवर्षस्य तु पर्यायेणैव दृष्टिविषभावनां तथैव ब्रुवत इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ षोडशवर्षादिषु च पर्यायेष्वेको-
त्तरवर्द्धितेषु 'यथासङ्ख्यं' यथाक्रमं चारणभावना महास्वप्नभावना तेजोनिसर्ग इत्येतानि त्रीणि भवन्तीति गाथार्थः
॥८७॥ एकोनविंशतिकस्य तु पर्यायेण दृष्टिवादो द्वादशमङ्गमत एव शेषलाभो ज्ञेय इति, सम्पूर्णविंशतिवर्षपर्यायेणानुपाती—
योग्यः सर्वस्य सूत्रस्य बिन्दुसारादेरिति गाथार्थः ॥ ८८ ॥

उवहाणं पुण आयंबिलाइ जं जस्स वन्निअं सुत्ते । तं तेणेव उ देअं इहरा आणाइआ दोसा ॥५८९॥

उपधानं पुनरायामाम्लादि यद् यस्य अध्ययनादेः वर्णितं सूत्र एव—आगमे 'तद्'अध्ययनादि, तेनैव तु देयं, नान्येन,
'इतरथा' अन्यथा दाने आज्ञादयो दोषाश्चत्वार इति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ एतदेवाह—

जं केवलिणा भणिअं केवलनाणेण तत्तओ नाउं । तस्सऽण्णहा विहाणे आणाभंगो महापावो ॥५९०॥

कालक्रमेण प्राप्तमौचित्येन संवत्सरादिना तु 'यद्' आचारादि यस्मिंस्तत्तस्मिन्नेव–संवत्सरादौ धीरो वाचयेत्, न विपर्ययं कुर्यात्, स च कालोऽयं–वक्ष्यमाण इति गाथार्थः ॥ ८१ ॥

तिवरिसपरिआगस्स उ आचारपकप्पणाममज्झयणं ।
चउवरिसस्स उ सम्मं सूअगडं नाम अंगंति ॥ ५८२ ॥
दसकप्पव्ववहारा संवच्छरपणगदिक्खिअस्सेव । ठाणं समवाओत्तिअ अंगेए अट्ठवासस्स ॥ ५८३ ॥
दसवासस्स विआहो एक्कारसवासयस्स य इमे उ । खुड्डियविमाणमाई अज्झयणा पंच नायव्वा ॥ ८४ ॥
बारसवासस्स तहा अरुणुववायाइ पंच अज्झयणा। तेरसवासस्स तहा उट्ठाणसुआइआ चउरो॥५८५॥
चोद्दसवासस्स तहा आसीविसभावणं जिणा बिंति। पन्नरसवासगस्स य दिट्ठीविसभावणं तहय॥५८६॥
सोलसवासाईसु अ एगुत्तरवड्ढिएसु जहसंखं। चारणभावण महसुविणभावणा तेअगनिसग्गा ॥५८७॥
एगूणवीसगस्स उ दिट्ठीवाओ दुवालसममंगं । संपुण्णवीसवरिसो अणुवाई सव्वसुत्तस्स ॥ ५८८ ॥

त्रिवर्षपर्यायस्यैव नारतः आचारप्रकल्पनाम–निशीथाभिधानम् अध्ययनं वाच्यत इति क्रिया योजनीया, चतुर्वर्षस्य तु सम्यग् अस्खलितस्य 'सूत्रकृतं' नाम अङ्गं द्वितीयमिति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ दशाकल्पव्यवहाराः त्रयोऽपि पञ्चसंवत्सरदीक्षितस्यैव, स्थानं समवाय इति च अङ्गे एते द्वे अप्यष्टवर्षस्येति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ दशवर्षस्य 'व्याख्ये'ति व्याख्याप्रज्ञप्तिर्भग-

मुण्डयितुमनाचरणयोग्यः—अनासेवनीयः, यस्तं मुण्डयति तस्य मुण्डयतः अमुण्डनीयदोषा अनिवारिता भवन्त्येवे-
त्यर्थः, पूर्वाः येऽप्रव्राजनीयान् प्रव्राजयतः, एवं सर्वत्र भावनीयमिति गाथार्थः ॥७५॥ मुण्डितः स्यात्—कथञ्चिदनाभोगादिना
शिक्षयितुं ग्रहणशिक्षादि 'अनाचरणयोग्यः' अनासेवनीयः, अथवेति पूर्वप्रकृतापेक्षः, शिक्षयतस्तमयोग्यं पूर्वपदसम्ब-
न्धिनः अनिवारिता दोषाः, इहाप्येवं वा पाठ इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ शिक्षितः 'स्यात्' कथञ्चिद्, ग्रहण-
शिक्षादिग्राहित इत्यर्थः, उपस्थापयितुं व्रतेष्वनाचरणयोग्यः—अनासेवनीयः, अथवोपस्थापयतः तं पूर्वपदानिवारिता दोषाः
पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ ७७ ॥ उपस्थापितः 'स्यात्' कथञ्चित् पूर्ववदेव सम्भोक्तुमुपाध्यायेनानाचरणयोग्यः यः कश्चित्,
अथवा संभोजयतस्तमिति पूर्ववत् पूर्वपदानिवारिता दोषाः एतदप्येवमेवेति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ सम्भुक्तः स्यात्—कथ-
ञ्चिदुपाध्यायादिना संवासयितुं स्वसमीपेऽनाचरणयोग्यः—अनासेवनीयः यः कश्चित्, तं संवासयतः आत्मसन्निधौ दोषा
अनिवारिता भवन्त्येवेति भावः, पूर्वाः येऽसंवास्यं संवासयत इति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

एमाई पडिसिद्धं सव्वंचिअ जिणवरेहऽजोगस्स । पच्छा विन्नायस्सवि गुणठाणं विज्जनाएणं ॥५८०॥ दारं ॥

एवमादि 'प्रतिषिद्धं' निराकृतं सर्वमेव 'जिनवरैः' भगवद्भिरयोग्यस्य विनेयस्य, पश्चाद्विज्ञातस्याप्ययोग्यतया 'गुण-
स्थानं' संवासानुयोगदानादि वैद्यज्ञातेन, स हि यदैवासाध्यं दोषं जानाति तदैव क्रियातो विरमतीति गाथार्थः ॥८०॥ द्वारम् ॥

कालक्कमेण पत्तं संवच्छरमाइणा उ जं जम्मि । तं तम्मि चेव धीरो वाएज्जा सो अ कालोऽयं ॥ ५८१ ॥

छलितेन वा कथञ्चित्प्रव्रज्याकाले गुरुणा पश्चादपि प्रव्रजितं सन्तं ज्ञात्वाऽयोग्यं संवासेन तस्याप्येवंभूतस्य न भवति देयं 'सूत्रादि'सूत्रमर्थश्च, इदं वा सूचयतीह गाथायां योग्यताग्रहणमिति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ एतदेवाह—

पव्वावियस्सऽवि तहा सुत्ते मुंडावणाइवि णिसिद्धं। जिणमयपडिकुट्ठस्सा पुव्वायरिया तहा चाहू ॥ ५७३ ॥

प्रव्राजितस्यापि तथाऽत्र व्यतिकरे मुण्डापनाद्यपि गुणस्थानं निषिद्धं पूर्वाचार्यैः 'जिनमतप्रतिकुष्टस्य' भगवद्वचननिराकृतस्य, 'पूर्वाचार्याः' भाष्यकारादयः तथा चाहुः, एतत्संवाद्येवेति गाथार्थः ॥ ७३ ॥

जिणवयणे पडिकुट्ठं जो पव्वावेइ लोभदोसेणं। चरणट्ठिओ तवस्सी लोएइ तमेव चारित्ती ॥ ५७४ ॥
पव्वाविओ सिअत्ति अ मुंडावेउं अणायरणजोगो। अहवा मुंडाविंते दोसा अणिवारिया पुरिमा ॥ ५७५ ॥
मुंडाविओ सिअत्ति अ सिक्खावेउं अणायरणजोगो। अहवा सिक्खाविंतो पुरिमपयऽनिवारिआ दोसा ५७६
सिक्खाविओ सिअत्ति अ उवठावेउं अणायरणजोगो। अहवा उवठाविंते पुरिमपयऽनिवारिया दोसा ५७७
उवठाविओ सिअत्ति अ संभुंजित्ता अणायरणजोग्गो। अहवा संभुंजंते पुरिमपयऽनिवारिआ दोसा ॥५७८॥
संभुंजिओ सिअत्ति अ संवासेउं अणायरणजोगो। अथवा संवासंते दोसा अणिवारिआ पुरिमा ॥५७९॥

जिनवचनप्रतिकुष्टं प्राणिनं यः प्रव्राजयति कारणमनादृत्य लोभदोषेण ऐहिकेन 'चरणस्थितः' तपस्वी, एतत्कुर्वन् 'लोपयति' अपनयति तदेव चारित्रमात्मीयमिति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ तथा—प्रव्राजितः'स्यात्' कथञ्चिदनाभोगादिना

मुण्डनशिक्षोपस्थापनसंभोगवासदोषाः

लघुगुरुगुरुतरे वा च अविधौ सूत्रादिविषये यथाक्रममेते ज्ञेयाः उन्मादादयो दोषाः, लघु(अ)विधेः सकाशाल्लघुर्धर्मभ्रंशो गुर्वविधेः सकाशाद् गुरुर्धर्मभ्रंशः, उत्कृष्टाविधेः सकाशात् उत्कृष्टो धर्मभ्रंश एव दोष इति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ स्वाध्याये सूत्रदानविचारमाह—

जोग्गाण कालपत्तं सुत्तं देअंति एस एत्थ विही ।
उवहाणादिविसुद्धं सम्मं गुरुणावि सुद्धेणं ॥ ५७० ॥ सूचागाहा ।

योग्येभ्यः शिष्येभ्यः कालप्राप्तं, नोत्क्रमेण, सूत्रं देयं इति, न अन्यथा, एषोऽत्र विधिः सूत्रदाने 'उपधानादिविशुद्धं' उपधानं–तपः आदिशब्दादुद्देशादयः, 'सम्यग्' आज्ञामाश्रित्य गुरुणापि 'शुद्धेन'अस्खलितशीलेनेति गाथासमासार्थः ॥ ७० ॥ व्यासार्थं त्वाह—

सुत्तस्स होंति जोग्गा जे पव्वज्जाएँ नवरमिह गहणे । पाहन्नदंसणत्थं गुणाहिगतरस्स वा देयं ॥ ५७१ ॥

सूत्रस्य भवन्ति योग्याः प्राणिनो ये प्रव्रज्यायाः त एव, नवरमिह गाथायां ग्रहणं योग्यतायाः प्राधान्यप्रदर्शनार्थम्, ओघेन गुणाधिकस्य वा प्रव्रजितस्यापि देयमिति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

छलिएण व पव्वज्जाकाले पच्छावि जाणिअमजोग्गं । तस्सवि न होइ देअं सुत्ताइ इमं च सूएइ ॥ ५७२ ॥

एत्तो तित्थयरत्तं सवन्नुत्तं च जायइ कमेणं ।
इअ परमं मोक्खंगं सज्झाओ होइ णायवो ॥ ५६६ ॥ दारं ॥

आत्मपरसमुत्तारः स्वाध्यायात् शुभयोगेन तथा आज्ञावात्सल्यं तथा आज्ञादीपना तथा आज्ञाभक्तिर्भवति, परदेशकत्वे सति, न केवलमेतद्, अव्यवच्छित्तिश्च तीर्थस्य भवतीति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ 'अतो' वात्सल्यादेर्गुणगणात् तीर्थकरत्वं उत्सर्गतः सर्वज्ञत्वं वा सामान्येन जायते 'क्रमेण' जन्मजन्माभ्यासेन, 'इय' एवं 'परमं' प्रधानं मोक्षाङ्गं स्वाध्यायो भवति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

एसो य सया विहिणा कायवो होइ अप्पमत्तेणं । इहरा उ एअकरणे भणिया उम्मायमाईआ ॥ ५६७ ॥

'एषः' स्वाध्यायः सदा विधिना नाविधिना कर्त्तव्योऽप्रमत्तेन सता, 'इतरथा तु' अविधिना पुनरेतत्करणे भणिताः प्रवचने उन्मादादयो दोषाः इति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ तानेवाह—

उम्मायं व लभिज्जा रोगायंकं व पाउणे दीहं । केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ वावि भंसिज्जा ॥ ५६८ ॥

उन्मादं वा लभेत-चित्तविभ्रमरूपं, रोगातङ्कं वा प्राप्नुयात् दीर्घ-क्षयज्वरादि, केवलिप्रज्ञप्तात् पारमार्थिकात् धर्माद्वा-चारित्रादेः भ्रश्येत् विपरीतप्रतिपत्त्येति गाथार्थः ॥ ६८ ॥

लहुगुरुगुरुतरगम्मि अ अविहिम्मि जहक्कमं इमे णेया । उक्कोसगाविहीओ उक्कोसो धम्मभंसोत्ति ॥५६९॥

ज्ञानज्ञस्या 'पुनः'विशेषणे 'दर्शनतपोनियमसंयमे' इति दर्शनप्रधानस्तपोनियमरूपो यः संयमस्तत्र स्थित्वा विहर विशुध्यमानः सन् कर्म्ममलापेक्षया यावज्जीवमपि जन्मापेक्षया 'निष्कम्पः' स्थिर इति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ द्वारं ।

बारसविहम्मिवि तवे सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
नवि अत्थि नवि अ होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥ ५६२ ॥ दारं ॥

द्वादशविधे तपसि, किम्भूत इत्याह–साभ्यन्तरबाह्ये कुशलदृष्टे नाप्यस्ति नापि भविष्यति, नाप्यासीदिति गम्यते, स्वाध्या यसमं तपःकर्मेति गाथार्थः ॥ ६२ ॥ द्वारं ॥

एत्तो च्चिअ उक्कोसा विन्नेआ निज्जरावि निअमेणं । तिगरणसुद्धिपवित्तीउ हंदि तहनाणभावाओ ॥ ५६३ ।
जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं । तं नाणी तिहिँ गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ ५६४ ।

अत एव स्वाध्यायाद् 'उत्कृष्टा' प्रधाना 'निर्ज्जरापि' कर्म्मसलविगमलक्षणा नियमेन भवति, कुत इत्याह–त्रिकरणशुद्धि· प्रवृत्तेः कारणात्, हन्दि 'तथाज्ञानभावात्' विशुद्धज्ञानभावादिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ यदज्ञानी कर्म्म क्षपयति असंवेगात बह्वीभिर्वर्षकोटीभिः तत्तु ज्ञानी तिसृभिर्गुप्तः सन् गुप्तिभिः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेणेति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ द्वारम् ॥

आयपरसमुत्तारो आणावच्छल्लदीवणाभत्ती । होइ परदेसिअत्ते अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स ॥ ५६५ ॥

सज्झायं सेवंतो पंचिंदिअसंवुडो तिगुत्तो अ। होइ अ एगग्गमणो विणएण समाहिओ साहू ॥ ५५८ ॥
नाणेण सव्वभावा नज्जंते जे जहिं जिणक्खाया। नाणी चरित्तजुत्तो भावेणं संवरो होइ ॥ ५५९ ॥ दारं ॥

'स्वाध्यायं' वाचनादि सेवमानः सन् पञ्चेन्द्रियसंवृत्तः त्रिगुप्तश्च भवति एकाग्रमना विनयेन हेतुना समाहितः सन् साधुरिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥

ज्ञानेन सर्वभावा ज्ञायन्ते हितेतररूपा ये यत्रोपयोगिनो जिनाख्याता इति, तत् सम्यग् जानानो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया भावेन संवरो भवति, स एवेति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ द्वारम् ॥

जह जह सुअमवगाहइ अइसयरसपसरसंजुअमपुव्वं। तह तह पल्हाइ मुणी नवनवसंवेगसद्धावं ॥५६०॥

यथा यथा श्रुतमवगाहते ग्रहणपरिचयेन 'अतिशयरसप्रसर(सं)युक्त'मिति अतिशयेषु सूत्रोक्तेषु यो रसः प्रीतिलक्षणः तत्प्रसरसमन्वितमपूर्वमेव प्रत्यहं तथा २ प्रल्हादति शुभभावशैल्येन 'मुनिः' साधुः'नवनवसंवेगश्रद्धावान्' प्रत्यग्र२श्रद्धायुक्त इति गाथार्थः ॥ ६० ॥ द्वारं ॥

नाणाणत्तीअ पुणो दंसणतवनियमसंजमे ठिच्चा।
विहरइ विसुज्झमाणो जावज्जीवंपि निक्कंपो ॥ ५६१ ॥ दारं ॥

क्रियाकलापस्य स्वाध्यायः यथाक्रमं पर्यायमाश्रित्य, 'तस्य' स्वाध्यायस्य गुणा वर्णिता 'एते' वक्ष्यमाणा इति गाथार्थः ॥५४॥

आयहिअपरिण्णा भावसंवरो नवनवो अ संवेगो ।
निक्कंपया तवो निज्जरा य परदेसिअत्तं च ॥ ५५५ ॥ सूचागाहा ।

आत्महितपरिज्ञा स्वाध्यायः, तथा 'भावसंवरः' परमार्थसंवरः तत एव, तथा नवनवश्च संवेगोऽपूर्वागमेन, तथा निष्कम्पता मार्गे, तथा तपः परं-प्रधानं, तथा निर्ज्जरा च कर्म्मणः, तथा परदेशिकत्वं च मार्गस्य स्वाध्यायादेवेति गाथासमुदायार्थः ॥५५॥

आयहिअमजाणंतो मुज्झइ मूढो समाययइ कम्मं । कम्मेण तेण जंतू परीति भवसागरमणंतं ॥ ५५६ ॥

आत्महितमजानानो भावतः मुह्यति कृत्येषु, मूढः सन् समादत्ते कर्म्म-ज्ञानावरणीयादि, कर्म्मणा तेन हेतुभूतेन 'जन्तुः' प्राणी 'परीति' पर्यटति 'भवसागरं' संसारसमुद्रम् 'अनन्त'मिति महाप्रमाणमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

एवं व्यतिरेकमभिधायेहैवान्वयमाह—

आयहिअं जाणंतो अहिअनिअत्तीअ हिअपवत्तीए ।
हवइ जओ सो तम्हा आयहिअं आगमेअव्वं ॥ ५५७ ॥ दारं ॥

आत्महितं जानानः परमार्थतः 'अहितनिवृत्तौ च' प्राणातिपाताद्यकरणरूपायां 'हितप्रवृत्तौ च' परार्थपरमार्थकरणरूपायां भवति यतोऽसौ-आत्महितज्ञः, यस्मादेवं तस्मादात्महितमागन्तव्यं-सूत्रतो ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ द्वारं ॥

कीर्त्तितमेतत्, तथा आराधितं नाम प्रकारैः सम्यगेभिः अनन्तरोदितैः 'निष्ठापितं' समाप्तिं नीतमिति गाथार्थः ॥ ५० ॥

एअं पच्चक्खाणं विसुद्धभावस्स होइ जीवस्स । चरणाराहणजोगा निव्वाणफलं जिणा विंति ॥ ५५१ ॥

एतत् प्रत्याख्यानम्—अनन्तरोदितं विशुद्धभावस्य सतो भवति जीवस्यावश्यं, तथा चरणाराधनयोगात् कारणात् 'निर्वाणफलं' मोक्षफलं जिना ब्रुवते एवमिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ एवं प्रस्तुतोपयोगि प्रासङ्गिकमभिधाय प्रस्तुतशेषमाह—

थुइदाणं जह पुव्विं वंदंति तओ अ चेइए सम्मं । वहुवेलं च करेंती पच्छा पेहंति पुञ्छणगं ॥ ५५२ ॥

स्तुतिदानं प्रतिक्रमणपर्यन्ते 'यथा पूर्व'मिति यथा प्रादोषिक उक्तं तथैवावसेयं, वन्दन्ते 'ततश्च' तदनन्तरं च चैत्यानि 'सम्यग्'अस्खलितादिप्रकारेण, वहुवेलां च कुर्वन्ति, तदनन्तरं च पश्चात् प्रेक्षन्ते सूत्रविधिना 'पुञ्छनं' रजोहरणमिति गाथार्थः ॥ ५२॥ किमर्थं वहुवेलां कुर्वन्तीत्यत्राह—

गुरुणाऽणुण्णायाणं सव्वं चिअ कप्पई उ समणाणं । किच्चंति(पि)जओ काउं वहुवेलं ते करिंति तओ ॥५५३॥

आचार्येणानुज्ञातानां सतां सर्वमेव कल्पते कर्त्तुं श्रमणानां, 'कृत्यमपि' स्वाध्यायादि यतः कर्त्तुं, नान्यथा, वहुवेलां ततः कुर्वन्ति युगपदेव कृत्यसूक्ष्मयोगानुज्ञापनायेति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

उवहिं च संदिसाविअ पेहिंति जहेव वण्णिअं पुव्विं । विच्चंमि अ सज्झाओ तस्स गुणा वण्णिआ एए ॥५५४॥

'उपधिं च' पूर्वोक्तं 'सन्देश्य' अनुज्ञाप्य गुरुं प्रेक्षन्ते यथैव वर्णितं पूर्वमत्रैव तथैवेति, 'विच्चंमि' अपान्तराले च उक्त-

वहुवेल-
हेतुः

वाच्च 'तथा' तेन प्रकारेण धर्म्मकायोपष्टम्भलक्षणेन, 'एवं चे' त्येवमेवोचितपरप्रतिपत्त्या 'इदं' प्रत्याख्यानं भवति शुद्धं, नान्यथा, अथवा 'एवं च' वक्ष्यमाणेन विधिनेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ तथा चाह—

फासिअं पालिअं चेव, सोहिअं तीरिअं तहा ।
किट्टिअमाराहिअं चेव, जएज्ज एआरिसम्मि अ ॥ ५४७ ॥ दारगाहा

उचिए काले विहिणा पत्तं जं फासिअं तयं भणिअं।तह पालिअं तु असइं सम्मं उवओगपडिअरियं॥५४८॥
गुरुदाणसेसभोअणसेवणयाए उ सोहिअं जाण । पुण्णेऽवि थेवकालावत्थाणा तीरिअं होइ ॥ ५४९ ॥
भोअणकाले अमुगं पच्चक्खायंति भुंजि किट्टिअयं । आराहिअं पगारेहिं सम्ममेएहिं निट्ठविअं॥ ५५० ॥

स्पृष्टं पालितं चैव शोभितं तीरितं तथा कीर्त्तितमाराधितं चैव, शुद्धं नान्यद्, यत एवमतो यतेतैतादृशि प्रत्याख्यान इति श्लोकसमुदायार्थः ॥ ४७ ॥ अवयवार्थं त्वाह—'उचिते काले' पूर्वाह्णादौ 'विधिना' उच्चारणादिना प्राप्तं यत्प्रत्याख्यानं स्पृष्टं तद्भणितं परमगुरुभिः, तथा पालितं तु तद् भण्यते गृहीतं सदसकृत्सम्यगुपयोगप्रतिजागरितमविस्मृत्येति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

गुरुदत्ताद् अशनादेः शेषभोजनसेवनयैव हेतुभूतया शोभितं जानीहि, तथा पूर्णेऽप्यवधौ स्तोककालावस्थानाद् आत्तकल्याणाधानेन तीरितं भवतीति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ भोजनकाले प्राप्ते सत्यमुकं—नमस्कारादि प्रत्याख्यातमिति भोक्ष्ये,

पासंगिअभोगेणं वेआवच्चमिअ मोक्खफलमेव । आणाआराहणओ अणुकंपादिव्व विसयंमि ॥ ५२३ ॥

प्रासङ्गिकभोगेन हेतुभूतेन वैयावृत्त्यम्‘इय’ एवं मोक्षफलमेव पारम्पर्येण, अत्रोपपत्तिः-‘आज्ञाआराधनात्’ तीर्थकरवचनाराधनाद् अनुकम्पादय इव विषये, आदिशब्दाद् अकामनिर्जरादिपरिग्रहः, निदर्शनमेतदिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

इहैव भावार्थमाह—

सुहतरुछायाइजुओ अह मग्गो होइ कस्सय पुरस्स । एक्को अण्णो णेवं सिवपुरमग्गोऽवि इअ णेओ ॥५२४॥

शुभतरुच्छायादियुक्तः, आदिशब्दात्पुष्पफलपरिग्रहः, यथा ‘मार्गः’ पन्था भवति कस्यचित्पुरस्य वसन्तपुरादेः, एक एवम्भूतः, अन्यो नैवम्भूतः, अपितु विपर्ययवान्, शिवपुरमार्गोऽप्येवं—द्विविध एव ज्ञेय इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

विशेषतो द्वैविध्यमाह—

अणुकंपात्तिओ पढमो सुहपरगामीण सो जिणाईणं । तयजत्तओ उ इअरो सदेव सामण्णसाहूणं ॥ ५२५ ॥

अनुकम्पावैयावृत्त्यप्राप्तो मार्गः शिवपुरस्य प्रथमः, स च जिनादीनां ज्ञेयः सुखपरगामिनां, ‘तदयत्नतस्तु’ अनुकम्पाद्ययत्नेन इतरो मार्गो—द्वितीयः स च सदैव सामान्यसाधूनां ज्ञेयः, आत्मार्थपरागामिति गाथार्थः ॥४५॥ उपसंहरन्नाह—

ता नत्थि एत्थ दोसो पच्चक्खाएवि निरहिगरणम्मि । गुणभावाओ अ तहा एवं च इमं हवइ सुद्धं ॥५२६॥

यस्मादेवं तस्मान्नास्त्यत्र दोषः अन्नदानादौ प्रत्याख्यातेऽपि सति, स्वयं ‘निरधिकरण’ इत्यधिकरणाभावे सति गुणभा-

भावितजिनवचनानां प्राणिनां 'ममत्वरहितानां' सामायिकवतां नास्त्येव 'विशेषः' भेदः, आत्मनि परे च तुल्यशीले, ततः वर्जयेत् पीडामुभयोरपि—स्वपरयोरपीति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ इहैव प्रक्रमे वैयावृत्त्यविधिमाह—

पुरिसं तस्सुवयारं अवयारं चऽप्पणो अ नाऊणं । कुज्जा वेआवडिअं आणं काउं निरासंसो ॥ ५४० ॥

'पुरुषम्' आचार्यादिं तस्योपकारं—स्वाध्यायवृद्धिसच्चोपदेशादिं 'अपकारं च' वीर्यह्रासश्लेष्मचर्यादिं आत्मनश्चोपकारमपकारं च ज्ञात्वा, उपकारो ज्ञानादेरुपष्टम्भः गुरुजननियोगात् निर्जराव्यत्ययादपकारः, अथवा ग्लानाद्यपेक्षयोपकारापकारौ वाच्यौ, एवं कुर्याद्वैयावृत्त्यम्—अशनदानादि 'आज्ञां कृत्वा' आगमप्रामाण्यात् 'निराशंसो' विहितानुष्ठानवश्चेति गाथार्थः ॥ ४० ॥ अस्यैव गुणमाह—

भरहेणवि पुव्वभवे वेआवच्चं कयं सुविहिआणं । सो तस्स फलविवागेण आसि भरहाहिवो राया ॥ ५४१ ॥

भरतेनापि च चक्रवर्त्तिना 'पूर्वभवे' अन्यजन्मनि वैयावृत्त्यं कृतं 'सुविहितानां' साधूनां स 'तस्य' वैयावृत्त्यस्य 'फलविपाकेन' सातावेदनीयोदयेन आसीद् भरताधिपो राजा चक्रवर्तीति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

भुंजित्तु भरहवासं सामन्नमणुत्तरं अणुचरित्ता । अट्ठविहकम्ममुक्को भरहनरिंदो गओ सिद्धिं ॥ ५४२ ॥

स च भरतः भुक्त्वा भरतवर्षं षट्खण्डं तदनु श्रामण्यमनुत्तरं—प्रधानमनुचरित्वा केवलिविहारेणाष्टविधकर्ममुक्तः सन् चरमकाले भरतनरेन्द्रो महात्मा गतः सिद्धिं सर्वोत्तमामिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

'कृतप्रत्याख्यानोऽपि च' गृहीतप्रत्याख्यानोऽपि चेत्यर्थः, आचार्यग्लानबालवृद्धेभ्यो दद्यादशनादि सति लाभे कृतवीर्याचार इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

संविग्गअण्णसंभोइआण दंसिज्ज सड्ढगकुलाणि । अतरंतो वा संभोइआण जह वा समाहीए ॥ ५३८ ॥

संविग्नान्यसम्भोगिकानां तु दर्शयेत् श्रावककुलानि, 'अतरन् वा' अशक्नुवन् सम्भोगिकानामपि दर्शयेत् यथासामर्थ्यमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ एत्थ पुण सामायारी–सयं अभुंजंतो साहूणमाणित्ता भत्तपाणं देज्जा, संतं वीरियं न विगूहियव्वं, अप्पणो संते वीरिए अण्णो नाणावेयव्वो जहा–अज्जो ! अमुकगस्स आणेउं देहि, तम्हा अप्पणो संते वीरिए आयरियगिलाणबालवुड्ढपाहुणगादीण गच्छस्स वा सन्नायकुलेहिंतो वा असण्णाएहिं वा लद्धिसंपण्णो आणित्ता दिज्जा वा दवाविज्जा वा परिचिएसु वा संवुड्ढीएव(खडीए)वा दवाविज्जा, उवदिसिज्ज वावि संविग्गअण्णसंभोइयाणं जहा एयाणि दाणकुलाणि सड्ढगकुलाणि वा, अतरंतो संभोइयाणवि देसिज्ज, न दोसो, अह पाणगस्स सण्णाभूमिं वा गएणं संखडी सुया दिट्ठा वा होज्जा ताहे साहूणममुगत्थ संखडित्ति एवमुवइसिज्जा, जहा समाही णाम दाणे उवएसे वा जहा सामत्थं, जइ तरति आणेउं तो देइ अह ण तरइ तो दवावेज्ज वा उवदिसिज्ज वा, जहा जहा साहूणं अप्पणो वा समाही तहा तहा पयत्तियव्वं"ति, कृतं विस्तरेण ॥ किमिति यथासमाधिनेत्याह—

भाविअजिणवयणाणं ममत्तरहिआण नत्थि उ विसेसो । अप्पाणंमि परम्मि अ तो वज्जे पीडमुभओऽवि ५३९

यतश्चैवमतो न कृतप्रत्याख्यानः पुमानाचार्यादिभ्यः, आदिशब्दादुपाध्यायतपस्विशिक्षकग्लानवृद्धादिपरिग्रहः, दद्यात् किम्?, अशनादि, स्यादेतत्—ददतो वैयावृत्त्यलाभ इत्यत आह—न च विरतिपालनाद्वैयावृत्त्यं प्रधानतरम्, अतोऽसत्यपि तल्लाभे किं तेनेति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ एवं विनेयजनहिताय पराभिप्रायमाशङ्क्य गुरुराह—

नो तिविहं तिविहेणं पच्चक्खइ अण्णदाणकारवणं। सुद्धस्स तओ मुणिणो ण होइ तब्भंगहेउत्ति ॥५३५॥

न 'त्रिविधं' करणकारणानुमतिभेदभिन्नं 'त्रिविधेन' मनोवाक्काययोगत्रयेण प्रत्याख्याता प्रत्याचष्टे, प्रक्रान्तमशनादि, अतोऽनभ्युपगतोपालम्भश्चोदकमतं, यतश्चैवमन्यस्मै दानमशनादेरिति गम्यते तेन हेतुभूतेन कारणं—भुजिक्रियागोचरमन्यदानकारणं तत् 'शुद्धस्य' आशंसादिदोषरहितस्य 'ततः' तस्मात् 'मुनेः' साधोर्न भवति 'तद्भङ्गहेतुः' प्रक्रान्तप्रत्याख्यानभङ्गहेतुः, तथा अनभ्युपगमादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ किञ्च—

सयमेवऽणुपालणिअं दाणुवएसा य नेह पडिसिद्धा। तो दिज्ज उवइसिज्ज व जहा समाहीअ अन्नेसिं॥५३६॥

'स्वयमेव' आत्मनैवानुपालनीयं प्रत्याख्यानमित्युक्तं निर्युक्तिकारेण, दानोपदेशौ च नेह प्रतिषिद्धौ, तत्रात्मनाऽऽनीय दानं दानं दानश्राद्धकादिकुलाख्यानं तूपदेश इति, यस्मादेवं तस्मात् दद्यादुपदिशेद्वा, 'यथासमाधिना' यथासमाधानेन 'अन्येभ्यो' बालादिभ्य इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

कयपच्चक्खाणोऽविअ आयरिअगिलाणबालवुड्ढाणं। दिज्जाऽसणाइ संते लाभे कयवीरिआयारो ॥५३७॥

उपयोगः एतत् खलु नमस्कारसहितादि, एता विकृतयो भोग्या न वेति यो 'योगो' व्यापारः, 'उच्चारणादिविधिः' व्यक्तोच्चारणनमस्कारपाठगुर्वनुज्ञापनादि, 'ऊर्ध्वमपि च' भोगकाले 'कार्यभोगगत'इति वेदनोपशमादिकार्याय भोगप्राप्त इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ 'जिनदृष्ट'मिति व्याचष्टे—

जिणदिट्ठमेवमेअं निरभिस्संगं विवेगजुत्तस्स । भावप्पहाणमणहं जायइ केवल्लहेउत्ति ॥ ५३२ ॥

जिनदृष्टमेवमेतद्—उक्तेन प्रकारेण निरभिष्वङ्गं सत् विवेकयुक्तस्य सतः 'भावप्रधानं' भावगर्भं 'अनघम्'अपापं जायते कैवल्यहेतुः, शुद्धसंवरत्वादिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ ॥ 'स्वयमेवानुपालनीय'मित्येतदधिकृत्याह—

आह जह जीवघाए पच्चक्खाए न कारए अन्नं । भंगभयाऽसणदाणे धुवकारवणत्ति नणु दोसो ॥ ५३३ ॥

प्रत्याख्यानाधिकार एवाह परः, किमाह?, यथा 'जीवघाते' प्राणातिपाते प्रत्याख्याते सत्यसौ प्रत्याख्याता न कारयत्यन्यमिति—न कारयति जीवघातमन्यं प्राणिनमिति, कुतः?, 'व्रतभङ्गभयात्' प्रत्याख्यानभङ्गभयादित्यर्थः, अश्यत इत्यशनम्—ओदनादि तस्य दानमशनदानं तस्मिन्नशनदाने, अशनशब्दः पानाद्युपलक्षणार्थः, ततश्चैतदुक्तं भवति—कृतप्रत्याख्यानस्य सतः अन्यस्मै अशनादिदाने ध्रुवं 'कारावण'मिति अवश्यं भुजिक्रियाकारणम्, अशनादिलाभे सति भोक्तुर्भुजिक्रियासद्भावात्, ततः किमिति चेत् ननु 'दोषः' प्रत्याख्यानभङ्गो दोष इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ अतः—

नो कयपच्चक्खाणो आयरियाईण दिज्ज असणाई । ण य विरइपालणाओ वेआवच्चं पहाणयरं ॥ ५३४ ॥

अण्णे भणंति जइणो तिविहाहारस्स तं खलु न जुत्तं। सव्वविरईउ एवं भेअग्गहणे कहं सा उ ?॥५२८॥

अन्ये भणन्ति–दिगम्बरादयः 'यतेः' प्रव्रजितस्य 'त्रिविधाहारस्य'अशनादेः'तद्'इत्वरप्रत्याख्यानं खलु 'न युक्तं' न साधु, कुत इत्याह–सर्वविरतेः कारणाद्,अस्या एवं भेदग्रहणेऽन्यतरत्यागेन कथं सा सर्वविरतिरिति गाथार्थः ॥ २८ ॥

अत्र परिहारमाह—

णणु अप्पमायसेवणफलमेअं दंसिअं इहं पुव्विं। तब्भोगमित्तकरणे सेसच्चाया तओ अहिओ ॥ ५२९ ॥

नन्वप्रमादसेवनाफलमेतत्–इत्वरप्रत्याख्यानं दर्शितमिह पूर्वं, 'तन्मात्रभोगकरणे' पानमात्रासेवने इत्यर्थः 'शेपत्यागाद्' अशनादित्यागाद् 'असौ' अप्रमादोऽधिकः, अतो नायुक्तमिति गाथार्थः ॥ २९ ॥

एवं कहंचि कज्जे दुविहस्सवि तं न होइ चिन्तमिअं। सच्चं जइणो नवरं पाएण न अन्नपरिभोगो॥५३०॥

एवं सूक्ष्मेक्षिकायां कथञ्चित् 'कार्ये' ग्लानादौ द्विविधस्याप्याहारस्य 'तद्' इत्वरप्रत्याख्यानं न भवति?, चिन्त्यमिदम्, एतदपि प्राप्नोतीत्यर्थः, एतदाशङ्क्याह–सत्यमिष्यत एतत्, 'यतेः' प्रव्रजितस्य नवरं 'प्रायशो' बाहुल्येन 'नान्यपरिभोगो' न स्वाद्यादिसेवनमतोऽनाचरणेति गाथार्थः ॥ ३० ॥ ॥ 'आकारैर्विशुद्ध'मिति व्याख्यातम्, अधुना'उपयुक्ता' इत्यादि व्याचिख्यासुराह—

उवओगो एवं (अं)खलु एआ विगई नवित्ति जो जोगो। उच्चरणाई उ विही उड्ढंपि अ कज्जभोगगओ॥५३१॥

न य सामाइअमेअं वाहइ भेअगहणेऽवि सव्वत्थ। समभावपवित्तिनिवित्तिभावओ ठाणगमणं व ॥५२६॥

न च सामायिकमेतत् नमस्कारसहितादि बाधते अशनादिभेदग्रहणेऽपि सति, कुतः?, सर्वत्राशनादौ समभावेनैव प्रवृत्तिनिवृत्तिभावात् स्थानगमनवत्, तथाहि–स्थाननिवृत्त्या भिक्षाटनादौ गच्छतोऽपि मध्यस्थस्य न सामायिकबाधा, अन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, सर्वत्र युगपत्प्रवृत्त्यसम्भवादिति गाथार्थः ॥ २६ ॥

उभयाभावेऽवि कुओऽवि अग्गओ हंदि एरिसो चेव। तक्काले तब्भावो चित्तखओवसमओ णेओ ॥५२७॥

॥ न व्याख्या ॥

---

१ पञ्चमपञ्चाशकगतैपाऽपि तद्व्याख्या चैवं तत्र–ननु यद्यपि सामायिकं सुभटाध्यवसायतुल्यं तथापि कस्यापि प्राणिनः कालान्तरे तस्य प्रतिपातः सम्भवति इत्यतः तदपि सापवादमेव कर्त्तुं युक्तमत्रोत्तरमाह–'उभये'त्यादि, 'उभयस्य' सुभटदृष्टान्तापेक्षया तु मरणरिपुविजयलक्षणस्य द्वयस्याभावः–असत्ता उभयाभावस्तत्रापि, आस्तां तद्भ्रंसे, 'कुतोऽपि' कस्मादपि परिग्रहानीकभयादेः 'अग्रतः' पुरतः सामायिकप्रतिपत्तेरनन्तरं तत्पालनावसरे सुभटपक्षे तु संग्रामकाल इत्यर्थः, 'हन्दी'त्युपप्रदर्शने, 'ईदृश एव' मर्त्तव्यं भावयैरिविजयो वा विधेय इत्येवंविध एव, न पुनरपवादाभिमुखस्तद्भाव इति योगः, कदेत्याह–'तत्काले' सामायिकप्रतिपत्तिकाले सुभटपक्षे तु संग्रामाभ्युपगमकाले, कोऽसावित्याह–'तद्भावः' सामायिकप्रतिपत्तिपरिणामोऽन्यत्र तु सुभटाध्यवसायः, कथमेतदेवमित्याह–'चित्रक्षयोपशमतः' कर्मक्षयोपशमवैचित्र्यात् 'ज्ञेयो' ज्ञातव्यः, एवंविधो हि तस्य क्षयोपशमो भवति यतोऽवश्यप्रातव्यमनोभङ्गत्वेऽपि साधुसुभटस्यादाकुक एव भावो भवतीति गाथार्थः ॥ २६ ॥ २७ ॥

व्यापाराः प्रवेशनिर्गमवारणयोगाः अतस्तेषु वैरिनिराकरणोपायभूतेषु सामायिकसिद्ध्युपायभूतनमस्कारसहितादिकल्पेषु यथैवापवादाः— आकारास्तत्कारणभजनालक्षणा महत्तराकारादिकल्पा भवन्ति, कथमित्याह—'मूलाबाधया' मूलभूतस्य मरणं जयो वाऽवश्यम् इत्येवंलक्षणस्याध्यवसायस्याविचलितत्तया 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'नमस्कारादौ' नमस्कारसहितादौ प्रत्याख्याने 'आकाराः' अपवादा महत्तरादि-लक्षणा मूलाबाधया सुभटभावकल्पसामायिकाबाधया भवन्तीति गाथार्थः ॥२३॥ मूलाबाधामेव स्पष्टयन्नाह—'न च' नैव 'तस्य' सामायि-कवतः सुभटस्य च 'तेष्वपि' अपवादेष्वपि सत्सु, आस्तामन्यत्र, 'तथा' तत्प्रकार इष्टानिष्टार्थतुल्यतारूपो जीवितानपेक्षी च 'निरभिष्वङ्गस्तु' निराशंस एव सन् 'भवति' जायते 'परिणामः' अध्यवसायोऽन्यथारूपः प्रतिकारः—प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरूपः सुभटपक्षे तु शरणादिरूपः स एव लिंगं—चिह्नं तेन सिद्धो यः स तथा, तुशब्दः पूरणार्थो, 'नियमाद्' अवश्यंभावेन अन्यथारूपः, साभिष्वङ्ग इत्यर्थः, इदमुक्तं भवति— यदा सामायिकवतो महत्तराद्याकारेषु सत्सु साभिष्वङ्गः परिणामोऽभविष्यत्तदा तच्छुद्ध्यै प्रायश्चित्तमकरिष्यत्, न च एवं, ततस्तस्याकारेष्वपि सत्सु निरभिष्वङ्ग एव परिणामः, अतः साधूक्तं मूलाबाधयेति गाथार्थः ॥२४॥ अपवादाश्रयणेऽपि न मूलभावबाधा भवतीत्येतदेव सविशेषं दर्शय-न्नाह—न च 'प्रथमभावव्याघातः' आद्याध्यवसायबाधा, प्रत्याख्यानपक्षे सामायिकबाधा सुभटपक्षे जयाध्यवसायबाधा, मो इति निपातः पादपूरणे, तुशब्दः पुनरर्थः, तत्सम्बन्धश्च दर्शयिष्यते, 'एवमपि' अनन्तरोक्तापवादाश्रयणेऽपि, 'अपिः' त्वभ्युच्चये, 'तत्सिद्धिः' प्रथमभावस्य विशेषतो निष्पत्तिः 'एवमेव' अपवादाश्रयण एव 'भवति' जायते 'दृढम्' अत्यर्थं, आकारवत्प्रत्याख्यानाश्रयणस्य तदुपायत्वात्, रिपुविजये प्रवेशादि-भजनाया इवेति, 'इतरथा' पुनरपवादवत्प्रत्याख्यानानाश्रयणे पुनः 'व्याभोगप्रायं तु' मूढलक्ष्यमेव सामायिकं सुभटस्य विजयाध्यवसानं वा भवेद्, उपायत एव तत्सिद्धेरिति गाथार्थः ॥ २५ ॥

संतेऽवि अ एअम्मी ओहेण विसिट्ठयत्थमेअस्स। आगमभणिईअ तहा कहं न एएण कज्जंति ? ॥ ५२२ ॥

सत्यपि चैतस्मिन् सामायिके 'ओघेन' सामान्येन 'विशिष्टतार्थं' वैशिष्ट्यनिमित्तम् 'एतस्ये'ति सामायिकस्यैव, 'आगमभणितेः' आगमोक्तत्वात् कारणात्, 'तथा' तेन प्रकारेणानुभवसिद्धेन विशिष्टतार्थं कथं नैतेन—इत्वरेण नमस्कारसहितादिना कार्यं ?, कार्यमेवेति गाथार्थः ॥ २२ ॥ सामायिकवधकमेतदिति केचित्, तदपोहायाह—

तस्स उ पवेसनिग्गमवारणजोगेसु जह उ अववाया। मूलावाहाइ तहा नवकाराइंमि आगारा ॥ ५२३ ॥
ण य तस्स तेसुवि तहा णिरभिस्संगो न होइ परिणामो। पडिआरलिंगसिद्धी उ निअमओ अन्नहारूवो ५२४
ण य पढसभाववाघायमो उ एवंपि अविअ तस्सिद्धी। एवं चिअ होइ दढं इहरा वामोहपायं तु ॥५२५॥

व्याख्या पूर्ववत् ॥

---

१ इहैतासां व्याख्यानं पूर्वं क्वचिदनुपलभ्यमानमपि पञ्चाशके पञ्चमे गाथात्रयमेतत् तद्व्याख्या च तत्रैवं—ननु यदि सुभटभावतुल्यत्वात् सामायिके नाकारा भवन्ति तदा सामायिकवतो नमस्कारसहितादावपि ते न युक्ताः, सुभटभावतुल्यभाववाधकत्वात् तेषामित्याशङ्क्याह—'तस्स तु' तस्यैव सुभटस्य प्रवेशश्च—सङ्ग्रामे जयार्थिनः प्रवेशनं निर्गमश्च—तत एव जयार्थिन एव निर्गमनं वारणं च—विशिष्टफलप्राप्तये प्रहरतः स्वबलस्य शत्रोर्वा निवारणं योगश्च—तस्यैव प्रयोगो व्यापारणं प्रवेशनिर्गमवारणयोगाः प्रवेशनिर्गमवारणान्येव वा योगाः—

'तत्' सामायिकं'निरभिष्वङ्गं' निराशंसमेव, समतया हेतुभूतया, 'सर्वभावविषयं तु' सर्वपदार्थविषयमेव निरभिष्वङ्गं, 'कालाद्यधावपि' यावज्जीवनमित्येवंभूते परं जीवनाद् भङ्गभयात्, नावधित्वेन वर्त्तते, अतस्तत्रापि निरभिष्वङ्गमेवेति गाथार्थः ॥ १९ ॥ निदर्शनमाह—

मरणजयज्झवसिअसुहडभावतुल्लमिह हीणनाएणं। अववायाण न विसओ भावेअव्वं पयत्तेणं ॥ २० ॥

'मरणजयाध्यवसितसुभटभावतुल्यं' मर्त्तव्यं वा जयो वा प्राप्तव्य इति प्रवृत्तसुभटाध्यवसायसदृशं 'इह' लोके 'हीनज्ञातेन' तुच्छोदाहरणेन, एकाग्रतामात्रमाश्रित्य, यतश्चैवमतः 'अपवादानाम्' आकारसंज्ञितानां न विषयः, तथाविधैकरूपत्वाद्, 'भावयितव्यम्' भावनीयमेतत्प्रयत्नेन, न ह्युपेयविशेषे उपायविशेषतः प्रवर्त्तमान आशङ्कावान् भवतीति गाथार्थः ॥२०॥

यत एवेदमित्थं महदत एवाह—

एत्तोच्चिअ पडिसेहो दढं अजोगाण वन्निओ समए। एअस्स पाइणोऽविअ बीअंति विही एसऽइसइणा ॥२१॥

'अत एव' महत्त्वात् कारणात् प्रतिषेधो–निषेधो दानं प्रति 'दृढम्' अत्यर्थम् 'अयोग्यानां' क्षुद्रसत्त्वानां वर्णितः 'समये' सिद्धान्ते 'एतस्य' सामायिकस्य, तथा'पातिनोऽपि च' प्रतिपातवतोऽपि चावश्यन्तया 'बीज'मित्यवन्ध्यं मुक्तिबीजमितिकृत्वा विधिश्च दानं प्रति'अतिशायिना' केवलिनाऽस्य वर्णितः, सिंहजीवाभीरादौ न भङ्गदोषा अत्र, विशेषतः प्रकृत्यैव तच्छ्लाघाद्, गुणांशस्याधिकत्वात् मारणात्मकसन्निपाते स्मृतिकार्यौषधदानवदिति गाथार्थः ॥ २१ ॥ अतः—

एवं प्रमादिनो– नमस्कारसहिताद्यपरिपालनायुक्तस्य कथं प्रव्रज्या भवति ?, ननु तस्य गुर्वप्रमादपरिपालनीया प्रव्रज्ये-वायुक्तेति पराभिप्रायमाशङ्क्याह– चरणपरिणामात् प्रव्रज्या भवति, न च 'तत्सत्तानन्तरमेव' चरणपरिणामसत्तानन्त-रमेव प्रमादः क्षयं याति–निर्मूलतो न भवत्येवेति गाथार्थः ॥ १५ ॥ किमित्यत आह—

जमणाइभवब्भत्थो तस्सेव खयत्थमुज्जएणेह । जहगहिअपालणेणं अपमाओ सेविअव्वोत्ति ॥ १६ ॥

यदनादिभवाभ्यस्तोऽसौ अतस्तस्यैव–प्रमादस्य क्षयार्थमुद्यतेनेह यथागृहीतपालनेन हेतुभूतेनाप्रमादो नियमभावी 'सेवितव्यः' पालनीय इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ पराभिप्रायमाह—

एवं सामइअंपिहु सागारं निअमओ गहेयव्वं । सइ तम्मि निरागारे किंवा एएण कज्जंति ? ॥ १७ ॥

नन्वेवं सामायिकमपि साकारं नियमतो ग्रहीतव्यं, तस्यापि प्रत्याख्यानत्वादेव, तस्मिन् महत्तरेऽनाकारे किंवा अनेने-त्वरेण नमस्कारसहितादिना साकारेण ?, न मूलत एव वा कार्यमिति गाथार्थः ॥ १७ ॥ अथोत्तरमाह—

समभावेच्चिअ जं तं जायइ सव्वत्थ आवकहिअं च । तो तत्थ न आगारा पन्नत्ता वीअरागेहिं ॥ १८ ॥

समभाव एव 'तत्'सामायिकं यस्माद् जायते, 'सर्वत्र' सर्वेषु पदार्थेषु समभावे, तथा यावत्कथिकं च तत्, ततः तत्र-सामायिके नाकाराः प्रज्ञप्ता वीतरागैः, तथाविवेकरूपत्वादिति गाथार्थः ॥ १८ ॥ एतदेव प्रकटयन्नाह—

तं खलु निरभिस्संगं समयाए सव्वभावविसयं तु । कालावहिम्मिवि परं भंगभया णावहित्तेण ॥ १९ ॥

यस्स कप्पइ, अह धाराए छुभइ मणागंपि न कप्पइ, पारिट्ठावणियागारो उ लेसओ भणिओ एव इति वृद्धसम्प्रदा
कृतं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः—आह— इह आकारा एव किमर्थमित्याह—

वयभंगे गुरुदोसो थेवस्सवि पालणा गुणकरी अ। गुरुलाघवं च नेअं धम्मम्मि अओ उ आगारा ॥ १२

व्रतभङ्गो गुरुदोषः भगवदाज्ञाविराधनात्, स्तोकस्यापि पालना व्रतस्य गुणकारिणी च, विशुद्धकुशलपरिणामस
त्वाद्, गुरु लाघवं च विज्ञेयं धर्मे, एकान्तग्रहस्य प्रभूतापकारित्वेनाशोभनत्वात्, यत एतदेवमतः—अस्मात् कारणा
कारा इति गाथार्थः ॥ १२ ॥ एतदेव समर्थयति—

जहगहिअपालणंमी अपमाओ सेविओ धुवं होइ। सो तह सेविज्जंतो वड्ढइ इअरं विणासेइ ॥ १३

यथागृहीतपालने विशुद्धभावतया अप्रमादः सेवितो ध्रुवं भवति कियानपि, स 'तथा' यथागृहीतपालनेन सेव्यमा
सन् वर्द्धते, 'इतरं' प्रमादं विनाशयतीति गाथार्थः ॥ १३॥

अब्भत्थो अ पमाओ तत्तो मा होज्ज कहवि भंगोत्ति। भंगे आणाईआ तओ अ सव्वे अणत्थत्ति ॥ १४

अभ्यस्तश्च प्रमादः संसारे पर्यटता, 'ततः' प्रमादात् मा भूत् कथमपि भङ्ग इति, अभ्यासातिशयादित्यर्थः, भङ्गे अ
ज्ञादयो भवन्ति, 'ततश्च'आज्ञादेः सर्वेऽनर्थाः जन्मादय इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

गा. १५ **एवं पमाइणो कह पव्वज्जा होइ ? चरणपरिणामा। नय तस्सत्ताणंतरमेव पमाओ खयं जाइ ॥ १५**

पञ्च चत्वारश्चाभिग्रहे निर्विकृतौ अष्टौ नव वाऽऽकाराः 'अप्रावरण' इत्यप्रावरणाभिग्रहे पञ्चयाकारा भवन्ति, शेषेष्व- भिग्रहेषु–दण्डकप्रमार्जनादिषु चत्वार इति गाथार्थः ॥ १० ॥ भावार्थस्तु–अभिग्गहेसु अवाउडत्तणं कोइ पञ्चक्खाइ तस्स पंच अणाभोगा सहस्सा चोलपट्टगागारा मयहर समाहि, सेसेसु चोलपट्टगागारो णत्थि, निव्विगईए अट्ठ नव य आगारा' इत्युक्तं, अत्र विकृतयः पूर्वोक्ताः, अधुना प्रकृतमुच्यते–क्वाष्टौ क्व वा नवाकारा? इति, तत्र—नवनीते उद्ग्राहिमके अद्रवदध्नि, गालित इत्यर्थः, 'पिशिते' मांसे घृते गुडे चैव, अद्रवग्रहणं सर्वत्राभिसम्बन्धनीयं, नवाकारा अमीषां विकृतिविशेषाणां भवन्ति, शेषाणां द्रवाणां–विकृतिविशेषाणामष्टावेवाकारा भवन्ति, उत्क्षिप्तविवेको न भवतीति गाथार्थः ॥ ११ ॥ इह चेदं सूत्रम्–'निव्विगतीयं पच्चक्खाइ' इत्यादि, अण्णत्थ १ सहसा २ लेवालेव ३ गिहत्थसंसट्ठ ४ उक्खित्तविवेग ५ पडुच्चमक्खिएणं ६ पारिट्ठावणिया ७ मयहर ८ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं ९ वोसिरइ, तत्थ अणाभोगसहसाकारा लेवालेवा तहेव दट्ठव्वा, गिहत्थसंसट्ठस्स उ इमो विही–खीरेण जइ कुसणिओ कूरो लब्भइ, तस्स जइ कुंडगस्स ओदणाउ चत्तारि अंगुलाणि दुद्धं ताहे निव्विगइयस्स कप्पइ, पंचमं त्वारद्धं विगतीयं, एवं दहिस्सवि वियडस्स- वि, केसुवि विसएसु वियडेण मीसिज्जइ ओदणो ओगाहिमगो वा, फाणियगुलस्स तिल्लघयाण य एएहिं कुसिणिए जइ अंगुलं उवरिं अच्छइ तो वट्टइ, परेण न वट्टइ, महुस्स पोग्गलरसगस्स य अद्धअंगुलेण संसट्ठं होइ, पिंडगुलस्स नवणी- यस्स य अ(द्दा)मलमित्तं संसट्ठं,जइवि बहूणि एतप्पमाणाणि कप्पंति,एगंपि बहुं न कप्पइ,उक्खित्तविवेगो जहा आयंबिलये उद्धरिउं तीरइ सेसेसु णत्थि, पडुच्च मक्खियं पुण जइ अंगुलिए गहाय मक्खेइ तिल्लेण वा घएण वा ताहे निव्विगइ-

'सप्तैकस्थानस्य तु' एकस्थानं नाम प्रत्याख्यानं, तत्र सप्ताकारा भवन्ति, इहेदं सूत्रम्—'एगट्ठाण'मित्यादि, एगट्ठाणए
जं जहा अंगोवंगं ठविअं तेण तहाठिएण चेव समुद्दिसियव्वं, आगारा से सत्त, आउंटणपसारणा नत्थि, सेसं जहा एक्कास-
णए। अष्टेवायामाम्लस्याकाराः, अणाभोगा० १ सहसा० २ लेवालेवेणं ३ उक्खित्तविवेगेणं ४ गिहत्थसंसट्ठेणं ५ पारिठावणि-
यागारेणं ६ मयहरागारेणं ७ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं ८ वोसिरति, अणाभोगसहसक्कारा तहेव, लेवालेवो वा, जइ भाणे
पुव्वं लेवाडगं गहिअं समुद्दिट्ठं संलिहियं च जइ तेण आणेति ण भज्जइ, उक्खित्तविवेगो जइ आयंबिले पडइ विगतिमादि
उक्खिवित्ता विकिंचउ, मा णवरि गलउ, अण्णं वा आयंबिलस्स अपाउग्गं जइ उद्धरिउं तीरइ उद्धरिए ण उवहम्मइ,
गिहट्ठसंसट्ठेऽवि जइ गिहत्थो डोवलियं भायणं वा लेवालेवाडं कुसणाईहिं तेण ईसित्ति लेवाडादीहि देति ण भज्जइ, जइ
रसो आलक्खिज्जइ बहुओ ताहे ण कप्पइ, पारिट्ठावणियमयहरगसमाहीओ तहेव। पञ्चाभक्तार्थस्य तु, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः
उपवास इत्यर्थः, तस्य पञ्चाकारा भवन्ति, इदेहं सूत्रम्—'सूरे उग्गए' इत्यादि, तस्स पंच आगारा—अणाभोग सहसाकार
पारिट्ठावण मयहर समाहित्ति, जइ तिविहस्स पच्चक्खाइ तो विकिंचणिया कप्पइ, जइ चउविहस्स पच्चक्खाइ पाणगं च
नत्थि न वट्टइ, जइ पुण पाणगंपि उवरियं ताहे से कप्पइ, जइ तिविहस्स पच्चक्खाइ ताहे से पाणगस्स छ आगारा
कीरंति—लेवाडेण वा अलेवाडेण वा अच्छेण वा बहलेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरइ" प्रकटार्था एते छप्पि।
एतेन पट् पान इत्येतदपि व्याख्यातमेव। 'चरमे चत्वार' इत्यत्र चरिमं दुविहं—दिवसचरिमं भवचरिमं च, दिवसचरिमस्स
चत्तारि—अण्णत्थअणाभोगा सहस मयहर सव्वसमाहि, भवचरिमं—जावज्जीवियं, तस्सवि एए चत्तारित्ति गाथार्थः ॥ ९ ॥

ताहे सो पजिमित्तो, पारित्ता मिणइ अण्णो वा मिणति, तेण से भुंजंतस्स कहियं ण पूरति, ताहे ठाइयवं । समाही णाम तेण पोरुसी पच्चक्खाया आसुकारियं च दुक्खं जायं, अण्णस्स वा, ताहे तस्स पसमणनिमित्तं पाराविज्जइ ओसढं वा दिज्जइ, एत्थंतरा णाए तहेव विवेगो । सप्तैव तु पुरिमार्द्धे, पुरिमार्द्ध-प्रथमप्रहरद्वयकालावधिप्रत्याख्यानं गृह्यते, तत्र सप्ताकारा भवन्ति, इह चेदं सूत्रम्-'सूरे उग्गए' इत्यादि पूर्वसदृशं 'मयहरागारेणं'ति विशेषः, अस्य चायमर्थः-अयं च महान् अयं च महान् अयमनयोरतिशयेन महान् महत्तरः आक्रियत इत्याकारः, एतदुक्तं भवति-महल्लं पयोयणं, तेण अब्भत्तट्ठो पच्चक्खातो, ताहे आयरिएहिं भण्णइ-अमुगं गामं गंतवं, कहेइ जहा मम अज्ज अब्भत्तट्ठो, जदि ताव समत्थो करेउ जाउ य, ण तरइ अण्णो भत्तट्ठिओ अभत्तट्ठिओ वा जो तरइ सो वच्चउ, णत्थि अण्णो तस्स कज्जस्स समत्थो ताहे तस्स चेव अब्भत्तट्ठियस्स गुरू विसज्जिंति, एरिसस्स तं जेमंतस्स अणभिलासस्स अब्भत्तट्ठियनिज्जरा जा सा से भवइ, एवमादिमयहरागारो । एकाशने अष्टावेव, एकाशनं नाम सकृदुपविष्टपुताचालनेन भोजनं, तत्राष्टावाकारा भवन्ति, इह चेदं सूत्रम्-एकासणगमित्यादि, ते च अण्णत्थणाभोगेणं १ सहसागारेणं २ सागारिआगारेणं ३ आउट्टणपसारणागारेणं ४ गुरुअब्भुट्ठाणेणं ५ पारिठावणियागारेणं ६ मयहरागारेणं ७ सबसमाहिवत्तियागारेणं ८ वोसिरति, अणाभोगसहसाकारा तहेव, सागारिअं अद्धसमुद्दिट्ठस्स आगयं, जइ वोलेइ पडिच्छइ, अह थिरं ताहे सज्झायवाघाउत्ति उट्ठेउं अण्णत्थ गंतूणं समुद्दिसइ, हत्थं वा पायं वा सीसं वा आउट्टिज्ज वा पसारिज्ज वा ण भज्जइ, अब्भुट्ठाणारिहो आयरितो पाहुणगो वा आगओ अब्भुट्ठेयवं, तस्स एवं समुद्दिट्ठस्स उट्ठियस्स ण भज्जइ, पारिठावणिया जइ होज्ज कप्पइ, मयहरागारसमाहीओ तहेवत्ति गाथार्थः ॥८॥

सत्तेकट्ठाणस्स उ अट्ठेवायंबिलस्स आगारा । पंच अभत्तट्ठस्स उ छप्पाणे चरिम चत्तारि ॥ ५०९ ॥
पंच चउरो अभिग्गह निव्विइए अट्ठ नव य आगारा । अप्पावरणे पंच उ हवंति सेसेसु चत्तारि ॥५१०॥
णवणीउग्गाहिमए अद्दवदहि पिसिअ घय गुले चेव । नव आगारा तेसिं सेसदवाणं च अट्ठेव ॥५११॥

द्वावेव नमस्कारे आकारौ, इह नमस्कारग्रहणात् नमस्कारसहितं गृह्यते, तत्र द्वावेवाकारौ, आकारो हि नाम प्रत्याख्यानापवादहेतुः, इह च सूत्रम्—"सूरे उग्गए नमुक्कारसहिअं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अण्णत्थणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ" सूत्रार्थः प्रकट एव, आकारार्थस्त्वयम्—आभोगनमाभोगः न आभोगोऽनाभोगः अत्यन्तविस्मृतिरित्यर्थः तेन, अनाभोगं मुक्त्वेत्यर्थः, अथ सहसा करणं सहसाकारः अतिप्रवृत्तयोगानिवर्त्तनमित्यर्थः, 'षट् च पौरुष्यां तु' इह पौरुषीनाम प्रत्याख्यानविशेषः, तस्यां षडाकारा भवन्ति, इह चेदं सूत्रम्—पोरुसिं पच्चक्खाइ सूरे उग्गए चउव्विहंपि आहारं असणमित्यादि, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ" अनाभोगसहसाकारौ पूर्ववत्, प्रच्छन्नकालादीनां त्विदं स्वरूपम्—"पच्छन्नाओ दिसाओ रएण रेणुना पव्वएण वा अंतरितो सूरो ण दीसइ, पोरुसी पुण्णत्तिकाउं पपारितो, पच्छा णायं ताहे ठाइयव्वं, न भग्गं, जइ भुंजइ तो भग्गं, एवं सव्वेहिऽवि, दिसामोहेण कस्सइ पुरिसस्स कम्हिवि खित्ते दिसामोहो भवइ, सो पुरिमं दिसं न जाणइ, एवं सो दिसामोहेणं अइरुग्गयंपि सूरं दट्ठुं उसूरीहूयंति मण्णइ, नाए ठाति । 'साहुवयणेणं' साहुणो भणंति—उग्घाडा पोरुसी,

'तत्' शक्यं हृदये कृत्वा सम्यक् कृतिकर्म्म कृत्वा गुरुसमीपे गृह्णन्ति 'ततः' तदनन्तरं 'तदेव' चिन्तितं 'सम्यग'मिति युगपत् नमस्कारसहितादीति गाथार्थः ॥ ४ ॥ कथं गृह्णन्तीत्याह—

आगारेहिं विसुद्धं उवउत्ता जहविहीएँ जिणदिट्ठं । सयमेवऽणुपालणिअं दाणुवएसे जह समाही ॥५०५॥

'आकारैः' अनाभोगादिभिर्विशुद्धमुपयुक्ताः सन्तो यथा 'विधिनैव' वक्ष्यमाणेन, जिनदृष्टमेतत्, स्वयमेवानुपालनीयं, न तु प्राणातिपातादिप्रत्याख्यानवत् परतोऽपि, अत एवाह—दानोपदेशयोर्यथा समाधिरत्रेति गाथार्थः ॥ ५ ॥ आकारैरनाभोगादिभिर्विशुद्धमित्युक्तं, तानाह—

नवकारपोरसीए पुरिमड्ढेक्कासणेगठाणे अ । आयंबिलऽभत्तट्ठे चरिमे अ अभिग्गहे विगई ॥ ५०६ ॥

दो छच्च सत्त अट्ठ य सत्तऽट्ठ य पंच छच्च पाणम्मि । चउ पंच अट्ठ नवए पत्तेअं पिंडए नवए ॥५०७॥

'नमस्कार' इति उपलक्षणत्वात् नमस्कारसहिते पौरुष्यां पुरिमार्द्धे एकासने एकस्थाने च आयाम्ले अभक्तार्थे चरमे च अभिग्रहे विकृतौ, किं?—यथासङ्ख्यमेते आकाराः, द्वौ षट् सप्त अष्टौ च सप्त अष्टौ च पञ्च षट् (पाने) चतुः पञ्च नवाष्टौ प्रत्येकं, पिण्डके नवक इति गाथाद्वयाक्षरार्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥ भावार्थमाह—

दो चेव नमुक्कारे आगारा छच्च पोरिसीए उ । सत्तेव य पुरिमड्ढे एकासणगम्मि अट्ठेव ॥ ५०८ ॥

तइए निसाइआरं चिंतिअ उस्सारिऊण विहिणा उ । सिद्धत्थयं पढित्ता पडिक्कमंते जहापुव्विं ॥ ५००॥

तृतीये कायोत्सर्गे निशातिचारं चिन्तयित्वा तदनन्तरमुत्सार्य विधिना पूर्वोक्तेन 'सिद्धस्तवं' 'सिद्धाण'मित्यादिलक्षणं पठित्वा प्रतिक्रामन्ति, 'यथापूर्वं' पदं पदेनेति गाथार्थः ॥ ५०० ॥

सामाइअस्स बहुहा करणं तप्पुव्वगा समणजोगा। सइसरणाओ अ इमं पाएण निदरिसणपरं तु॥५०१॥

उक्तार्था ॥

खामित्तु करिंति तओ सामाइअपुव्वगं तु उस्सग्गं। तत्थ य चिंतिंति इमं कत्थ निउत्ता वयं गुरुणा? ॥५०२॥

क्षमयित्वा गुरुं कुर्वन्ति ततः सामायिकपूर्वमेव कायोत्सर्गं, तत्र च कायोत्सर्गे चिन्तयन्त्येतत्—कुत्र नियुक्ता वयं गुरुणा?, ग्लानप्रतिजागरणादौ इति गाथार्थः ॥ २ ॥

जह तस्स न होइच्चिय हाणी कज्जस्स तह जयंतेवं । छम्मासाइकमेणं जा सक्कं असढभावाणं ॥५०३॥

यथा तस्य न भवत्येव हानिः कार्यस्य गुर्वादिष्टस्य तथा 'यतन्ते' उद्यमं कुर्वन्ति, एवं—षण्मासादिक्रमेण, यावच्छक्यं पौरुष्यादि अशठभावानामिति गाथार्थः ॥ ३ ॥

तं हियए काऊणं किइकम्मं काउ गुरुसमीवम्मि । गिण्हंति तओ तं चिअ समगं नवकारमाईअं ॥५०४॥

पाउसिअथुइमाई अहिगयउस्सग्गचिट्ठपज्जंते । चिंतिंति तत्थ सम्मं अइयारे राइए सव्वे ॥ ४९७ ॥

'प्रादोपिकस्तुतिप्रभृतीनां' प्रादोपिकप्रतिक्रमणान्तस्तुतेरारभ्य अधिकृतकायोत्सर्गचेष्टापर्यन्ते, प्रस्तुतकायोत्सर्गव्यापारावसान इति भावः, अत्रान्तरे चिन्तयति, 'तत्र' क्रियाकलापे 'सम्यग्' उपयोगपूर्वकमतिचारान्–स्खलितप्रकारान् रात्रिकान् 'सर्वान्' सूक्ष्मादिभेदभिन्नानिति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ पश्चादतिचारचिन्तने प्रयोजनमाह—

निद्दामत्तो न सरई अइआरे मा य घट्टणं ऽन्नोऽण्णं ।
किइअकरणदोसा वा गोसाई तिण्णि उस्सग्गा ॥ ४९८ ॥

निद्रामत्तो न स्मरत्यतिचारान् सम्यक्, तथा मा च घट्टनमन्योऽन्यं–परस्परतः, कृत्यकरणदोषा वा समं स्वकारे (स्युरन्धकारे) अतो गोसे आदौ त्रयः कायोत्सर्गा इति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ तत्रापि—

तइए निसाइआरं चिंतइ चरिमे अ किं तवं काहं ?
छम्मासा एगदिणाइहाणि जा पोरिसि नमो वा ॥ ४९९ ॥

तृतीये कायोत्सर्गे निशातिचारं चिन्तयति, 'चरमे' प्रतिक्रमणकालोत्तरकालभाविनि किं तपः करिष्यामि?, चिन्तयतीति वर्त्तते, षण्मासादेकदिनादिहान्या निर्व्याजं शक्तिमाश्रित्य यावत् पौरुषीं नमस्कारसहितं चिन्तयतीति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ एतदेव व्याचष्टे—

पाउसिआई सव्वं विसेससुत्ताओ एत्थ जाणिज्जा । पच्चूसपडिक्कमणं अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥ ४९३ ॥

'प्रादोपिकादि सर्वं' कालग्रहणस्वाध्यायादि 'विशेपसूत्रात्' निशीथाऽऽवश्यकादेरवगन्तव्यम्, प्रत्यूषप्रतिक्रमणं 'यथा-क्रमम्' अनुपूर्व्या कीर्त्तयिष्यामि अत ऊर्ध्वमिति गाथार्थः ॥ ९३ ॥

सामइयं कड्ढित्ता चरित्तसुद्धत्थ पढममेवेह । पणवीसुस्सासं चिअ धीरा उ करिंति उस्सग्गं ॥ ४९४ ॥

सामायिकमाकृष्य पूर्वक्रमेण चारित्रविशुद्ध्यर्थं प्रथममेवेह पञ्चविंशत्युच्छ्वासमेव पूर्ववद्धीराः कुर्वन्ति कायोत्सर्गमिति गाथार्थः ॥ ९४ ॥

उस्सारिऊण विहिणा सुद्धचरित्ता थयं पकड्ढित्ता । दंसणसुद्धिनिमित्तं करिंति पणुवीसउस्सग्गं ॥ ४९५ ॥

(उत्सार्य विधिना—'नमोऽर्हद्भ्य' इति वचनलक्षणेन शुद्धचारित्राः स्तवं—लोकस्योद्योतकरेत्यादिलक्षणं प्रकृष्य दर्शनशुद्धि-निमित्तं कुर्वन्ति पञ्चविंशत्युच्छ्वासमुत्सर्गमिति गाथार्थः ॥ ९५ ॥

ऊसारिऊण विहिणा कड्ढंति सुयत्थवं तओ पच्छा । काउस्सग्गमणियमं इहं करेंती उ उवउत्ता ॥४९६॥)

उत्सार्य विधिना कर्षन्ति श्रुतस्तवं 'पुक्खरवरे'त्यादिलक्षणं, ततः पश्चात् कार्योत्सर्गमनियतमानमिति, अतिचाराणाम-नियतत्वात्, 'इह' अत्र प्रस्तावे कुर्वन्त्युपयुक्ता इति—अत्यन्तोपयुक्ता इति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ अत्र यच्चिन्तयति तदाह—

सुकयं आणात्तिंपिव लोए काऊण सुकयकिइकम्मा । वड्ढंतिओ थुईओ गुरुथुइगहणे कए तिण्णि ॥८८९॥

सुकृतामाज्ञामिव लोके कृत्वा कश्चिद्विनीतः सुकृतकृतिकर्म्मा सन्निवेदयति, एवमेतदपि द्रष्टव्यं, तदनु कायप्रमार्जनोत्तर-कालं, वर्द्धमानाः स्तुतयो रूपतः शब्दतश्च, गुरुस्तुतिग्रहणे कृते सति 'तिस्रः' तिस्रो भवन्तीति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ एतदेवाह—

थुइमंगलम्मि गुरुणा उच्चरिए सेसगा थुई बिंति । चिट्ठंति तओ थेवं कालं गुरुपायमूलम्मि ॥ ४९० ॥

स्तुतिमङ्गले 'गुरुणा' आचार्येणोच्चारिते सति ततः शेषाः साधवः स्तुतीः ब्रुवते, ददतीत्यर्थः, तिष्ठन्ति 'ततः' प्रतिक्रान्तानन्तरं स्तोकं कालम्, क्वेत्याह—'गुरुपादमूले' आचार्यान्तिके इति गाथार्थः ॥ ९० ॥ प्रयोजनमाह—

पम्हट्ठमेरसारण विणओ उ ण फेडिओ हवइ एवं । आयरणा सुअदेवयमाईणं होइ उस्सग्गो ॥ ४९१ ॥

तत्र हि विस्मृतमर्यादास्मरणं भवति, विनयश्च न फेटितो—नातीतो भवति 'एवं' उपकार्यासेवनेन, एतावत् प्रतिक्रमणं, आचरणया श्रुतदेवतादीनां भवति कायोत्सर्गः, आदिशब्दात् क्षेत्रभवनदेवतापरिग्रह इति गाथार्थः ॥ ९१ ॥

चाउम्मासिय वरिसे उस्सग्गो खित्तदेवयाए उ । पक्खिअ सिज्जसुराए करिंति चउमासिए वेगे ॥ ४९२ ॥

चातुर्मासिके वार्षिके च, प्रतिक्रमण इति गम्यते, कायोत्सर्गः क्षेत्रदेवताया इति, पाक्षिके शय्यासुरायाः, भवनदेवताया इत्यर्थः, कुर्वन्ति, चातुर्मासिकेऽप्येके मुनय इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

दंसणसुद्धिनिमित्तं करेंति पणवीसगं पमाणेणं। उस्सारिऊण विहिणा कड्ढंति सुअत्थयं ताहे ॥४८५॥

दर्शनशुद्धिनिमित्तं कुर्वन्ति पञ्चविंशत्युच्छ्वासं प्रमाणेन, उत्सार्य विधिना पूर्वोक्तेन कर्षन्ति श्रुतस्तवं ततः 'पुक्खरवरे'-त्यादिलक्षणमिति गाथार्थः ॥ ८५ ॥

सुअनाणस्सुस्सग्गं करिंति पणवीसगं पमाणेणं। सुत्तइयारविसोहणनिमित्तमह पारिउं विहिणा ॥ ४८६ ॥

श्रुतज्ञानस्य कायोत्सर्गं कुर्वन्ति पञ्चविंशत्युच्छ्वासमेव प्रमाणेन सूत्रातिचारविशोधननिमित्तम्, 'अथ' अनन्तरं पारयित्वा विधिना पूर्वोक्तेनेति गाथार्थः ॥ ८६ ॥

चरणं सारो दंसणनाणा अंगं तु तस्स निच्छयओ। सारम्मि अ जइअव्वं सुद्धी पच्छाणुपुव्वीए ॥४८७॥

व्याख्या—कण्ठ्या। किमित्याह—

सुद्धसयलाइआरा सिद्धाणथयं पढंति तो पच्छा।
पुव्वभणिएण विहिणा किइकम्मं दिंति गुरुणो उ ॥ ४८८ ॥

शुद्धसकलातिचाराः सिद्धानां सम्बन्धिनं स्तवं पठन्ति 'सिद्धाण'मित्यादिलक्षणं, ततः पश्चात् पूर्वभणितेन विधिना 'कृतिकर्म'वन्दनं ददति, 'गुरवेऽपि' (गुरोस्तु) आचार्यायैवेति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ किमर्थमित्येतदाह—

विनिर्जित्य प्रमादं वीतरागा भवन्ति, इत्थं जेयताया एव तस्य भगवद्भिः ज्ञाततत्त्वा (ज्ञापितत्वात्, अत्र) बहु वक्तव्यम्, इत्यलं प्रसङ्गेन इति गाथार्थः ॥ ८१ ॥

एस चरित्तुस्सग्गो दंसणसुद्धीऍ तइअओ होइ ।
सुअनाणस्स चउत्थो सिद्धाण थुई य किइकम्मं ॥ २८२ ॥ ॥ सूचागाहा ॥

एष चारित्रकायोत्सर्गः, तदा (था) दर्शनशुद्धिनिमित्तं तृतीयो भवति, प्रारम्भकायोत्सर्गापेक्षया तस्य तृतीयत्वम्, श्रुतज्ञानस्य चतुर्थः, एवमेव सिद्धेभ्यः स्तुतिश्च तदनु 'कृतिकर्म्म' वन्दनमिति सूचागाथासमासार्थः ॥ ८२ ॥ अवयवार्थमाह—

सामाइअपुव्वगं तं करिंति चारित्तसोहणनिमित्तं । पिअधम्मवज्जभीरू पण्णासुस्सासगपमाणं ॥२८३॥

सामायिकपूर्वकं 'तं' प्रतिक्रमणोत्तरकालभाविनं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति चारित्रशोधननिमित्तं, किंविशिष्टाः सन्त इत्याह—प्रियधर्म्मावद्यभीरवः पञ्चाशदुच्छ्वासप्रमाणमिति गाथार्थः ॥ ८३ ॥

उसारेऊण विहिणा सुद्धचरित्ता थयं पकड्डित्ता । कड्ढंति तओ चेइअवंदणदंडं तउस्सग्गं ॥ २८४ ॥

उत्सार्य 'विधिना' 'णमोऽरहंताण'मित्यभिधानलक्षणेन शुद्धचारित्राः सन्तः 'स्तवं' लोकस्योद्योतकररूपं प्रकृष्य, पठित्वेत्यर्थः, 'कर्षन्ति' पठन्तीत्यर्थः, 'ततः' तदनन्तरं चैत्यवन्दनदण्डकं कर्षन्ति, ततः कायोत्सर्गं कुर्वन्तीति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ किमर्थमित्याह—

जीवः प्रमादबहुलः 'तद्भावनाभावित एव' प्रमादभावनाभावितस्तु संसारे, यतश्चैवमतोऽभ्यासपाटवात् 'तत्रापि' आलोचनादौ सम्भाव्यते सूक्ष्मः 'असौ' प्रमादः ततश्च दोष इति, तेन कारणेन तज्जयाय कायोत्सर्ग इति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

चोएइ हंदि एवं उस्सग्गंमिवि स होइ अणवत्था । भण्णइ तज्जयकरणे का अणवत्था जिए तम्मि ? ॥४८०॥

चोदयति शिष्यकः—हन्त यद्येवं कायोत्सर्गेऽपि सः—सूक्ष्मः प्रमादो भवति, ततश्च तत्रापि दोषः, तज्जयायापरकरणं, तत्राप्येष एव वृत्तान्त इत्यनवस्था, एतदाशङ्क्याह—भण्यते प्रतिवचनं—'तज्जयकरणे' अधिकृतसूक्ष्मप्रमादजयकरणे प्रस्तुते काऽनवस्था जिते 'तस्मिन्' सूक्ष्मप्रमाद इति गाथार्थः ॥ ८० ॥

तत्थवि अ जो तओवि हु जीअइ तेणेव ण य सया करणं ।
सव्वोवि साहुजोगो जं खलु तप्पच्चणीओत्ति ॥ ४८१ ॥

'तत्रापि च' इतरकायोत्सर्गे यः पूर्वोक्तयुक्त्या पतितः सूक्ष्मः प्रमादः 'तकोऽपि' असावपि 'जीयते' तिरस्क्रियते यदितरेण तदुत्तरकालभाविना कायोत्सर्गेण तत्रापि यः असावपीतरेण, स्यादेतद्, एवं सदा कायोत्सर्गकरणापत्तिरित्याशङ्क्याह—न च सदा करणं, कायोत्सर्गस्येति गम्यते, कुत इत्याह—सर्वोऽपि 'साधुयोगः' सूत्रोक्तः श्रमणव्यापारः यस्मात्, खलुशब्दो विशेषणार्थः भावप्रधान इत्यर्थः, 'तत्प्रत्यनीक' इति सूक्ष्मप्रमादप्रत्यनीकः, अत एव भगवदुक्तानुपूर्व्या विहितानुष्ठानवन्तो

धृतिसंहननादीनां हानिं मर्यादाहानिं च ज्ञात्वा 'स्थविरा' गीतार्थाः शिष्यकागीतार्थयोर्विपरिणामनिवृत्त्यर्थं स्थापनां कुर्वन्तीति स्थापना आचरितकल्पस्येति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ अथवा—

असढेण समाइण्णं जं कत्थइ केणई असावज्जं। न निवारिअमण्णेहि अ बहुमणुमयमेअमाइण्णं ॥२७६॥

अशठेन समाचरितं 'यत्' किञ्चित् क्वचित् द्रव्यादौ केनचित् प्रमाणस्थेन असावद्यं प्रकृत्या न निवारितम् अन्यैश्च गीतार्थैश्चारुत्वादेव, इत्थं बहुनुमतमेतदाचरितमिति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ अमुमेवार्थं विशेषेणाह—

विअडणपच्चक्खाणे सुए अ रयणाहिआवि उ करिंति। मज्झिझ्ठेण करेंती सो चेव य तेसि पकरेइ ॥२७७॥

'विकटनप्रत्याख्यानयो'रित्यत्र विकटनम्-आलोचनं प्रत्याख्यानं-प्रतीतं, श्रुते च उद्दिश्यमानादौ 'रत्नाधिका अपि तु' ज्येष्ठार्या अपि कुर्वन्ति, वन्दनमिति प्रक्रमात् गम्यते, मध्यम इति क्षमण इत्यर्थः, न कुर्वन्ति, अपि तु स एवाधार्यस्तेषां रत्नाधिकानां करोति वन्दनमिति गाथार्थः ॥ ७७ ॥

खामित्तु तओ एवं करिंति सव्वेऽवि नवरमणवज्जं। रेसिम्मि दुरालोइअ दुप्पडिकंतस्स उस्सग्गं ॥२७८॥

क्षमयित्वा 'ततः' तदनन्तरं 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण कुर्वन्ति सर्वेऽपि साधवः, नवरमनवद्यं-सम्यगित्यर्थः, रैवे दुरालोचितदुष्प्रतिक्रान्तयोः,तन्निमित्तमिति भावः,कायोत्सर्गमिति गाथार्थः ॥७८॥ अत्रापि कायोत्सर्गकरणे प्रयोजनमाह—

जीवो पमायबहुलो तब्भावणभाविओ अ संसारे। तत्थवि संभाविज्जइ सुहुमो सो तेण उस्सग्गो ॥२७९॥

सर्वस्य जीवराशेर्महासामान्यरूपस्य 'भावतः' प्रणिधानेन धर्म्मनिहितनिजचित्तः सन् सर्वं क्षमयित्वा क्षमे सर्वजीवराशेरहमपीति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

एवंविहपरिणामा भावेणं तत्थ नवरमायरियं । खामंति सव्वसाहू जइ जिट्ठो अन्नहा जेट्ठं ॥ ४७२ ॥

एवंविधपरिणामाः सन्तः 'भावेन' परमार्थेन तत्र नवरमाचार्यं प्रथमं क्षमयन्ति सर्वे साधवः यदि ज्येष्ठोऽसौ पर्यायेण, 'अन्यथा' ज्येष्ठे असति ज्येष्ठमसावपि क्षमयति, विभाषेत्यन्ये, शिष्यकादिश्रद्धाभङ्गनिवारणार्थं कदाचिदाचार्यमेवेति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

आयरिय उवज्झाए काऊणं सेसगाण कायव्वं । उप्परिवाडीकरणे दोसा सम्मं तहाऽकरणे ॥ ४७३ ॥

आचार्योपाध्याययोः कृत्वा क्षमणमिति गम्यते, शेषाणां साधूनां यथारत्नाधिकतया कर्त्तव्यं, उत्परिपाटीकरणे, विपर्ययकरण इत्यर्थः, 'दोषाः' आज्ञादयः, सम्यक् तथा अकरणे विकलकरणे च दोषा इति गाथार्थः ॥ ७३ ॥

जा दुचरिमोत्ति ता होइ खामणं तीरिए पडिक्कमणे । आइण्णं पुण तिण्हं गुरुस्स दोण्हं च देवसिए ४७४

यावत् 'द्विचरम' इति द्वितीयश्च स चरमश्च क्षमणापेक्षया, एतावद् भवति क्षमणं, 'तीरिते प्रतिक्रमणे' पठिते प्रतिक्रमणे इत्यर्थः, आचरितं पुनस्त्रयाणां गुरोर्द्वयोश्च शेषयोर्दैवसिक इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ आचरितकल्पप्रवृत्तिमाह—

धिइसंघयणाईणं मेराहाणिं च जाणिउं थेरा । सेहअगीअत्थाणं ठवणा आइण्णकप्पस्स ॥ ४७५ ॥

तत्पुनः—प्रतिक्रमणं पदं पदेन पठन्ति सूत्रार्थयोश्च तत्प्रतिबद्धयोरत्यन्तमुपयुक्ताः भावप्रणिधानेन दंशमशकादीन् काये लगतोऽप्यगणयन्तः सन्तो धृतिबलसमेता इति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

परिकड्डिऊण पच्छा किइकम्मं काउ नवरि खामंति। आयरिआई सव्वे भावेण सुए तहा भणिअं ॥ २६८ ॥

पर्याकृष्य प्रतिक्रमणं पश्चात् कृतिकर्म्म—वन्दनं कृत्वा नवरं 'क्षमयन्ति' मर्षयन्ति, कान्? इत्याह—आचार्यादीन्, गुणवन्तः सर्वे साधवः 'भावेन' सम्यक्परिणत्या, श्रुते तथा भणितमेतदिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥

आयरिअ उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुलगणे अ। जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ २६९ ॥

आचार्योपाध्याये शिष्ये समानधार्मिके कुले गणे च तत्परिणामवशात् ये मम केचन कषाया आसन् सर्वांस्त्रिविधेन क्षमयामि तानाचार्यादीनिति गाथार्थः ॥ ६९ ॥

सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं सिरे काउं। सव्वं खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥२७०॥

सर्वस्य श्रमणसङ्घस्य भगवतः सामान्यरूपस्य अञ्जलिं शिरसि कृत्वा सर्वं क्षमयित्वा क्षमे सर्वस्य तत्सङ्घस्याहमपीति गाथार्थः ॥ ७० ॥ तथा—

सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहिअनिअचित्तो। सव्वं खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयंपि २७१

यो यत उत्पद्यते व्याधिस्तैलादेः स वर्ज्जितेन तेनैव क्षयमेति, कर्म्मव्याधिरपि नवरमेवं मन्तव्यो निदानवर्ज्जनेनेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ ततश्च—

उप्पण्णा उप्पण्णा माया अणुमग्गओ निहंतव्वा। आलोअणनिंदणगरहणाहिं न पुणो अ बीअं च ॥४६४॥

उत्पन्नोत्पन्ना माया अकुशलकर्मोदयेन अनुमार्गतो निहन्तव्या स्वकुशलवीर्येण, कथमित्याह—आलोचननिन्दागर्हाभिः, न पुनश्च द्वितीयं वारं तदेव कुर्यादिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥

तस्स य पायच्छित्तं जं मग्गविऊ गुरू उवइसंति। तं तह अणुचरिअव्वं अणवत्थपसंगभीएणं ॥ ४६५ ॥

'तस्य च' आसेवितस्य प्रायश्चित्तं यन्मार्गविद्वांसो गुरव उपदिशन्ति सूत्रानुसारतः तत्तथा अनुचरितव्यमनवस्थाप्रसङ्गभीतेन, प्रसङ्गश्च 'एक्केण कयमकज्जं' मित्यादिना प्रकारेणेति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ प्रकृतमाह—

आलोइऊण दोसे गुरुणो पडिवन्नपायछित्ताओ। सामाइअपुव्वअं ते कड्ढिंति तओ पडिक्कमणं ॥ ४६६ ॥

आलोच्य दोषान् गुरोः ततः प्रतिपन्नप्रायश्चित्ता एव, किमित्याह—सामायिकपूर्वकं 'ते' साधवः 'पठन्ति' अनुस्मरन्ति प्रतिक्रमणमिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

तं पुण पयंपएणं सुत्तत्थेहिं च धणिअमुवउत्ता। दंसमसगाइ काए अगणिन्ता धिइबलसमेआ ॥४६७॥

विणएण विणयमूलं गंतूणायरिअपायमूलंमि। जाणाविज्ज सुविहिओ जह अप्पाणं तह परंपि ॥ २६० ॥

विनीयतेऽनेन कर्मेति विनयः—पुनस्तदकरणपरिणामः तेन 'विनयमूलं' संवेगं 'गत्वा' प्राप्य 'आचार्यपादमूले' आचार्यान्तिक एव ज्ञापयेत् सुविहितः—साधुर्यथाऽऽत्मानं तथा परमपि विस्मृतं समानधार्म्मिकमिति गाथार्थः ॥६०॥ आलोचनागुणमाह—

कयपावोऽवि मणूसो आलोइअनिंदिओ गुरुसगासे। होइ अइरेगलहुओ ओहरिअभरोव्व भारवहो ॥२६१॥

कृतपापोऽपि सन् मनुष्यः आलोचितनिन्दितो 'गुरोः सकाशे' आचार्यान्तिक एव भवति अतिरेकलघुः, कर्म्माङ्गीकृत्य, अपहृतभर इव भारवहः कश्चिदिति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ कथमेतदेवमिति, अत्रोपपत्तिमाह—

दुप्पणिहियजोगेहिं वज्झइ पावं तु जो उ ते जोगे। सुप्पणिहिए करेई झिज्जइ तं तस्स सेसंपि ॥ २६२ ॥

दुष्प्रणिहितयोगैः मनोवाक्कायलक्षणैर्बध्यते पापमेव, यस्तु महासत्त्वस्तान् योगान्—मनःप्रभृतीन् सुप्रणिहितान् करोति क्षीयते 'तत्' दुष्प्रणिहितयोगोपात्तं पापं 'तस्य' सुप्रणिहितयोगकर्त्तुः, शेषमपि भवान्तरोपात्तं क्षीयते प्रणिधानप्रकर्षादिति गाथार्थः ॥ ६२ ॥

जो जत्तो उप्पज्जइ वाही सो वज्जिएण तेणेव। खयमेइ कम्मवाहीवि नवरमेवं मुणेअव्वं ॥ २६३ ॥

किइकम्मं वंदणगं परेण विणएण तो पउंजंति । सव्वप्पगारसुद्धं जह भणिअं वीअरागेहिं ॥ ४५६ ॥

कृतिकर्म्म वन्दनं परेण विनयेन 'ततः' तदनन्तरं प्रयुञ्जते, कथमित्याह—सर्वप्रकारशुद्धं उपाधिशुद्धमित्यर्थः, यथा भणितं 'वीतरागैः' अर्हद्भिरिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ प्रसङ्गतो वन्दनस्थानान्याह—

आलोयण वागरणस्स पुच्छणे पूअणंमि सज्झाए । अवराहे अ गुरूणं विणओमूलं च वंदणयं ॥४५७॥

आलोचनायां तथा व्याकरणस्य प्रश्ने तथा पूजायां तथा स्वाध्याये तथाऽपराधे च कश्चिद्गुरोर्विनेयमूलं तु वन्दनमिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

वंदित्तु तओ पच्छा अद्धावणया जहक्कमेणं तु । उभयकरधरियलिंगा ते आलोअंति उवउत्ता ॥४५८॥

वन्दित्वा ततः पश्चादर्द्धावनताः सन्तो यथाक्रमेणैव उभयकरधृतलिङ्गा इति, लिङ्गं—रजोहरणं, 'ते' साधवः आलोचयन्ति उपयुक्ता इति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ किं तदित्याह—

परिचिंतिएऽइआरे सुहुमेऽवि भवण्णवाउ उव्विग्गा । अह अप्पसुद्धिहेउं विसुद्धभावा जओ भणियं॥४५९॥

परिचिन्तितानतिचारान् 'सूक्ष्मानपि' पृथिव्यादिसङ्घट्टनादीन्, कथञ्चिदापतितान् बादरानपि, भवार्णवादुद्विग्नाः सन्तः अथात्मशुद्धिनिमित्तमालोचयन्तीति वर्त्तते विशुद्धभावाः सन्तः, यतो भणितमर्हद्भिरिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ किं तदित्याह—

रिणामात् कारणात् 'चारित्रशोधनार्थं' चारित्रनिर्म्मलीकरणाय 'पश्चात्तु' दोपचित्तधारणानन्तरं कुर्वन्ति 'ते' साधवः एतद्—वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

नमुक्कार चउवीसग कितिकम्माऽऽलोअणं पडिक्कमणं ।
किइकम्म दुरालोइअ दुपडिक्कंते य उस्सग्गा ॥ २५३ ॥ (सूअगाहा)

नमस्कारग्रहणात् 'नमोऽरहंताणं'ति भणंति, चतुर्विंशतिग्रहणाल्लोकस्योद्योतकरं पठन्ति, कृतिकर्मग्रहणाद्वन्दनं कुर्वन्ति, आलोचनग्रहणादालोचयन्ति, प्रतिक्रमणग्रहणात्प्रतिक्रामन्ति, तदनु कृतिकर्म कुर्वन्ति, दुरालोचितदुष्प्रतिक्रान्तविषयं कायोत्सर्गं च कुर्वन्ति, सूचागाथासमासार्थः ॥ ५३ ॥ व्यासार्थं त्वाह—

उस्सग्गसमत्तीए नवकारेणमह ते उ पारिंति । चउवीसगंति दंडं पच्छा कहंति उवउत्ता ॥ २५४ ॥

अधिकृतोत्सर्गसमाप्तौ सत्यां 'नमस्कारेण' 'नमोऽरहंताण'मित्येतावता 'अथ'अनन्तरं 'ते' साधवः पारयन्ति, चतुर्विंशतिरिति दण्डं पश्चात् पठन्त्युपयुक्ताः सन्त इति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

संडंसं पडिलेहिअ उवविसिअ तओ णवर मुहपोत्तिं। पडिलेहिउं पमज्जिय कायं सव्वेऽवि उवउत्ता ॥२५५॥

संदंशं प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्योपविश्य ततस्तु नवरं 'मुहपोत्तिं' मुखवस्त्रिकां प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च कायं सर्वेऽप्युपयुक्ताः सन्त इति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ ततः किमित्याह—

सामायिकोच्चारणावसाने; अतिचारं चिन्तयन्ति दैवसिकं तेनैव गुरुणा समं–सार्द्धं, सामायिकमपि उच्चारयन्तीति भणन्ति अन्ये आचार्यदेशीया इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ ते चैवं भणन्तीत्याह—

आयरिओ सामइयं कड्डइ जाए तहट्ठिया तेऽवि। ताहे अणुपेहंती गुरुणा सह पच्छ देवसिअं ॥४४९॥

आचार्यः सामायिकमाकर्षति–पठति उच्चारयतीत्यर्थः यदा 'तथास्थिताः' कायोत्सर्गस्थिता एव तेऽपि साधवः तदा 'अनुप्रेक्षन्ते' चिन्तयन्ति सामायिकमेव गुरुणा सह, पश्चाद्दैवसिकं चिन्तयन्तीति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

जा देवसिअं दुगुणं चिंतेइ गुरू अहिंडिओ चिट्ठं। बहुवावारा इअरे एगगुणं ताव चिंतिंति ॥४५०॥

यावद् दैवसिकीं द्विगुणां चिन्तयति गुरुरहिण्डित इतिकृत्वा चेष्टां, बहुव्यापारा 'इतरे' सामान्यसाधवः एकगुणां तावच्चिन्तयन्तीति गाथार्थः ॥ ५० ॥

मुहणंतगपडिलेहणमाईअं तत्थ जे अईआरा। कंटकवग्गुवमाए धरंति ते णवरि चित्तंमि ॥ ४५१ ॥

मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणाद्यां चेष्टां 'तत्र' चेष्टायां येऽतिचाराः कण्टकमार्गोपमयोपयुक्तस्यापि जाता धारयन्ति तान् नवरं चेतसीति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ किंविशिष्टाः सन्त इत्याह–

संवेगसमावण्णा विसुद्धचित्ता चरित्तपरिणामा। चारित्तसोहणट्ठा पच्छावि कुणंति ते एअं ॥ ४५२ ॥

'संवेगसमापन्ना' मोक्षसुखाभिलाषमेवानुगताः 'विशुद्धचित्ता' रागादिरहितचित्ताः 'चारित्रपरिणामादि'ति चारित्रप-

जइ पुण निव्वाघाओ आवासं तो करिंति सव्वेऽवि । सड्ढाइकहणवाघायय्याए पच्छा गुरू ठंति ॥ २२५ ॥

अत्रान्तरे यदि पुनः 'निर्व्याघातः'प्रक्रान्तक्रियाविघ्नाभावः 'आवश्यकं' प्रतिक्रमणं ततः कुर्वन्ति सर्वेऽपि सह गुरुणा, 'श्रावकादिकथनव्याघाततया' श्रावकविधिधर्म्मपदार्थकथनविघ्नभावेन पश्चाद् गुरवस्तिष्ठन्ति आवश्यक इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

सेसा उ जहासत्तिं आपुच्छित्ताण ठंति सट्ठाणे । सुत्तत्थसरणहेउं आयरिअ ठिअंमि देवसिअं ॥ २२६ ॥

शेषास्तु साधवः 'यथाशक्त्या' यथासामर्थ्यमनापृच्छ्य प्रश्नार्हत्वाद् गुरुमिति गम्यते तिष्ठन्ति स्वस्थाने यथारत्नाधिकतया, कायोत्सर्गेणेति भावः, किमर्थमित्याह—'सूत्रार्थस्मरणहेतो'रिति सूत्रार्थानुस्मरणाय, आचार्ये स्थिते यथोक्तोपाधरकालं कायोत्सर्गेण 'दैवसिक'मिति दिवसेन निष्पन्नमतिचारं चिन्तयन्तीति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ उत्सर्गापवादमाह—

जो हुज्ज उ असमत्थो वालो वुड्ढो व रोगिओ वावि । सो आवस्सयजुत्तो अच्छिज्जा णिज्जरापेही ॥ २२७ ॥

यो भवेदसमर्थः—अशक्तो बालो वृद्धो वा रोगितो वापि सोऽप्यावश्यकयुक्तः सन् यथाशक्त्यैव तिष्ठेत् निर्जरापेक्षी तत्रैवेति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

एत्थ उ कयसामइया पुव्वं गुरुणो अ तयवसाणंमि । अइआरं चिंतंती तेणेव समं भणंतऽण्णे ॥ २२८ ॥

'अत्र पुनः'आवश्यकाधिकारे अयं विधिः, यदुत—कृतसामायिकाः पूर्वं—कायोत्सर्गावस्थानकाले, गुरोश्च 'तदवसाने'

अहियासिआ उ अंतो आसन्ने मज्झ दूर तिन्नि भवे । तिण्णेव अणहियासी अंतो छच्छच्च बाहिरओ ॥४४१॥

अतिसहनशीलाः अन्तः–मध्य एव च वसतिपरिकरस्य आसन्ने मध्ये दूरें च तिस्रो भवन्ति,तिस्र एवानतिसहनशीलाः, इत्येवमन्तः षट्, षट् च वहिरिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

एमेव य पासवणे बारस चउवीसयं तु पेहित्ता । कालस्स य तिन्नि भवे अह सूरो अत्थमुवयाई ॥४४२॥

एवमेव च 'प्रश्रवण' इति प्रश्रवणविषया द्वादश, इत्थं चतुर्विंशतिं तु प्रत्युपेक्ष्य भुवां इति गम्यते, कालस्य च तिस्रो भवन्ति प्रत्युपेक्षणीयाः, अथात्रान्तरे सूर्यः अस्तमुपयातीति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

इत्थेव पत्थवंमी गीओ गच्छंमि घोसणं कुणइ । सज्झायादुवउत्ताण जाणणट्ठा सुसाहूणं ॥ ४४३ ॥

अत्रैव प्रस्तावे 'गीत' इति गीतार्थः गच्छे घोषणां करोति स्वाध्यायाद्युपयुक्तानां सतां ज्ञापनार्थं सुसाधूनामिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ कथमित्याह—

कालो गोअरचरिअं थंडिल्ला वत्थपत्तपडिलेहा ।

संभरऊ सो साहू जस्स व जं किंचि णाउत्तं ॥ ४४४ ॥ थंडिल्लत्ति दारं गयं ॥

कालो गोचरचर्या स्थण्डिलानि वस्त्रपात्रप्रत्युपेक्षणा, सर्वाण्युक्तस्वरूपाणि संस्मरतु स साधुः, यस्य वा यत्किञ्चिदनुपयुक्तं पुनः कालोऽत्येतीति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ सम्बन्धमभिधाय आवश्यकविधिमाह—

तत्तो अ गुरुपरिण्णागिलाणसेहाण जे अभत्तट्ठी । संदिसह पायमत्तअ अत्तणो पट्टगं चरिमं ॥ २३७ ॥

'ततः' तदनन्तरं गुरुपरिज्ञाग्लानशिक्षकादीनां प्रतिलेखनोपधेरिति गम्यते, ये अभक्तार्थिनस्त एव कुर्वन्ति, तदनु 'सन्दिशते'ति गुरुमापृच्छ्य पात्रमात्रके, तदन्वात्मन उपधिं, तत्रापि पट्टकं चरमं, चोलपट्टकमिति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

पट्टग मत्तग सगउग्गहो अ गुरुमाइआणऽणुण्णवणा । तो सेसभाणवत्थे पाउंछणगं च भत्तट्ठी ॥ २३८ ॥

'पट्टगं' चोलपट्टं अणाउत्तपरिसोहणत्थं 'मत्तगं' क्षुल्लभाजनं विजुवायणनिमित्तं 'सगओग्गहो य' स्वावग्रहं च जीयंतिकट्टु, 'सुपां सुपो भवन्ती'ति विभक्तिव्यत्ययः, पाठान्तरं वा 'पट्टं मत्तं सगओग्गहं च' गुर्वादीनां ततोऽनुज्ञापनेति, ततः शेषोपकरणं भाजनवस्त्राणि 'पादपुञ्छनं च' रजोहरणं च भक्तार्थिनः प्रत्युपेक्षन्त इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

जस्स जया पडिलेहा होइ कया सो तया पढइ साहू । परिअट्टेइ अ पयओ करेइ वा अण्णवावारं ॥ २३९ ॥

'यस्य' साधोः यदा प्रतिलेखना भवति कृता स तदा पठति साधुः सूत्रधनत्वात्, परावर्तयति वा 'प्रयतो' यत्नपरः, करोति वाऽन्यव्यापारं साधुसम्बन्धिनमेवेति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

चउभागवसेसाए चरिमाए पडिकमित्तु कालस्स । उच्चारे पासवणे ठाणे चउवीसयं पेहे ॥ २४० ॥

चतुर्भागावशेषायां चरिमायां, कालवेलायामित्यर्थः, प्रतिक्रम्य कालस्य, किमित्याह—'उच्चारे प्रश्रवण इति' उच्चारप्रश्रवणविषयाणि स्थानानि स्थण्डिलाख्यानि चतुर्विंशतिं प्रेक्षेतेति गाथार्थः ॥ ४० ॥ कथमित्याह—

तत्तो इत्थिनपुंसा तिविहा तत्थवि असोअवाईसु। तहिअं तु सद्दकरणं आउलगमणं कुरुकुआ या॥ ४३३॥

ततः स्त्रीनपुंसकानि त्रिविधाः प्राकृतादिभिर्भेदेन, अपवादचिन्तायां चिन्तनीयानीति शेषः, तथा चाह–तत्रापि, 'अशौचवादिष्वि'ति अशौचवाद्यापातवति स्थण्डिल इत्यर्थः, यतनामाह–तत्र तु शब्दकरणपूर्वमेव 'आकुलगमनं' संरम्भगमनं कुरुकुचा च पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ प्रतिद्वारगाथायां व्याख्यातं स्थण्डिलद्वारम्, साम्प्रतमावश्यकाद्याह–

सण्णाए आगओ चरमपोरिसिं जाणिऊण ओगाढं। पडिलेहेइ अ पत्तं नाऊण करेइ सज्झायं॥ ४३४॥

संज्ञाया आगतः सन् चरमपौरुषीं ज्ञात्वा 'अवगाढाम्' आगतामित्यर्थः, प्रत्युपेक्षते उपकरणमिति गम्यते, अप्राप्तां ज्ञात्वा चरमां करोति स्वाध्यायमिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

पुव्वुद्दिट्ठो अ विही इहंपि पडिलेहणाएँ सो चेव। जं इत्थं नाणत्तं तमहं वोच्छं समासेणं॥ ४३५॥

पूर्वोद्दिष्ट एव विधिः, 'छप्पुरिस' मित्यादिना अत्रापि प्रतिलेखनायां स एव द्रष्टव्यः, यदत्र नानात्वं किमपि तदहं वक्ष्ये 'समासेन' सङ्क्षेपत एवेति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

पडिलेहगा उ दुविहा भत्तट्ठिअ एअरा उ नायव्वा। दोण्हविअ आइपडिलेहणा उ मुहणंतग सकायं॥४३६॥

प्रतिलेखकाः पुनर्द्विविधाः–'भक्तार्थिनो' ये तस्मिन्नहनि भुञ्जते 'इतरे तु' अभक्तार्थिनो ये न भुञ्जते इति ज्ञातव्याः, द्वयोरपि चानयोः आदिप्रतिलेखना पुनर्मुखानन्तकं–मुखवस्त्रिकां 'स्वकायं' स्वदेहं चाङ्गीकृत्य प्रवर्त्तत इति गाथार्थः ॥३६॥

पढमासइ अमणुन्नेअराण गिहिआण वावि आलोए ।
पत्तेअमत्त कुरुकुअ दवं च पउरं गिहत्थेसु ॥ ४३० ॥

उपन्यासक्रमप्रामाण्यात् प्रथमे स्थण्डिले—उक्तस्वरूपे 'असति' अविद्यमाने 'अमनोज्ञेतरयोरिति' अमनोज्ञासंविग्नयोरिति, गृहिणां वाऽप्यालोकवति गन्तव्यमिति शेषः, तत्र चायं यतनाविधिः—'प्रत्येकमात्रकाणी'ति प्रत्येकं मात्रकग्रहणं 'कुरुकुचे'ति पुरुकुचाकरणं 'द्रवं च प्रचुर'मिति पानकं प्रभूतं गृह्यते 'गृहस्थेष्वि'ति 'सूचनात्सूत्र'मिति न्यायात् गृहस्थालोकवति स्थण्डिल इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

तेण परं पुरिसेणं असोअवाईण वच्च आवायं । इत्थिनपुंसगलोए परम्मुहो कुरुकुआ सा उ ॥ ४३१ ॥

'तेन पर'मिति तत ऊर्ध्वं तदभाव इत्यर्थः, पुरुषाणामशौचवादिनां प्रजेदापातवत् स्थण्डिलमिति, तदनु स्त्रीनपुंसकालोकवत्, तत्र चेयं यतना—पराङ्मुख उपविशेत्, तथा कुरुकुचा 'सैव' पूर्वोक्तेति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

तेण परं आवायं पुरिसेयर सेत्थियाण तिरिआणं। तत्थऽविअ परिहरिज्जा दुगुंछिए दित्तचित्ते अ ॥४३२॥

ततः परम् 'आपात' मित्यापातवत् स्थण्डिलं पुरुषेतरग्रहणात् पुरुषापातवत् नपुंसकापातवस्त्रियापातवच्च, तदेवाह—'सस्त्रीकाणां तिरश्चा'मिति सस्त्रीकतिर्यगापातवदित्यर्थः, तत्रापि च परिहरेत् जुगुप्सितान् दृप्तचित्तांश्च तिरश्चः, एतदापातवत् स्थण्डिलमिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

तदवग्रहात् व्युत्सृजति, छायायामसत्यां उष्णेऽपि व्युत्सृजतीति वर्त्तते, किन्तु तत्रायं विधिः—व्युत्सृज्य मुहूर्त्तं तिष्ठेत्, यावत्तैर्यथायुष्कं परिपालितमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥ 'पमज्जिऊण तिक्खुत्तो' इत्यादि व्याचख्यासुराह—

आलोयणमुड्ढमहे तिरिअं काउं तओ पमज्जिज्जा। पाए उग्गहऽणुण्णा पमज्जए थंडिलं विहिणा ॥ ४२८ ॥

अवलोकनमूर्ध्वमधस्तिर्यक् कृत्वा स्थण्डिलसमीप एवेति गम्यते, ऊर्ध्वं वृक्षस्थपर्वतस्थादिदर्शनार्थं अधो गर्त्तादर्यादिस्थोपलब्धये तिर्यक्षु यद्विश्राम्यदादिसंदर्शनार्थमिति, 'ततः' तदनन्तरमसत्सु सागारिकेषु प्रमार्जयेत् पादौ, ततः अवग्रहमनुज्ञाप्य प्रमृज्य(प्रमार्जयेत्)स्थण्डिलं 'विधिना'संदंशकप्रमार्ज्जनादिनेति गाथार्थः॥२८॥ततश्च संज्ञां व्युत्सृजति, तत्र चायं विधिः—

उवगरणं वामे ऊरुगंमि मत्तं च दाहिणे हत्थे । तत्थऽण्णत्थ व पुंछे तिहिँ आयमणं अदूरंमि ॥४२९॥

उपकरणं वामे ऊरुणि—दण्डको रजोहरणं च, मात्रकं च दक्षिणे करे भवति, वामे तु डगलकाः, तत्रान्यत्र वा पुञ्छेत्, केसिंचि आएसो तत्थेव पुच्छंति, अण्णे भणंति—जइ तत्थेव पुच्छंति हत्थे लेवाडिंति, ताहे कहं रयहरणं गिण्हतु?, तओ सण्णाओ ओसरित्ता ताहे पुच्छंति, निल्लेवंति य णातिदूरे णासण्णे, दोण्हवि दोसा भाणियव्वा, निल्लेविउकामो निविसइ, तत्थ तहेव पमज्जित्ता णिसीयइ, पत्ताबंधं मुइत्ता मत्तयं गिण्हइ, दाहिणेण हत्थेण तहेव रयहरणं दंडयं च करेत्ति, तिहिं नावापूरेहिं निल्लेवेइ, तिहिं च आयमइ जइ अप्पसागारिअं, अह सागारिअं ताहे सव्वं कुरुकुयं करेइ, मत्तयस्स य कप्पं करेति, एस विही, अत एवाह—त्रिभिर्नावापूरैराचमनमदूरे स्थण्डिलादिति गाथार्थः ॥ २९ ॥ अपवादमाह—

दिसिपवणगामसूरिअछायाए मज्जिऊण तिक्खुत्तो।जस्सोग्गहोत्ति किच्चा ण वोसिरे आयमिज्जा वा॥२२५॥

'दिसिपवणगामसूरिय'त्ति दिक्पवनग्रामसूर्यान् विधिना अपृष्ठतः कृत्वा, छायायां संसक्तग्रहणीति गम्यते, प्रमृज्य 'त्रिकृत्व' इति त्रीन् वारान् स्थण्डिलमिति गम्यत एव, ततो यस्यावग्रह इतिकृत्वा णमिति वाक्यालङ्कारे व्युत्सृजेत् संज्ञामिति प्रक्रमः, आचमेद्वा इत्थमेव स्थण्डिल इति गाथार्थः ॥ २५ ॥ भावार्थं त्वाह—

उत्तर पुव्वा पुज्जा जंमाए निसिअरा अहिवडंति । घाणारिसा य पवणे सूरिअगामे अवण्णो उ ॥२२६॥

इह दिक्चिन्तायामुत्तरपूर्वे दिशौ पूज्ये, याम्यायां दिशि निशाचरा अभिपतन्ति रात्रौ, अतः सदैव न पूर्वां पृष्ठतः कुर्यात्, नापि चोत्तरां, न रात्रौ दक्षिणामिति सम्प्रदायः, उक्तं चान्यैरपि—"उभे मूत्रपुरीषे तु, दिवा कुर्यादुदङ्मुखः । रात्रौ दक्षिणतश्चैव, तथाऽस्यायुर्न हीयते ॥ १ ॥" पवनमधिकृत्याह—'घ्राणार्शांसि च' चशब्दाल्लोकोपघातश्च, पवन इत्यतः पवनमपि न पृष्ठतः कुर्यात्, ग्रामसूर्यावधिकृत्याह—ग्रामे सूर्ये अनयोर्द्वयोरपि पृष्ठिदाने 'अवर्ण' इत्यश्लाघा लोके, अत एतावपि न पृष्ठतः कुर्यादिति गाथार्थः ॥ २६ ॥ छायामधिकृत्याह—

संसत्तग्गहणी पुण छायाए निग्गयाइ वोसिरइ ।
छायाऽसइ उण्हंमिवि वोसिरिअ मुहुत्तगं चिट्ठे ॥ २२७ ॥ दारं ।

संसक्तग्रहणिः पुनः, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, भिन्नवर्चा अप्येकच्छायायां पुष्पफलप्रदक्षिणादिसम्बन्धिन्यां निर्गतायां

दव्वासण्णं भवणाइयाण तहिअं तु संजमायाए। आयापवयणसंजम दोसा पुण भावआसण्णे ॥४२३॥ दारं॥

आसन्नं द्विविधं–द्रव्यासन्नं भावासन्नं च, तत्र द्रव्यासन्नं भवनादीनामासन्नं, आदिग्रहणात् देवकुलादिग्रहः, तत्र तु द्वौ दोषौ–संयमविराधना आत्मविराधना च, 'आत्मप्रवचनसंयमदोषाः पुनर्भावासन्न' इति आत्मोपघातादयो दोषा भावासन्न इति । अत्र वृद्धवादः–भावासन्नं नाम ताव अच्छइ जाव आगाढं जायं, ताहे धाइउं पवत्तो, अण्णेहिं धिज्जाइएहिं दिट्ठो, ताहे ते हसंति, पुरओ आगया वंदंति धम्मं च पुच्छंति, जदि धरेइ ताहे मरइ, अन्तरा वोसिरइ ताहे उड्डाहो, चउत्थरसियं वा परिमियं नीयं, अहवा जा सा जतणा तं न करेइ, अंतरा अथंडिले वोसिरिज्जा, एस भावासण्णो, तओ दोसत्ति गाथार्थः ॥ २३ ॥ विलवज्जियमाह—

हुंति विले दो दोसा तसेसु बीएसु वावि ते चेव ।
संजोगओ अ दोसा मूलगमा होंति सविसेसा ॥ ४२४ ॥ दारं ॥

भवतो 'विल' इति विलवति स्थण्डिले द्वौ दोषौ, सर्प्पादेरात्मविराधना पिपीलिकादिव्यापत्तितः संयमविराधनेति, तथौघतस्त्रसेषु–कृम्यादिषु बीजेषु चापि–शाल्यादिषु आकीर्णे स्थण्डिले 'त एव' दोषाः संयमविराधनादयः 'संयोगतश्च' अन्योऽन्यं संगतस्तद्योगेन दोषा मूलगमात् सकाशाद् भवन्ति सविशेषाः, तदन्यसंयोगिसत्कदोषसद्भावादिति गाथार्थः ॥ २४ ॥ परिशुद्धे स्थण्डिले व्युत्सर्गविधिमाह—

'विषमप्रलुठने आत्मे'ति विषमस्थण्डिलोपविष्टप्रलुठने सत्यात्मा विराध्यते, इतरस्य तु-पुर्रापादेः प्रलुठने गति 'षट्काया' इति पृथिव्यादयो विराध्यन्ते, तस्मात्सम उपवेष्टव्यं, तथा 'शुषिरे' तृणाद्यवष्टब्धे वृश्चिकादय इति, तेभ्य आत्मोपघातः, 'उभयाक्रमण' इतिपु रीषकायिकाभ्यामाक्रमणे त्रसादयो व्यापद्यन्ते इति संयमोपघात इति गाथार्थः॥२०॥अचिरकालकृतमाह-

जे जंमि उउम्मि कया पयावणाईहिं थंडिला ते उ ।

होंति इअरंमि चिरकया वासावुत्थे अ बारसगं ॥ २२१ ॥

यानि यस्मिन् 'ऋतौ' हेमन्तादौ कृतानि प्रतापनादिभिः कारणैः स्थण्डिलानि तानि भवन्ति अचिरकालकृतानि, इतरस्मिन्-ग्रीष्मादौ ऋतौ चिरकालकृतानि, तथैवाचिरकालकृतानीति भावः, वर्षोषिते च ('वासावुत्थे'त्ति वर्षोषिते च) ग्रामादौ द्वादशक'मिति वर्षद्वादशकं यावदचिरकालकृतानीति गाथार्थः ॥ २१ ॥ विस्तीर्णदूरावगाढे अभिधित्सुराह—

हत्थायथं समंता जहन्नमुक्कोस जोअणविमुक्कं (विछक्कं) । दारं ।

चउरंगुलप्पमाणं जहन्नयं दूरमोगाढं ॥ २२२ ॥

'हस्तायतं' हस्तविस्तीर्णं 'समन्तात्' सर्वतः आयामविष्कम्भाभ्यां जघन्यं स्थण्डिलं, उत्कृष्टं 'योजनद्विषट्क'मिति द्वादशयोजनं विस्तीर्णं चक्रवर्त्तिकटकनिवेशादौ, शेषं हि मध्यममिति गम्यते, चतुरङ्गुलप्रमाणं जघन्यं दूरावगाढमिति, अत ऊर्ध्वं मुत्कृष्टादिविभागः, अत्र च वृद्धसम्प्रदायः-चउरंगुलोगाढे तण्णा वोसिरिज्जइ, ण काइया इति गाथार्थः ॥२२॥ अधुनाऽऽसन्नमाह-

कलुषद्रवे सति असति वा द्रवे 'पुरुषालोक' इति तदालोकवत् स्थण्डिलं परिगृह्यते, भवन्ति दोषाः पूर्वोक्ता इति, स्त्रीनपुंसकयोरप्यालोकवत्येत एव दोषा इति, महति वैक्रिये इन्द्रिये मूर्च्छा च भवत्यभिलाषातिरेकादिति गाथार्थः ॥ १७ ॥ प्रागुपन्यस्तचतुर्भङ्गिकागुणदोषमाह—

आवायदोस तइए बिइए संलोअओ भवे दोसा ।
ते दोऽवि नत्थि पढमे तहिँ गमणं भणिअविहिणा उ ॥ ४१८ ॥

आपातदोषास्तृतीये भङ्ग इति सूत्रक्रमप्रामाण्याद्, द्वितीये भङ्गके संलोकतो भवेयुर्दोषाः, तौ द्वावपि न स्तः प्रथमे भङ्गेऽतस्तत्र गमनं, कथमित्याह–भणितविधिनैवेति गाथार्थः ॥ १८ ॥ उक्तमनापातसंलोकवद्, अधुनोपघातवदाह—

आयापवयणसंजम तिविहं उवघाइअं मुणेअव्वं । आरामवच्चअगणी पिट्टणमसुई अ अन्नत्थ ॥ ४१९ ॥

आत्मप्रवचनसंयममाश्रित्य त्रिविधमुपघातवत् मन्तव्यं, आत्मोपघातवत्प्रवचनोपघातवत्संयमोपघातवच्च, तत्रारामे आत्मोपघातवत्, तत्स्वामिनः सकाशात् 'पिट्टना'ताडनेतिकृत्वा, 'वर्च्च' इति वर्च्चःस्थानं प्रवचनोपघातवद् अशुचीतिकृत्वा जुगुप्सासम्भवाद् 'अग्नि'रित्यङ्गारादिदाहस्थानं संयमोपघातवद्, अन्यत्र अन्यत्र करणे कायोपमर्दादिति गाथार्थः ॥ १९ ॥ उक्तमुपघातवत्, साम्प्रतं व्यतिरिक्तदोषोपदर्शनद्वारेणैव समाशुषिरे भणति—

विसम पलोट्टण आया इअरस्स पलोट्टणंमि छक्काया । झुसिरंमि विच्छुगाई उभयक्कमणे तसाईआ ॥४२०॥

जत्थऽम्हे वच्चामो जत्थ य आयरइ नाइवग्गो णे । परिभव कामेमाणा संकेअगदिन्नगा वावि ॥२१४॥

यत्र वयं गच्छामः पुरीषोत्सर्गाय यत्र चाचरति पुरीषोत्सर्गार्थं 'ज्ञातिवर्गो नः' स्वजनवर्गोऽस्माकं एतेऽपि तत्र गच्छन्तीति परिभवन्तः सन्तः तथा कामयमानाः काञ्चित् स्त्रियं दत्तसङ्केतका वापि गच्छन्तीत्यगारिणामप्ययमापातो भवतीति गाथार्थः ॥ १४ ॥ तथा—

दवअप्पकलुसअसई अवण्ण पडिसेह विप्परीणामो । संकाइआइ(उ)दोसा पंडित्थीसुं भवे जं च ॥२१५॥

द्रवे अल्पे तथा कलुषे असति वा 'अवर्ण' इत्यश्लाघा, प्रतिषेधः तद्द्रव्यान्यद्रव्ययोः, विपरिणामो विदुषानां, पुरुषापातवद्दोषः, स्त्र्याद्यापातवद्दोषमाह—शङ्कादयस्तु दोषाः स्त्रीनपुंसकयोरिति, तदापातवतीत्यर्थः, भवेयुश्च ताभ्यां तत्कालात् सहेत्यादीति गाथार्थः ॥ १५ ॥ उक्तः पुरुषापातवति दोषः, तिर्यगापातवत्याह—

आहणणाई दित्ते गरहिअतिरिएसु संकमाईआ । एमेव य संलोए तिरिए वज्जित्तु मणुआणं ॥२१६॥

आहननादयो 'दृप्त' इति दर्पिततिर्यगापातवतीति भावः, गर्हिततिर्यक्ष्विति—एडिकाद्यापातवति शङ्कादयो दोषाः । संलोकवद्दोषानाह—एवमेव च 'संलोक' इति तद्वत्येव स्थण्डिल इत्यर्थः, तिरश्चो वर्जयित्वा 'मनुष्याणामि'ति मनुष्यालोकवतीति गाथार्थः ॥ १६ ॥ एतदेव व्याचष्टे—

कलुसदवे असई अ व पुरिसालोए हवंति दोसा उ । पंडित्थीसुऽवि एए खुड्डे वेउवि मुच्छा य ॥२१७॥

एए च्चेव विभागा परतित्थीणंपि हुंति मणुआणं। तिरिआणंपि विभागं अओ परं कित्तइस्सामि ॥४११॥

एत एव—अनन्तरोदिताः शौचवाद्यादयो विभागा—भेदाः परतीर्थिकानामपि भवन्ति 'मनुजानां' कापिलादीनां, तिरश्चामपि विभागं स्थण्डिलप्रतिबद्धमेव अतः परं कीर्त्तयिष्यामि इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

दित्ताऽदित्ता तिरिआ जहण्णमुक्कोस मज्झिमो च्चेव। एमेवित्थिनपुंसा दुगुंछिअदुगुंछिआ नवरं ॥४१२॥

'दृप्तादृप्तास्तिर्यञ्चः' दृप्ता—दर्प्पिता अदृप्तास्तु-इतरे इति, दुष्टेतर इत्यन्ये, एते च जघन्या उत्कृष्टा मध्यमाश्चैव, जघन्या—एडकशूकरादयः उत्कृष्टा—हस्तिवृषभादयः मध्यमाश्च—उष्ट्रादयः, एवमेव स्त्रीनपुंसके तिर्यक्सम्बन्धिनी वेदितव्ये, जुगुप्सिताजुगुप्सिते नवरं, तत्र जुगुप्सिते-एलकखरादिरूपे अजुगुप्सिते-गवादिरूप इति गाथार्थः ॥ १२ ॥ इत्थं स्थण्डिलमभिधाय गमनविधिमाह—

गमण मणुन्ने इअरे वितहायरणंमि होइ अहिगरणं। पउरदवकरण दट्ठुं कुसीलसेहाइगमणं तु॥४१३॥दारं॥

गमनं 'मनोज्ञ' इति सपक्षसंयतसंविग्नमनोज्ञापातवतीति भावः, इतरस्मिन्निति—अमनोज्ञापातवति, सामाचारीविपर्यासदर्शनेन वितथाचरणमिति शिक्षकाणां मिथो भवति अधिकरणम्, इदं तावत् संविग्नापातवति, असंविग्नापेक्षया तु दोषमाह—प्रचुरद्रवकरणं दृष्ट्वा कुशीलेषु—असंविग्नेषु 'शिक्षकादिगमनं तु' शौचवादिशिक्षकपरीषहपराजितानामेतेऽपि प्रव्रजिता एवेति परमेत इत्यनुकूलतया गमनमिति गाथार्थः ॥१३॥ संयत्यापातवति तु न गन्तव्यमेव, परपक्षपुरुषापातवति दोषमाह—

तत्रापातवद् द्विविधं—स्वपक्षतः परपक्षतश्च ज्ञातव्यं, स्वपक्षापातवत् परपक्षापातवच्चेत्यर्थः, द्विविधं भवति 'स्वपक्ष' इति स्वपक्षविषयं, संयतस्वपक्षापातवत् तथा संयतीस्वपक्षापातवच्चेति गाथार्थः ॥ ७ ॥

संविग्गमसंविग्गा संविग्ग मणुण्णएअरा चेव । असंविग्गावि य दुविहा तप्पक्खिअ एअरा चेव ॥२०८ द्वारं॥

ते च संयतादयो द्विप्रकाराः—संविग्ना असंविग्नाश्च, संविग्ना—उद्यतविहारिणः असंविग्नाः—शीतलाः, संविग्ना अपि द्विप्रकाराः—मनोज्ञा इतरे चेव, मनोज्ञा—एकसामाचारीस्थिता इति, इतरे तु—अमनोज्ञाः भिन्नसामाचारीस्थिता इति, असंविग्ना अपि च द्विविधाः—'तत्पाक्षिका इति' संविग्नपाक्षिकाः 'इतरे चेव' असंविग्नपाक्षिका इति च, तत्रैवमापातवत् स्थण्डिलमपि तदुपदेशवदवगन्तव्यं, यथा संविग्नपक्षापातवदित्यादीति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्तं स्वपक्षापातवत्, परपक्षमधिकृत्याह—

परपक्खेऽवि अ दुविहं माणुसतेरिच्छियं च नायव्वं । एक्किंपि अ तिविहं इत्थी पुरिसं नपुंसं च ॥२०९॥

'परपक्षेऽपि च' परपक्षविषयमपि च द्विविधं—मानुषं तैरश्चं च ज्ञातव्यं, मानुषापातवत्तिर्यगापातवच्च, एकैकमपि च त्रिविधमेतयोः, कथमित्याह—स्त्री पुरुषं नपुंसकं चेति, उपलक्षणत्वात् स्त्र्यापातवत्पुरुषापातवन्नपुंसकापातवच्चेति गाथार्थः ॥९॥

पुरिसावायं तिविहं दंडिअ कोडुंबिए अ पागइए । ते सोअऽसोअवाई एमेव णपुंसइत्थीसुं ॥२१०॥

पुरुषापातवत् त्रिविधं—दण्डिकापातवत् कुटुम्बिकापातवत् प्राकृतापातवच्च, ते च दण्डिकादयः शौचवाद्यशौचवादिनो भवन्ति, एवमेव स्त्रीनपुंसकयोरपि शौचाशौचवादित्वं योज्यम्, एतद्व्यपदेशाच्च स्थण्डिलस्य तथा व्यपदेश इति गाथार्थः ॥१०॥

शतं चतुर्भिर्विभक्तं त्रिंशदेव भवति, तैस्त्रिंशद्भिस्तेभ्य उपरि यः सप्तकः स गुण्यते, स च तैर्गुणितः द्वे शते दशोत्तरे भवतः, पुनश्चाधस्त्यानन्तरः पञ्चकस्तेन दशोत्तरे द्वे शते विभज्येते, तत्र च द्विचत्वारिंशल्लभ्यन्ते, यतो दशोत्तरे द्वे शते पञ्चधा विभक्ते द्विचत्वारिंशदेव भवन्ति, तैश्च तस्योपरि यः षट्कः स गुण्यते, स च तैर्गुणितः द्विपञ्चाशदुत्तरे द्वे शते भवतः, इत्येवं सर्वत्र भावना कार्येति गाथार्थः ॥ ३ ॥ एककव्यादिसंयोगपरिमाणमाह—

दस पणयाल विसुत्तर सयं च दो सय दसुत्तरं दो अ। बावण्ण दो दसुत्तर विसुत्तरं पंचचत्ता य ॥४०४

अधिकृतगाथायां दर्शिता अपि तत्त्वतः कियन्तो भवन्तीत्याह—एककसंयोगाः दश द्विकसंयोगाः पञ्चचत्वारिंशदित्येवमादि भावितार्थमेवेति गाथार्थः ॥ ४ ॥

दस एगो अ कमेणं भंगा एगाइचारणाए उ। सुद्धेण समं मिलिआ भंगसहस्सं चउवीसं ॥ ४०५ ॥

भावितार्थैव ॥ ५ ॥ अहवा स्थण्डिलमूलभेदं व्याचिख्यासुराह—

अणावायमसंलोए अणावाए चेव होइ संलोए। आवायमसंलोए आवाए चेव संलोए ॥ ४०६ ॥

तत्र अनापातवदसंलोकवच्चेति चतुर्भङ्गिका कण्ठ्या ॥ ६ ॥

तत्थावायं दुविहं सपक्खपरपक्खओ अ नायवं। दुविहं होइ सपक्खे संजय तह संजईणं च ॥४०७॥

१०२४ स्थ
ण्डिलभंगाः

द्विकसंयोगे चत्वारो भङ्गा भवन्ति, द्वाभ्यां चतुर्भङ्गिकानिष्पत्तेः, ते चैवं–अणाघातमसंलोअं ४, त्रिष्वष्टौ भवन्ति त्रिभ्योऽष्टभङ्गिकानिष्पत्तेः, 'शेषेषु' चतुष्प्रभृतिषु 'द्विगुणद्विगुणे'ति द्विगुणद्विगुणा वृद्धिर्भवति, चतुर्भ्यः षोडशभङ्गिकानिष्पत्तेः इत्यादि, एवमेकैकवृद्ध्या भङ्गानां परिसङ्ख्या दशभिः वस्तुभिर्भङ्गसहस्रं चतुर्विंशत्युत्तरमिति गाथार्थः ॥ २ ॥ भङ्गपरिसङ्ख्यापरिज्ञानोपायान्तरमाह—

अहवा-उभयमुहं रासिदुगं हिट्ठिल्लाणंतरेण भय पढमं । लद्धऽहरासिविहत्तं तस्सुवरिगुणं तु संजोगा ॥२०३॥

'उभयमुख'मिति स्थापनया दर्शयिष्यामः, 'राशिद्वयम्' एकादिस्थापनासम्पातद्वयं, तत्र चाधस्तनानन्तरेण भजेत् प्रथमम्–उपरितनं, 'लब्धाधोराशिविभक्तेन' अधोराशिना विभक्ते सत्युपरितनराशौ यल्लब्धं तेन तस्योपरि यत् तद्गुणितं तत्संयोगा इति गाथाक्षरार्थः ॥ ३ ॥ भावार्थस्तु दर्श्यते, तत्रेयं स्थापना—

१	१०	४५	१२०	२१०	२५२	२१०	१२०	४५	१०
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१

इह चाधरत्यपर्यन्ते एककः तस्यानन्तरो द्विकः, तेनोपरितनो दशको भज्यते, तत्र च पञ्च लभ्यन्ते, यतो द्विधा विभक्ताः (दश) पञ्चैव भवन्ति, तेन च पञ्चकेन तस्योपरि यो नवकः स गुण्यते, स च पञ्चकेन गुणितः पञ्चचत्वारिंशद् भवन्ति, पुनश्चाधस्त्यानन्तरस्त्रिकः तेन पञ्चचत्वारिंशद्विभज्यन्ते, तत्र पञ्चदश लभ्यन्ते, यतः पञ्चचत्वारिंशत् त्रिधा विभक्ताः पञ्चदशैव भवन्ति, तेन पञ्चदशकेन तस्योपरि योऽष्टकः स गुण्यते, स च तेन गुणितो विंशत्युत्तरं शतं भवति, पुनश्चाधस्त्यानन्तरश्चतुष्कः, तेन विंशत्युत्तरं शतं विभज्यते, तत्र त्रिंशल्लभ्यते, यतो विंशत्युत्तरं

अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवघाइए । समे अज्झुसिरे आवि, अचिरकालकयम्मि अ ॥ ३९९ ॥
विच्छिण्णे दूरमोगाढे, णासण्णे बिलवज्जिए ।
तसपाणबीअरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ॥ ४०० ॥ दो दारगाहाओ ।

अनापातवत् प्राकृतशैल्या मतुब्लोपाद् अनापातं तत्र एवमसंलोकवदसंलोकं तत्रानापातेऽसंलोके च, 'परस्ये'त्युभयत्र सम्बध्यते, तथा 'अनुपघातिनि' आत्मोपघातादिरहिते, 'सम' इति वैषम्यवर्जिते, 'अशुषिरे वापि' अपोले चापि, 'अचिरकालकृते च' स्वल्पकालनिविष्ट इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ 'विस्तीर्णे' महति, 'दूरावगाढे' गम्भीरे, 'नासन्ने' नातिसमीपस्थे, आरामादेरिति गम्यते, 'बिलवर्जिते' दर्यादिरहिते, 'त्रसप्राणिबीजरहिते' स्थावरजङ्गमजन्तुशून्ये, 'उच्चारादीन्' उच्चारप्रश्रवणश्लेष्मादीन् 'व्युत्सृजेत्' परित्यजेदिति गाथार्थः ॥ ४०० ॥

एगंदुतिचउपंचच्छक्कसत्तट्ठनवगदसएहिं । संजोगा कायव्वा भंगसहस्सं चउव्वीसं ॥ ४०१ ॥

इह खलु एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवदशभिरनन्तरोपन्यस्तैर्भेदैः संयोगाः कर्त्तव्याः, तत्र च भङ्गसहस्रं चतुर्विंशत्युत्तरं भवतीति गाथार्थः ॥ ४०१ ॥ एतच्चैवं द्रष्टव्यमित्याह—

दुगसंजोगे चउरो तिगऽट्ठ सेसेसु दुगुणदुगुणा उ । भंगाणं परिसंखा दसहिं सहस्सं चउव्वीसं ॥ ४०२ ॥

स्थण्डिलदोषाः

एकैकः सङ्घाटक इति, सङ्घाटकत्वं बहिर्भूम्यपेक्षया, त्रयाणामाचमनं यावद् भवति द्रवग्रहणमेतावत् करोतीति वाक्यशेषः, तदनेन विधिना व्रजन्ति, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वादनेनैवेति गाथार्थः ॥ ९७ ॥

अनुअलिया अतुरंता विगहारहिआ वयंति पढमं तु ।
निसिइत्तु डगलगहणं आवडणं वच्चमासज्ज ॥ ३९८ ॥ (विआरित्ति दारं गयं)

अनुअलिता इति समगमनपरिहारेण 'अत्वरमाणाः' असम्भ्रान्ताः विकथारहिता ईर्यापथयुक्ता एव व्रजन्ति प्रथमं स्थण्डिलं, तुर्विशेषणार्थः, तद्भावयिष्यत्, तत्र चैषा सामाचारी–थंडिलस्स अब्भासे दिसालोअं करेंति, किंनिमित्तं ?, परिसोहणत्थं, डगलगाणं च आदाणं करेंति, जइ उद्धट्ठिओ गिण्हइ असामायारी, अपमज्जिए वा जइ गिण्हइ, ते पुण डगलगा दुविहा–संबद्धा असंबद्धा य, संबद्धा जे भूमीए समं लग्गा, ते जइ गिण्हइ असामायारी, जा य तत्थ विराहणा, जे सम्बद्धा ते तिविहा–उक्कोसा मज्झिमा जहण्णा, उक्कोसा पहाणा मज्झिमा इट्टालादि जहण्णा ढेल्लुगादि, उक्कोसे समे मसिणे य गिण्हइ, ताहे तिन्नि वारे आवडेइ, जो भिन्नवच्चो सो तिण्णि अण्णे देति, जो अरिसाइत्तो भगंदलाइत्तो वा सो न गिण्हइ, कह पुण गिण्हंति ?, संडासयं पमज्जित्ता णिविट्ठो गिण्हति'त्ति, एतदेवाह–'निषद्य' उपविश्य डगलग्रहणं करोति, आपतनं तेषामेव भूमौ, वर्चः आसाद्य ग्रहणं तेषामेवेति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ 'व्रजन्ति प्रथमं त्वि'त्युक्तं तच्च स्थण्डिलम्, अतस्तदभिधित्सुराह—

करेइ असमायारी, एवं ता अकालसण्णाए भणिओ विही, जा सा कालओ सा सुत्तत्थाणि करित्ता ततियाए पोरिसिएत्ति", अलं तावत्सामाचार्यन्तरेण, एतदेव सूचयन्नाह—

अइरेगगहण उग्गाहिएण आलोइअ पुच्छिउं गच्छे। एसा उ अकालंमी अणहिंडिअ हिंडिआ काले ॥३९४॥

अतिरिक्तग्रहणं पानकस्य उद्ग्राहितेन भाजनेनालोच्य गुरोः पृष्ट्वा तमन्यांश्च साधून् गच्छेत्, एषा पुनरकाले संज्ञा अहिण्डितहिण्डितयोस्तु, 'काल' इति कालसंज्ञाविषयविभागो निदर्शित एवेति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ उत्कृष्टकालसंज्ञामाह—

कप्पेऊणं पाए एक्किक्कस्स उ दुवे पडिग्गहिए। दाउं दो दो गच्छे तिण्हऽट्ठ दवं तु घित्तूणं ॥३९५॥

'कल्पयित्वा' विशोध्य पात्राणि एकैकस्य तु स्वसङ्घाटकप्रतिबद्धस्य द्वौ द्वौ प्रतिग्रहकौ—आत्मीयं तत्सम्बद्धं च दत्त्वा, समाध्यमात्रकानियमपरिभोगख्यापनपरमेतत्, द्वौ द्वौ गच्छतः, द्रवं तु त्रयाणामर्थाय गृहीत्वा कुरुकुचादिनिमित्तमिति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

कप्पेऊणं पाए संघाडइलो उ एगु दोण्हंपि। पाए धरेइ बिइओ वच्चइ एवं तु अण्णसमं ॥३९६॥

कल्पयित्वा पात्राणि सङ्घाटकवान् 'एकः' अन्यतरो द्वयोरपि पात्रे धारयति, द्वितीयस्तु सङ्घाटकवान् व्रजति, एवमन्यसममिति-अन्यसङ्घाटकसत्कसाधुसममिति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

एक्किक्को संघाडो तिण्हायमणं तु जत्तिअं होइ। दवगहणं एवइअं इमेण विहिणा उ गच्छंति ॥३९७॥

दुविहा-काले अकाले य, तत्थ जा काले सा सुत्तपोरिसिं अत्थपोरिसिं च काऊणं कालस्स पडिक्कमित्ता जावाए वेलाए सा काले, अहवा जा जिमियस्स सा काले, सेसा अकाले, जइ णाम पढमपोरिसीए सण्णा भविज्जा तत्थ को विही ?, तत्थ उग्गाहेत्ता पाणयं गिण्हइ, अह ण उग्गाहेइ असामायारी, लोगो विजाणइ जहा एस बाहिरपाणयं गिण्हइ, ताहे ण दिज्ज पउरत्थरलिअं, उग्गाहिएण य अण्णो गुणो, कोइ सड्ढो पहाइओ, सद्धाए पुण्णाए साहू दिट्ठो, धुवो लाभोत्ति पडि-लाहिअ, सोऽवि लाभो भवइ, संकाऽवि ण भवइ, अण्णे आणंति—जहा पाणगस्स हिंडंति, सो पुण केरिसं पाणगं गिण्ह-इयव्वं ?, अच्छमपुप्फियम्—अगंधं, आहे ण होज्ज पउरत्थरलिअं ताहे निदंडोदयं गिण्हइ, जाए दिसाए सण्णाभूमी ताए दिसाए न घेत्तव्वं, जइ गिण्हइ असामायारी, उड्डाहो हुज्जा, तम्हा अण्णाए दिसाए पाणयं घेत्तव्वं, तंपि जइ अणापुच्छाए वच्चति असामायारी, तो केवलं परिमियं पाणयं गहियं, ताहे अण्णोऽवि भणेज्ज-अहंपि वच्चामि, जइ परिमिए एक्कस्स दो वच्चंति उड्डाहो, अह ण अण्णं मग्गइ ताहे आयावराहणा भवति, ताहे दोसा, तम्हा आपुच्छित्ता गंतव्वं पाणयस्स, आमंतेयव्वा य—अज्जो ! कस्स भे कज्जं सण्णापाणएण ?, ताहे जत्तिया भणंति तेसिं परिमाणेण गिण्हइ, जइ दो वच्चंता ता तिण्ह परिमाणेण गिण्हइ, अह एक्के ताहे अपरिमियं गिण्हिज्जा, पिच्छण आगओ बाहिं पडिलेहेत्ता पमज्जित्ता दंडयं ठावित्ता इरियाए पडिक्कमित्ता आलोएत्ता ठाएत्ता पुणोऽवि आपुच्छंति—वच्चामि बाहिं, आणवइ आमंतेइ, जइ कोइ वच्चइ ताहे तप्पमाणं पाणयं गिण्हइ, आहे नत्थि अप्पणा एगो ताहे थिउणं गिण्हइ, ताहे एक्कगोऽवि वच्चइ, तं ओग्गाहिअमण्णस्स दाऊण हत्थे दंडयं पमज्जित्ता ताहे गिण्हइ, जइ अणापुच्छाए वच्चइ असामायारी, आववित्तयं न

प्रक्षेपणादय' इति अदाने लुच्छयाऽऽयायां ते एव क्षुद्रजन्तुत्वात् प्रक्षेपणापद्यन्ते, शासनावर्णवादं गृह्णन्ति, तथा च सति संसारे पतन्त्यनर्थं प्राप्नुवन्ति, तदेतद्वस्तुतो निमित्तकारणत्वेन कृतं भवतीति प्रच्छन्ने भोक्तव्यमिति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ मूलद्वारगाथायां पात्रकपावनद्वारं व्याख्यातं, तदनन्तरं यद्विधेयं तद्दर्शयति—

संवरणं तयणंतरमेक्कासणगेऽवि अप्पमायत्थं ।

आणाअणुहवसेअं आगारनिरोहओ अण्णं ॥ ३९२ ॥ पत्तगधुवणत्ति दारं गयं ।

पात्रपावनानन्तरं प्रत्याख्यानं विधेयं, यद्यपि प्रागेवैकाशनकं प्रत्याख्यातं तथापि भुक्त्वा प्रत्याख्यानं ग्राह्यं, अप्रमादार्थं, तथाऽऽज्ञानुभवात् श्रेयः, एतदाकारनिरोधतश्चान्यत्प्रयोजनं, 'सागारियागारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं आउंटणपसारणेणं पारिट्ठावणियागारेणं' इत्येते प्राक् आकारा गृहीताः तेषां निरोधार्थं पुनरपि प्रत्याख्यानं विधेयमिति ॥ ९२ ॥ अधुना विचारद्वारमाह—

कालमकाले सण्णा कालो तइयाएँ सेसगमकालो।पढमापोरिसि आपुच्छ पाणगमपुप्फि अण्ण दिसिं३९३

कालाकालयोः संज्ञा, 'संज्ञे'ति समयपरिभाषया पुरीषोत्सर्गः, स काले अकाले च भवति, तत्र कालस्तृतीयायां पौरुष्यां तस्यां औचित्येन, शेषः अकालः, स्वाध्यायादिहानिप्रसङ्गात्, प्रथमायां पौरुष्यां संज्ञाभावे सत्यापृच्छ्य शेषसाधून् पानकमपुष्पितमन्यस्यां दिशि ग्राह्यमिति गाथाक्षरार्थः ॥ ९३ ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—“सण्णा

आकारसंवराय प्रत्याख्यानं संज्ञा गा. ३९२-३

अच्छदवेणुवउत्ता निरवयवे दिंति तेसु कप्पतिअं । नाऊण व परिभोगं कप्पं ताहे पवड्ढिंति ॥ ३८९ ॥

'अच्छद्रवेण' स्वच्छोदकेनोपयुक्ताः सन्तः, अवयवकल्पयोर्दत्तावधाना इति भावः, निरवयव इति जातावेकवचनं ततश्च निरवयवेषु ददति 'तेषु' भाजनेषु कल्पत्रयं समयप्रसिद्धं, ज्ञात्वा वा परिभोगमाधाकर्म्मादेः कल्पं ततः प्रवर्द्धयन्ति, मदोपतापरिक्षयार्थनेन गाध्यपरिहरणार्थमिति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ विधिविशेषमाह—

अंतो निरवयवि च्चिअ विअतिअकप्पेऽवि बाहि जइ पेहो । अवयवमंतजलेणं तेणेव करिज्जते कप्पे ॥३९०॥

अन्तः—मध्ये निरवयव एव, पात्र इति गम्यते, द्वितीयतृतीयकल्पेऽपि प्रस्तुते बहिर्यदि प्रेक्षेत कथञ्चिदवयवं ततोऽन्तर्जलेन तेनैव गृहीतेन कुर्यात् तत्कल्पाद् बहिः, न पुनलङ्घनभयादन्यत्र गृह्णीयादिति गाथार्थः ॥ ९० ॥ यदुक्तं 'योग्यानि धावन्ति बहि'रित्यत्र कश्चिदाह—इत्थं सति तेऽत्र भुञ्जते प्रच्छन्न इत्यापन्नं, तदत्र किं प्रयोजनमिति प्रयोजनमाह—

पच्छन्ने भोत्तव्वं जइणा दाणाओं पडिनिअत्तेणं । तुच्छगजाइअदाणे बंधो इहरा पदोसाई ॥ ३९१ ॥

'प्रच्छन्ने' विजने भोक्तव्यं, केनेत्याह—'यतिना' प्रव्रजितेन, किंविशिष्टेनेत्याह—दानात् प्रतिनिवृत्तेन, पुण्यपापक्षयार्थिना मुमुक्षुणेत्यर्थः, अप्रच्छन्नभोजने दोषमाह—तुच्छयाचितदाने बन्धः, सम्भवति च केचिद् द्रमका ये प्रव्रजितानपि याचन्ति, तत्र चावश्यमनुकम्पयाऽपि ददतः पुण्यबन्ध एव, असावपि च नेष्यते, सौवर्णनिगडकल्पत्वात् तस्य, 'इतरथा

अब्भंगेण व सगडं न तरइ विगईं विणाऽवि जो साहू। सो रागदोसरहिओ मत्ताए विहीए तं सेवे ॥३८६॥

अभ्यङ्गेनेव शकटं न शक्नोत्यात्मानं यापयितुं विकृतिं विना तु यः साधुः सः इत्थंभूतो रागद्वेषरहितः सन् मात्रया 'विधिना' कायोत्सर्गादिलक्षणेन तां सेवेत इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ 'मानयुक्त'मित्युक्तं तदाह—

पडुपण्णऽणागए वा संजमजोगाण जेण परिहाणी ।

नवि जायइ तं जाणसु साहुस्स पमाणमाहारं ॥ ३८७ ॥ भुंजणत्ति दारं गयं ।

'प्रत्युत्पन्न' इति वर्तमाने 'अनागते वा' एष्ये 'संयमयोगानां' कुशलव्यापाराणां येन परिहाणिर्न जायते, तत्पुष्टतया क्षुधा वा, तं जानीध्वं साधोः 'प्रमाणमाहार'मिति प्रमाणयुक्तमिति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ मूलद्वारगाथायां भोजनद्वारमुक्तम्, अधुना पात्रधावनद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह—

अह भुंजिऊण पच्छा जोग्गा होऊण पत्तगे ताहे । जोग्गे धुवंति बाहिं सागरिए नवरमंतोऽवि ॥ ३८८ ॥

'अथे'त्युपन्यासार्थे भुक्त्वा पश्चात्—तदनन्तरं योग्या भूत्वा—करादिनिरवयवादिना उचिता भूत्वा पात्रकाणि 'ततः' तदनन्तरं योग्यानि निरवयवादिनैव प्रकारेण 'धावन्ति' समयपरिभाषया प्रक्षालयन्तीत्यर्थः 'बहिः' मण्डलभूमेरन्यत्र, सागारिके सत्युपघातसंरक्षणार्थं नवरमन्तोऽपि-अभ्यन्तरेऽपि धावन्तीति गाथार्थः ॥८८॥ केन विधिनेत्याह—

पात्रधावनविधिः गा.३८८–९०

एत्थं पुण परिभोगो निव्विइआणंपि कारणाविक्खो। उक्कोसगदव्वाणं न तु अविसेसेण विन्नेअं ॥ ३८२ ॥

अत्र पुनः-विकृत्यधिकारे परिभोगो निर्विकृतिकानामपि-खण्डादीनां कारणापेक्षः, कारणं शरीरासंस्तरणं, उत्कृष्टद्रव्याणां रसाद्यपेक्षयैव, न त्वविशेषेण विज्ञेयः परिभोग इति, एतदुक्तं भवति-'आवण्णनिव्विगइयस्स असहुणो परिभोगो, इंदियजयत्थं निव्विगतियस्स न परिभोगो'त्ति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ ओघतो विकृतिपरिभोगदोषमाह—

कारणे विकृतिभोगः अन्यथा दोषः गा. ३८२-७

विगई परिणइधम्मो मोहो जमुदिज्जए उदिण्णे अ। सुट्ठुवि चित्तजयपरो कहं अकज्जे न वट्टिहिई? ॥३८३॥

विकृतिः परिणतिधर्म्मा, कीदृगित्याह-मोहो यत् उदीर्यते, ततः किमित्याह-उदीर्णे च मोहे सुष्ठ्वपि चित्तजयपरः साधुः कथं अकार्ये न वर्तिष्यते? इति गाथार्थः ॥ ८३ ॥

दावानलमज्झगओ को तदुवसमट्ठयाए जलमाई। संतेऽवि न सेविज्जा मोहानलदीविए उवमा ॥ ३८४ ॥

दावानलमध्यगतः सन् कस्तदुपशमार्थं जलादीनि सन्त्यपि न सेवेत?, सर्व एव सेवेत इत्यर्थः, मोहानलदीप्तेऽप्युपमेति: जलादिस्थानीया दीपितः सेवेत इति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ अतिप्रसक्तनिवृत्त्यर्थमाह—

एत्थ रसलोलुआए विगई न मुअइ दढोऽवि देहेणं। जो तं पइ पडिसेहो दट्ठव्वो न पुण जो कज्जे ॥ ३८५ ॥

अत्र प्रक्रमे रसलोलुपतया कारणेन विकृतिं न मुञ्चति दृढोऽपि देहेन यतं प्रति प्रतिषेधो विकृतेर्द्रष्टव्यः, न पुनर्यः कार्ये न मुञ्चतीति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ एतदेवाह—

खेचरमांसं चर्म्मवसाशोणितं त्रिधैतदपि विकृतिरिति योगः, तथा 'आद्यत्रयचलचलोद्ग्राहिमकानि च' स्नेहेन भृतत-वकपक्वानि त्रीण्येव घारिकावटकादीनि विकृतिरिति गाथार्थः ॥७५॥ 'शेषाणि' चतुर्थघानादारभ्य न भवन्ति विकृतयः, 'अयोगवाहिनां साधूनाम्' अविशेषतो निर्विकृतिकपरिभोक्तॄणां तानि कल्पन्ते, न तत्र कश्चिद्दोषः, परिभुज्यन्ते न प्रायः तथाऽप्यनेन कारणेन, यत् निश्चयतो न ज्ञायन्ते कथमेतानि व्यवस्थितानि इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ एकेनैव तवकः पूर्यते पूपकेन यत् ततः—पूपकात् द्वितीयोऽपि निर्विकृतिकस्य कल्पते, असौ लेवाटको नवरमिति गाथार्थः ॥ ७७ ॥ विधिशेषमाह—दध्यवयवस्तु मस्तु विकृतिर्वर्त्तते, तक्रं न भवति विकृतिस्तु, क्षीरं तु निरवयवम्-एकमेव, नवनीतोद्ग्राहिमके च निरवयवे इति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ घृतघट्टः पुनर्विकृतिः, घृतघट्टो—महियाडुवं, विस्यन्दनं च केचिदिच्छन्ति, विष्यन्दनं 'अद्धनिदड्ढघयमज्झछूढतंदुलनिप्फण्णं' तिलगुडयोरविकृतिः 'सुकुमारिकाखण्डादीनि' सुकुमारिका-सस्तितीया खण्डा आदिशब्दात् सक्करमच्छंडियादीणित्ति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ मद्यमधुनोर्न खोलमदने विकृती, तथा पुद्गले पिण्डो न विकृतिः, पिंडोत्ति कालिज्जं, रसकः पुनस्तदवयवो—मांसावयवः स पुनर्नियमाद् भवेद्विकृतिरिति गाथार्थः ॥ ८० ॥ प्रासङ्गिकमाह—

खज्जूरमुद्दियादाडिमाण पिलुच्चुचिंचमाईणं । पिंडरसय न विगइओ नियमा पुण होंति लेवकडा ॥३८१॥

खर्जूरमृद्रिकादाडिमानामिति, मृद्वीका—द्राक्षा, तथा पिलिक्षचिञ्चादीनामिति, चिंचाओ—अंबिलिकाओ, पिण्डरसौ न विकृती भवतः, नियमात्पुनर्भवतः लेपकृताविति—लेवडगत्ति गाथार्थः ॥ ८१ ॥

खर्जूरमृद्वीकादयः गा. ३८१

एगेण चेव तवओ पूरिज्जइ पूअएण जो ताओ। बीओवि स पुण कप्पइ निव्विगइ अ लेवडो नवरं ॥३७७॥
दहिअवयवो उ मंथू विगई तक्कं न होइ विगईओ। खीरं तु निरावयवं नवणीओगाहिमं चेव ॥ ३७८ ॥
घयघट्टो पुण विगई वीसंदणमो अ केइ इच्छंति। तिल्लगुलाण निविगई सूमालिअखंडमाईणि ॥ ३७९ ॥

मज्ज महुणो ण खोला मयणा विगईओ पोग्गले पिंडो।
रसओ पुण तदवयवो सो पुण नियमा भवे विगई ॥ ३८० ॥

क्षीरं दधि नवनीतं घृतं तथा तैलमेव गुडो मद्यं मधु मांसमेव च तथा अवगाहिमकं च दशमीति एषा विकृतिसञ्ज्ञेति गाथापदानि ॥ ७१ ॥ पदार्थं त्वाह—गोमहिष्युष्ट्रीपशूनां एडकानां च सम्बन्धीनि क्षीराणि पञ्च विकृतयः, न शेषाणि—मानुषीक्षीरादीनि, तथा 'चत्वारि दध्यादीनि' दधिनवनीतघृतानि च चत्वार्येव गवादिसम्बन्धीनि, यस्मादुष्ट्रीणां 'तानि' दध्यादीनि न भवन्ति, मस्तुभावादिति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ चत्वारि भवन्ति तैलानि तिलातसीकुसुम्भसर्षपाणां सम्बन्धीनि विकृतयः, शेषाणि डोलादीनां सम्बन्धीनि न विकृतय इति, डोलानि—मधुकफलानीति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ द्रवगुडपिण्डगुडौ द्वौ, कक्कबपिण्डावित्यर्थः, मद्यं पुनः काष्ठपिष्टनिष्पन्नं सीधुसुरारूपं, माक्षिकपौत्तिकभ्रमरभेदं च त्रिधा मधु भवति विकृतिरिति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ 'जलस्थलखचरमांसं' चरशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, जलचरस्थलचर-

विकृतेर्दोपाः स्वरूपं च गा. ३७०–८०

विगइं विगईभीओ विगइगयं जो उ भुंजए साहू । विगई विगयसहावा विगई विगयं वला णेइ ॥३७०॥

'विकृति'मिति चेतोविकृतिमाश्रित्य 'विगतिभीतो' दुर्गतिभीतः सन्, दुष्टाच्चेतसः कुगतिरिति मन्यमान इत्यर्थः, 'विकृतिगत'मित्यत्र चेतोविकृतिहेतुत्वाद् विकृतिः—क्षीरादिरूपा परिगृह्यते तद्गतं—तज्जातं गतविकृति वा-विकृतिमिश्रं यस्तु भुङ्क्ते साधुः, स किमित्यत्राह—'विकृतिः' क्षीरादिलक्षणा 'विकृतिस्वभावा' चेतोविकारस्वभावा, यतश्चैवमतो विकृतिः प्रयुज्यमाना विगतिं वलान्नयति, तत्कारणपोषणादिति गाथार्थः ॥७०॥ साम्प्रतं विकृतिस्वरूपमाह—

विकृतेर्दोषाः स्वरूपं च गा. ३७०-८०

खीरं दहि नवणीयं घयं तहा तिल्लमेव गुड मज्जं । महु मंसं चेव तहा ओगाहिमगं च दसमी तु ॥ ३७१ ॥

गोमहिसुट्टिपसूणं एलग खीराणि पंच चत्तारि । दहिमाइआइं जम्हा उट्टीणं ताणि नो हुंति ॥ ३७२ ॥

चत्तारि हुंति तिल्ला तिलअयसिकुसुंभसरिसवाणं च । विगईओ सेसाइं डोलाईणं न विगईओ ॥ ३७३ ॥

दवगुडपिंडगुला दो मज्जं पुण कट्ठपिट्ठनिप्फन्नं । मच्छिअ-पोत्तिअ-भामरभेअं च तिहा महुं होइ ॥ ३७४ ॥

जलथलखहयर मंसं चम्मं वस सोणिअं तिभेअंपि ।
आइल्ल तिण्णि चलचल ओगाहिमगाइ विगई ओ ॥ ३७५ ॥

सेसा ण हुंति विगई अजोगवाहीण ते उ कप्पंति । परिभुंजंति न पायं जं निच्छयओ न नज्जंति ॥३७६॥

श्रीपञ्चव. प्रतिदिन- क्रिया २

ईरिअं च न सोहिज्जा । दारं । पेहाईअं च संजमं काउं । दारं ।
थामो वा परिहायइ । दारं । गुणणुप्पेहासु अ असत्तो ॥ ३६७ ॥ दारं ॥
नउ वण्णाइनिमित्तं एत्तो आलंबणेण वऽण्णेणं । तंपि न विगइविमिस्सं ण पगामं माणजुत्तं तु ॥ ३६८ ॥

नास्ति क्षुधा–बुभुक्षया सदृशी वेदनेति भुञ्जीत तद्वेदनोपशमाय, तद्भावे आर्त्तध्यानादिसम्भवात्, तथा 'छुहिओ'त्ति बुभुक्षितो वैयावृत्त्यं न शक्नोति कर्तुमित्यतो भुञ्जीत, कर्तव्यं च वैयावृत्त्यं, निर्जराहेतुत्वादिति गाथार्थः ॥६६॥ 'ईर्यां चे'ति–ईर्यापथिकां च न शोधयतीति भुञ्जीत, प्रत्युपेक्षणादिकं वा संयमं कर्तुं न शक्नोतीति भुञ्जीत, तथा 'थामो व'त्ति प्राणलक्षणः परिहीयत इति भुञ्जीत, 'गुणनानुप्रेक्षयोर्वे'ति परावर्त्तनार्थानुस्मरणयोर्वा अशक्त इत्येभिरालम्बनैर्भुञ्जीत ॥ ६७ ॥ व्यतिरेकमाह—'नउ' इत्यादि सूत्रगाथा, नतु वर्णादिनिमित्तं भुञ्जीत, आदिशब्दाद्बलपरिग्रहः, 'एत्तो'त्ति अतो–वेदनाद्यालम्बनेन वाऽन्येन भुञ्जीत, तदपि शुद्धालम्बने 'न विकृतिविमिश्रं' न क्षीरादिरसोपेतं, न प्रकामं–मात्रातिरिक्तं, किन्तु मानयुक्तमेव भुञ्जीतेति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

जे वण्णाइनिमित्तं एत्तो आलंबणेण वऽन्नेणं । भुंजंति तेसि बंधो नेओ तप्पच्चओ तिव्वो ॥ ३६९ ॥

ये वर्णादिनिमित्तम् अतो–वेदनादेः आलम्बनेन वाऽन्येन भुञ्जते तेषां बन्धो विज्ञेयः 'तत्प्रत्यय' इत्यशुभवर्णाद्यालम्बनप्रत्ययः तीव्र इति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ तदपि न विकृतिविमिश्रमित्युक्तम्, अतो विकृतौ दोषमाह—

भोजनकारणानि गा. ३६५–९

भोजनकारणानि गा- ३६५-९

यावद्भागगता मात्रा उत्कर्षमपेक्ष्य रागादीनां तथा चयः कर्म्मणि, तत्त्वतस्तन्निबन्धनत्वात् तस्याः, अतस्तद्वैधुर्ये यतितव्यमिति वाक्यार्थः, रागादिविधुरतापि प्रायो, न तु नियमेनैव, कथमित्याह—'वस्तूनाम्' ओदनादीनां विधुरत्वाद्, इत्येतेषु सुन्दरेष्वेवातितरां यत्नः कार्य इति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ प्रायोऽनियमेनेत्युक्तम्, अधुना नियमनिमित्तमाह—

निअमेण भावणाओ विवक्खभूआओँ सुप्पउत्ताओ । होइ खओ दोसाणं रागाईणं विसुद्धाओ ॥ ३६४ ॥

'नियमेन' अवश्यंतया भावनायाः सकाशात्, किंविशिष्टाया इत्याह—'विपक्षभूतायाः' वैराग्यादिरूपायाः, न प्रयोगमात्रादित्याह—सुप्रयुक्तायाः, किमित्याह—भवति क्षयो दोषाणां रागादीनां विशुद्धाया भावनायाः सकाशादिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ अकारणे न भोक्तव्यमिति भोजनकारणान्याह—

वेअण वेआवच्चे इरिअट्ठाए अ संजमट्ठाए । तह पाणवत्तिआएँ छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥ ३६५ ॥ दारगाहा ॥

'वेदने'ति वेदनोपशमनाय वैयावृत्त्यार्थं ईर्यार्थं वा संयमार्थं वा तथा 'प्राणप्रत्यय'मिति प्राणनिमित्तं षष्ठं पुनः धर्म्मचिन्तया भुञ्जीतेति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

णत्थि छुहाए सरिसा वेअण भुंजिज्ज तप्पसमट्ठा । दारं ।
छुहिओ वेआवच्चं न तरइ काउं तओ भुंजे ॥ ३६६ ॥ दारं ।

प्रतरककटच्छेदेन भोक्तव्यम्, अथवा सिंहभक्षितेन तत्र भोक्तव्यमिति, ग्रहणविधिपुरस्सरं प्रक्षेपविधिमाह, एकेनेत्थं भोक्तव्यम्, अनेकैस्तु कटकं—कटकवर्जं वर्जयित्वा 'धूमाङ्गार'मिति वक्ष्यमाणलक्षणं धूममङ्गारं चेति, अत्रायं वृद्धसम्प्रदायः—'कडगच्छेदो नाम जो एगाओ पासाओ समुद्दिसइ ताव जाव उवट्ठो, पयरेणमेगपयरेणं, सीहक्खइएणं सीहो जत्तो आरभेति तत्तो चेव निट्ठवेति, एवं समुद्दिसियव्वं, एयं पुण एगाणिउ (यस्स) तिसुवि, मंडलियस्स कडओ णत्थि, अरत्तेणं अदुट्ठेणं चेति गाथार्थः ॥ ६० ॥ प्रक्षेपसामाचारीमभिधित्सुराह—

असुरसुरं अचवचवं अदुअमविलंबिअं अपरिसाडिं। मणवयणकायगुत्तो भुंजइ अह पक्खिवणसोही ३६१

असुरसुरं तथाविधपक्वभोजनवत् अचवचवं तथाविधतीक्ष्णाभ्यवहारवद् अद्रुतम्—अत्वरितम् 'अविलम्बितम्', अमन्थरम् 'अपरिसाटि' परिसाटरहितं मनोवाक्कायगुप्तः सन् भुञ्जीत अथ प्रक्षेपविधिरिति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ धूमादि व्याचिख्यासयाऽऽह—

रागेण सइंगालं दोसेण सधूमगं मुणेअव्वं। रागद्दोसविरहिआ भुंजंति जई उ परमत्थो ॥ ३६२ ॥

रागेण भुञ्जानस्य साङ्गारं, चारित्रेन्धनस्य दग्धत्वाद्, द्वेषेण सधूमं मन्तव्यं, चारित्रेन्धनस्यैव दाहं प्रत्यारब्धत्वाद्, रागद्वेषविरहिता भुञ्जन्ते यतय इति 'परमार्थो' वाक्यभावार्थ इति गाथार्थः ॥ ६२ ॥ किमित्येतदेवमित्याह—

जइभागगया मत्ता रागाईणं तहा चओ कम्मे। रागाइविहुरयाऽवि हु पायं वत्थूण विहुरत्ता ॥ ३६३ ॥

प्रक्षेपविधिः धूमाङ्गारौ

ग्रहण-
विधिः

अह होज्ज निद्धमहुराइं अप्पपरिकम्मसपरिकम्मेहिं । भोत्तूण निद्धमहुरे फुसिअ करे मुंचऽहाकडए ३५७

अथ भवेतां स्निग्धमधुरे–उक्तस्वरूपे अल्पपरिकर्म्मसपरिकर्म्मयोः पात्रयोः तथाऽप्ययं न्यायः, भुक्त्वा स्निग्धमधुरे पूर्वमेव तदनु स्पृष्ट्वा–करान्निर्लेपान् कृत्वा 'मुंचऽहागडए'त्ति प्रवर्त्तयेद् भोजनक्रियां प्रति यथाकृतानि, संयमगौरवख्यापनार्थमेतदिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ भोजनग्रहणविधिमाह—

कुक्कुडिअंडगमित्तं अहवा खुड्डागलंबणासिस्स ।
लंबणतुल्ले (मित्तं) गेण्हइ अविगिअवयणो उ रायणिओ ॥ ३५८ ॥

इह ग्रहणकाले कुक्कुट्यण्डकमात्रं कवलमिति गम्यते, अथवा क्षुल्लकलम्बनाशिनः पुंसः 'लम्बनमात्रं' कवलमात्रं गृह्णाति 'अविकृतवदन एव' स्वभावस्थमुखो 'रत्नाधिको' ज्येष्ठार्योऽन्यभक्त्यर्थमिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥

गहणे पक्खेवंमि अ सामायारी पुणो भवे दुविहा । गहणं पायंमि भवे वयणे पक्खेवणं होइ ॥ ३५९ ॥

ग्रहणे लम्बनकस्य प्रक्षेपे च वदने एतद्विपया सामाचारी, स्थितिरित्यर्थः, पुनर्भवति द्विविधा, ग्रहणं पात्रे भवेत्, भाजनान्नान्यत्र इत्यर्थः, वदने प्रक्षेपो भवति, न तु गृहीत्वाऽन्यत्र पुनर्ल(र्भ)क्षणार्थमिति गाथार्थः ॥५९॥ ग्रहणविधिमाह—

पयरगकडछेएणं भोत्तव्वं अहव सीहखइएणं । एगेणमणेगेहि अ वज्जित्ता धूमइंगालं ॥ ३६० ॥

ददति 'ततः' स्वाध्यायानन्तरं 'अनुशास्तिं' स्वोपदेशलक्षणां 'संविग्ना' मोक्षाभिलापिणः सन्तः आत्मनैव जीवस्य—आत्मन एव, किमित्यत्राह—'रागद्वेषाभाव'मिति रागद्वेषाभावविपयं सम्यग्वादं मन्यमाना इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ अनुशास्तिमाह—

वायलीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीव ! न हु छलिओ । इण्हिं जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं॥३५४॥

द्विचत्वारिंशदेपणासङ्कटे इति—आकुले गहने हे जीव ! भिक्षाटनं कुर्वन् नासि छलितः—न व्यंसितोऽसि, तदिदानीं यथा न छल्यसे भुञ्जानो रागद्वेषाभ्यां तथाऽनुष्ठेयमिति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

रागद्दोसविरहिआ वणलेवाइउवमाइ भुंजंति । कड्डित्तु नमोक्कारं विहीए गुरुणा अणुन्नाया ॥ ३५५ ॥

ततश्च रागद्वेषविरहिताः सन्तः व्रणलेपाद्युपमया—'व्रणलेपाक्षोपाङ्ग'दित्यादिलक्षणया भुञ्जते, 'कड्डित्तु णमोक्कार'मिति पठित्वा नमस्कारं 'विधिना' वक्ष्यमाणलक्षणेन भुञ्जते, सन्दिशत पारयाम इत्यभिधाय गुरुणाऽनुज्ञाताः सन्त इति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ विधिमाह—

निद्धमहुराइ पुव्विं पित्ताईपसमणट्ठया भुंजे । बुद्धिबलवद्धणट्ठा दुक्खं खु विगिंचिउं निद्धं ॥ ३५६ ॥

'स्निग्धमधुरे' निस्यन्दनपायसादिरूपे 'पूर्वम्' आदौ पित्तादिप्रशमनार्थं भुञ्जीत, आदिशब्दात् वातादिपरिग्रहः, तदनु अम्लद्रव्यादीनि, प्रयोजनान्तरमाह—बुद्धिबलवर्द्धनार्थं, न हि बुद्धिबलरहितः परलोकसाधनं कर्तुमलमिति, तथा दुःखं च परित्यक्तुं, स्थण्डिलेऽपि सत्त्वव्यापत्तिसम्भवादिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ अत्रैव विधिविशेषमाह—

आत्मानुशास्तिः स्निग्धादिभोजनम्

॥ ५९ ॥

कयत्थोत्ति ?, भगवया भणियं—जिण्णसेट्ठित्ति, लोगेण भणियं—ण भगवओ तेण पारणगं कयं, न य तस्स गेहे वसुहारा निवडिया, ता कहमेयमेवं ?, भगवया भणियं—कयं चेव भावेण, अविय—ईदिसो तस्स कुसलपरिणामो आसि जेण जइ थेववेलाए तित्थगरपारणगवुत्तंतं न सुणंतो अओ पवड्ढमाणसंवेगयाए सिद्धिं पाविऊण केवलंपि पाविंतो, अविय-पाविंतेण सड्ढाइएण निरुवहयं सोक्खं पायं, अओ महंतपुण्गसंभारज्जणेण सो कयत्थोत्ति, पारणगकारगस्स तु अहिणव-सिट्ठिस्स ण तारिसो परिणामो, अतो ण तहा कयत्थो, वसुहारानिवडणं च एगजम्मियं थेवं पओयणंति गाथाद्वयार्थः॥४९॥५०॥

इअरे उ निअट्ठाणे गंतूणं धम्ममंगलाईअं। कड्ढंति ताव सुत्तं जा अन्ने संणिअट्टंति ॥ ३५१ ॥

'इतरे तु' मण्डल्युपजीवकाः निजस्थाने उपवेशनमाश्रित्य गत्वा, किमित्याह—धर्म्ममङ्गलादि 'कर्षन्ति' पठन्ति तावत्सूत्रं यावदन्ये—साधवः सन्निवर्त्तन्त इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ धर्म्ममङ्गलादीत्युक्तं तदाह—

धम्मं कहण्ण कुज्जं संजमगाहं च निअमओ सव्वे। एद्दहमित्तं वऽण्णं सिद्धं जं जंमि तित्थम्मि ॥३५२॥

'धर्म'मिति धर्म्ममङ्गलकं 'कहण्ण कुज्जमि'ति तदनन्तराध्ययनं 'संजमगाहं चे'ति तृतीयाध्ययनगाथां च 'संजमे सुट्ठिअ-प्पाण'मित्यादिलक्षणां नियमतः सर्वे पठन्ति, एतावन्मात्रं वा अन्यत् सूत्रं सिद्धं यद् यस्मिंस्तीर्थे—ऋषभादिसम्बन्धिनि तन्नियमतः सर्वे पठन्तीति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

दिंति तओ अणुसट्ठिं संविग्गा अप्पणा उ जीवस्स। रागदोसाभावं सम्भावायं तु मन्नंता ॥ ३५३ ॥

धर्मो मङ्गलादिआत्मानुशास्तिः

वेसालिवासठाणं समरे जिण पडिम सिट्ठिपासणया।अइभत्ति पारणदिणे मणोरहो अन्नहिं पविसे ॥३४९॥
जा तत्थ दाण धारा लोए कयपुन्नउत्ति अ पसंसा ।
केवलिआगम पुच्छण को पुण्णो ? जिण्णसिट्ठित्ति ॥ ३५० ॥ युगलं ॥

एगया भगवं महावीरे विहरमाणे वेसालीए वासावासं ठिए, तत्थ य अणुण्णविय ओग्गहं समरेत्ति–देवउले पडिमाए ठिए, से य पडिमाए ठिए जिण्णसेट्ठिणा दिट्ठे, तं च दट्ठूण अतीव से भत्ती समुप्पण्णा, अहो ! भगवतो सोमया णिप्पकंपयत्ति, अहिंडणेण विण्णाओ चाउम्मासिगो अभिग्गहो सिट्ठिणा, अइक्कंता चत्तारि मासा, पत्तो पारणगदिवसो, दिट्ठो य भिक्खा-गोयरं पति चलिओ भगवं, समुप्पण्णो सिट्ठिस्स मणोरहो–अहो धण्णो अहं जदि मे भगवं गेहे आहारगहणं करेइ, गओ तुरिओ गेहं अप्प(णो, प) वड्ढमाणसंवेगो य भगवओ आगमणं पलोइउं पवत्तो, भगवंपि अदीणमणो गोयरट्ठितीए अहिणवसिट्ठिगेहं पविट्ठो, तेणऽविय भगवंतं पासिऊण जहिच्छाए दवावियं कुम्मासादिभोयणं, पत्तविसेसओ समुब्भूयाणि दिव्वाणि, अद्धतेरसहिरण्णकोडीओ निवडिया वसुहारा, कयपुण्णोत्ति पसंसिओ लोएहिं अहिणवसिट्ठी, जिण्णसेट्ठीऽवि भगवओ पारणयं मुणेऊण न पविट्ठो मे भगवं गेहंति अवट्ठियपरिणामो जाओ, गओ य भगवं खित्तंतरं, आगओ य पासावच्चिज्जो केवली तंमि चेव दिवसे वेसाली, मुणिओ य लोगेण, निग्गओ तस्स वंदणवडियाए, वंदिऊण य वसुधारा-वुत्तंतविम्हिएण लोएण पुच्छिओ केवली, भगवं ! इमीए नगरीए अन्न 'को पुण्णोत्ति ?' को महंतपुण्णसंभारज्जणेण

'तेभ्यः' प्राघूर्णकादिभ्यः शेषं भुञ्जीत गुर्वनुज्ञातः सन्, अथ कथञ्चिदक्षणिको गुरुः ततो गुरुणा सन्दिष्टो वा सन् दत्त्वा प्राघूर्णकादिभ्यः शेषं ततो भुञ्जीत, शेषमिति न तेभ्य उद्धरितमेव, किं त्वप्रधानमपि शेषमुच्यते, यथोक्तं–'सेसावसेसं लभउ तवस्सी' इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ यदि तु नेच्छति कश्चित् तत्र का वार्त्तेत्याह—

इच्छिज्ज न इच्छिज्ज व तहवि अ पयओ निमंतए साहू । परिणामविसुद्धीए निजरा होअगहिएऽवि॥३४६॥

इच्छेत् नेच्छेद्वा यद्यप्येवं तथापि च 'प्रयतो' यत्नपरः सन् निमन्त्रयेत् 'साधून्' निर्वाणसाधकानेव, किमित्येतदेवमित्याह–यस्मात्परिणामविशुद्ध्यैव निमन्त्रणकालभाविन्या निर्जरा भवत्यगृहीतेऽपीति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ व्यतिरेकमाह—

परिणामविसुद्धीए विणा उ गहिएऽवि निजरा थोवा।तम्हा विहिभत्तीए छंदिज तहा वि(चि)अत्तिजा३४७

परिणामविशुद्ध्या विना तु गृहीतेऽप्यशनादौ प्राघूर्णकादिभिः निर्जरा स्तोका, न काचिदित्यर्थः, यस्मादेवं तस्माद्विधिभक्तिभ्यां छन्दयेत्–निमन्त्रयेत्, तथा च न लाटपञ्जिकामात्रं कुर्यादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ एतदेवोदाहरणतः स्पष्टयति–

आहरणं सिट्ठिदुगं जिणिंदपारणगऽदाणदाणेसु । विहिभत्तिभावऽभावा मोक्खंगं तत्थ विहिभत्ती॥३४८॥

उदाहरणमत्र 'श्रेष्ठिद्वयं' जीर्णश्रेष्ठी अभिनवश्रेष्ठी च, जिनेन्द्रपारणकादानदानयोरिति, अदाने दाने च विधिभक्तिभावाभावात्, एकत्र विधिभक्त्योर्भावः अन्यत्राभावः, मोक्षाङ्गं तत्र विधिभक्ती, न तद्रहितं दानमपीति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

विधिभक्त्योः श्रेष्ठिद्वयोदाहरणं

उक्तध्यानानन्तरं 'विनयेन' वन्दनादिना प्रस्थाप्य स्वाध्यायं करोति, ततो मुहूर्त्तं स्वाध्यायमेव, करोतीति वर्त्तमाननिर्देशस्तुलादण्डमध्यग्रहणन्यायतः त्रिकालगोचरसूत्रसङ्ग्रहार्थः, स्वाध्यायकरणे गुणमाह-'एवं तु' स्वाध्यायकरणेन 'क्षोभदोषाः' वातादिधातुक्षोभापराधाः 'परिश्रमादयः' स्वाङ्गिका भवन्ति 'जढा' परित्यक्ता इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

दुविहो अ होइ साहू मंडलिउवजीवओ अ इअरो अ । मंडलिउवजीवंतो अच्छइ जा पिंडिआ सवे ॥३४३॥

द्विविधश्चासावपि साधुः, कतमेन द्वैविध्येनेत्याह-मण्डल्युपजीवकश्चेतरश्च-अनुपजीवकश्च, उपजीवको-मण्डलीभोक्ता अनुपजीवकः-कारणतः केवलभोक्ता, तत्र 'मण्डलिमुपजीवन्' मण्डल्युपजीवकः तावत्तिष्ठति गृहीतसमुदान एव यावत्पिण्डिताः सर्वे-तन्मण्डलिभोक्तार इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

इअरो संदिसहत्ति अ पाहुणखमणे गिलाण सेहे अ । अहरायणिअं सवे चिअत्तेण(त्त)निमंतए एवं ॥३४४॥

'इतरो' मण्डल्यनुपजीवकः सन्दिशतेति च गुरुं आपृच्छय तद्वचनात् प्राघूर्णकक्षपकग्लानशिष्यकांश्च 'यथारत्नाधिकं' यथाऽयेष्ठार्यतया सर्वान् 'चियत्तेणं'ति भावतो मनःप्रीत्या निमन्त्रयेत्, एवमाग्रहत्यागः समानधार्मिकवात्सल्यं च कृतं भवतीति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

दिन्ने गुरूहिं तेहिं सेसं भुंजेज्ज गुरुअणुण्णाओ । गुरुणा संदिट्ठो वा दाउं सेसं तओ भुंजे ॥ ३४५ ॥

तत्र यदि प्राघूर्णकादयोऽर्थिनस्तत आगत्य गुरोर्निवेदयति, ततश्च गुरुः प्राघूर्णकादिभ्यो ददाति, इत्थं दत्ते गुरुभिः

आहारदर्शनविधिः

ओणमओ पवडिज्जा सिरओ पाणा अओ पमज्जिज्जा । एमेव उग्गहंमिवि मा संकुडणे तसविणासो ॥३३९॥

अवनमतः प्रपतेयुः शिरसः प्राणिन इति, अप्राणिनामप्युपलक्षणमेतत्, अतः प्रमार्जयेद्, एवमेव 'अवग्रहेऽपि' प्रतिग्रहेऽपि, 'मा संकोचे' उद्घाट्यमानपात्रबन्धसङ्कोचे 'त्रसविनाश' इति तल्लग्नत्रसघात इत्यतः प्रमार्जयेदिति गाथार्थः ॥३९॥

गुरोराहारदर्शनविधिमाह—

काउं पडिग्गहं करयलंमि अद्धं च ओणमित्ताणं । भत्तं वा पाणं वा पडिदंसिज्जा गुरुसगासे ॥ ३४० ॥

कृत्वा प्रतिग्रहं करतले, अप्रावृत्तोपघातसंरक्षणार्थं, पृष्ठतोऽवलोकनं कृत्वा, अर्द्धं चावनम्य, ततः किमित्याह—भक्तं वा पानं वा प्रतिदर्शयेद् 'गुरुसकाशे' आचार्यसमीपे इति गाथार्थः ॥ ४० ॥

ताहे दुरालोइअ भत्तपाणे एसणमणेसणाए उ । अट्ठुस्सासे अहवा अणुग्गहाई उ झाएज्जा ॥ ३४१ ॥

'ततः' तदनन्तरं दुरालोचितभक्तपानयोर्निमित्तमिति गम्यते, एषणानेषणयोर्वा अनाभोगनिमित्तमिति गम्यते, अष्टावुच्छ्वासान्—पञ्चनमस्कारमित्यर्थः, ध्यायेतेति योगः, अथवाऽनुग्रहाद्येव 'जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहू' इत्यादि ध्यायेद्, इयं गोचरचर्येति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

विणएण पट्ठवित्ता सज्झायं कुणइ तो मुहुत्तागं ।
एवं तु खोभदोसा परिस्समाई अ होंति जढा ॥ ३४२ ॥ आलोअणत्ति दारं गयं ॥

यत्र पुरःकर्मादिदोषा न विद्यन्ते तत्र सामान्येनालोचयेत् 'अग्गिलिया पच्छिलिया साहुपयोगा' शेषं पूर्ववदिति गाथार्थः ३६

आलोएत्ता सव्वं सीसं सपडिग्गहं पमज्जित्ता । उड्ढमहे तिरिअंमि अ पडिलेहे सव्वओ सव्वं ॥ ३३७ ॥

इत्थमुत्सर्गतः आलोच्य सर्वसमुदानं तदुत्तरकालं शिरः सप्रतिग्रहं प्रमृज्य मुखवस्त्रिकया "सीसं किंनिमित्तं पमज्जिज्जइ?, किंचि लग्गं भविज्जा ताहे दाएंतस्स हेट्ठाहुत्तस्स पडिग्गहे पडिज्जा, पडिग्गहो किं पमज्जिज्जइ?, तत्थ उवरिं पाणाणि वा भविज्जा, पच्छा परिग्गहेण णीणिएणं ते पाणजातिया पिल्लिज्जन्ति" ऊर्ध्वमधस्तिर्यगपि च 'प्रत्युपेक्षेत' निरीक्षेत 'सर्वतः सर्वं' सर्वासु दिक्षु निरवशेषं, 'उड्ढं किंनिमित्तं?, घरकोइलओ वा सडणी वा सण्णं वोसिरिज्जा, उंदरो वा सप्पो वा उवरि लंबिज्जा, एयनिमित्तं, तिरिअं तु मा सुणओ वा मज्जारो वा चेडरूवं वा धावंतं आवडिज्जा, हिट्ठयं मा खीलओ वा विसमदारुयं वा होज्ज'त्ति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

उड्ढं घरकोइलाई (दारं) तिरिअं मज्जारसाणडिंभाई (दारं) ।
खीलगदारुगपडणाइरक्खणट्ठा अहो पेहे ॥ ३३८ ॥ दारं ॥

ऊर्ध्वं गृहकोकिलादि, तत्पुरीषादिपातरक्षणार्थं, पाठान्तरं वा उड्ढं पुप्फफलादी, एतदपि मण्डपकादिस्थितानां भवत्येव, ततश्च तत्पातसङ्घट्टनादिरक्षार्थं, तिर्यङ् मार्जारश्वडिम्भादि, तदापातपरिहरणाय, तथा कीलकदारुकपतनरक्षार्थं, अतः प्रेक्षेत, क्रिया सर्वत्रानुवर्त्तत इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

एअदोसविमुक्को गुरुणो गुरुसंमयस्स वाऽऽलोए । जं जह गहिअं तु भवे पढमाया जा भवे चरमा॥२२४॥

'एतद्दोषविप्रमुक्तः' इति नर्त्तितादिदोषरहितः सन् 'गुरोः' आचार्यस्य 'गुरुसम्मतस्य वा' ज्येष्ठार्यस्य आलोचयेत्, किमित्याह—'यद्' ओदनादि 'यथा' येन प्रकारेण डोवादिभाजनादिना गृहीतं, तुशब्द एवकारार्थः, गृहीतमेव भवेत्, न प्रतिविद्धमालोच्यत इति, कुत आरभ्य इत्यवधिमाह—प्रथमायाः भिक्षाया इति गम्यते आरभ्य यावद् भवेच्चरमा—पश्चिमा भिक्षेति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ अपवादमाह—

काले अपहुप्पंते उव्वाओ वावि ओहमालोए । वेला गिलाणगस्स व अइगच्छइ गुरु व उव्वाओ॥२२५॥

काले अप्रभवति सति 'उव्वाओ वावि'त्ति श्रान्तो वा भिक्षाटनेनेति 'ओहमालोए' सामान्येनालोचयेत्, वेला ग्लानस्य वाऽतिगच्छति, गुरुर्वा श्रान्तः श्रुतचिन्तनिकादिनेति सामान्येनालोचयेत्, यदि शुद्धैव ततः प्रथमपश्चिमे सर्वसाधुप्रायोग्यमित्यादीति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ एतदेव भावयति—

पुरकम्म पच्छकम्मे अप्पेऽसुद्धे अ ओहमालोए । तुरिअकरणंमि जं से ण सुज्झई तत्तिअं कहए ॥ २२६ ॥

पुरःकर्म पश्चात्कर्मेत्येते प्रथमपश्चिमे प्राभृतके गृह्येते, 'अल्पेऽशुद्धे' इत्यत्राल्पशब्दोऽभाववचनः, अशुद्धाभावे सति सामान्येनालोचयेत्, 'अग्गिलिया पच्छिलिया सेसं साहूण पायोग्गं', त्वरितकरणे यत्तस्य शुद्ध्यति, अशनादीति गम्यते, तावन्मात्रं 'कथयेत्' आलोचयेत्, अन्ये तु व्याचक्षते—पुरःकर्मपश्चात्कर्मग्रहणेन दोषपरिग्रह एव, ततश्चाल्पेऽशुद्ध इति

तमित्थंभूतं विज्ञाय सन्दिदातेत्येवमनुज्ञां कृत्वा 'वितीर्णे' दत्ते प्रस्ताव इति गम्यते ततः 'आलोचयेत्' निवेदयेदिति गाथार्थः ॥ ३० ॥ तच्चैतत्परित्यागतोऽनेन विधिनेत्याह—

णट्टं चलं च भासं मूअं तह ढड्ढरं च वज्जिज्जा । आलोएज्ज सुविहिओ हत्थं मत्थं च वावारं ॥ ३३१ ॥

नृत्यं चलं च-चलन् भाषा मौक्यं तथा ढड्ढरं च वर्जयेत्, एतत्परित्यागतः आलोचयेत् सुविहितः हस्तं मात्रं च व्यापारं चेति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेयः, तच्चेदम्—

करपायभमुहसीसच्छिहोट्ठमाईहिं नच्चिअं नाम । दारं । चलणं हत्थसरीरे चलणं काएण भावेण ॥३२२॥

करपादभ्रूशिरोऽक्ष्योष्ठादिभिर्नर्त्तितं नाम आलोचयेत्, करादीनां षण्णां विकारतो न प्रवृत्तः, स्थित्वा धारयतीत्येतन्न कर्त्तव्यं, चलनं हस्तशरीरयोः, सविकारमेतदपि न कार्यं, चलनं कायेन भावेन च, कायेन परावर्त्तनं भावेन चारुभिक्षादोषगूहनमिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

गारत्थिअभासाओ य वज्जए मूअ ढड्ढरं च सरं । आलोए वावारं संसट्ठिअरे य करपत्ते ॥ ३२३ ॥

आलोचयन् गृहस्थभाषाश्च वर्जयेत्, न केवलं नर्त्तिताद्येव, तथा 'मौक्यम्' अव्यक्तभाषणेन मूकभावं, 'ढड्ढरं च स्वरं' महानिर्घोषं वर्जयेत्, एतत्परित्यागेनालोचयेत्, व्यापारं संसृष्टासंसृष्टविषयं करपात्रयोरिति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

कुर्यात् विधिना प्रवचनोक्तेनेति गाथार्थः ॥ २६ ॥ तत्र विधिप्रतिषेधरूपत्वात् शास्त्रस्य प्रतिषेधद्वारेणालोचनाविधिमाह—

वक्खित्त पराहुत्ते पमत्ते मा कयाइ आलोए। आहारं च करिंती नीहारं वा जइ करेइ ॥३२७॥ दारगाहा ॥

व्याक्षिप्ते धर्म्मकथादिना 'पराङ्मुखे'अन्यतोमुखे प्रमत्ते विकथादिना, एवम्भूते गुराविति गम्यते, मा कदाचिदालोचयेत्, तद्दोपानवधारणसम्भवाद्, आहारं वा कुर्वति सति, असहिष्णुत्वकारकादिदोषसम्भवात्, नीहारं वा—मात्रकादौ पुरीषपरित्यागं वा यदि करोति, शङ्काधरणमरणादिदोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥ २७ ॥ उक्तार्थप्रकटनार्थं चाह भाष्यकारः—

कहणाई वक्खित्ते विगहाई पमत्त अन्नओ व मुहे। अंतर अकारगं वा नीहारे संक मरणं वा॥३२८॥ दारं॥

न व्याख्याता ॥

अवक्खित्तं संतं उवसंतमुवट्ठियं च नाऊणं। अणुनविउं मेहावी आलोएज्जा सुसंजए ॥ ३२९ ॥

अव्याक्षिप्तं सन्तमुपशान्तमुपस्थितं च ज्ञात्वा अनुज्ञाप्य मेधावी आलोचयेत् सुसंयत इति गाथासमासार्थः ॥ २९ ॥ व्यासार्थमाह—

कहणाई अवक्खित्तं कोहाद्युवसंत वट्ठियमुवत्तं। संदिसहत्ति अणुण्णं काऊण विद्दिन्न आलोए॥३३०॥दारं॥

धर्म्मकथादिना अव्याक्षिप्तं—निर्व्यापारं, क्रोधादिनोपशान्तं, तदनासेवनेन, उपस्थितम्—उपयुक्तमालोचनाश्रवणे,

व्याक्षिप्ता-दावना-लोचनं

कायनिरोधो वा—ऊर्ध्वस्थानादिलक्षणः 'से' तस्य कायिकाद्युत्सर्गकर्त्तुः सामान्यागतस्य वा प्रायश्चित्तमिह कायिकादीर्यापथिकायां यत्पुनः स्मरणं समुदानिकातिचाराणामिति गम्यते तद्विहितानुष्ठानमेव यतीनां, एतच्च कर्म्मक्षयकारणं परममिति गाथार्थः ॥ २४ ॥ पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

जइ एवं ता किं पुण अन्नत्थवि सो न होइ नियमेण। पच्छित्तं होइ च्चिअ अणिअमओ जं अणुस्सरणे॥३२५॥

यद्येवं कायनिरोध एव तत्र प्रायश्चित्तं तत्किं पुनरन्यत्रापि—भिक्षाटनादिव्यतिरेकेण कायिकागमनादौ असौ—कायनिरोध एव चतुर्विंशतिस्तवानुस्मरणशून्यो न भवति 'नियमेन' अवश्यंतया प्रायश्चित्तमिति?, अत्र गुरुराह—भवत्येव, न च भवति, कुत इत्याह—अनियमे एव 'यद्' यस्मादनुस्मरणे, तथाहि—न चतुर्विंशतिस्तव एव तत्रापि चिन्त्येत, अपि तु यत्किञ्चित्कुशलमिति, एतावता च नः प्रयोजनमित्यलं प्रसङ्गेन इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

चिंतित्तु जोगमखिलं नवकारेणं तओ उ पारित्ता।
पढिऊण थयं ताहे साहू आलोअए विहिणा ॥ ३२६ ॥ भिक्खरिअत्ति दारं गयं ॥

चिन्तयित्वा योगमखिलं—सामुदानिकं नमस्कारेण 'ततश्च' तदनन्तरं पारयित्वा 'णमो अरिहंताणं'मित्यनेन ततः पठित्वा 'स्तवमिति' चतुर्विंशतिस्तवम् । व्याख्यातं शुद्धिद्वारम्, तद्व्याख्यानाच्चर्याद्वारम्, अधुनाऽऽलोचनाद्वारमाह-'ततः' चतुर्विंशतिस्तवपाठानन्तरं गुरुसमीपं गत्वा 'साधुः' भावतश्चारित्रपरिणामापन्नः सन् 'आलोचयेद्'भिक्षानिवेदनं

ते उ पडिसेवणाए अणुलोमा होंति विअडणाए अ। पडिसेवविअडणाए इत्थं चउरो भवे भंगा ॥ ३२१ ॥

ते तु दोषाः 'प्रतिसेवनया' आसेवनारूपयाऽनुलोमा भवन्ति–अनुकूला भवन्ति, 'विकटनया' आलोचनया च, प्रतिसेवनायां विकटनायां च पदद्वये चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तद्यथा–प्रतिसेवनयाऽनुलोमा विकटनया च, तथा प्रतिसेवनया न विकटनायां तथा न प्रतिसेवनया विकटनायां तथा न प्रतिसेवनया न विकटनयेति गाथार्थः ॥ २१ ॥

ते चेव तत्थ नवरं पायच्छित्तंति आह समयण्णू। जम्हा सइ सुहजोगो कम्मक्खयकारणं भणिओ ॥३२२॥

ते एव 'नवरं' केवलं सामुदानिका अतिचाराश्चिन्त्यमानाः सन्तः 'तत्र' कायिकादीर्घ (र्या) पथिकायां प्रायश्चित्तमित्येवमाहुः 'समयज्ञाः' सिद्धान्तविदः, किमिति?, यस्मात् सदा–सर्वकालमेव 'शुभयोगः' कुशलव्यापारः कर्म्मक्षयकारणं भणितः तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः ॥ २२ ॥ ततः किमित्याह—

सुहजोगो अ अयं जं चरणाराहणनिमित्तमणुअंपि। मा होज किंचि खलिअं पेहेइ तओवउत्तोऽवि ॥३२३॥

शुभयोगश्च 'अयं' सामुदानिकातिचारचिन्तनरूपः, कथमित्याह–'यद्' यस्मात् 'चरणाराधननिमित्तम्' अस्खलितचारित्रपालनार्थम् 'अण्वपि' सूक्ष्ममपि 'मा' मा भूत् किञ्चित् स्खलितं, 'प्रेक्षते' पर्यालोचयति तत उपयुक्तोऽपि भिक्षाग्रहणकाल इति गाथार्थः ॥ २३ ॥ पक्षान्तरमाह—

कायनिरोहे वा से पायच्छित्तमिह जं अणुस्सरणं। तं विहिआणुट्ठाणं कम्मक्खयकारणं परमं ॥ ३२४ ॥

'आकर्षति' पठति 'सूत्रं' गणधराभिहितं 'अतिचारशोधनार्थं' संयमस्खलितविशुद्धिनिमित्तं कायनिरोधमूर्ध्वस्थानादिना प्रकारेण 'दृढम्' अत्यर्थं करोति गाथार्थः ॥ १७ ॥ तत्रैव विधिमाह—

चउरंगुलमप्पत्तं जाणूहिट्ठाऽच्छिवोवरिं नाभिं । उभओ कोप्परधरिअं करिज्ज (त्थ)पट्टं च पडलं वा ॥२१८॥

'चउरंगुलमप्पत्त'न्ति चतुर्भिरङ्गुलैरप्राप्तं 'जाणुहिट्ठ'त्ति अधोजानुनी तथा 'अच्छिवोवरिं णाभि'न्ति अस्पृशन्नुपरिनाभिं, चतुर्भिरेवाङ्गुलैरिति, एवमुभयोः पार्श्वयोरिति गम्यते, 'कोप्परधरियं'ति कूर्पराभ्यां धृतं 'करिज्ज(त्थ) पट्टं च पटलं च'त्ति इत्थम्—अनेन विन्यासेन कुर्यात् 'पट्टं वा' चोलपट्टकं 'पटलानि वा' पात्रनिर्योगान्तर्गतानीति गाथार्थः ॥१८॥

पुव्वुद्दिट्ठे ठाणे ठाउं चउरंगुलंतरं काउं । मुहपोत्ति उज्जुहत्थे वामंमि अ पायपुंछणयं ॥ २१९ ॥

पूर्वोद्दिष्टे स्थाने, योग्यदेश इत्यर्थः, 'स्थातु'मिति स्थित्वा चत्वार्यङ्गुलानि अन्तरं कृत्वा, अग्रपादयोरिति गम्यते, मुखवस्त्रिका 'ऋजुहस्त' इति दक्षिणहस्तेऽस्य भवति, वामे च हस्ते 'पादप्रमार्जनं' रजोहरणमिति गाथार्थः ॥ १९ ॥

काउस्सग्गंमि ठिओ चिंते समुदाणिए अईयारे । जा निग्गमप्पवेसो तत्थ उ दोसे मणे कुज्जा ॥२२०॥

स चैवं कायोत्सर्गे स्थितः सन् चिन्तयेत् सामुदानिकानतिचारान्, समुदानं—भिक्षामीलनं तत्र भवान् पुरःकर्म्मादीन्, तदवधिमाहुः—यावन्निर्गमप्रवेशौ, 'जा य पढमभिक्खा लद्धा जा य अवसाणिल्ला' तत्र तु दोषान्—पुरःकर्म्मादीन् मनसि कुर्यात्, यतो निवेदनीयास्ते गुरोरिति गाथार्थः ॥ २० ॥

कायोत्सर्गः

उवरिं हिट्ठा य पमज्जिऊण लट्ठिं ठवंति सट्ठाणे। पट्टं उवहिस्सुवरिं भायण वत्थाणि भाणेसुं ॥ ३१४ ॥

'उपरी'त्यूर्ध्वमधश्च प्रमृज्य प्रत्युपेक्षणापूर्वकं यष्टिं स्थापयन्ति 'स्वस्थाने' दण्डकस्थान एव, नान्यत्र, 'पट्ट'मिति चोल-पट्टकमुपधेरुपरि 'उवही जो हिंडाविओ तं सठाणे ठविंति तस्सुवरिं चोलपट्टयं,' 'भाजनवस्त्राणि' पात्रबन्धादीनि 'भाजने-ष्वेव' पात्रेष्वेव, वृद्धास्तु व्याचक्षते—'रयत्ताणाणि जत्थ भायणाईणि ठविज्जंति तत्थेव धरेंति'त्ति गाथार्थः ॥ १४ ॥

जइ पुण पासवणं से हविज्ज तो उग्गहं सपच्छागं। दाउं अन्नस्स सचोलपट्टगो काइअं निसिरे ॥३१५॥

यदि पुनः 'प्रश्रवणं' कायिकारूपं 'से' तस्य साधोर्भवेत् ततोऽवग्रहमिति—प्रतिग्रहकं सपच्छागमिति—सह पटलैर्दत्त्वा—समर्प्यान्यस्मै साधवे सचोलपट्टक एव सन् कायिकां 'णिसिरि'त्ति निसृजेद्—व्युत्सृजेदिति गाथार्थः ॥ १५ ॥

वोसिरिअ काइअं वा आगंतूण य तओ असंभंतो। दारं। पच्छा य जोगदेसं पमज्जिउं सुत्तविहिणा उ ॥३१६॥

'व्युत्सृज्य' परित्यज्य कायिकां च आगत्य च 'ततः' तदनन्तरं 'असम्भ्रान्तो' विशुद्धः सन् योग्यदेशमिति गम्यते। व्याख्यातं दण्डोपधिमोक्षद्वारं, अधुना शुद्धिद्वारं व्याचिख्यासयाऽऽह—'पश्चाच्च गमनानन्तरं 'योग्यदेशं' विशिष्टस्थण्डिल-रूपं प्रमृज्य रजोहरणेन, कथमित्याह—सूत्रविधिना—चक्षुःप्रत्युपेक्षणपुरस्सरेणेति गाथार्थः ॥ १६ ॥

इरिअं पडिक्कमेइ इच्छामिच्चाई कड्ढई सुत्तं। अइआरसोहणट्ठा कायनिरोहं दढं कुणइ ॥ ३१७ ॥

'ईर्या'मिति ईर्यापथिकां प्रतिक्रामति, कथमित्याह—इच्छामीत्यादि 'इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए'त्येवमादि

एवं प्रत्युत्पन्ने सत्याहारे प्रविशतः साधोर्वसतिं तिस्रो नैषेधिक्यो भवन्ति, अग्रद्वारे मध्ये प्रवेशने इति च, प्रवेशनं-निजद्वारं, नैषेधिकीति द्वारं, अल्पवक्तव्यतोत्क्रमप्रयोजनं। पादप्रमार्जनद्वारमाह-पादावसागारिके प्रमार्जितव्यौ, सम्यग्यतनादिसद्भावादिति गाथार्थः ॥ १२ ॥ इह चायं वृद्धसम्प्रदायः—"भिक्खायरियाए नियत्ताणं इमो विही-बाहिं ठिया देवकुलियाए वा सुन्नघरे वा भत्तपाणं पडिलेहिंति, मा मच्छिया वा कंटओ वा हुज्जा, जं च पाणयं कारणे ओलंबए गहियं तं उग्गहणए छुभित्ता पविसंति, जमसुद्धं तं तत्तो चेव परिट्ठवित्ता अण्णं गहाय एंति, जहिं च संसत्तयं पाणयं गहियं तत्थ भायणे अण्णं पाणयं न घिप्पंति, अह सत्तुगा लद्धा तो तिण्णि वारे पत्तावंधे पडिलेहिंति, जइ तिहिं वाराहिं न दिट्ठं सुद्धं, अह दिट्ठा ताहे पुणो तिन्नेव वारा पडिलेहिज्जंति, एवं जाव दीसंति, नियत्ता य बाहिं ताव वसहीए अप्पसागारिए पाए पमज्जंति, ताहे तिन्नि निसीहीयाओ करिंति, अग्गदारे मज्झे पवेसणे य, अण्णे भणंति-तिण्णि वारे निसीहियाओ करिंति, पवेसदारे मूले य" ॥ अञ्जलिद्वारं व्याचिख्यासुराह—

हत्थुस्सेहो सीसप्पणामणं वाइओ नमुक्कारो। गुरुभायणे पणामो वायाए नमो ण उस्सेहो ॥ ३१३ ॥ दारं ॥

'हस्तोच्छ्रयो' ललाटे तल्लगनलक्षणः 'शिरःप्रणमनं' तदवनामलक्षणं वाचिको नमस्कार इति 'नमः क्षमाश्रमणेभ्य' इत्येवंरूपः, गुरुभाजने प्रणाम एव केवलः, तथा 'वाचा नम' इति वाचिको नमस्कारः नोच्छ्रयो हस्तस्य, गुरुभाजनपतनभयादिति गाथार्थः ॥ १३ ॥ व्याख्यातमञ्जलिद्वारम्, अधुना दण्डोपधिमोक्षणद्वारं व्याख्यायते, तत्राह—

तक्कालाणुवलद्धं मच्छिगकंटाइअं विगिंचंति। उवलद्धं वावि तया कहंचि जं णोज्झिअं आसि ॥२०९॥

'तत्कालानुपलब्धं' भिक्षाग्रहणकालादृष्टं मक्षिकाकण्टकादि 'विगिंचंति' पृथक्कुर्वन्ति परित्यजन्तीत्यर्थः, उपलब्धं वाऽपि 'तदा'ग्रहणकाले कथञ्चित् साकारिकादिभयेन यन्नोज्झितं—न परित्यक्तमासीदिति गाथार्थः ॥ ९ ॥ यत्र तद्विगिञ्चति तदाह—

सुन्नहर देउले वा असइ अ उवस्सयस्स वा दारे। मच्छिगकंटगमाई सोहेत्तुमुवस्सयं पविसे ॥२१०॥

शून्यगृहे देवकुले वाऽसति वा—अविद्यमाने वा तच्छून्यगृहादौ उपाश्रयस्य वा द्वारे मक्षिकाकण्टकाद्यं वस्तु 'शोधयित्वा' उद्धृत्योपाश्रयं प्रविशेदिति गाथार्थः ॥ १० ॥ अत्रैव विधिशेषमाह—

पायपमज्ज निसीहिअ अंजलि दंडुवहिमोक्खणं विहिणा।
सोहिं च करिंति तओ उवउत्ता जायसंवेगा ॥ २११ ॥ पडिदारगाहा ॥

प्रविशन्तः पादप्रमार्जनं कुर्वन्ति, तथा नैषेधिकीम् 'अञ्जलि'मित्यञ्जलिग्रहं, तथा दण्डोपधिमोक्षणं विधिना वक्ष्यमाणेन शुद्धिं चालोचनया कुर्वन्ति, तत उपयुक्ताः सन्तो जातसंवेगा इति द्वारगाथासमासार्थः ॥ ११ ॥ व्यासार्थं तु स्वयमेवाह—

एवं पडुपण्णे पविसओ उ तिन्नि उ निसीहिया होंति। अग्गद्दारे मज्झे पवेसणे पायऽसागारिए ॥२१२॥दारं॥

पुरुषान् प्रतीत्यैवंविधक्रियान् विनेयानभिग्रहाः 'अत्र' शासने नवरं विज्ञेया इति, किमेतदेवमित्यत्राह–सत्त्वा 'विचित्रचित्ताः' विचित्राभिसन्धयः केचन शुध्यन्ति कर्म्ममलापेक्षया 'एवमेव' अभिग्रहासेवनेनैवेति गाथार्थः ॥५॥ अत्राह—

जो कोइ परिकिलेसो जेसिं केसिंचि सुद्धिहेउत्ति । पावइ एवं तम्हा ण पसत्थाभिग्गहा एए ॥३०६॥

यः कश्चित् 'परिक्लेशो' दारुवहनादिः येषां केषाञ्चित्–कर्मकरादीनां शुद्धिहेतुरिति कर्म्ममलमपेक्ष्य प्राप्नोति 'एवं' गुरुलाघवालोचनशून्याभिग्रहाङ्गीकरणे सति, यस्मादेवं तस्मात् न प्रशस्ता–न शोभनाः कर्म्मक्षयनिमित्तमभिग्रहा 'एते' भवतोपन्यस्ता इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ आचार्य आह—

सत्थे विहिआ निरवज्ज पयइ मोहाइघायणसमत्था । तित्थगरेहिवि चिण्णा सुपसत्थाऽभिग्गहा एए॥३०७॥

शास्त्रे विहिताः–प्रवचने उक्ताः 'निरवद्याश्च' अपापाश्च प्रकृत्या 'मोहादिघातनसमर्थाः' मोहमदापनयनसहाः तीर्थकरैरपि भगवद्भिः 'चीर्णा' इत्याचरिताः, नत्वेवं ये केचन परिक्लेशा इति, अतः 'सुप्रशस्ताः'–अतिशयशोभना अभिग्रहा 'एते' अनन्तरोदिताः, विशुद्धिफलदर्शनादिति गाथार्थः ॥ ७ ॥ अलं प्रसङ्गेन । प्रस्तुतमाह—

सुत्तभणिएण विहिणा उवउत्ता हिंडिऊण ते भिक्खं । पच्छा उविंति वसहिं सामायारिं अभिंदंता ॥३०८॥

सूत्रभणितेन विधिना–शङ्कितादिपरिहारेण उपयुक्ताः तथा हिण्डित्वा–अटित्वा 'ते' साधवः भिक्षां सर्वसम्पत्करीं 'पश्चात्' तदुत्तरकालं 'उविंति' आगच्छन्ति वसतिं 'सामाचारीं' शिष्टसमाचरणलक्षणां 'अभिन्दन्तः' अविराधयन्त इति गाथार्थः॥८॥ तत्र च–

चाह—अप्राप्ते सति काले—भिक्षाकालेऽटतः प्रथम इत्यादौ, द्वितीयो मध्य इति भिक्षाकाल एवाटतः, तृतीयोऽन्त इति—भिक्षाकालावसान इति गाथार्थः ॥ कालत्रयेऽपि गुणदोषानाह—

दिंत्तगपडिच्छगाणं हविज्ज सुहुमंपि मा हु अचिअत्तं । इइ अप्पत्त अईए पवत्तणं मा इतो मज्झे ॥३०२॥

'ददत्प्रतीच्छकयोः' गृहिभिक्षाचरयोः मा भूत्सूक्ष्ममपि 'अचियत्तम्' अप्रीतिलक्षणम् 'इति' एतस्माद्धेतोरप्राप्ते, अतीते च भिक्षाकालेऽटनं न श्रेय इति गम्यते, 'प्रवर्त्तनं च' अधिकरणरूपं मा भूत्, ततो 'मध्ये' भिक्षाकालमध्येऽटनं श्रेय इति गाथार्थः ॥ २ ॥ भावाभिग्रहमाह—

उक्खित्तमाइचरगा भावजुआ खलु अभिग्गहो हुंति । गाअंतो अ रुअंतो जं देइ निसण्णमाई वा ॥३०३॥

'उत्क्षिप्तादिचरा' इति उत्क्षिप्ते भाजनात्पिण्डे चरति—गच्छति यः स उत्क्षिप्तचरः, एवं निक्षिप्ते भाजनादाविति भावनीयं, त एते भावयुक्ताः खल्वभिग्रहा इत्यर्थः, गायन् रुदन् वा यद्ददाति निषण्णादिर्वेति तद्ग्राहिण इति गाथार्थः ॥ ३ ॥ तथा—

ओसक्कण अभिसक्कण परंमुहोऽलंकिओ व इयरोऽवि । भावऽण्णयरेण जुओ अह भावाभिग्गहो नाम ॥३०४

सः अपसरन् अभिसरन् पराङ्मुखोऽलङ्कृतः कटकादिना 'इतरोऽपि' अनलङ्कृतो वाऽपि भावेनान्यतरेण 'युक्तः' समेतो यावान् कश्चिद् 'अथ' अयं भावाभिग्रहो नामेति गाथार्थः ॥ ४ ॥ अभिग्रहविषयोपदर्शनायाह—

पुरिसे पडुच्च एए अभिग्गहा नवरि एत्थ विण्णेआ । सत्ता विचित्तचित्ता केई सुज्झंति एमेव ॥३०५॥

वा 'द्रव्येण' दर्वीकुन्तादिना 'अथ' अयं द्रव्याभिग्रहो नाम–साध्वाचरणाविशेष इति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ क्षेत्राभिग्रहमाह–

अट्ठ उ गोअरभूमी एलुगविक्खंभमित्तगहणं च । सग्गामपरग्गामे एवइअ घरा य खित्तंमि ॥२२९॥

अष्टौ गोचरभूमयो वक्ष्यमाणलक्षणाः तथा एलुकविष्कम्भमात्रग्रहणं च, यथोक्तं "एलुकं विक्खंभइत्ता" तथा स्वग्रामपरग्रामयोरेतावन्ति च गृहाणि 'क्षेत्र' इति क्षेत्रविषयोऽभिग्रह इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ गोचरभूमिप्रतिपादनायाह—

उज्जुग १ गंतुं पच्चागइआ२गोमुत्तिआ३पयंगविही४ । पेडा५य अद्धपेडा६अब्भिंतर७बाहि संबुक्का ८ ॥३००॥

ऋज्वी गत्वा प्रत्यागतिर्गोमूत्रिका पतङ्गविधिः पेडा चार्द्धपेडा अभ्यन्तरबहिःसंबुक्केति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्–"उज्जुगा आदिओ चेव हिंडंतो उज्जुगं जाति तोंडाउ सन्नियट्टइ, गंतुं पच्चागइयाए तोंडं गंतूण तत्थ गहणं करेति आइओ सन्नियट्टइ, गोमुत्तिया वंकोवलिया, पयंगविही अणियया पयंगुड्डणसरिसा, पेडा पेलिगा इव चउकोणा, अद्धपेडा इमीए चेव अद्धसंठिया घरपरिवाडी, अब्भिंतरसंबुक्का बाहिरसंबुक्का य संखणाहिखित्तोवमा, एगीए अंतो आढवति बाहिरओ सन्नियट्टइ, इयराए विवज्जउ'त्ति ॥ कालाभिग्रहमाह—

काले अभिग्गहो पुण आईमज्झे तहेव अवसाणे । अप्पत्ते सइ काले आई विति मज्झ तइअंते ॥३०१॥

'काल' इति कालविषयोऽभिग्रहः पुनः, किंविशिष्टः इत्याह–आदौ मध्ये तथैवावसाने प्रतीतभिक्षावेलायाः, तथा

जस्स य जोगोत्ति जइ न भणंति न कप्पई तओ अन्नं। जोग्गंपि वत्थमाई उवग्गहकरंपि गच्छस्स ॥२९५॥

यस्य च—वस्त्रादेः योगः—प्रवचनोक्तेन विधिना सम्बन्धः प्राप्तलक्षण इति—एवं यदि न भणन्ति, ततः किमित्याह—न कल्पते ततोऽन्यद्-वस्त्वन्तरं वस्त्रादि उपग्रहकरमपि—उपकारकमपि 'गच्छे' साध्वादिसमुदायरूप इति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ किमेतदेवमित्याह—

साहूण जओ कप्पो मोत्तूणं आणपाणमाईणं। कप्पइ न किंचि काउं घित्तुं वा गुरुअपुच्छाए ॥ २९६ ॥

साधूनां यतः 'कल्पो' मर्यादेयं, यदुत—मुक्त्वा 'प्राणापानादि' उच्छ्वासनिःश्वासादि, आदिशब्दात् क्षुतादिपरिग्रहः, कल्पते न किञ्चित्कर्त्तुं ग्रहीतुं वा, किं सामान्येन ?, नेत्याह—'गुर्वनापृच्छया' गुरोरनादेशेनेति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

हिंडंति तओ पच्छा अमुच्छिया एसणाएँ उवउत्ता। द्व्वादभिग्गहजुआ मोक्खट्ठा सव्वभावेणं ॥२९७॥

'हिण्डंति' अटन्ति ततः पश्चाद् , विधिनिर्गमनानन्तरमित्यर्थः 'अमूर्च्छिता' आहारादौ मूर्च्छामकुर्वन्तः, 'एषणायां' ग्रहणविषयायाम् 'उपयुक्ताः' तत्पराः 'द्रव्याद्यभिग्रहयुता' वक्ष्यमाणद्रव्याद्यभिग्रहोपेताः मोक्षार्थं, तदर्थं विहितानुष्ठानत्वाद्भिक्षाटनस्य, 'सर्वभावेन' सर्वभावाभिसन्धिना, तद्वैयावृत्त्यादेरपि मोक्षार्थत्वादिति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ अभिग्रहानाह—

लेवडमलेवडं वा अमुगं द्व्वं व अज्ज घिच्छामि। अमुगेण व द्व्वेणं अह द्वाभिग्गहो चेव ॥ २९८ ॥

'लेपवत्' जगार्यादि तन्मिश्रं वा 'अलेपवद्वा' तद्विपरीतम् 'अमुकं द्रव्यं वा' मण्डकादि अद्य ग्रहीष्यामि, अमुकेन

चिंतित्तु तओ पच्छा मंगलपुव्वं भणंति विणयणया। संदिसहत्ति गुरूविअ लाभोत्ति भणाइ उवउत्तो २९१

चिन्तयित्वा ततः पश्चात् 'मङ्गलपूर्वं' नमस्कारपूर्वकं भणन्ति विनयनताः–अभिदधत्यर्द्धावनताः, किमित्याह–'संदिसत'त्यादि, संदिशत यूयं, गुरुरपि च लाभ इति भणति, कालोचितानुकूलानपायित्वाद्, उपयुक्तो–निमित्ते असम्भ्रान्त इति गाथार्थः ॥ ९१ ॥

कह घेत्थिमोत्ति पच्छा सविसेसणया भणंति ते सम्मं। आह गुरूवि तहत्ति अ जह गहिअं पुव्वसाहूहिं २९२

ततः कथं ग्रहीष्याम इति–एवं पश्चात् सविशेषनताः सन्तो भणन्ति ते साधवः सम्यक्, आह गुरुरपि तथेति, अस्यैव भावार्थमाह–यथा गृहीतं पूर्वसाधुभिः इति, अनेन गुरोरसाधुप्रायोग्यभणनप्रतिषेधमाहेति गाथार्थः ॥ ९२ ॥

आवस्सियाए जस्स य जोगोत्ति भणित्तु ते तओ णिंति। निक्कारणे न कप्पइ साहूणं वसहि निग्गमणं २९३

'आवश्यक्या' उक्तलक्षणया यस्य च योग इति भणित्वा 'ते' साधवः ततः–तदनन्तरं निर्गच्छन्ति वसतेः, किमित्ये-तदेवमित्यत्राह–निष्कारणे न कल्पते साधूनां वसतेर्निर्गमनं, तत्र दोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ तथा—

गुरुणा अपेसियाणं गुरुसंदिट्टेण वावि कज्जंमि। तह चेव कारणंमिवि न कप्पई दोससब्भावा ॥ २९ ॥

'गुरुणा' आचार्येण अप्रेषितानां सतां गुरुसन्दिष्टेन वाऽपि ज्येष्ठार्यादिना कार्ये–सूक्ष्मश्रुतचिन्तनिकादौ गुरोः, तथैव कारणेऽपि–भिक्षाटनादौ न कल्पते वसतिनिर्गमनं, 'दोषसद्भावात्' स्वातन्त्र्येण मार्गातिक्रमादिति गाथार्थः ॥ ९४ ॥

काइयमाइयजोगं काउं घित्तूण पत्तए ताहे । डंडं च संजयं तो गुरुपुरओ ठाउमुवउत्तो ॥२८७॥
संदिसह भणंति गुरुं उवओग करेमु तेणऽणुण्णाया । उवओगकरावणिअं करेमि उस्सग्गमिच्चाइ ॥२८८॥
अह कड्डिऊण सुत्तं अक्खलियाइगुणसंजुअं पच्छा । चिट्ठंति काउसग्गं चिंतंति अ तत्थ मंगलगं ॥ २८९ ॥

कायिकादिव्यापारं कृत्वा गृहीत्वा पात्रे ततः–प्रतिग्रहमात्रकरूपे दण्डकं च संयतम्–असम्भ्रान्तं ततः गुरुपुरतः स्थित्वोपयुक्ताः सन्तः ॥ ८७ ॥ किमित्याह—'संदिसहे'ति भणन्ति गुरुं, किमित्याह–उपयोगं कुर्म्म इति, तेन–गुरुणा अनुज्ञाताः सन्तः, किमित्याह–उपयोगकारणं कुर्म्मः कायोत्सर्गमित्यादि ॥ ८८ ॥ ततः किमित्याह–'अहे'त्यादि, 'अथाकृष्य' अनन्तरं पठित्वा 'सूत्रं' 'उवयोगकरावणियं करेमि काउस्सग्गं अण्णत्थ ऊससिएण' मित्यादि 'अस्खलितादि-गुणयुक्तं' अस्खलितममिलितमित्यादि, पश्चात् ततः तिष्ठन्ति 'कायोत्सर्ग'मिति कायोत्सर्गेण 'सुपां सुप' इति वचनात्, चिन्तयति च 'तत्र' कायोत्सर्गे 'मङ्गलकं' पञ्चनमस्कारमिति गाथात्रयार्थः ॥ ८९ ॥

तप्पुव्वयं जयत्थं अन्ने उ भणंति धम्मजोगमिणं । गुरुबालवुड्ढसिक्खगरेसिंमि न अप्पणो चेव ॥२९०॥

'तत्पूर्वकं' नमस्कारपूर्वकं यदर्थं तच्च चिन्तयंति, सम्यगनालोचितग्रहणप्रतिषेधात्, अन्ये त्वाचार्या इत्थमभिदधति-धर्म्मयोगमेनं, चिन्तयंतीति वर्त्तते, किंविशिष्टमित्याह–गुरुबालवृद्धशिष्यकरेषे–एतदर्थं निर्व्याजमहं प्रवृत्तो नात्मन एवार्थमिति गाथार्थः ॥ ९० ॥

इति, गुप्तो वा उपध्यर्थं स्वयं दह्येत ह्रियेत वा स्वयमेव, यच्च तेन विना आज्ञाविराधनाऽसंयमादि तच्च प्राप्नोति निक्षिपन्, 'गहिएण पुण पडिग्गहेणं वेंटियं गहाय बाहिरकप्पं उवरिछोढुं ताहे वच्चइ' इति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ वर्षाकाले त्वनिक्षिप्तेऽपि न दोष इत्येतदाह—

वासासु णत्थि अगणी णेव अ तेणा उ दंडिआ सत्था ।

तेण अबंधण ठवणा एवं पडिलेहणा पाए ॥२८५॥ 'पडिलेहणा पमज्जण'त्ति दारं गयं ॥

वर्षासु नास्त्यग्निः जलबाहुल्यात्, नैव स्तेना अपि, निस्सरणोपायाभावाद्, दण्डिकाः स्वस्थाः बलसामग्र्यभावेन कारणेन एतदेवं, तेनाबन्धनोपधेः स्थापना पात्रस्य, प्रकृतनिगमनायाह—'एवम्' उक्तप्रकारा प्रत्युपेक्षणा पात्र इति गाथार्थः ॥८५॥ मूलप्रतिद्वारगाथायां कार्त्स्न्येन व्याख्यातं प्रत्युपेक्षणाद्वारं, साम्प्रतं भिक्षाद्वारव्याचिख्यासुराह—

कयजोगसमायारा उवओगं कायजोग (काउ गुरु) समीवंमि ।

आवसियाए णिंती जोगेण य भिक्खणट्ठाए ॥ २८६ ॥

कृतयोगसमाचाराः—कृतकायिकादिव्यापारा इत्यर्थः उपयोगं—कालोचितप्रशस्तव्यापारलक्षणं कृत्वा गुरुसमीपे—आचार्यसन्निधौ आवश्यिकया—साधुक्रियाभिधायिन्या हेतुभूतया निर्गच्छन्ति वसतेरिति गम्यते, योगेन च—यस्य योग इत्येवंवचनलक्षणेन भिक्षार्थमिति गाथासमुदायार्थः ॥ ८६ ॥ अवयवार्थं त्वाह—

द्यते हि साऽवस्था, देशकालामयान् प्रति । यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्, कर्म्मकार्यं च वर्ज्जयेद् ॥१॥" इति गाथार्थः ॥८१॥
उक्तमानुषङ्गिकं, प्रकृतमाह—

विंटिअ बंधणधरणे अगणी तेणे अ दंडिअक्खोहे । उउबद्धधरणबंधण वासासु अबंधणे ठवणा ॥८२॥

विण्टिकाबन्धनमिति प्रत्युपेक्ष्योपधिं कार्यं, धारणं च पात्रस्य, "तं च रयत्ताणंपि संवलित्ता धारिज्जइ न निक्खिप्पइ' किमित्येतदेवमित्याह—अग्नौ स्तेने दण्डिकक्षोभे च दोषसम्भवात्, अग्न्यादयश्च प्राय ऋतुबद्धे भवन्ति, न वर्षाकाले, इत्यत आह—ऋतुबद्धे धारणबन्धने, धारणं पात्रस्य बन्धनं तूपधेः, वर्षास्वबन्धनोपधेः स्थापना च पात्रस्य, अन्ये त्वाहुः—'ठवणा य पुण मत्तयस्से'ति गाथासमुदायार्थः ॥ ८२ ॥ अवयवार्थं त्वाह—

रयताण भाणधरणं उउबद्धे निक्खिविज्ज वासासु । अगणी तेणभए वा रज्जक्खोभे विराहणया ॥२८३॥

रजस्त्राणभाजनधरणं ऋतुबद्धे कुर्यात्, निक्षिपेद्वर्षासु भाजनमपि, अधारणे दोषमाह—अग्नौ स्तेनभये राज्यक्षोभे वा विराधना संयमात्मनोर्भवतीति गाथार्थः ॥ ८३ ॥ तथा चाह—

परिगलमाणो हीरेज्ज डहणभेआ तहेव छक्काया ।
गुत्तो अ सयं डज्झे हीरिज्ज व जं च तेण विणा ॥ २८४ ॥

परिगलन् ह्रियेतोपधिरिति गम्यते, दहनभेदावित्युपधिपात्रयोः स्यातां, तथैव षट्कायास्तद्व्यापृततया सम्भ्रान्तनिर्गमन

कालपरिहाणिदोसा सिक्कगवंधेऽवि विलइए संतो। एसो व विही सम्मं कायव्वो अप्पमत्तेणं ॥२७८॥

'कालपरिहाणिदोषाद्' दुष्षमालक्षणकालपरिहाण्यपराधेन सिक्कगबंधेऽपि पात्र इति गम्यते विलगिते सति, कीलकादौ प्रमादभङ्गभयेन, एष एव विधिरनन्तरोदितः 'सम्यग्' अन्यूनातिरिक्तः कर्त्तव्यः अप्रमत्तेन, न स्थापनत्यागवत् सर्वत्याग एव कार्यः, तस्य पूर्वाचार्यैरेवाचरितत्वादिति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ एतदेव समर्थयति—

अवलंबिऊण कज्जं जं किंचि समायरंति गीयत्था। थेवावराहवहुगुण सव्वेसिं तं पमाणं तु ॥ २७९ ॥

अवलम्ब्य—आश्रित्य कार्यं यत्किञ्चिदाचरन्ति—सेवन्ते 'गीतार्थाः' आगमविदः स्तोकापराधं बहुगुणं मासकल्पाविहारवत् सर्वेषां जिनमतानुसारिणां तत् प्रमाणमेव, उत्सर्गापवादरूपत्वादागमस्येति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

ण य किंचि अणुन्नायं पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं। तित्थगराणं आणा कज्जे सच्चेण होअव्वं ॥२८०॥

न च किञ्चिदनुज्ञातम् एकान्तेन प्रतिषिद्धं वाऽपि जिनवरेन्द्रैः—भगवद्भिः, किन्तु तीर्थङ्कराणामाज्ञा इयं यदुत कार्ये सत्येन भवितव्यं, न मातृस्थानतो यत्किञ्चिदवलम्बनीयमिति गाथार्थः ॥ ८० ॥ किमित्येतदेवमित्याह—

दोसा जेण निरुज्झंति जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं। सो सो मोक्खोवाओ रोगावत्थासु समणं वा ॥२८१॥

'दोषा' रागादयो येन निरुध्यन्ते अनुष्ठानविशेषेण येन क्षीयन्ते 'पूर्वकर्म्माणि' शेषाणि ज्ञानावरणादीनि 'स सः' अनुष्ठानविशेषो मोक्षोपायः, दृष्टान्तमाह—रोगावस्थासु 'शमनमिव' औषधानुष्ठानमिवेति, उक्तं च भिषग्वरशास्त्रे—"उत्प-

सिक्कगवन्धः आचरणास्वरूपं च

च्छेदः, तस्यां हि विध्वंसादिरेव विधिः, तथा च वृद्धव्याख्या—"मट्टिआ जाव विद्धत्थां, जइ महानगरे तत्थ अवणिज्जइ"त्ति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

भायण पमज्जिऊणं बाहिं अंतो अ एत्थ पप्फोडे। केइ पुण तिन्नि वारा चउरंगुलमित्त पडणभया ॥२७६॥

भाजनं प्रमृज्य बहिरन्तश्च प्रस्फोटयेत्, अस्य भावार्थो वृद्धसम्प्रदायादेवावसेयः, स चायम्—'पच्छा पमज्जिय पुप्फयं तिन्नि वारे, पच्छा तिन्नि परिवाडीओ पडिलेहेइ, पच्छा करयले काऊणमण्णाओवि तिण्णि परिवाडीओ पमज्जिज्जइ, तओ पप्फोडेइ, केचन पुनस्त्रीन् वारानिति, "केसिंचि आएसो एका परिवाडी पमज्जित्ता पच्छा पप्फोडिज्जइ, एवं तिन्नि वारे, अम्हं पुण एगवारं पप्फोडिज्जइ, तं च णातीव उच्चं पडिलेहिज्जइ पमज्जिज्जइ वा, किंतु चउरंगुलमित्तंति, अन्नह पडणादियां दोसा" तथा चाह—चतुरङ्गुलं तत्रान्तरं भवति, पतनभयात् नाधिकमिति, तथा 'जइ उउबद्धं ताहे धारेइ, रयत्ताणंपि संवलित्ता धारेति, इयरंमि विहिं भणिस्सइ, इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

दाहिणकरेण कन्ने घेत्तुं भाणंमि वामपडिबंधे। खोडेज्ज तिन्नि वारे तिन्नि तले तिन्नि भूमीए ॥२७७॥

(दक्षिणकरेण कर्णे गृहीत्वा 'भाणे' भाजने वामप्रतिबन्धे—सव्यपार्श्वे 'खोडेज्ज' प्रस्फोटयेत् त्रीन् वारान्, तथा 'तले' अधस्तले त्रीन् वारान् भूमौ च प्रस्फोटनेति परमतदर्शिकेयं गाथेति ज्ञायते) ॥ ७७ ॥ साम्प्रतं न पात्राणां भूमौ स्थापनं क्रियते, तद्वत्सर्वमेव न कर्त्तव्यमित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

पात्रस्थापनं भित्त्वा प्रविशेत्, स्थापनग्रहणं पात्रबन्धाद्युपलक्षणं, स ऊर्ध्वगामी उदकबिन्दुर्हरतनुरभिधीयत इति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ मृद्द्वारमाह—

कोत्थलगारी घरगं घणसंताणाइया य लग्गिज्जा ।
उक्केरं सट्ठाणे हरतणु चिट्ठिज्ज जा सुक्को ॥ २७४ ॥

'कोत्थलकारी गृहक'मिति वन्नकारिकाए घरं कयं, आणित्ता किमिए छुहइ, द्वारं ॥ इदानीं त्रससाम्याद् घनसन्तानद्वारमाह—घनसन्तानादयो वा लगेयुः, घणसंताणओ णाम कोलियओ, सो पुण पात्ते वा भायणे वा लगेज्जा, अत्र यतनाविधेयमाह—उकेरं स्वस्थान इति, 'जाहे सचित्तरओ भवति ताहे तस्स चेव उवरि पमज्जेइ, हरतनौ तिष्ठेद् यावच्छुष्क इति, 'जत्थ हरतणुओ भवति तत्थ ताव अच्छिज्जइ जाव विद्धत्थो'त्ति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

इअरेसु पोरिसितिगं संचिक्खावित्तु तत्तिअं छिंदे ।
सव्वं वाऽवि विगिंचे पोराणं मट्टिअं खिप्पं ॥ २७५ ॥

'इतरेषु' घनसन्तानादिषु पौरुषीत्रयं संस्थाप्य अन्याभावे सति कार्ये तावन्मात्रं छिन्द्याद्, असति कार्ये सर्वं वापि 'विगिंचे'त्ति जह्यात्, परित्यजेदित्यर्थः, पुराणमृदं क्षिप्रं परित्यजेदिति वर्त्तते, पुराणमृद्ग्रहणात् कोत्थलकारीमृदो व्यव-

उत्करादिषु विधिः

पात्रकेसर्येति, ततस्त्रिगुणं तु भाजनमन्तर्बहिश्च, भाजनस्य 'पुष्पकं' नाभिप्रदेशं तत एभिः कार्यैः—वक्ष्यमाणलक्षणैः प्रत्यु-पेक्षेत विधिनेति गाथाक्षरार्थः ॥ ७१ ॥ भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—जाहे पडलाणि पडिलेहियाणि हवंति ताहे पायकेसरियं पडिलेहित्ता गोच्छगं वामेण हत्थेणं अणामिगाए गिण्हइ, ताहे मुह (पाय)केसरियाए चत्तारि पत्ताबंधकोणे पमज्जित्ता भायणं सव्वतो समंता पडिलेहेइ, ताहे उवओगं वच्चइ पंचहिं, पच्छा मुहणंतएणं अन्तो तिण्णि वारे पमज्जइ, बाहिंवि तिण्णि वारे पमज्जित्ता जाव हेट्ठा पत्तो ताहे वामेणं हत्थेणं गिण्हइ चउहिं अंगुलेहिं भूमिमपावंतं, ताहे पुप्फयं पलोएति' किंनिमित्तम् ?, एभिः कारणैरित्याह—

मूसगरयउक्केरे, घणसंताणए इअ । उदए मट्टिया चेव, एमेआ पडिवत्तिओ ॥ २७२ ॥

मूषकरजउत्करः घनसन्तानकश्च उदकं मृच्चैव, एवमेताः 'प्रतिपत्तयः' कायापत्तिस्थानानीति श्लोकसमुदायार्थः ॥७२॥ अवयवार्थं त्वाह—

नवगनिवेसे दूराओ उक्किरो मूसएहिं उक्किण्णो । निद्धमही हरतणुओ ठाणं भित्तूण पविसिज्जा ॥२७३॥

नवकनिवेशे ग्रामादाविति गम्यते 'दूराद्' गम्भीराद् 'उत्करः' सचित्तपृथिवीरजोलक्षणः मूषकैरुत्कीर्णो भवेद्, व्याख्यातं रजोद्वारम्, अधुना घनसन्तानद्वारमुल्लङ्घ्यैकेन्द्रियसाम्यादुदकद्वारमाह—'स्निग्धमही' क्वचिदनूपदेशे हरतनु 'स्थापनं'

वस्त्रिकां प्रत्युपेक्ष्य श्रोत्रादिभिः कृत्वोपयोगमिति, अत्र पश्चानुपूर्व्या श्रोत्रग्रहणं सर्वेन्द्रियोपयोगख्यापनार्थं, तथा च वृद्धसम्प्रदायः-पढमं चक्खुणा उवउज्जइ, जाहे वाहिं न दिट्ठं भवति ततो सोएणं अंतो अतिगयं हविज्जा, ततो घाणेण किंकिसिंघणं वा, जत्थ गंधो तत्थ रसो, फासे उवरि पडलाण हत्थं दिज्जा, एवं श्रोत्रादिभिः कृत्वोपयोगं तल्लेश्यः सन्-तद्भावपरिणत इत्यर्थः 'पश्चात्' तदुत्तरकालं प्रत्युपेक्षेत भाजनमेवं-वक्ष्यमाणेन प्रकारेणेति गाथार्थः ॥६९॥ तथा चाह—

मुहणंतएण गोच्छं गोच्छगलइअंगुली उ पडलाइं ।
उक्कुडुओ भाणवत्थे पलिमंथाईसु तं न भवे ॥ २७० ॥

'मुखानन्तकेने'ति मुखवस्त्रिकया गोच्छकं-पात्रोपकरणविशेषं प्रत्युपेक्षेत, ततोऽङ्गुलिगृहीतगोच्छकस्तु 'पटलानि' पात्रोपकरणविशेषलक्षणानि, उत्कुटुको 'भाजनवस्त्राणि'पटलानि प्रत्युपेक्षेत इति केचित्, पलिमन्थादेस्तन्न भवति-तन्न भवेत्, अनादेशोऽयं, परिश्रमदोषादित्यर्थः, तथा च वृद्धवादः-पडिलेहणा पुव्ववन्निया धीराणं, केई भणंति-पडलाइं उक्कुडुओ पडिलेहेइ, अम्हं पुण नत्थि, अम्हं विनिविट्ठो, पलिमंथाईदोसा इति गाथार्थः ॥ ७० ॥ ततश्च—

चउ कोण भाणकोणे पमज्ज पाएसरीएँ तिउणंति । भाणस्स पुप्फगं तो इमेहिं कज्जेहिं पडिलेहे ॥ २७१ ॥

तदनन्तरं चतुरोऽपि पात्रबन्धकोणान् प्रमार्ष्टि, तदनु भाजनकोणं, यत्र आदौ तद्ग्रहणमिति तांश्चैवं प्रमार्ष्टि, प्रमृज्य

प्रमार्जनादुपधेः स्थानात्मोपधिदर्शनेन, पात्रकापात्रबन्धयोर्दोषा एव कायापविराधनादय इति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ प्रतिक्रान्त्वा गाथायां प्रमार्जनेति व्याख्याते, सम्प्रति पात्रकाण्यधिकृत्य प्रत्युपेक्षणामेवाह—

चरिमाए पोरिसीए पत्ताए भायणाण पडिलेहा । सा पुण इमेण विहिणा पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥२६७॥

चरिमायां पौरुष्यां प्राप्तायां, चतुर्भागावशेषे प्रहर इत्यर्थः, भाजनानां प्रत्युपेक्षणा क्रियते, सा पुनरनेन—वक्ष्यमाणलक्षणेन विधिना प्रज्ञप्ता 'वीतरागैः' तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ तत्र चरमायां विधिनैव प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या, यत आह—

तीआणागयकरणे आणाई अविहिणाऽवि ते चेव । तम्हा विहीए पेहा कायव्वा होइ पत्ताणं ॥२६८॥

'अतीतानागतकरणे' अतिक्रान्तायां चरमायां अप्राप्तायां वा प्रत्युपेक्षणाकरणे 'आज्ञादयः' आज्ञाऽनवस्थादयो दोषाः, अविधिनाऽपि प्रत्युपेक्षणाकरणे त एवाज्ञादय इति, यस्मादेवं तस्माच्चरमायामेव विधिना वक्ष्यमाणस्वरूपेण प्रत्युपेक्षणा वक्ष्यमाणैव कर्त्तव्या भवति पात्राणां, पुनः स्वाध्यायप्रश्रयं आचार्यप्रणामं कृत्वा तद्भावे चाविघ्नध्योरथायेति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ प्रत्युपेक्षणाविधिमाह—

भाणस्स पास बिट्ठो पढमं सोआइएहिं काऊणं । उवओगं तो सो पच्छा पडिलेहए एवं ॥ २६९ ॥

भाजनस्य पार्श्वे उपविष्ट इत्यत्र भाजनात् वितस्त्यन्तरे व्यवस्थापितस्य गुरुभाजनस्य आसन्ने उपविष्टः प्रथमं श्रुत-

प्रत्युपेक्ष्योपधिं—मुखवस्त्रिकादिलक्षणं 'गोसे' प्रत्यूपसि तदनु प्रमार्ज्जना तु वसतेरिति, अपराह्ने पुनः प्रथमं प्रमार्जना-वसतेः प्रथमं प्रमार्ज्जना पश्चात्प्रत्युपेक्षणोपधेरिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ तत्र—

वसही पमज्जियव्वा वक्खेवविवज्जिएण गीएण । उवउत्तेण विवक्खे नायव्वो होइ अविही उ ॥२६४॥

वसतिः—यतिनिवासलक्षणा प्रमार्जयितव्या—प्रमार्ष्टव्या, किंविशिष्टेनेत्याह—व्याक्षेपविवर्जितेन—अनन्यव्यापारेण गीतार्थेन—सूत्रार्थविदा उपयुक्तेन मनसा 'विपक्षे' व्याक्षेपादौ ज्ञातव्या भवत्यविधिरेव प्रमार्ज्जनेऽपीति गाथार्थः ॥ ६४ ॥

सइ पम्हलेण मिउणा चोप्पडमाइरहिएण जत्तेणं । अविद्धदंडगेणं दंडगपुच्छेण नऽन्नेणं ॥ २६५ ॥

'सदा'सर्वकालं 'पक्ष्मलेन' पक्ष्मवता 'मृदुना' अकठिनेन 'चोप्पडमादिरहितेन' स्नेहमलक्लेदरहितेन 'युक्तेन' प्रमाणोपेतेन 'अविद्धदण्डकेन' विधिग्रन्थिबन्धेनेत्यर्थः दण्डकप्रमार्जनेन—संयतलोकप्रसिद्धेन नान्येन—कचवरशोधनादिनेति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ अप्रमार्जने दोषानाह—

अपमज्जणंमि दोसा जणगरहा पाणिघाय मइलणया ।
पायपमज्जणउवही धुवणाधुवणंमि दोसा उ ॥ २६६ ॥

अप्रमार्ज्जने दोषाः वसतेरिति गम्यते, के ? इत्याह—'जनगर्हा' लोकनिन्दा, प्राणिघातो रेणुसंसक्ततया, मालिन्यं पादा-

'पुरुषोपधिविपर्यास' इति पुरुषविपर्यासो—गुरुं विहाय प्रत्याख्यानिन इत्यादिरूपः, उपधिविपर्यासस्तु प्रथमं बहुपरिकर्म्मादेः तदनु यथाकृतस्य, उपलक्षणत्वाच्चैतस्य पूर्वाह्णे प्रथमं भाजनानां तदनु वस्त्राणां अपराह्णे विपर्ययः, एष विपर्यासः, अयं च न कर्त्तव्य इति, अपवादमाह—सागारिके उपधौ तथा अनुचिते कुर्यादुपधिविपर्यासं, मा भूत् तत्र बहुमान इतरस्य वा सङ्क्लेश इति, एवं गुरोराभिग्राहिके सति आपृच्छ्यैव गुरुम् आभिग्राहिकसम्पदा प्रभवति सति गुरौ 'इतर' इत्यन्येषां प्रत्याख्यानिप्रभृतीनां प्रत्युपेक्षेत, अन्यथा 'वितथ'मिति वितथं प्रत्युपेक्षणं भवतीति गाथार्थः ॥६१॥ उपसंहरन्नाह—

अप्पडिलेहिय दोसा आणाई अविहिणावि ते चेव ।
तम्हा उ सिक्खिअव्वा पडिलेहा सेविअव्वा य ॥२६२॥ दारं ।

अप्रत्युपेक्षिते उपधाविति गम्यते दोषाः आज्ञादयः—आज्ञाऽनवस्थादयः, अविधिनाऽपि प्रत्युपेक्षिते त एव दोषा इति, यस्मादेवं तस्माच्छिक्षितव्या प्रत्युपेक्षणेति, तदुपलक्षिता प्रमार्जनादिक्रिया, सेवितव्या च यथाऽऽगममिति गाथार्थः ॥६२॥ प्रतिद्वारगाथायां प्रत्युपेक्षणेति व्याख्यातमाद्यद्वारम्, अधुना द्वितीयद्वारमाह—

पडिलेहिऊण उवहिं गोसंमि पमज्जणा उ वसहीए ।
अवरण्हे पुण पढमं पमज्जणा पच्छ पडिलेहा ॥ २६३ ॥

विवज्जओ चेव एवं हवतित्ति जयणाए सव्वत्थ आणापहाणेण होयव्वं'ति, सपरिकरः 'खोडणे'त्यादि(२५५-२५६) गाथाद्वयार्थः ॥ ५८ ॥ अनादेशानामुपन्यासप्रयोजनमाह—

एए उ अणादेसा एत्थ असंबद्धभासगंपि गुरू । असढं तु पण्णविज्जत्तिखावणट्ठा विणिद्दिट्ठा ॥२५९॥

एते च-कुर्कुटादयः अनादेशाः अत्र-शास्त्रे विनिर्दिष्टा इति योगः, किमर्थमित्यत्राह-असम्बद्धभापकमपि शिष्यमशठं त्विति योगः अशठमेव गुरुः-आचार्यः प्रज्ञापयेत् तत्त्वप्ररूपणया इति-एवं ख्यापनार्थं-ज्ञापनार्थं विनिर्दिष्टा इति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ अविपर्यासमाह—

गुरुपच्चक्खाणगिलाणसेहमाईण पेहणं पुव्विं । तो अप्पणो पुव्वमहाकडाइं इअरे दुवे पच्छा ॥२६०॥

गुरुप्रत्याख्यानग्लानशिक्षकादीनां 'प्रेक्षण'मिति प्रत्युपेक्षणं 'पूर्वम्' आदौ, अयं पुरुषाविपर्यासः, प्रथमं गुरोः-आचार्यस्य सम्बन्धी उपधिराभिग्रहिकसाध्वभावे सर्वैः प्रत्युपेक्षितव्यः, तदनु प्रत्याख्यानिनः-क्षपकस्य, तदनु ग्लानस्य, तदनु शिष्यकस्य-अभिनवप्रव्रजितस्य, आदिशब्दाद् व्यापृतवैयावृत्त्यकरादिपरिग्रहः,तत आत्मन इति । उपकरणाविपर्यासमाह-पूर्वं यथाकृतानि वस्त्रादीनि संयमोपकारकत्वात्, तथाकरणे तत्र बहुमानाद्, इतरे द्वे उपकरणजाते-अल्पपरिकर्मबहुपरिकर्मरूपे 'पश्चात्'तदुत्तरकालं प्रत्युपेक्षेतेति गाथार्थः ॥ २६० ॥ इदानीमर्थतो गतमपि विपर्यासं विशेषाभिधानार्थमाह—

पुरिसुवहिविवच्चासो सागरिअ करिज्ज उवहिवच्चासं । आपुच्छित्ताण गुरुं पडुच्च माणेतरे त्तिहं॥२६१॥

दैवसिकप्रत्युपेक्षणा वस्त्रादेर्यस्माच्चरमायां तदन्वेव स्वाध्याय इति तस्माद्विभ्रम एषः, भ्रान्तिरित्यर्थः, कस्य ?–कुर्कुट-कादेशिनः चोदकस्य, तत्रान्धकारमितिकृत्वा, ततः शेषा अनादेशा इति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ इह च वृद्धसम्प्रदायः—

एए उ अणाएसा अंधारे उग्गएऽवि हु ण दीसे। मुहरयणिसिज्जचोले कप्पतिअ दुपट्ट थुइ सूरो ॥२५७॥

एवं आयरिया भणंति–सव्वेऽवि एए सच्छंदा, अंधकारे पडिस्सए हत्थरेहाओ सूरे उग्गएऽवि न दीसंति, इमो पडिलेहणाकालो–आवस्सए कए तिहिं थुतीहिं दिण्णियाहिं जहा पडिलेहणकालो भवति तहा आवस्सयं कायव्वं, इमेहि य दसहिं पडिलेहिएहिं जहा सूरो उट्ठेइ "मुहपोत्तिय रयहरणं दोन्नि निसिज्जा उ चोलपट्टो य। संथारुत्तरपट्टो तिन्नि उ कप्पा मुणेयव्वा ॥ १ ॥' केई भणंति–एक्कारसमो दंडगो, एसो कालो, ततो जं ऊणं वा अइरित्तं वा कुणइ तं कालओ ऊणातिरित्तं" ॥ अत्रैव व्यतिकरे युक्तिमाह—

जीवदयट्ठा पेहा एसो कालो इमीएँ ता णेओ। आवस्सयथुइअंते दसपेहा उट्ठए सूरो ॥ २५८ ॥

'जीवदयार्थं' जीवदयानिमित्तं प्रत्युपेक्षणा यस्मादेष कालोऽस्याः–प्रत्युपेक्षणायाः तस्मात् ज्ञेयः, आवश्यकस्तुत्यन्ते, प्रतिक्रमणान्ते इत्यर्थः, 'दश प्रत्युपेक्षे'ति दशसु वस्त्रेषु प्रत्युपेक्षितेषु सत्सु यथोत्तिष्ठति 'सूर्यः'आदित्य इति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ अत्र वृद्धसम्प्रदाय एवम्—'एत्थ ऊणाइरित्तया जत्तेण परिहरियव्वा, एवं चेव इत्थ फलसिद्धी, सव्वण्णुवयणमेयं, वितहकरणं विराहणा, न उण इट्ठफलजोगो, नहि अणुवाया उवेयं पाविज्ज, अकालिचारिकिरिसगादयो एत्थ निदरिसणं,
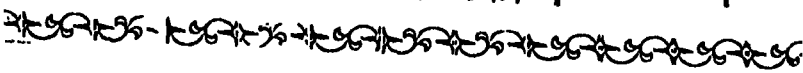
विरोधि, शेपाणि तु–सप्त पदानि विपर्यासादिदोपवन्ति अप्रशस्तानि, न मुक्तिसाधकानीति गाथासमुदायार्थः ॥ ५३ ॥ अवयवार्थं त्वाह—

नो ऊणा नऽइरित्ता अविवच्चासा उ पढमओ सुद्धो। सेसा हुंति असुद्धा उवरिल्ला सत्त जे भंगा ॥२५४॥

नो न्यूना नातिरिक्ता अविपर्यासा च प्रत्युपेक्षणेति गम्यते, 'प्रथमः शुद्ध' इति अयं प्रथमभङ्गः शोभन इति, शेषाः भवन्त्यशुद्धाः–उपरितनाः सप्त ये भङ्गकाः, न्यूनत्वादिति गाथार्थः ॥ ५४ ॥ यैर्न्यूनत्वमधिकत्वं वेति तानाह—

खोडणपमज्जवेलासु चेव ऊणाहिआ मुणेअव्वा। चोदगः–कुक्कुडअरुणपगासं परोप्परं पाणिपडिलेहा २५५

प्रस्फोटनप्रमार्जनवेलास्वेव न्यूनाधिका मन्तव्या प्रत्युपेक्षणा, प्रस्फोटनैः प्रमार्जनैः कालेन चेति भावः, तत्र प्रस्फोटनादिभिर्न्यूनाधिकत्त्वं ज्ञायत एव, कालं त्वङ्गीकृत्य 'कुक्कुटअरुण'मित्यादिना गाथार्द्धेन 'एते तु अणाएसा' इत्यनेन च गाथासूत्रेणाह, अत्र च वृद्धसम्प्रदायः–कालेण ऊणा जो पडिलेहणाकालो तत्तो ऊणं पडिलेहेइ, तत्थ भण्णइ–को पडिलेहणाकालो ?, ताहे एगो भणति–जाहे कुक्कुडो वासति पडिक्कमित्ता पडिलेहिज्जउ, तो पट्ठवेत्ता अज्झाइज्जउ १, अण्णो भणति–अरुणे उट्ठिए २, अण्णो–जाहे पगासं जायं ३, अण्णो–पडिस्सए जाहे परोप्परं पवइयगा दिस्संति ४, अण्णे भणंति–जाहे हत्थे रेहाओ दिस्संति ५" ॥ एतेपां विभ्रमनिमित्तमाह—

देवसिया पडिलेहा जं चरिमाएत्ति विब्भमो एसो। कुक्कुडगादिसिस्सा तत्थं धारंति ते(तो) सेसा ॥२५६॥

धूणणा तिण्ह परेणं बहूणि वा घेत्तु एगओ धुणइ। खोडणपमज्जणासुं संकिय गणणं करि पमाई ॥२५१॥

धुननं त्रयाणां वाराणां परेण कुर्वतः, बहूनि वा वस्त्राणि गृहीत्वा एकतो धुनाति—युगपद्धुनातीति, 'प्रस्फोटनप्रमार्ज्जनासु च' प्रस्फोटनेषु—उक्तलक्षणेष्वेव प्रमार्जनेषु च—उक्तलक्षणेष्वेव 'शङ्कित'इति शङ्कायां सत्यां गणनां कुर्यात्प्रमादी, भावार्थो निदर्शित एवेति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ न चोर्द्ध्वादिविधाने सत्यनेकधा दोषवर्णनमनर्थकमित्येतदाह—

उड्ढाइविहाणंमिवि अणेगहा दोसवण्णणं एअं। परिसुद्धमणुट्ठाणं फलयंति निद्‌रिसणपरं तु ॥२५२॥

ऊर्ध्वादिविधाने सत्यपि 'उड्ढं थिर'मित्यादिना यदनेकधा दोषवर्णनमेतत्प्रत्युपेक्षणायां 'अणच्चाविय'मित्यादिना यदुक्तम् एतत् किमित्याह—परिशुद्धमनुष्ठानं—निरतिचारमेव फलदमिति निदर्शनपरम्, अन्यथा प्रक्रान्तफलाभावादिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ तथा चाह निर्युक्तिकारः—

अणुणाइरित्तपडिलेहा अविवच्चासा उ अट्ठ भंगाओ। पढमं पयं पसत्थं सेसाणि उ अप्पसत्थाणि ॥ २५३ ॥

अन्यूना प्रस्फोटनादिभिः अनतिरिक्ता एभिरेव प्रत्युपेक्षणा—निरीक्षणादिक्रिया वेण्टिकाबन्धावसाना, उपलक्षणत्वात् प्रत्युपेक्षणशब्दस्य, अविपर्यासा च—अविद्यमानपुरुषादिविपर्यासा चेति त्रीणि पदानि, एतेषु चाष्टौ भङ्गा भवन्ति, तथा चाह—'अष्टौ भङ्गा' इत्यष्टौ भङ्गकपदानि भवन्ति, अत्र प्रथमं पदम्—आद्यभङ्गरूपं यदुपन्यस्तमेव एतत् प्रशस्तं—मुक्त्य-

पसिढिल पलंब लोला एगामोसा अणेगरूवधुणा ।
कुणइ पमाणि पमायं संकिअगणणोपगं कुज्जा ॥ २४९ ॥ दारं ॥

प्रश्लथम् अघनग्रहणात् प्रलम्बम्—एकान्तग्रहणेन लोलनं भूमिकरयोरवज्ञया एकामर्पः आकर्षणादौ अनेकरूपधूननं त्रिसङ्ख्योल्लङ्घनादौ, करोति प्रमादमिति योगः, क्वेत्याह—प्रमाणे—प्रस्फोटनादिसम्बन्धिनि, ततः शङ्कोपजायते, तद्विनिवृत्त्यर्थं गणनोपगं कुर्यात्—प्रत्युपेक्षणं गणनां कुर्वन् कुर्यादित्यर्थः, अन्ये तु काक्वा व्याचक्षते—प्रमादतः शङ्काभावे सति गणनोपगं भवति, ततः प्रमादमेव न कुर्यादिति गाथासमुदायार्थः ॥ ४९ ॥ अवयवार्थं त्वाह—

पसिढिलमघणं अणिरायगं व विसमगह लंब कोणे वा । दारं ।
भूमिंकरलोलणया कड्ढणगहणेक्कआमोसा ॥ २५० ॥ दारं ॥

प्रश्लथमघनमिति ग्रहणदेशेऽघनग्रहणाद् अनिरायतं वा प्रश्लथमतटितमित्यर्थः, प्रलम्बमाह—विषमग्रहे लंबमिति भवति, मध्य इति गम्यते, कोणे वा—पर्यन्ते वा लम्बं भवति अपरान्तग्रहणेन, अन्ये तु अनिरायतमपि प्रलम्बभेदमेवाभिदधति, लोलनमाह—भूमिकरयोर्लोलनम् आकर्षणग्रहणयोरेकामर्ष इति, आकर्षणे—सामान्येन वेण्टिकायाः ग्रहणेऽङ्गुलित्रयग्राह्यमेकया गृह्णत इति, तथाऽत्र वृद्धसम्प्रदायः—एगामोसा मज्झे घित्तूण वत्थं घसंतो णेति दोहिवि पासेहिं जाव गिण्हणा, अहवा तिहिं अंगुलीहिं घित्तव्वं तं एक्काओ चेव गिण्हइत्ति गाथार्थः ॥ ५० ॥

वितथकरणे वा—प्रस्फोटनाद्यन्यथासेवने वा आरभटा, त्वरितं वा—द्रुतं वा सर्वमारभमाणस्य, अन्यदर्द्धप्रत्युपेक्षितमेव मुक्त्वा कल्पमन्यद्वा गृह्णतः आरभटेति, वाशब्दो विकल्पार्थत्वात् सर्वत्राभिसम्बध्यते आरभटाशब्दश्च, सम्मर्दास्वरूपमाह—अन्तस्तु भवेयुः कोणाः वस्त्रस्य, तुर्विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि ?, तानन्विपतो वस्त्रं संमर्दयतः सम्मर्दा, निपदनं तत्रैव च—प्रत्युपेक्षितवेष्टिकायां सम्मर्देति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

गुरुउग्गहो (हा) अठाणं (दारं) पप्फोडण रेणुगुंडिए चेव । (दारं)
विक्खेवं (त्ते)तुक्खेवो वेइअपणगं च छद्दोसा ॥ २४७ ॥

गुर्वयग्रहादि अस्थानं प्रत्युपेक्षितोपधेर्निक्षेप इति । प्रस्फोटनैव भवति रेणुगुण्डिते चैवेति, रेणुगुण्डितमेवायतनया प्रस्फोटयतः, विक्षिपेत्युत्क्षेपः 'सूचनात्सूत्र'मिति न्यायात् प्रत्युपेक्ष्य विविधैः प्रकारैः क्षिपत इत्यर्थः, वेदिकापञ्चकं चोर्ध्ववेदिकादि, षड्दोषा प्रत्युपेक्षणा इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ अयं च वृद्धसम्प्रदायः—

उड्ढमहो एगत्तो उभओ अंतो अ वेइआपणगं । जाणूणसुवरि हिट्ठा एगंतर दोण्ह बीअं तु ॥२४८॥

उड्ढवेतिया अहोवेतिया एगत्तोवेइया दुहवेइया अंतोवेइया, उड्ढवेइया उवरिं जण्णुयाणं हत्थे काऊण पडिलेहेइ १ अहोवेइया अहो जण्णुयाणं २ एगओवेइया एगजण्णुयमंतरेउं ३ दुहओ वेइया दोऽवि ४ अंतोवेइया अंतो जण्णुयाणंति ५ ॥ प्रत्युपेक्षणादोषानेवाह—

तत्क्षणप्रमार्जिताया एव पूर्वं तद्भूमेः—प्रत्युपेक्षणपृथिव्याः अभोगाद्, भूयः प्रत्युपेक्षणादिविरहेणेति ? [आगमे एवं भण्यते यदुत यस्यां प्रत्युपेक्षणा क्रियते सा यद्यपि प्रत्युपेक्षणतः पूर्वं प्रमार्जिता तहावि पडिलेहणं काउं पुणो जाव न पमज्जिया ताव न भोत्तव्वा, एसा आगमियजुत्ती, न उण प्रमाणमङ्गीक्रियते इति (क्वचिदधिकमिदम्] गाथार्थः ॥ ४३ ॥

विहिपाहण्णेणेवं भणिअं (उं) पडिलेहणं अओ उड्ढं । एअं चेवाह गुरू पडिसेहपहाणओ नवरं ॥२४४॥

विधिप्राधान्येनैवम्—ऊर्ध्वादिप्रकारेण भणितुम्—अभिधाय प्रत्युपेक्षणां प्रक्रान्तामत ऊर्ध्वमेनामेव—प्रत्युपेक्षणामाह गुरुः—निर्युक्तिकारः प्रतिषेधप्राधान्येन प्रकारान्तरेण नवरं, विधिप्रतिषेधविषयत्वाद्धर्म्मस्येति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

आरभडा सम्मद्दा वज्जेयव्वा अठाणठवणा य ।
पप्फोडणा चउत्थी विक्खित्ता वेइआ छट्ठी ॥२४५॥ पडिदारगाहा ॥

आरभडा प्रत्युपेक्षणेति अविधिक्रिया, तथा सम्मर्दा—वक्ष्यमाणलक्षणा वर्जयितव्या, अस्थानस्थापना च—वक्ष्यमाणरूपा प्रस्फोटना चतुर्थी—वक्ष्यमाणलक्षणा विक्षिप्ता—पञ्चमी वक्ष्यमाणलक्षणैव वेदिका षष्ठी—वक्ष्यमाणस्वरूपैवेति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ अवयवार्थं त्वाह—

वितहकरणंमि तुरिअं अण्णं अण्णं व गिण्ह आरभडा । दारं ।
अंतो उ होज्ज कोणा णिसिअण तत्थेव सम्मद्दा ॥ २४६ ॥ दारं ॥

वत्थे अप्पाणंमि अ चउह अणच्चाविअं अवलिअं च। अणुबंधि निरंतरया तिरिउड्ढऽहघट्टणा मुसली २४०

वस्त्रे–वस्त्रविषयमात्मनि–आत्मविषयं च, वस्त्रमात्मानं चाधिकृत्येत्यर्थः, चतुर्द्धा भङ्गसम्भव इति वाक्यशेषः, वस्त्रं नर्त्तयति आत्मानं च, इत्थं वस्त्रं वलितमात्मा चेत्यादि, अत्रोभयमाश्रित्यानर्त्तितमवलितं च गृह्यते, अनुबन्धि किमुच्यत इत्याह–निरन्तरता–नैरन्तर्यप्रत्युपेक्षणमिति भावः, तिर्यगूर्ध्वमधोघट्टनान्मोषलिः ॥ ४० ॥

तिरि उड्ढ अहे मुसली घट्टण कुड्डे अ माल भूमीए। एअं तु मोसलीए फुडमेवं लक्खणं भणिअं ॥२४१॥

तिर्यक् कुड्यादौ ऊर्ध्वं मालादौ अधो भूम्यादौ घट्टनं च–लगनमिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

छप्पुरिमा तिरिअकए नव खोडा तिन्नि तिन्नि अंतरिआ। ते उण विआणियव्वा हत्थंमि पमज्जणतिएणं २४२

षट्पूर्वाः, पूर्वा इति प्रथमाः क्रियाविशेषाः, तिर्यक्कृत इति च–तिर्यक्कृते वस्त्रे उभयतो निरीक्षणविधिना क्रियन्ते, नव प्रस्फोटास्त्रयस्त्रयोऽन्तरिता–व्यवहिताः, क्व पुनस्त इत्याह–ते पुनर्विज्ञातव्याः हस्ते–आधारे, केनान्तरिताः ?–प्रमार्जनत्रिकेण–सुप्रसिद्धप्रमार्जनत्रितयेनेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ ऊर्ध्वमित्यादिमूलद्वारगाथायाः अधिकृतप्रतिद्वारगाथायाश्च चरमद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह–

तइअं पमज्जणमिणं तव्वण्णऽदिस्ससत्तरक्खट्ठा। तक्खणपमज्जिआए तव्भूमीए अभोगाओ ॥ २४३ ॥

तृतीयं प्रमार्जनमिति द्वारपरामर्शः, इदं तद्वर्ण(हस्तवर्ण)अदृश्यसत्त्वरक्षार्थमिति फलं, सम्भवमाश्रित्यात्र समययुक्तिः

किमर्थमित्याह–वायुयतनानिमित्तं–वायुसंरक्षणाय, इतरथा–द्रुतपरावर्त्तनेन तत्क्षोभादयो दोषा इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ उक्तमत्वरितद्वारं, सर्वं तावदितिद्वारमभिधातुमाह—

इअ दोसुं पासेसुं दंसणओ सव्वगहणभावेणं। सव्वंति निरवसेसं ता पढमं चक्खुणा पेहे ॥२३७॥ दारं ॥

इति–एवं द्वयोरपि पार्श्वयोर्वस्त्रस्य दर्शनात् सर्वग्रहणभावेन हेतुना सर्वमिति–निरवशेषं वस्त्रं तावत् प्रथमं चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत, एष द्वारसंस्पर्श इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ अधिकृतद्वारगाथार्धं व्याख्यातं, शेषार्द्धप्रथमद्वारमाह—

अद्दंसणंमि अ तओ मूइंगलिआइआण जीवाणं। तो वीअं पप्फोडे इहरा संकामणं विहिणा ॥२३८॥

अदर्शने च सति तथा(तो) मूइंगलिकादीनां–पिपीलिकादीनां जीवानां ततो द्वितीयं प्रस्फोटयेत् इति द्वारसंस्पर्शः, इतरथा–दर्शने सति तेषां सङ्क्रमणं विधिना कुर्यादिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ कथं प्रस्फोटयेदित्यत्र प्रतिद्वारगाथामाह—

अणच्चाविअमवलिअमणाणुबंधिं अमोसलिं चेव।
छप्पुरिमं नवखोडं पाणी पाणिपमज्जणं ॥ २३९ ॥ पडिदारगाहा ॥

अनर्त्तितं वस्त्रात्मानर्त्तनेन अवलितं वस्त्रात्मावलनेनैव अननुबन्धि–अनिरन्तरं अमोषलि चैव, तिर्यग्घट्टनादिरहितं चेत्यर्थः, षट्पूर्वं–षट्तिर्यक्कृतवस्त्रप्रस्फोटनोपेतं नवप्रस्फोटनं–करतलगतप्रमार्जनान्तरितत्रिकत्रिकनवप्रस्फोटनवत् पाणौ प्राणिप्रमार्जनं–हस्ते प्राणिविशोधनमिति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ अवयवार्थं त्वाह—

वत्थे काउड्ढंमि अ परवयण ठिओ गहाय दसिअंते। तं न भवइ उक्कुडुओ तिरिअं पेहे जह विलित्तो ॥२३४॥

'वस्त्र' इति वस्त्रोर्ध्वे कायोर्ध्वे च निरूप्यमाणे 'परवचन'मिति चोदक आह–'स्थितो गृहीत्वा दशान्त' इति स्थितः
ऊर्ध्वस्थानेन इत्यनेन कायोर्ध्वस्वरूपं गृहीत्वा दशापर्यन्त इत्यनेन तु वस्त्रोर्ध्वस्वरूपमाह, अत्रोत्तरम्–तन्न भवति–यदेत-
दुक्तं परेण एतदित्थं न, किमत्र तत्त्वमित्याह–तिर्यक् प्रेक्षेत–प्रत्युपेक्षेत, अनेन वस्त्रोर्ध्वमाह, उत्कुटुको यथा विलिप्तः–
समारब्धश्चन्दनादिनेति, अनेन तु कायोर्ध्वं, तिर्यग्व्यवस्थितं वस्त्रं भूमावलोलयन् विलिप्त इव कायेन–गात्रसंस्पर्शमकुर्व-
न्निति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ व्याख्यातमूर्ध्वद्वारम्, अधुना स्थिरद्वारं व्याचिख्यासुराह—

अंगुट्ठअंगुलीहिं घित्तुं वत्थं तिभागबुद्धीए। तत्तो अ असंभंतो थिरंति थिरचक्खुवावारं॥ २३५॥

अङ्गुष्ठाङ्गुलीभ्यां करणभूताभ्यां गृहीत्वा वस्त्रं प्रत्युपेक्षणीयं त्रिभागवुद्ध्येति–वुद्ध्या परिकल्प्य त्रिभागे, ततश्च–तदन-
न्तरमसम्भ्रान्तः–अनाकुलः सन्, स्थिरमिति द्वारपरामर्शः, अस्यार्थः स्थिरचक्षुर्व्यापारं च प्रत्युपेक्षेतेति गाथार्थः ॥३५॥
गतं स्थिरद्वारं, साम्प्रतमत्वरितद्वारमधिकृत्याह—

परिवत्तिअं च सम्मं अतुरिअमिइ अद्दुयं पयत्तेणं। वाउजयणानिमित्तं इहरा तक्खोभमाईआ ॥२३६॥ दारं॥

अद्रुतं प्रयत्नेन परावर्त्तितं प्रत्युपेक्षेत, परावर्त्तितं च सम्यग् द्वितीयपार्श्वेन, अत्वरितमिति द्वारसंस्पर्शः, किमुक्तं भवति?–

उवगरण वत्थपत्ते वत्थे पडिलेहणं तु वुच्छामि । पुव्वण्हे अवरण्हे मुहपत्तिअमाइपडिलेहा ॥२३२॥

उपकरणमधिकृत्य प्रत्युपेक्षणा वस्त्रपात्रे–वस्त्रपात्रविषया, तत्र प्रव्रज्याग्रहणकाले प्रथममेव यथाजातरजोहरणादिभावात् 'वस्त्रैषणा पात्रैषणे'ति च सूत्रक्रमप्रामाण्याद्वस्त्रविषयां प्रत्युपेक्षणां–विशिष्टक्रियारूपां तावद्वक्ष्ये, तत्क्रममाह–पूर्वाह्णे–प्रत्यूषसि अपराह्णे–चरमपौरुष्यां मुखवस्त्रिकाद्या–मुखवस्त्रिकामादौ कृत्वा प्रत्युपेक्षणा प्रवर्त्तत इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ अत्र च वृद्धसम्प्रदायः–काए आणुपुव्वीए वत्था पडिलेहेअवा ?, मुहपोत्ती पुव्वं ताहे कायं रयहरणं चोलपट्टयं ताहे गुरुस्स उवट्ठाइ, ताहे गिलाणस्स सेहस्स, ताहे अप्पणोच्चए कप्पे विंटिया, ताहे उत्तरपट्टयं संथारपट्टयं, जं च गुरुनिउत्तं'ति, तत्पुनरनेन विधिना वस्त्रं प्रत्युपेक्षितव्यमित्येतदाह—

उड्ढं थिरं अतुरिअं सव्वं ता वत्थ पुव्वपडिलेहा ।
तो वीअं पप्फोडे तइअं च पुणो पमज्जिज्जा ॥२३३॥ पडिदारगाहा ॥

ऊर्ध्वं वस्त्रोर्ध्वकायोर्द्ध्वापेक्षया सम्यक् स्थिरं घनग्रहणेन अत्वरितम्–अद्रुतं वक्ष्यमाणलक्षणेन विधिना सर्वं तावद्वस्त्रम् आरतः परतश्च पूर्वं–प्रथमं प्रत्युपेक्षेत–चक्षुपा निरीक्षेत, ततः–तदनन्तरं द्वितीयमिदं कुर्यात्, यदुत परिशुद्धं सत् प्रस्फोटयेत् वक्ष्यमाणेन विधिना, तृतीयं च पुनरिदं कुर्यात् यदुत प्रमार्जयेत् वक्ष्यमाणेनैव विधिनेति गाथासमुदायार्थः ॥ ३३ ॥ व्यासार्थं त्वाह—

प्रव्रजितको यतो–यस्मादिह–लोके शासने वा प्रतिदिनक्रियां–चक्रवालसामाचारीं करोति यो नियमादप्रमादेन–सम्यक् सूत्रोक्तेन विधिनोपयोगपूर्वकं सफला तस्यैव–इत्थंभूतस्य प्रव्रज्या, नान्यस्येति, अतः प्रव्रज्याविधानानन्तरं प्रतिदिनक्रियेति गाथार्थः ॥ २९ ॥ सा चेयम्—

पडिलेहणा १ पमज्जण २ भिक्खि ३ रिआ ४ऽऽलोअ ५ भुंजणा ६ चेव ।
पत्तगधुवण ७ विआरा ८ थंडिल ९ मावस्सगाईआ १० ॥ २३० ॥ मूलदारगाहा ॥

प्रत्युपेक्षणा उपधेः प्रमार्जनं वसतेः भिक्षा–विधिना पिण्डानयनम् ईर्या–तत्सूत्रोच्चारणपुरस्सरं कायोत्सर्गः आलोचनं–पिण्डादिनिवेदनं भोजनं चैवेति प्रतीतं पात्रकधावनम्–अलाब्वादिप्रक्षालनं विचारो–वहिर्भूमेर्गमनं स्थण्डिलं–परानुपरोधी प्रासुको भूभागः आवश्यकं–प्रतिक्रमणम्, आदिशब्दात् कालग्रहणादिपरिग्रह इति द्वितीयवस्तुद्वारगाथासमुदायार्थः ॥ ३० ॥ अवयवार्थं तु वक्ष्यति, तथा चाद्यद्वारावयवार्थाभिधित्सयाऽऽह—

उवगरणगोअरा पुण इत्थं पडिलेहणा मुणेअव्वा । अप्पडिलेहिअ दोसा विण्णेया पाणिघायाई ॥२३१॥

संयमप्रवृत्तस्योपकरोतीत्युपकरणं–वस्त्रादि तद्गोचरा–तद्विषया पुनरत्र–प्रक्रमे प्रत्युपेक्षणा–वक्ष्यमाणलक्षणा मुणितव्या–मन्तव्या, ज्ञातव्येत्यर्थः, अप्रत्युपेक्षित उपकरणे दोषा विज्ञेयाः, के ? इत्याह–प्राणिघातादयः, आदिशब्दात्परितापनादिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ तत्र—

णाम्, एवमाद्यपि कुचोद्यम्, आदिशब्दात् स्वजनवियोगादिपरिग्रहः, प्रतिषिद्धमेव एतेन—अनन्तरोदितेन ग्रन्थेनेति गाथार्थः ॥ २६ ॥ कथमित्याह—

परमत्थओ न दुक्खं भावंमिऽवि तं सुहस्स हेउत्ति ।
जह कुसलविज्जकिरिआ एवं एअंपि नायव्वं ॥२२७॥ 'कहंति दारं गयं'

परमार्थतो न दुःखं तप इत्युक्तं, भावेऽपि दुःखस्य तत्—तथा दुःखं सुखस्य हेतुरिति, निर्वृतिसाधकत्वेन, अत्र दृष्टान्तमाह—यथा कुशलवैद्यक्रिया दुःखदाऽप्यातुरस्य न वैद्यदोषाय, एवमेतदपि—सांसारिकदुःखमोचकं तपोऽनुष्ठानं ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥ 'कथं वे'ति व्याख्यातं, मूलद्वारगाथायां च प्रथमं द्वारम्, अत एवाह—

पव्वज्जाएँ विहाणं एमेअं वण्णिअं समासेणं । एत्तो पइदिणकिरियं साहूणं चेव वोच्छामि ॥२२८॥

प्रव्रज्याया विधानमिति—विधिर्विधानम् एवमेतद् उक्तन्यायाच्च वर्णितं समासेन—सङ्क्षेपेण । द्वितीयद्वारसम्बन्धायाह—अत ऊर्ध्वं प्रतिदिनक्रियां—प्रत्युपेक्षणादिरूपां साधूनामेव सम्बन्धिनीं वक्ष्य इति गाथार्थः ॥२८॥ प्रव्रज्याविधानद्वारं समाप्तम् ॥

प्रव्रज्याविधानानन्तरं किमर्थं प्रतिदिनक्रियेति ?, उच्यते—

पवइअगो जओ इह पइदिणकिरियं करेइ जो नियमा । सुत्तविहिणाऽपमत्तो सफला खलु तस्स पव्वज्जा २२९

एयावत्थागयस्स किंपि उवगारंति, राइणाऽणुण्णायं, तओ एगीए मिल्लावेऊण एयंपि ताव पावउत्ति चंपगतिल्लाइणा अब्भंगावेऊण ण्हविओ परिहाविओ विलित्तो य दससाहस्सीएणं परिवएणं, अण्णाए भूसिऊणाहारादिणा भुंजाविओ अट्ठारसवि खंडप्पगारे वीससाहस्सिएणं परिवएणं, अण्णाए भणियं—महाराय ! णत्थि मे विहवो जेण एयस्स उवगरेमि, राइणा भणियं—मए ठिए विहववंते किं तुज्झ नत्थि ?, देह जं रोयतित्ति, तीए भणियं—जइ एवं ता अभयं एयस्स, इयरीहिं भणियं—मोग्गडा एसा, तीए भणियं—जं मए दिन्नं तं न तुज्झेहिं, एत्थ एसो पमाणं, पुच्छिओ तेणगो—भण किमेत्थ लट्ठंति ?, तेण भणियं—सेसं ण याणामि, अभयदाणे मे चेयणा समुप्पण्णत्ति । अतोऽभयकरणमेव परोपकार इति गाथाद्वयार्थः ॥ २३–२४ ॥ गृहिणस्त्वेतदविकलं न भवतीत्याह—

गिहिणो पुण संपज्जइ भोअणमित्तंपि निअमओ चेव । छज्जीवकायघाएण ता तओ कह णु लट्ठोत्ति ? २२५

गृहिणः पुनः सम्पद्यते भोजनमात्रमपि, आस्तां तावदन्यद् भोगादि, नियमत एव, केनेत्याह—षड्जीवकायघातेन, यतश्चैवं ततः—तस्मादसौ—गृहाश्रमः कथं नु लष्टो ?, नैव शोभन इति गाथार्थः ॥ २५ ॥ अनेन वादस्थानान्तरमपि परिहृतं द्रष्टव्यमित्येतदाह—

गुरुणोऽवि कह न दोसो तवाइदुक्खं तहा करिंतस्स । सीसाणमेवमाइवि पडिसिद्धं चेव एएणं ॥२२६॥

गुरोरपि—प्रव्राजकस्य कथं न दोषः तपआदिना दुःखं तथा—तेन प्रकारेणानशनादिना कुर्वतः ?, केषामित्याह—शिष्या-

पयङ्ग’त्ति संसाराकर्षकाः दीर्घसंसारिण इत्यर्थः भणितास्तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः ॥ २० ॥ उपसंहरन्नाह—

एएणं चिअ सेसं जं भणिअं तंपि सव्वमक्खित्तं। सुहझाणाइअभावा अगारवासंमि विण्णेअं ॥२२१॥

एतेनैव अनन्तरोदितेन शेषमपि ‘शुभध्यानाद्धर्म्म’इत्यादि यद् भणितं तदपि सर्वमाक्षिप्तम्—आगृहीतं विज्ञेयमिति योगः, कुत इत्याह—शुभध्यानाद्यभावात् अगारवास इति, न ह्यगारवासे उक्तवत् ‘कदा सिद्ध्यति दुर्ग’मित्यादिना शुभध्यानादिसम्भव इति गाथार्थः ॥ २१ ॥ यच्चोक्तं ‘परहितकरणैकरति’रित्यत्राह—

मुत्तूण अभयकरणं परोवयारोऽवि नत्थि अण्णोत्ति। दंडिगितेणगणायं न य गिहवासे अविगलं तं ॥ २२२ ॥

मुक्त्वाऽभयकरणमिहलोकपरलोकयोः परोपकारोऽपि नास्त्यन्य इति, अत्र दृष्टान्तमाह—दण्डिकीस्तेनकज्ञातमत्र द्रष्टव्यं, न च गृहवासेऽविकलं तद्—अभयकरणमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥ यच्चोक्तं ‘परहितकरणैकरति’रित्यत्र दण्डिकीस्तेनोदाहरणमेवाह—

तेणस्स वज्झनयणं विद्दाणग रायपत्तिपासणया। निववित्रवणं कुणिमो उवयारं किंपि एअस्स ॥२२३॥

रायाणुण्णा ण्हवणग विलेवणं भूसणं सुहाहारं। अभयं च कयं ताहिं किं लट्ठं?, पुच्छिए अभयं ॥२२४॥

अनयोरर्थः कथानकेनैवोच्यते—वसंतउरे नयरे जियसत्तू राया, पियपत्तीहिं सद्धिं निज्जूहगगओ चिट्ठइ, इओ य तेणगो वज्झो निज्जइ, सो य मच्चूभएणं विद्दाणगो रायपत्तीहिं दिट्ठो, कारुणिगाहिं विणत्तो राया—महाराय! कुणिमो एयस्स

चारित्तविहीणस्स अभिसंगपरस्स कलुसभावस्स। अण्णाणिणो अ जा पुण सा पडिसिद्धा जिणवरेहिं २१७

चारित्रविहीनस्य—द्रव्यप्रव्रजितस्याभिष्वङ्गपरस्य भिक्षादावेव कलुषभावस्य—द्वेषात्मकस्याज्ञानिनश्च—मूर्खस्य या भिक्षाटनादिचेष्टा सा प्रतिकुष्टा जिनवरैः, प्रत्युत बन्धनिबन्धनमसाविति गाथार्थः ॥ १७ ॥ तथा च—

भिक्खं अडंति आरंभसंगया अपरिसुद्धपरिणामा। दीणा संसारफलं पावाओ जुत्तमेअं तु ॥२१८॥

भिक्षामटन्ति उदरभरणार्थमारम्भसङ्गताः तथा षड्जीवनिकायोपमर्दनप्रवृत्त्या अपरिशुद्धपरिणामाः—उक्तानुष्ठानगम्यमहामोहादिरञ्जिताः दीनाः—अल्पसत्त्वाः संसारफलां भिक्षां, न तु सुयतिवदात्मनीत्रोरपवर्गफलां, पापाद् युक्तमेतदिति, एतदित्थंभूतमकुशलानुबन्धिनां पापेन भवतीति न्याय्यमेतदिति गाथार्थः ॥१८॥ कस्य पुनः कर्म्मणः फलमिदमित्याह—

ईसिं काऊण सुहं निवाडिआ जेहिं दुक्खगहणंमि। मायाए केइ पाणी तेसिं एआरिसं होइ ॥२१९॥

ईषत्कृत्वा सुखं—गलप्रव्रजिताविधिपरिपालनादिना निपातिता यैर्दुःखगहने—दुःखसङ्कटे मायया केचित् प्राणिन ऋजवस्तेषां—सत्त्वानामीदृशं भवति—ईदृक्फलदायि पापं भवतीति गाथार्थः ॥ १९ ॥ तथा च—

चईऊण घरावासं तस्स फलं चेव मोहपरतंता। ण गिही ण य पव्वइआ संसारपयड्ढगा भणिआ ॥२२०॥

त्यक्त्वा गृहवासं दीक्षाभ्युपगमेन, तस्य फलं चैव—गृहवासत्यागस्य फलं प्रव्रज्या तां च त्यक्त्वा, विरुद्धासेवनेन, मोहपरतन्त्राः सन्तो न गृहिणः प्रकटवृत्त्या तस्य त्यागात् न च प्रव्रजिता विहितानुष्ठानाकरणात्, त एवंभूताः 'संसार-

नच तेऽपि भवन्ति प्रायः क्षुदादयः अविकल्पं–मातृस्थानविरहेण धर्म्मसाधनमतेः प्रव्रजितस्य, धर्म्मप्रभावादेव, न चैकान्तेनैव ते–क्षुदादयः कर्त्तव्या मोहोपशमादिव्यतिरेकेण, यतो भणितमिति गाथार्थः ॥ १३ ॥ किं तदित्याह—

सो हु तवो कायव्वो जेण मणो मंगुलं न चिंतेइ । जेण न इंदिअहाणी जेण य जोगा ण हायंति ॥२१४॥

तद्धि तपः कर्त्तव्यम्–अनशनादि येन मनो मङ्गुलम्–असुन्दरं न चिन्तयति, शुभाध्यवसायनिमित्तत्वात्कर्म्मक्षयस्य, तथा येन नेन्द्रियहानिः, तदभावे प्रत्युपेक्षणाद्यभावात्, येन च योगाः–चक्रवालसामाचार्यन्तर्गता व्यापारा न हीयन्त इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

देहेऽवि अपडिवद्धो जो सो गहणं करेइ अन्नस्स । विहिआणुट्ठाणमिणंति कह तओ पावविसओत्ति२१५॥

देहेऽप्यप्रतिवद्धो यो विवेकात् स ग्रहणं करोत्यन्नस्य–ओदनादेर्विहितानुष्ठानमिति, न तु लोभाद्, यतश्चैवमतः कथमसौ पापविषयः ?, एतेन 'कथं न पापविषय' इत्येतत् प्रत्युक्तमिति गाथार्थः ॥ १५ ॥ किञ्च—

तत्थवि अ धम्मझाणं न य आसंसा तओ अ सुहमेव । सव्वमिअमणुट्ठाणं सुहावहं होइ विन्नेअं ॥२१६

तत्रापि च–अन्नग्रहणादौ धर्म्मध्यानं सूत्राज्ञासम्पादनात्, न चाशंसा, सर्वत्रैवाभिष्वङ्गनिवृत्तेः, यतश्चैवं ततश्च सुखमेव, तत्रापि सर्वं–वस्त्रपात्रादि इय–एवमुक्तेन न्यायेन सूत्राज्ञासम्पादनादिना अनुष्ठानं साधुसम्बन्धि सुखावहं भवति विज्ञेयमिति गाथार्थः ॥ १६ ॥ एवं भावयतः सूत्रोक्ता चेष्टा सुखदैव, तदन्यस्य तु दुःखदेति सिद्धसाध्यता, तथा चाह—

अवकाशोऽपि तत्त्वतः आत्मैव 'जो वा सो व'त्ति यो वा स वा ज्ञाततत्त्वानां देवकुलादिः, स्वकारितस्तु ममायमिति जीवस्वाभाव्यात् दुःखस्योपादानमिति गाथार्थः ॥ ९ ॥

तवसो अ पिवासाई संतोऽवि न दुक्खरूवगा णेआ। जं ते खयस्स हेऊ निद्दिट्ठा कम्मवाहिस्स ॥२१०॥

तपसश्च पिपासादयः सन्तोऽपि भिक्षाटनादौ न दुःखरूपा ज्ञेयाः, किमित्यत्राह-यद्-यस्मात्ते-पिपासादयः क्षयस्य हेतवो निर्दिष्टा भगवद्भिः कर्म्मव्याधेरिति गाथार्थः ॥ १० ॥ तथाहि—

वाहिस्स य खयहेऊ सेविज्जंता कुणंति धिइमेव। कडुगाईवि जणस्सा ईसिं दंसिंतगाऽऽरोग्गं ॥२११॥

व्याधेरपि-कुष्ठादेः क्षयहेतवः सेव्यमानाः कुर्वन्ति धृतिमेव कटुकादयोऽपि जनस्य ईषद् दर्शयन्त आरोग्यम्, अनुभवसिद्धमेतदिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः—

इअ एएऽवि अ मुणिणो कुणंति धिइमेव सुद्धभावस्स। गुरुआणासंपाडणचरणाइसयं निदंसिंता॥२१२॥

इय-एवमेतेऽपि च-क्षुदादयो मुनेः कुर्वन्ति धृतिमेव, न तु दुःखं, शुद्धभावस्य-रागादिविरहितस्य, किं दर्शयन्त इत्याह-गुर्वाज्ञासम्पादनेन यश्चरणातिशयः-संसारासारतापरिणत्या शुभाध्यवसायादिस्तदतिशयं निदर्शयन्तः सन्त इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

ण य तेऽवि होंति पायं अविअप्पं धम्मसाहणमइस्सा। न य एगंतेणं चिअ ते कायव्वा जओ भणियं २१३

यस्मादेवं तस्मादगारवासं निगडबन्धवत् पुण्यात् परित्यजन्ति धृतिमन्तः, परित्यक्ते तस्मिन् सुखभावात्, शीतोदकादि-भोगं विषान्नभोगवद्विपाककटुकमितिकृत्वा न कुर्वन्ति तपस्विन इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ एतदेव समर्थयति—

केइ अविज्जागहिआ हिंसाईहिं सुहं पसाहंति। नो अन्ने ण य एए पडुच्च जुत्ता अपुव(ण्ण)त्ति ॥२०७॥

केचित् प्राणिनोऽविद्यागृहीताः—अज्ञानेनाभिभूताः हिंसादिभिः करणभूतैः, आदिशब्दादनृतसम्भाषणादिपरिग्रहः, सुखं—विषयोपभोगलक्षणं प्रसाधयन्त्यात्मनः उपभोगतया, नान्य इति—न पुनरन्ये प्रसाधयन्ति, अपि तु तेन विनैव तिष्ठन्ति, न च त एवंभूता विवेकिनः सुखभोगरहिता अपि(ए)तान्—हिंसादिभिः सुखप्रसाधकान् प्रतीत्य—आश्रित्य युक्ता अपुण्या इति, तेषां हि विपाकदारुणे प्रवृत्तत्वात्, परस्यापि सिद्धमेतदिति गाथार्थः ॥ ७ ॥ एतेन 'बहुदुःखे'त्याद्यपि परिहृतं, गृहवासस्य वस्तुतोऽनर्थत्वाद्, इदानीं 'त्यक्ते गृहवास'इत्यादि परिहरन्नाह—

चइऊणऽगारवासं चरित्तिणो तस्स पालणाहेउं। जं जं कुणंति चिट्ठं सुत्ता सा सा जिणाणुमया ॥२०८॥

त्यक्त्वाऽगारवासं द्रव्यतो भावतश्च चारित्रिणः सन्तः तस्य—चारित्रस्य पालनाहेतोः—पालननिमित्तं यां यां कुर्वन्ति चेष्टां—देवकुलवासादिलक्षणां सूत्राद्—आगमानुसारेण सा सा जिनानुमता, गुर्वनुमतपालनं च सुखायैवेति गाथार्थः ॥८॥ किञ्च—

अवगासो आयच्चिय जो वा सो वत्ति मुणिअतत्ताणं। निअकारिओ उ मज्झं इमोत्ति दुक्खस्सुवायाणं २०९

रिंदवज्जियाणं भवणवासियाणं देवाणं, तिमासपरियाए असुरकुमारिंदाणं, चउमासपरियाए गहगणनक्खत्तताराख्वाणं जोइसियाणं देवाणं, पंचमासपरियाए चंदिमसूरियाणं जोतिसिंदाणं जोइसराईणं तेयलेस्सं, छम्मासपरियाए सोहम्मीसाणाणं देवाणं, सत्तमासपरियाए सणंकुमारमाहिंदाणं देवा णं, अट्ठमासपरियाए बंभलंतगाणं देवाणं, नवमासपरियाए महासुक्कसहस्साराणं देवाणं, दसमासपरियाए आणयपाणयआरणच्चुयाणं देवाणं, एक्कारसमासपरियाए गेविज्जगाणं देवाणं, बारसमासपरियाए समणे निग्गंथे अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं तेयलेस्सं वीतीवयइ, तेण परं सुक्के सुक्काभिजाती भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ जाव अंतं करेइ" ॥ इति गाथार्थः ॥ २०० ॥ एतदेवाह—

तेण परं से सुक्के सुक्कभिजाई तहा य होऊणं। पच्छा सिज्झइ भयवं पावइ सव्वुत्तमं ठाणं ॥२०१॥

तेन इति—द्वादशभ्यो मासेभ्यः ऊर्ध्वमप्रतिपतितचरणपरिणामः सन्नसौ शुक्लः कर्म्मणा शुक्लाभिजात्यः आशयेन, तथा च भूत्वा समग्रप्रशमसुखसमन्वितः पश्चात् सिद्ध्यति भगवान्—एकान्तनिष्ठितार्थो भवति, प्राप्नोति सर्वोत्तमं स्थानं—परमपदलक्षणमिति गाथार्थः ॥ २०१ ॥ प्रकृतयोजनां कुर्वन्नाह—

लेसा य सुप्पसत्था जायइ सुहियस्स चेव सिद्धमिणं। इअ सुहनिबंधणं चिअ पावं कह पंडिओ भणइ ? २०२

लेश्या च सुप्रशस्ता जायते सुखितस्यैव नेतरस्येति सिद्धमिदं विपश्चिताम्, इति—एवं सुखनिबन्धनमेव अगारवासपरित्यागं पापं कथं पण्डितो—विपश्चिद् भणति ?, अतोऽयुक्तमुक्तम्—'अगारवासं पावाओ परिच्चयन्ती'ति गाथार्थः ॥ २ ॥

जस्सिच्छाए जायइ संपत्ती तं पडुच्चिमं भणिअं। मुत्ती पुण तदभावे जमणिच्छा केवली भणिया ॥१९८॥

यस्यार्थस्येच्छया प्रवृत्तिनिमित्तभूतया जायते सम्प्राप्तिस्तम्—अर्थं विलयादिकं प्रतीत्येदं भणितं 'काङ्क्ष्यत' इत्यादि, मुक्तिः पुनस्तदभावे—इच्छाऽभावे जायते, कुत इत्याह—यद्—यस्मादनिच्छाः केवलिनो भणिताः, 'अमनस्काः केवलिन' इति वचनादिति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ एवं तर्हि प्रथममपि प्रव्रज्यादौ तदिच्छाऽशोभना प्राप्नोतीत्येतदाशङ्क्याह—

पढमंपि जा इहेच्छा साऽवि पसत्थत्ति नो पडिकुट्ठा। सा चेव तहा हेऊ जायइ जमणिच्छभावस्स ॥१९९॥

प्रथममपि—प्रव्रज्यादिकाले या इहेच्छा मुक्तिविषया सापि तस्यामवस्थायां प्रशस्तेतिकृत्वा नो प्रतिकुष्टा—न प्रतिषिद्धा, किमित्यत आह—सैवेच्छा तथा—तेन प्रकारेण—सामायिकसंयताद्यनुष्ठानरूपेणाभ्यस्यमाना हेतुर्जायते यद्—यस्मादनिच्छभावस्य—केवलित्वस्येति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ इतश्च प्रव्रजितस्यैव सुखमित्यावेदयन्नाह—

भणिअं च परममुणिहिं(महासमणो)मासाइदुवालसप्परीआए।वय(ण)मायणुत्तराणं विइवयई तेअलेसंति

भणितं च परममुनिभिः, किमित्यत्राह—महाश्रमणो—महातपस्वी 'मासादिद्वादशपर्याय' इति मासमादिकं कृत्वा द्वादशमासपर्याय इत्यर्थः, व्यन्तराद्यनुत्तराणामिति—व्यन्तरादीनामनुत्तरोपपातिकपर्यन्तानां व्यतिक्रामति तेजोलेश्यां—सुखप्रभावलक्षणामनुक्रमेणेति, गौतमपृष्टेन यथोक्तं भगवता—"जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एए णं कस्स तेयलेस्सं वीईवयंति ?, मासपरियाए समणे निग्गंथे वाणमंतराणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयंति, एवं दुमासपरियाए असु-

जायते विरागहेतुः–वैराग्यकारणं, धर्म्मध्यानस्य च निमित्तं, महापुण्यवतां महापुरुषाणां तथोपलब्धेरिति गाथार्थः ॥ ९४॥
एतच्च विषयविरागादि महत्सुखमित्याह—

जं विसयविरत्ताणं सुक्खं सज्झाणभाविअमईणं। तं मुणइ मुणिवरो च्चिअ अणुहवउ न उण अन्नोऽवि॥१९५

यद्विषयविरक्तानाम्–असदिच्छारहितानां सौख्यं सद्ध्यानभावितमतीनां च–धर्म्मध्यानादिभावितचित्तानां तत् मनुते–जानाति मुनिवर एव–साधुरेवानुभवतः–अनुभवनेन, न पुनरन्योऽपि–असाधुः, तथाऽनुभवाभावादिति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ एतदेव समर्थयति—

कंखिज्जइ जो अत्थो संपत्तीए न तं सुहं तस्स। इच्छाविणिवित्तीए जं खलु बुद्धप्पवाओऽयं ॥१९६॥

काङ्क्ष्यते–अभिलष्यते योऽर्थः–स्त्र्यादिः सम्पत्त्या–सम्प्राप्त्या न तत्सुखं तस्य–अर्थस्य इच्छाविनिवृत्त्याऽत्र यत्खलु सुखं वृद्धप्रवादोऽयम्–आप्तप्रवादोऽयमिति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

मुत्तीए वभिचारो तं णो जं सा जिणेहिं पन्नत्ता। इच्छाविणिवित्तीए चेव फलं पगरिसं पत्तं ॥१९७॥

मुक्त्या व्यभिचारः,तत्काङ्क्षणे तत्प्राप्त्यैव सुखभावाद्, एतदाशङ्क्याह–तत् न, यद्–यस्मादसौ–मुक्तिर्जिनैः प्रज्ञप्ता–तीर्थकरैरुक्ता इच्छाविनिवृत्तेरेव फलं, न पुनरिच्छापूर्वकमिति, प्रकर्षप्राप्तं–सामायिकसंयतादेरारभ्योत्कर्षेण निष्ठां प्राप्तमिति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ किञ्च—

इअ चिंताविसघारिअदेहो विसएऽवि सेवइ न जीवो । चिट्ठउ अ ताव धम्मोऽसंतेसुवि भावणा एवं ॥१९१॥

इति–एवं चिन्ताविषधारितदेहो–व्याप्तशरीरः सन् विषयानपि सेवते न जीवः, तथा आकुलत्वात्, तिष्ठतु च ताव-द्धर्म्मो विशिष्टाप्रमादसाध्यः, असत्स्वपि गेहादिष्विति गम्यते अभिष्वङ्गे सति भावना एवमिति–अशुभचिन्ता धर्म्मविरोधिनी पापादेवेति गाथार्थः ॥ ९१ ॥ एतदेवाह—

दीणो जणपरिभूओ असमत्थो उअरभरणमित्तेऽवि । चित्तेण पावकारी तहवि हु पावप्फलं एअं ॥१९२॥

दीनः–कृपणः जनपरिभूतो–लोकगर्हितः असमर्थः उदरभरणमात्रेऽपि–आत्मम्भरिरपि न भवति, चित्तेन पापकारी, तथापि तु–एवंभूतोऽपि सन् असदिच्छया पापचित्त इत्यर्थः, पापफलमेतदिति जन्मान्तरकृतस्य कार्यं भाविनश्च कारणमिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ यद्येवं किंविशिष्टं तर्हि पुण्यमिति ?, अत्राह—

संतेसुवि भोगेसुं नाभिस्संगो दढं अणुट्टाणं । अत्थि अ परलोगंमिवि पुन्नं कुसलाणुबंधिमिणं ॥१९३॥

इह यदुदयात् सत्स्वपि भोगेषु–शब्दादिषु नाभिष्वङ्गो, दृढम्–अत्यर्थम्–अनुष्ठानं अस्ति च परलोकेऽपि दानध्यानादि, पुण्यं कुशलानुबन्धीदं, जन्मान्तरेऽपि कुशलकारणत्वादिति गाथार्थः ॥ ९३ ॥

परिसुद्धं पुण एअं भवविडविनिबंधणेसु विसएसुं । जायइ विरागहेऊ धम्मज्झाणस्स य निमित्तं ॥१९४॥

परिशुद्धं पुनरेतद्–अभ्यासवशेन कुशलानुबन्धि पुण्यं, भवविटपिनिबन्धनेषु विषयेषु, संसारवृक्षबीजभूतेष्वित्यर्थः,

गेहादीनां—गृहधनादीनामभावे या वेदना तद्रूपमस्याः—सङ्क्लिष्टायाः वेदनायाः अथेष्टम्—अभ्युपगतं भवता, एतदाशङ्क्याह-युज्यते एतद्रूपं तस्याः 'तदभिष्वङ्गे' गेहादिष्वभिलाषे सति, 'तदभावे' अभिष्वङ्गाभावे सर्वथा—एकान्तेनायुक्तं तद्रूपमस्याः, निरभिष्वङ्गस्य सङ्क्लेशायोगादिति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ एतदेव समर्थयति—

जो एत्थ अभिस्संगो संतासंतेसु पावहेउत्ति । अट्टज्झाणविअप्पो स इमीएँ संगओ रूवं ॥१८८॥

योऽत्र—लोकेऽभिष्वङ्गो—मूर्च्छालक्षणः सदसत्सु गेहादिषु पापहेतुरिति—पापकारणमार्त्तध्यानविकल्पः—अशुभध्यानभेदोऽभिष्वङ्गः स खलु अस्याः—सङ्क्लिष्टाया वेदनायाः सङ्गतो रूपम्—उचितस्वरूपमिति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ ततः किमित्याह—

एसो अ जायइ दढं संतेसुवि अकुसलाणुबंधाओ । पुण्णाओ ता तंपिहु नेअं परमत्थओ पावं ॥१८९॥

एष च—अभिष्वङ्गः जायते दृढम्—अत्यर्थं सत्स्वपि गेहादिष्विति गम्यते, कुत इत्याह—अकुशलानुबन्धिनो—मिथ्यानुष्ठानोपात्तात् पुण्याद्, यस्मादेवं तत्—तस्मात्तदपि—अकुशलानुबन्धि पुण्यं ज्ञेयं परमार्थतः पापं, सङ्क्लेशहेतुत्वादिति गाथार्थः ॥८९॥ तथा च—

कइया सिज्झइ दुग्गं को वामो मज्झ वट्टए कह वा । जायं इमंति चिंता पावा पावस्स य निदाणं ॥१९०

कदा सिध्यति दुर्ग—बलदेवपुरादि, को वामः—प्रतिकूलो मे नरपतिर्वर्त्तते, कथं वा जातमिदम्—अस्य वामत्वं इति—एवंभूता चिन्ता पापा सङ्क्लिष्टार्त्तध्यानत्वात् पापस्य च निदानं—कारणम्, आर्त्तध्यानत्वादेवेति गाथार्थः ॥ ९० ॥

यस्मादेवं तस्मात् गृहाश्रमरतः सन् सन्तुष्टमनाः, नतु लोभाभिभूतः, अनाकुलो नतु सदा गृहकर्त्तव्यतामूढः, धीमान्-बुद्धिमान् तत्त्वज्ञः परहितकरणैकरतिः न त्वात्मम्भरिः धर्म्मं साधयति मध्यस्थो न तु क्वचिद् रक्तो द्विष्टो वेति गाथार्थः ॥ ॥ ८४ ॥ एष पूर्वपक्षः, अत्रोत्तरमाह—

किं पावस्स सरूवं? किं वा पुन्नस्स? संकिलिट्ठं जं। वेइज्जइ तेणेव य तं पावं पुण्णमिअरंति ॥१८५॥

'पापात्परित्यजन्ति पुण्योपात्तं गृहाश्रम'मिति परमतम्, आचार्यस्त्वाह–किं पापस्य स्वरूपं ?, किं वा पुण्यस्येति–अभिप्रा(प्रे)यस्य, पुण्यपापयोर्यथा सम्यग्लक्षणं तथा कुशलानुबन्धिनः पुण्यात् परित्यजन्ति गृहवासमित्येतच्च वक्ष्यति, परस्तु तयोः स्वरूपमाह–संक्लिष्टं–मलिनं यत्स्वरूपतो वेद्यते च–अनुभूयते तेनैव–सङ्क्लेशेनैव तत्पापं, पुण्यमितरदिति–यदसङ्क्लिष्टमसङ्क्लेशेनैव च वेद्यते इति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ एवमनयोः स्वरूप उक्ते सत्याह—

जइ एवं किं गिहिणो अत्थोवायाणपालणाईसु। विअणा ण संकिलिट्ठा? किं वा तीए सरूवंति? ॥१८६॥

यद्येवं पुण्यपापयोः स्वरूपं यथाऽभ्यधायि भवता नन्वेवं किं गृहिणः अर्थोपादानपालनादिषु सत्सु आर्त्तध्यानाद्, आदिशब्दान्नाशादिपरिग्रहः, वेदना न सङ्क्लिष्टा ?, सङ्क्लिष्टैवेत्यभिप्रायः, किं वा तस्याः–सङ्क्लिष्टायाः वेदनायाः स्वरूपं यदेषाऽपि सङ्क्लिष्टा न भवतीति गाथार्थः ॥ ८६ ॥ पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

गेहाईणमभावे जा तं रूवं इमीइ अह इट्ठं। जुज्जइ अ तयभिसंगे तदभावे सवहाऽजुत्तं ॥१८७॥

द्धिरुत्पद्यत इति भावः, तथा शीतोदकादिभोगम्, आदिशब्दाद्विकृत्यादिपरिग्रहः, अदत्तदाना इति न कुर्वन्ति, पापोदयेनैव तत्परिहारबुद्धिरुत्पद्यत इति गाथार्थः॥ ॥ ८० ॥ एतदेव समर्थयति—

बहुदुक्खसंविढत्तो नासइ अत्थो जहा अभव्वाणं। इअ पुन्नेहिवि पत्तो अगारवासोऽवि पावाणं ॥१८१॥

बहुदुःखसंविढत्तोऽपि—बहुदुःखसमर्ज्जितः सन् नश्यत्यर्थो यथाऽभव्यानाम्—अपुण्यवतां इय—एवं पुण्यैरपि प्राप्तोऽगारवासोऽपि पापानां नश्यति, क्षुद्रपुण्योपात्तत्वादिति गाथार्थः ॥ ८१ ॥

चत्तंमि घरावासे ओआसविवज्जिओ पिवासत्तो। खुहिओ अ परिअडंतो कहं न पावस्स विसउत्ति ? १८२

त्यक्ते गृहावासे, प्रव्रजितः सन्नित्यर्थः, अवकाशविवर्जितः—आश्रयरहितः पिपासार्त्तः—तृट्परीतः क्षुधितश्च पर्यटन् कथं न पापस्य विषय इति, पापोदयेन सर्वमेतद्भवतीति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ तथा चाह—

सुहझाणाओ धम्मो सव्वविहीणस्स तं कओ तस्स ?। अण्णंपि जस्स निच्चं नत्थि उवट्ठंभहेउत्ति ॥ १८३ ॥

शुभध्यानात्—धर्मध्यानादेर्धर्म्म इति सर्वतन्त्रप्रसिद्धिः, सर्वविहीनस्य—सर्वोपकरणरहितस्य 'तत्' शुभध्यानं कुतस्तस्य—प्रव्रजितस्य ?, अन्नमपि—भोजनमपि, आस्तां शीतत्राणादि, यस्य नित्यं—सदा उचितकाले नास्ति उपष्टम्भहेतुः शुभध्यानाश्रयस्य कायस्येति गाथार्थः ॥ ८३ ॥

तम्हा गिहासमरतो संतुट्ठमणो अणाउलो धीमं। परहिअकरणिक्करई धम्मं साहेइ मज्झत्थो ॥१८४॥

यस्मादेवं तस्मात्तु युक्तमेतद्–अनन्तरोदितं प्रव्रज्याया विधानकरणं तु–चैत्यवन्दनादि, कुत इत्याह–'गुणभावतः'
उक्तन्यायात् कर्म्मक्षयादिगुणभावाद्, अकरणे प्रस्तुतविधानस्य तीर्थोच्छेदादयो दोषाः–तीर्थोच्छेदः सत्त्वेषु न चानुकम्पेति
गाथार्थः ॥ ७७ ॥ एतदेव भावयति—

छउमत्थो परिणामं सम्मं नो मुणइ ता ण देइ तओ। न य अइसओ अ तीए विणा कहं धम्मचरणं तु? १७८

छद्मस्थसत्त्वः परिणामं विनेयसम्बन्धिनं न सम्यग्मनुते–न जानाति, ततो न ददात्यसौ दीक्षां परिणामादर्शनेन, ततोऽ-
तिशयी दास्यतीति चेत् अत्राह–न चातिशयोऽपि–अवध्यादिः तया–भावतो दीक्षया विनैव, अतः कथं धर्म्मचरणमिति
सामान्येनैव धर्म्मचरणाभाव इति गाथार्थः ॥ ७८ ॥ यच्चात्र भरताद्युदाहरणमुक्तं तदङ्गीकृत्याह—

आहच्चभावकहणं तंपिहु तप्पुव्वयं जिणा विंति। तयभावे ण य जुत्तं तयंपि एसो विही तेणं ॥१७९॥

कादाचित्कभावकथनं भरतादीनामतिशयादिरूपं यत् तदपि तत्पूर्वकं–जन्मान्तराभ्यस्तप्रव्रज्याविधानपूर्वकं जिना
ब्रुवते, तदभावे च–जन्मान्तराभ्यस्तप्रव्रज्याविधानाभावे न च युक्तं तदपि–कादाचित्कभावकथनं, यत एवमेष विधिः–
अनन्तरोदितः प्रव्रज्यायाः ततो न्याय्य इति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

अण्णे अगारवासं पावाउ परिच्चयंति इइ विंति। सीओदगाइभोगं अदिन्नदाणत्ति न करिंति ॥१८०॥

अन्ये वादिन इति ब्रुवत इति सम्बन्धः, किमित्याह–अगारवासं–गृहवासं पापात् परित्यजन्ति, पापोदयेन तत्परित्यागवु-

होंतेऽवि तम्मि विहलं न खलु इमं होइ एत्थऽणुट्ठाणं। सेसाणुट्ठाणंपिव आणाआराहणाए उ ॥१७४॥

भवत्यपि तस्मिन्—विरतिपरिणामे विफलं न खल्विति—नैव इदं—चैत्यवन्दनादि भवति 'अत्र' प्रक्रमेऽनुष्ठानं, किन्तु सफलमेव, शेषानुष्ठानमिव—उपधिप्रत्युपेक्षणादिवत्, कुत इत्याह—आज्ञाऽऽराधनात एव—तीर्थकरोपदेशानुपालनादेव, भगवदुपदेशश्चायमिति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ द्वितीयं पक्षमधिकृत्याह—

असइ मुसावाओऽवि अ ईसिंपि न जायए तहा गुरुणो। विहिकारगस्स आणाआराहणभावओ चेव॥१७५॥

असति विरतिपरिणामे मृषावादोऽपि च ईषदपि—मनागपि न जायते गुरोः—उक्तलक्षणस्य, किंविशिष्टस्येत्यत्राह—'विधिकारकस्य' सूत्राज्ञासम्पादकस्येति, कुत इत्याह—'आज्ञाराधनभावत एव' भगवदाज्ञासम्पादनादेवेति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ विधिप्रव्राजने गुणानाह—

होंति गुणा निअमेणं आसंसाईहिं विप्पमुक्कस्स। परिणामविसुद्धीओ अजुत्तकारिंमिवि तयंमि १७६

भवन्ति गुणा नियमेन कर्म्मक्षयादयो विधिप्रव्राजने सति आशंसादिभिर्विप्रमुक्तस्य गुरोः, आदिशब्दात् सम्पूर्णपर्षदादिपरिग्रहः, कुतो भवन्ति ?, परिणामविशुद्धेः—सांसारिकदुःखेभ्यो मुच्यतामयमित्यध्यवसायाद्, अयुक्तकारिण्यपि कुतश्चित्कर्म्मोदयात् तस्मिन् शिष्ये इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

तम्हा उ जुत्तमेअं पव्वज्जाए विहाणकरणं तु। गुणभावओ अकरणे तित्थुच्छेआइआ दोसा ॥१७७॥

घोपलभ्यते एतत् स्तोकमप्यकार्यं प्रायशो–बाहुल्येन न सेवन्ते, अतो विरतिपरिणामसामर्थ्यमेतदिति गाथार्थः ॥ ७० ॥ साम्प्रतं यदुक्तं 'श्रूयते चैतद्व्यतिकरविरहेणापि स इह भरतादीना'मित्येतत्परिजिहीर्षुराह—

आहच्चभावकहणं न य पायं जुजए इहं काउं। ववहारनिच्छया जं दोन्निऽवि सुत्ते समा भणिया ॥ १७१ ॥

कादाचित्कभावकथनं–भरतादिलक्षणं न च प्रायो युज्यते इह–विचारे कर्तुं, किमित्यत आह–व्यवहारनिश्चयौ यतो नयौ द्वावपि सूत्रे समौ भणितौ–प्रतिपादितौ, भगवद्भिरिति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ एतदेवाह—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुअह। ववहारणउच्छेए तित्थुच्छेओ जओऽवस्सं ॥१७२॥

यदि जिनमतं प्रपद्यध्वं यूयं ततो मा व्यवहारनिश्चयौ मुञ्चत–मा हासिष्ट, किमित्यत्र आह–व्यवहारनयोच्छेदे तीर्थोच्छेदो यतोऽवश्यम्, अतो व्यवहारतोऽपि प्रव्रजितः प्रव्रजित एव गाथार्थः ॥ ७२ ॥ एतदेव समर्थयति—

ववहारपवत्तीइवि सुहपरिणामो तओ अ कम्मस्स। नियमेणमुवसमाई णिच्छयणयसम्मयं तत्तो ॥१७३॥

व्यवहारप्रवृत्त्याऽपि–चैत्यवन्दनादिविधिना प्रव्रजितोऽहमित्यादिलक्षणया शुभपरिणामो भवति, 'ततश्च' शुभपरिणामात् कर्मणः–ज्ञानावरणीयादेः नियमेनोपशमादयो भवन्ति, आदिशब्दात् क्षयक्षयोपशमादिपरिग्रहः, निश्चयनयसम्मतं 'तत' इति ततः–उपशमादेर्विरतिपरिणामो भवतीति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ यच्चोक्तं 'सति तस्मिन्निदं विफल'मित्यादि, तन्निराकरणार्थमाह—

सच्चं खु जिणाएसो विरईपरिणामसो(मो) उ पव्वज्जा। एसो उ तस्सुवाओ पायं ता कीरइ इमं तु ॥१६८॥

सत्यमेव जिनादेशो–जिनवचनमित्थंभूतमेव, यदुत विरतिपरिणाम एव प्रव्रज्या, नात्रान्यथाभावः, तथाऽप्यधिकृतविधानमवन्ध्यमेवेति, एतदेवाह–एष पुनः–चैत्यवन्दनादिविधिना सामायिकारोपणव्यतिकरः तस्य–विरतिपरिणामस्योपायो–हेतुः प्रायो–बाहुल्येन यद्–यस्मात् तत्–तस्मात् क्रियत एवेदं–चैत्यवन्दनादि प्रव्रज्याविधानमिति गाथार्थः ॥६८॥ उपायतामाह—

जिणपण्णत्तं लिंगं एसो उ विही इमस्स गहणंमि। पत्तो मएत्ति सम्मं चिंतंतस्सा तओ होइ ॥१६९॥

जिनप्रज्ञप्तं लिङ्गं–तीर्थकरप्रणीतमेतत् साधुचिह्नं रजोहरणमिति, एष च–चैत्यवन्दनादिलक्षणो विधिरस्य–लिङ्गस्य ग्रहणे–अङ्गीकरणे प्राप्तो मयाऽत्यन्तदुराप इत्येवं चिन्तयतः सतः शुभभावत्वादसौ–विरतिपरिणामो भवतीति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ कथं गम्यत इति चेत् ?, उच्यते—

लक्खिज्जइ कज्जेणं जम्हा तं पाविऊण सप्पुरिसा। नो सेवंति अकज्जं दीसइ थेवंपि पाएणं ॥ १७० ॥

लक्ष्यते–गम्यते कार्येणासौ विरतिपरिणामः, कथमित्याह–यस्मात् तं–चैत्यवन्दनपुरस्सरं सामायिकारोपणविधिं सम्प्राप्य सत्पुरुषाः–महासत्त्वाः प्रव्रजिता वयमिति न सेवन्ते अकार्यं–परलोकविरुद्धं किञ्चित्, दृश्यते एतत्–प्रत्यक्षेणै-

श्रूयते च एतद्व्यतिकरविरहेणापि—चैत्यवन्दनादिसम्बन्धमन्तरेणापि सः—विरतिपरिणामः इह—जिनशासने भरतादीनां महापुरुषाणामिति, कथमिति चेत्, उच्यते, तद्भावे—विरतिपरिणामभावे भावतः अभावः—असम्भवः यत्—यस्माद्भणितः—उक्तः केवलस्य श्रुते—प्रवचन इति गाथार्थः ॥ ९५ ॥

संपाडिएऽवि अ तहा इमंमि सो होइ नत्थि एअंपि । अंगारमद्दगाई जेण पवज्जंतऽभव्वावि ॥ १६६ ॥

सम्पादितेऽपि च तथा अस्मिन्—चैत्यवन्दनादौ व्यतिकरे सति- सः—विरतिपरिणामो भवति नास्त्येतद् अव्याप्यनियम एवेति, एतदेवाह—अङ्गारमर्दकादयो येन कारणेन प्रतिपद्यन्ते अधिकृतव्यतिकरमभव्या अपि, आसतां तावदन्य इति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ किञ्च—तच्चैत्यवन्दनादिविधिना सामायिकारोपणं सति वा विरतिपरिणामे क्रियेतासति वा ?, उभयथापि दोषमाह—

सइ तंमि इमं विहलं असइ मुसावायमो गुरुस्सावि । तम्हा न जुत्तमेअं पव्वजाए विहाणं तु ॥ १६७ ॥

सति तस्मिन्—विरतिपरिणामे इदं—चैत्यवन्दनादिविधिना सामायिकारोपणं विफलं, भावत एव तस्य विद्यमानत्वाद-न्यथतापिच, असति—अविद्यमाने विरतिपरिणामे सामायिकारोपणं कुर्वतः मृषावाद एव गुरोरपि, असदध्यारोपणात्, अपिशब्दाच्छिष्यस्यापि, अयथाविध अप्रतिपत्तेः, यस्मादेवं तस्मान्न युक्तमेतत्—चैत्यवन्दनादिविधिना सामायिकारोपणरूपं प्रव्रज्याया विधानम्, एवमुभयथापि दोषदर्शनादिति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ एष पूर्वपक्षः, अत्रोत्तरमाह—

क्षायिकभावे च केवलं ज्ञानं, प्रतिपक्षयोजना सर्वत्र कार्येति, कैवल्ये प्रतिपूर्णे प्राप्ते परमाक्षरो मोक्ष इति गाथार्थः ॥५९॥ पञ्चदशाङ्गः—पञ्चदशभेदः एषः—अनन्तरोदितः समासतः—सङ्क्षेपेण मोक्षसाधनोपायः—सिद्धिसाधनमार्गः, अत्र—मोक्षसाधनोपाये बहु प्राप्तं त्वया, शीलं यावदित्यर्थः, स्तोकं सम्प्राप्तव्यं, क्षायिकभावकेवलज्ञानद्वयमिति गाथार्थः ॥ ६० ॥ तत्तथा कर्त्तव्यं त्वया यथा तत्—शेषं प्राप्नोपि स्तोककालेन, किमित्यत आह—शीलस्य नास्त्यसाध्यं जगति, तत्प्राप्तं त्वया, प्रव्रज्या प्रतिपन्नेति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ लब्ध्वा शीलमेतत्, किंविशिष्टमित्याह—चिन्तामणिकल्पपादपाभ्यधिकं, निर्वाणहेतुत्वेन, एतदेवाह—इह लोके परलोके च तथा सुखावहं परमुनिभिश्चरितम्—आसेवितमिति गाथार्थः ॥ ६२ ॥ एतस्मिन्— शीले अप्रमादो—यत्नातिशयः कर्त्तव्यः सदा—सर्वकालं 'जिनेन्द्रप्रज्ञप्ते' तीर्थकरप्रणीते, अप्रमादोपायमेवाह—भावयितव्यं च तथा—शुभान्तःकरणेन विरसं संसारनैर्गुण्यं वैराग्यसाधनमिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

आह विरइपरिणामो पव्वज्जा भावओ जिणाएसो। जं ता तह जइअव्वं जह सो होइत्ति किमणेणं? ॥१६४॥

आह परः, किमाह?, विरतिपरिणामः—सकलसावद्ययोगविनिवृत्तिरूपः प्रव्रज्या भावतः—परमार्थतो जिनादेशः—अर्हद्वचनमित्थं व्यवस्थितमिति, यत्—यस्मादेवं तत्—तस्मात्तथा यतितव्यं—तथा प्रयत्नः कार्यः यथाऽसौ—विरतिपरिणामो भवतीति, किमन्येन—चैत्यवन्दनादिक्रियाकलापेन ? इति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ पर एव स्वपक्षं समर्थयन्नाह—

सुव्वइ अ एअवइअरविरहेणऽवि स इह भरहमाईणं। तयभावंमि अभावो जं भणिओ केवलस्स सुए ॥१६५॥

देसे कुलं पहाणं कुले पहाणे अ जाइमुक्कोसा। तीएऽवि रुवसमिद्धी रूवे अ बलं पहाणयरं ॥१५७॥
होइ बलेऽवि अ जीअं जीएऽवि पहाणयं तु विण्णाणं । विण्णाणे सम्मत्तं सम्मत्ते सीलसंपत्ती ॥१५८॥
सीले खाइअभावो खाइअभावेऽवि केवलं नाणं। केवल्ले पडिपुन्ने पत्ते परमक्खरो मोक्खो ॥१५९॥
पण्णरसंगो एसो समासओ मोक्खसाहणोवाओ । एत्थ बहुं पत्तं ते थेवं संपावियव्वंति ॥१६०॥
ता तह कायव्वं ते जह तं पावेसि थेवकालेणं। सीलस्स नत्थऽसज्झं जयंमि तं पाविअं तुमए ॥१६१॥
लद्धूण सीलमेअं चिंतामणिकप्पपायवऽब्भहिअं। इह परलोए अ तहा सुहावहं परमसुणिचरिअं १६२
एअंमि अप्पमाओ कायव्वो सइ जिणिंदपन्नत्ते । भावेअव्वं च तहा विरसं संसारणेगुण्णं ॥ १६३ ॥

भूतेषु–प्राणिषु 'जङ्गमत्वं' द्वीन्द्रियादित्वं, तेष्वपि–जङ्गमेषु पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टं–प्रधानं, तेष्वपि–पञ्चेन्द्रियेषु मानुषत्वमुत्कृष्टमिति वर्त्तते, मनुजत्वे आर्यो देश उत्कृष्ट इति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ देशे आर्ये कुलं प्रधानमुग्रादि, कुले प्रधाने च जातिरुत्कृष्टा, मातृसमुत्था, तस्यामपि जातौ रूपसमृद्धिरुत्कृष्टा, सकलाङ्गनिष्पत्तिरित्यर्थः, रूपे च सति बलं प्रधानतरं, सामर्थ्यमिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ भवति बलेऽपि च जीवितं, प्रधानमिति योगः, जीवितेऽपि प्रधानतरं विज्ञानं, विज्ञाने सम्यक्त्वं, क्रिया पूर्ववत्, सम्यक्त्वे शीलसम्प्राप्तिः प्रधानतरेति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ शीले क्षायिकभावः प्रधानः,

कारयन्ति नियमात्, अन्ये तु कारयन्त्यपि, शेषाणामपि ये न कारयन्ति तेषां नास्त्येव दोषः, सामान्येन आचाम्लाकरणे वा नास्त्येव दोष इति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

लोगुत्तमाण पच्छा निवडइ चलणेसु तह निसण्णस । आयरियस्स य सम्मं अण्णेसिं चेव साहूणं॥५३॥

लोकोत्तमानां पश्चाद्–उक्तोत्तरकालं निपतति चरणयोः, वन्दनं करोतीत्यर्थः, तथा निषण्णस्य–उपविष्टस्याचार्यस्य च सम्यगिति–भावसारमन्येषां चैव साधूनां निपतति चरणयोरिति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

वंदंति अज्जियाओ विहिणा सड्ढा य साविआओ य । आयरियस्स समीवंमि उवविसइ तओ असंभंतो॥५४॥

ततस्तं प्रव्रजितं वन्दन्ते आर्यिकाः 'पुरुषोत्तमो धर्म्म'इतिकृत्वा, कथमित्याह–विधिना–प्रवचनोक्तेन, किं ता एव?, नेत्याह–श्रावकाश्च श्राविकाश्च वन्दन्ते, आचार्यसमीपे चोपविशति ततः–तदुत्तरकालं, किंविशिष्टः सन्नित्याह–असम्भ्रान्तः–अनन्यचित्त इति गाथार्थः ॥ ५४ ॥ ततश्च—

भवजलहिपोअभूअं आयरिओ तह कहेइ से धम्मं । जह संसारविरत्तो अन्नोऽवि पवज्जए दिक्खं ॥१५५॥

भवजलधिपोतभूतं–संसारसमुद्रबोहित्थकल्पमाचार्यस्तथा कथयति 'से' तस्य–प्रव्रजितस्य धर्म्मं यथा संवेगातिशयात् संसारविरक्तः सन्नन्योऽपि तत्पर्षदन्तर्वर्त्ती सत्त्वः प्रपद्यते दीक्षां–प्रव्रज्यामिति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ कथं कथयतीत्यत्राह—

भूतेसु जंगमत्तं तेसुऽवि पंचिंदिअत्तमुक्कोसं । तेसुवि अ माणुसत्तं माणुस्से आरिओ देसो ॥१५६॥

अन्ये तु आचार्या अत्रान्तरे वासान् ददति जिनादीनां, न चैवमपि कश्चिद् दोषः, किन्तु 'तत्र' प्रागुक्ते स्थाने दीय-
ानेऽप्येष गुणः सम्यग्-द्रव्यपरिच्छेदपूर्वकं गुरुरपि निस्तारकादि-आशीर्वादरूपं निर्वचनवाक्यं तत्पूर्वकं-वासप्रदान-
ूर्वकं भणतीति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

आह य गुरू पवेअह वंदिअ सेहो तओ नमोक्कारं। अक्खलिअं कड्ढंतो पयाहिणं कुणइ उवउत्तो ॥१५०॥

आह च गुरुः-शिष्येणानन्तरोदिते उक्ते सति भणति च गुरुः प्रवेदय वन्दित्वा, शिष्यकस्ततः-तदनन्तरं नमस्कार-
ास्खलितं पठन् प्रदक्षिणां करोत्युपयुक्तः, एकेनैव नमस्कारेणेति गाथार्थः ॥ ५० ॥ अत्रान्तरे—

आयरियाई सवे सीसे सेहस्स दिंति तो वासे ॥ दारं। एवं तु तिन्नि वारा एगो उ पुणोऽवि उस्सग्गं ॥१५१

आचार्यादयः सर्वे यथासन्निहिताः शिरसि शिष्यकस्य ददति ततो वासान्, वदिन्त्वादित आरभ्य इच्छाकारेण सामा-
ायिकं मे आरोपयत इत्यादिस्तिस्रो वारा इति, व्याख्यातं चरमद्वारम्, एके त्वाचार्याः पुनरपि कायोत्सर्गं कारयन्ति
आचरणया, तत्राप्यदोष एव, नवरं द्वारगाथाया (१२५) मित्थं पाठान्तरं द्रष्टव्यम् 'पयाहिणं चेव उस्सग्गो'त्ति
गाथार्थः ॥ ५१ ॥

आयंबिले अनियमो आइण्णं जेसिमावलीए उ। ते कारविंति नियमा सेसाणवि नत्थि दोसा उ ॥१५२॥

आचामाम्ले अनियमः प्रवेदने, कदाचित्क्रियते कदाचिन्नेति, एतदेवाह-आचरितं येषामावलिकयैव आचार्याणां ते
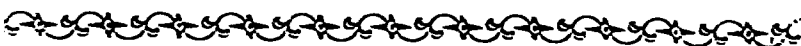
भणति 'ततः' तदनन्तरं 'तकः' असौ शैक्षकः, किमित्याह—संदिशत किं भणामीत्येतदिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

वंदित्तु पवेयअह भणइ गुरू वंदिउं तओ सेहो । अद्धावणयसरीरो उवउत्तो अहइमं भणइ ॥१४६॥

वन्दित्वा प्रवेदय—कथयेति भणति गुरुः, वन्दित्वा 'ततः' तदनन्तरं शिष्यकः अर्द्धावनतशरीरः सन्नुपयुक्तोऽथ—अनन्तरमिदं—वक्ष्यमाणलक्षणं भणतीति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ किं तदित्याह—

तुब्भेहिं सामाइअमारोविअमिच्छमो उ अणुसट्ठिं । वासे सेहस्स तओ सिरंमि दिंतो गुरू आह ॥१४७॥

णित्थारगपारगो गुरुगुणेहिं वड्ढाहि वंदिउं सेहो । तुब्भं पवेइअं संदिसह साहूणं पवेएमि ॥१४८॥

युष्माभिः सामायिकं ममारोपितं—न्यस्तं इच्छाम एवानुशास्तिं—सामायिकारोपणलक्षणाम्, एवमुक्ते सति वासान् शिष्यकस्य ततः शिरसि ददद् गुरुराह ॥ ४७ ॥ किमाह इति ?, उच्यते—'णित्थारे'त्यादि, निस्तारगपारग इति, निस्तारकः प्रतिज्ञायाः पारगः सामान्यसाधुगुणानाम्, एवंभूतः सन् गुरुगुणैः प्रकृष्टैर्ज्ञानादिभिर्वर्द्धस्वेति—वृद्धिं गच्छत, इच्छापुरस्सरं वन्दित्वा शिष्यकः, आहेति योगः, किं तदिति?—तुभ्यं प्रवेदितं—ज्ञापितं सन्दिशत यूयं साधूनां प्रवेदयामि—ज्ञापयामि इत्येतदपि गाथाद्वयार्थः ॥ ४८ ॥

अन्ने उ इत्थ वासे देंति जिणाईण तत्थ एस गुणो । सम्मं गुरूवि नित्थारगाइ तप्पुव्वगं भणइ ॥१४९॥

तत्र लोकस्योद्योतकरं चिन्तयित्वा उत्सारयति संयमयोगं तदनन्तरभाविक्रियासेवनेन असम्भ्रान्तः सन् नमस्कारेण—नमो अरहंताण"मित्यनेन, कायोत्सर्ग इति व्याख्यातं, साम्प्रतं सामायिकत्रयपाठ इति प्रतिपादयन्नाह—तत्पूर्वकं च—मस्कारपूर्वकं च पारयततस्तिष्ठः इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ किमित्याह—

सामाइअमिह कड्ढइ सीसो अणुकड्ढई तहा चेव । अप्पाणं कयकिच्चं मन्नंतो सुद्धपरिणामो ॥१४३॥ दारं

सामायिकमिह पठति गुरुः शिष्यकोऽप्यनुपठति 'तथैव' गुरुविधिना, किंविशिष्टः सन्नित्याह—आत्मानं 'कृतकृत्यं' निष्ठितार्थं मन्यमानः शुद्धपरिणाम इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ सामायिकत्रयपाठ इति प्रतिपादितम्, इदानीं प्रदक्षिणां चेवे-त्यादि प्रतिपादयन्नाह—

तत्तो अ गुरू वासे गिण्हिअ लोगुत्तमाण पाएसुं । देइ अ तओ कमेणं सव्वेसिं साहुमाईणं ॥१४४॥

'ततश्च' तदनन्तरं गुरुर्वासान् गृहीत्वा आचार्यमन्त्रेण अभिमन्त्र्य अनाचार्यस्तु पञ्चनमस्कारेण 'लोकोत्तमानां' जिनानां पादयोर्ददाति, मन्त्रनमस्कारपूर्वकमेव, ददाति च ततः—तदनन्तरं 'क्रमेण' यथाज्येष्ठार्यतालक्षणेन सर्वेभ्यो यथासन्निहि-तेभ्यः साध्वादिभ्यः, आदिशब्दाच्छ्रावकादिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

तो वंदणगं पच्छा सेहं तु दवावए ठिओ संतो । वंदित्ता भणइ तओ संदिस्सह किं भणामोत्ति ॥१४५॥

ततो वन्दनं पश्चात्—लोकोत्तमाधिवासप्रदानोत्तरकालं शिष्यकं तु दापयति, स्थितः सन् ऊर्ध्वस्थानेन वन्दित्वा

'अथ' अनन्तरं वन्दित्वा पुनरसौ–शिष्यकः भणति गुरुम्–आचार्यं परमभक्तिसंयुक्तः सन्, किमित्याह–इच्छाकारेणास्मान् मुण्डयतेति सप्रणामं भणतीति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

इच्छामोत्ति भणित्ता मंगलगं कड्डिऊण तिक्खुत्तो। गिण्हइ गुरु उवउत्तो अट्ठा से तिन्नि अच्छिन्ना॥१३९॥दारं।

इच्छाम इति भणित्वा गुरुः मङ्गलकमाकृष्य–पठित्वा 'त्रिकृत्वे'ति तिस्रो वारा इत्यर्थः, गृह्णाति गुरुरुपयुक्तः अष्टाः–स्तोककेशग्रहणस्वरूपाः तिस्रः अच्छिन्नाः–अस्खलिता इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ अष्टा इति व्याख्यातम्, अधुना सामायिकस्योत्सर्ग इति व्याख्यानयन्नाह—

वंदित्तु पुणो सेहो इच्छाकारेण समइअं मित्ति। आरोवेहत्ति भणइ संविग्गो नवरमायरियं ॥ १४० ॥

वन्दित्वा पुनस्तदुत्तरकालं शिष्यकः–इच्छाकारेण सामायिकं ममेत्यारोपयतेति भणति संविग्नः सन्, नवरमाचार्यमिति गाथार्थः ॥ ४० ॥

इच्छामोत्ति भणित्ता सोऽवि अ सामइअरोवणनिमित्तं। सेहेण समं सुत्तं कड्ढित्ता कुणइ उस्सग्गं ॥१४१॥

इच्छाम इति भणित्वा सोऽपि च–गुरुः सामायिकारोपणनिमित्तं शिष्यकेण सार्द्धं सूत्रं–सामायिकारोपणनिमित्तं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ ऊससिएणमित्यादि पठित्वा करोति कायोत्सर्गमिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ पुनश्च—

लोगस्सुज्जोअगरं चिन्तिय उस्सारए असंभन्ते। नवकारेणं तप्पुव्वगं च वारे तओ तिण्णि ॥ १४२ ॥

पडिलेहिउं पमज्जणमुवघाओ कह णु तत्थ होज्जा उ ?। अपमज्जिउं च दोसा वच्चादागाढवोसिरणे ॥१३६॥

प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा पिपीलिकाद्यनुपलब्धौ सत्याम्, उपलब्धावपि प्रयोजनविशेषे यतनया प्रमार्जनं सूत्र उक्तम्, यतश्चैवमत उपघातः कथं नु तत्र भवेत् ?, नैव भवतीत्यर्थः, सत्त्वानुपलब्धौ किमर्थं प्रमार्जनमिति चेत् उच्यते—सूत्रो-क्ततथाविधसत्त्वसंरक्षणार्थम्, उपलब्धावपि प्रयोजनान्तरे तु, अप्रमार्जने तु दोषः, तथा चाह—अप्रमृज्य च दोषाः वर्चआदावागाढव्युत्सर्गे, आदिशब्दाच्छिर्यकाकुलिकादिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ अप्रमार्जनदोषानाह—

आयपरपरिच्चाओ दुहावि सत्थस्सऽकोसलं नूणं। संसज्जणाइदोसा देहे इव न विहिणा हुंति ॥१३७॥दारं॥

यो हि कथञ्चित्पुरीषोत्सर्गमङ्गीकृत्यासहिष्णुः संसक्तं च स्थण्डिलं तेन दयालुना स तत्र न कार्यः कार्यो वेति द्वयी गतिः, किञ्चातः?, उभयथाऽपि दोषः, तथा चाह—'आत्मपरपरित्यागः' अकरणे आत्मपरित्यागः, करणे परपरित्याग इति, किञ्चात इत्याह- द्विधाऽपि शासितुः—त्वदभिमततीर्थङ्करस्य अकौशलं नूनम्—अवश्यं, कुशलस्य चाकुशलतापादने आशा-तनेति, दोषान्तरपरिजिहीर्षयाऽऽह—संसर्जनादिदोषाः पूर्वपक्षवाद्यभिहिता विधिना परिभोगे न भवन्ति 'देह इव' शरीर इव, अविधिना त्वसमञ्जसाहारस्य देहेऽपि भवन्त्येवेति गाथार्थः ॥ २७ ॥ रजोहरणमिति व्याख्यातम्, अष्टा इति व्याचिख्यासुराह—

अह वंदिउं पुणो सो भणइ गुरुं परमभत्तिसंजुत्ते। इच्छाकारेणऽम्हे मुंडावेहत्ति सपणामं ॥ १३८ ॥

संजमजोगा एत्थं रयहरणा तेसि कारणं जेणं। रयहरणं उवयारो भण्णइ तेणं रओ कम्मं ॥१३३॥

'संयमयोगाः' प्रत्युपेक्षितप्रमृष्टभूभागस्थानादिव्यापाराः 'अत्र'अधिकारे रजोहरणाः, वध्यमानकर्म्महरा इत्यर्थः, 'तेषां' संयमयोगानां कारणं येन कारणेन रजोहरणमित्युपचारः तेन हेतुनेति, रजःस्वरूपमाह—भण्यते रजः कर्म्म बध्यमानकमिति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

केई भणंति मूढा संजमजोगाण कारणं नेवं । रयहरणंति पमज्जणमाईहुवघायभावाओ ॥१३४॥

केचन भणन्ति मूढाः–दिगम्बरविशेषाः [काष्ठाः] 'संयमयोगानाम्' उक्तलक्षणानां कारणं नैव वक्ष्यमाणेन प्रकारेण रजोहरणमिति, यथा न कारणं तथाऽऽह–'प्रमार्जनादिभिः' प्रमार्जनेन संसर्ज्जनेन च उपघातभावात् प्राणिनामिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ एतदेवाह—

मूइंगलिआईणं विणाससंताणभोगविरहाई । रयदरिथज्जणसंसज्जणाइणा होइ उवघाओ ॥१३५॥

प्रमार्जने सति 'मूइंगलिकादीनां' पिपीलिकामत्कोटप्रभृतीनां विनाशसन्तानभोग्यविरहादयो भवन्तीति वाक्यशेषः, रजोहरणसंस्पर्शनादल्पकायानां विनाशः, एवं सन्तानः–प्रवन्धगमनं भोग्यं–सिक्थादि एतद्विरहस्तु भवत्येवेत्युपघातः, तथा 'रजोदरीस्थगनसंसर्ज्जनादिना भवत्युपघात' इति च, सम्भवति च प्रमार्जने सति रजसा दरिस्थगनं तत्संसर्जने च सत्त्वोपघात इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ एष पूर्वपक्षः, अत्रोत्तरमाह—

'ततः' तदनन्तरं वन्दनं समं-देवाद्यभिमुखमेव दत्त्वा शिक्षको भणति, किमिति तदाह-इच्छाकारेण प्रव्राजयत, अस्मानिति गम्यते एवेति गाथार्थः ॥ २९ ॥

रजोहरणस्य लिंगत्वं गा. १३०-३२

इच्छामोत्ति भणित्ता उट्ठेउं कड्ढिऊण मंगलयं । अप्पेइ रओहरणं जिणपन्नत्तं गुरू लिंगं ॥ १३० ॥

इच्छाम इति भणित्वा विशुद्धवचसा उत्थातुम् ऊर्द्धस्थानेन 'आकृष्य मङ्गलकं' पठित्वा पञ्चनमस्कारम् अर्प्पयति रजोहरणं जिनप्रज्ञप्तं गुरुर्लिङ्गमिति गाथार्थः ॥ ३० ॥ लिङ्गदान एव विधिमाह—

पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व देज्जाऽहवा पडिच्छिज्जा । जाए जिणादओ वा दिसाए जिणचेइआइं वा ॥१३१॥

पूर्वाभिमुख उत्तराभिमुखो वा दद्याद् गुरुः अथवा प्रतीच्छेत् शिष्यः, यस्यां जिनादयो वा दिशि, जिनाः-मनःपर्यायज्ञानिनः अवधिसम्पन्नाश्चतुर्दशपूर्वधरा नवपूर्वधराश्च, जिनचैत्यानि वा यस्यां दिशि आसन्नानि, तदभिमुखो दद्यात् अथवा प्रतीच्छेदिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ रजोहरणं लिङ्गमुक्तम्, साम्प्रतं तच्छब्दार्थमाह—

हरइ रयं जीवाणं वज्झं अब्भंतरं च जं तेणं । रयहरणंति पवुच्चइ कारणकज्जोवयाराओ ॥१३२॥

'हरति' अपनयति रजो जीवानां बाह्यं-पृथिवीरजःप्रभृति अभ्यन्तरं च-बध्यमानकर्म्मरूपं यद्-यस्मात् तेन कारणेन रजोहरणमिति प्रोच्यते, रजो हरतीति रजोहरणम्, अभ्यन्तररजोहरण(णाभाव)माशङ्क्याह-कारणे कार्योपचारात्, संयमयोगो रजोहरस्तत्कारणं चेदमिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ एतदेव प्रकटयति—

स्तुतिवृद्धिरात्मनैवेति—आचार्या एव छन्दःपाठाभ्यां प्रवर्द्धमानाः स्तुतीर्ददतीति गाथार्थः ॥ २६ ॥ वन्दनविधिमाह—

पुरओ उ ठंति गुरवो सेसावि जहक्कमं तु सट्ठाणे । अक्खलिआइ कमेणं विवज्जए होइ अविही उ ॥१२७॥

पुरत एव तिष्ठन्ति गुरवः—आचार्याः 'शेषा अपि' सामान्यसाधवः 'यथाक्रममेव' ज्येष्ठार्यतामङ्गीकृत्य स्वस्थाने तिष्ठन्ति, तत्रास्खलितादि—न स्खलितं न मिलितमित्यादि 'क्रमेण' परिपाट्या सूत्रमुच्चारयन्तीति गम्यते, विपर्यये स्थानमुच्चारणं वा प्रति भवति अविधिरेव वन्दन इति गाथार्थः ॥ २७ ॥ एतदेवाह—

खलियमिलियवाइद्धं हीणं अच्चक्खराइदोसजुअं । वंदंताणं नेआऽसामायारित्ति सुत्ताणा ॥१२८॥ दारं॥

स्खलितम् उपलाकुलायां भूमौ लाङ्गलवत् मिलितं विसदृशधान्यमेलकवत् व्याविद्धं विपर्यस्तरत्नमालावत् हीनं न्यूनं अत्यक्षरादिदोषयुक्तमिति, अत्यक्षरम्—अधिकाक्षरं, आदिशब्दादप्रतिपूर्णादिग्रहः, इत्थं वन्दमानानां ज्ञेया असामाचारी—अस्थितिरिति 'सूत्राज्ञा' आगमार्थ एवंभूत इति गाथार्थः ॥ २८ ॥ व्याख्यातं चैत्यवन्दनद्वारम्, अधुना रजोहरणद्वारं व्याचिख्यासुराह—

वंदिय पुणुट्ठिआणं गुरूण तो वंदणं समं दाउं । सेहो भणाइ इच्छाकारेणं पव्वयावेह ॥ १२९ ॥

वन्दित्वा द्वितीयप्रणिपातदण्डकावसानवन्दनेन पुनरुत्थितेभ्यः प्रणिपातान्निषण्णोत्थानेन 'गुरुभ्यः' आचार्येभ्यः

'शोभनदिने' विशिष्टनक्षत्रादियुक्ते 'विधिना' चैत्यवन्दननमस्कारपाठनपुरस्सरादिना दद्यात् आलापकेन, न तु प्रथमेव पट्टिकालिखनेन, 'सुविशुद्धं' स्पष्टं सामायिकादिसूत्रं प्रतिक्रमणेर्यापथिकादीत्यर्थः, पात्रं ज्ञात्वा यथोग्यं तद् दद्यात्, न व्यत्ययेनेति गाथार्थः ॥ २३ ॥ उक्तं सूत्रदानं, शेषविधिमाह—

तत्तो अ जहाविहवं पूअं स करिज्ज वीयरागाणं । साहूण य उवउत्तो एअं च विहिं गुरू कुणइ ॥१२४॥

'ततश्च' तदुत्तरकालं 'यथाविभवं' यो यस्य विभवः, विभवानुरूपमित्यर्थः, पूजां 'सः' प्रविव्रजिषुः कुर्यात् वीतरागाणां—जिनानां माल्यादिना साधूनां वस्त्रादिना, उपयुक्तः सन्निति, 'एनं च' वक्ष्यमाणलक्षणं विधिं गुरुः—आचार्यः करोति, सूत्रस्य त्रिकालगोचरत्वप्रदर्शनार्थं वर्त्तमाननिर्देश इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

चिइवंदणरयहरणं अट्टा सामाइयस्स उस्सग्गो।सामाइयतिगकड्ढण पयाहिणं चेव तिक्खुत्तो॥१२५॥दारं॥

चैत्यवन्दनं करोति रजोहरणमर्प्पयति अट्टा गृह्णाति, सामायिकस्योत्सर्ग इति—कायोत्सर्गं च करोति, 'सामायिकत्रयाकर्षणमिति—तिस्रो वाराः सामायिकं पठति प्रदक्षिणां चैव त्रिकृत्वः—तिस्रो वाराः शिष्यं कारयतीति गाथासमुदायार्थः ॥ २५ ॥ अवयवार्थं त्वाह—

सेहमिह वामपासे ठवित्तु तो चेइए पवंदंति । साहूहिं समं गुरवो थुइवुड्ढी अप्पणा चेव ॥ १२६ ॥

शिष्यकमिह प्रव्रज्याभिमुखं वामपार्श्वे स्थापयित्वा ततश्चैत्यानि—अर्हत्प्रतिमालक्षणानि प्रवन्दन्ते साधुभिः समं गुरवः,

सूत्रदानचैत्यवन्दनादि गा. १२४-२५

यथैव तु मोक्षफला भवतीति योगः, आज्ञा आराधिता—अखण्डिता सती जिनेन्द्राणां सम्बन्धिनीति, संसारदुःखफलदा तथैव च विराधिता—खण्डिता भवतीति गाथार्थः ॥ १९ ॥ किञ्च—

जह वाहिओ अ किरियं पवज्जिउं सेवई अपत्थं तु । अपवण्णगाउ अहियं सिग्घं च स पावइ विणासं ॥१२०॥

यथा व्याधितस्तु—कुष्ठादिग्रस्तः 'क्रियां प्रतिपत्तुं' चिकित्सामाश्रित्य सेवते अपथ्यं तु, स किमित्याह—अप्रपन्नात् सकाशाद् अधिकं शीघ्रं च स प्राप्नोति विनाशम्, अपथ्यसेवनप्रकटितव्याधिवृद्धेरिति गाथार्थः ॥ २० ॥

एमेव भावकिरिअं पवज्जिउं कम्मवाहिखयहेऊ । पच्छा अपत्थसेवी अहियं कम्मं समज्जिणइ ॥ १२१ ॥

एवमेव भावक्रियां—प्रव्रज्यां प्रतिपत्तुं, किमर्थमित्याह—कर्म्मव्याधिक्षयहेतोः, पश्चादपथ्यसेवी—प्रव्रज्याविरुद्धकारी अधिकं कर्म्म समर्जयति, भगवदाज्ञाविलोपनेन क्रूराशयत्वादिति गाथार्थः ॥ २१ ॥ कथेति व्याख्याता, परीक्षामाह—

अब्भुवगयंपि संतं पुणो परिक्खिज्ज पवयणविहीए । छम्मासं जाऽऽसज्ज व पत्तं अद्धाएँ अप्पबहुं ॥१२२॥

अभ्युपगतमपि सन्तं पुनः परीक्षेत प्रवचनविधिना—स्वचर्याप्रदर्शनादिना, कियन्तं कालं यावदित्याह—षण्मासं यावदासाद्य वा पात्रमद्धायाः अल्पबहुत्वम्, अद्धा—कालः, सपरिणामके पात्रविशेषे अल्पतर इतरस्मिन् बहुतरोऽपीति गाथार्थः ॥ २२ ॥ परीक्षेति व्याख्यातं, साम्प्रतं सामायिकादिसूत्रमाह—

सोभणदिणंमि विहिणा दिज्जा आलावगेण सुविसुद्धं । सामाइआइसुत्तं पत्तं नाऊण जं जोग्गं ॥ १२३ ॥

आज्ञाराधनाफलं परीक्षादानं च गा. १२०-२३

धम्मकहाअक्खित्तं पव्वज्जाअभिमुहंति पुच्छिज्जा। को कत्थ तुमं सुंदर ! पव्वयसि च किंनिमित्तंति ॥ ११६॥

'धर्म्मकथाद्याक्षिप्त'मिति धर्म्मकथया अनुष्ठानेन वा आवर्जितं प्रव्रज्याभिमुखं तु सन्तं पृच्छेत्, कथमित्याह–कः कुत्र त्वं सुन्दर !–कस्त्वं कुत्र वा त्वमायुष्मन्!, प्रव्रजसि वा किंनिमित्तमिति गाथार्थः ॥ १६ ॥ स खल्वाह—

कुलपुत्तो तगराए असुहभवक्खयनिमित्तमेवेह । पव्वामि अहं भंते! इइ गेज्झो भयण सेसेसु ॥ ११७॥

कुलपुत्रोऽहं तगरायां नगर्यामित्येतद् ब्राह्मणमथुराद्युपलक्षणं वेदितव्यमिति, 'अशुभभवक्षयनिमित्तमेवेह' भवन्त्यस्मिन् कर्म्मवशवर्त्तिनः प्राणिन इति भवः–संसारः तत्परिक्षयनिमित्तमित्यर्थः, प्रव्रजामि अहं भदन्त इति, एवं ब्रुवन् ग्राह्यः, भजना शेषेषु–अकुलपुत्रान्यनिमित्तादिषु, इयं च भजना विशिष्टसूत्रानुसारतो द्रष्टव्या, उक्तं च–"जे जहिं दुगुंछिया खलु पव्वावणवसहिभत्तपाणेसु । जिणवयणे पडिकुट्ठा वज्जेयव्वा पयत्तेणं ॥ १ ॥" इत्यादीति गाथार्थः ॥ १७ ॥ प्रश्न इति व्याख्यातं, कथामधिकृत्याह—

साहिज्जा दुरणुचरं कापुरिसाणं सुसाहुचरिअंति । आरंभनियत्ताण य इहपरभविए सुहविवागे ॥ ११८॥

'साधयेत्' कथयेत् दुरनुचरां 'कापुरुषाणां' क्षुद्रसत्त्वानां सुसाधु(चरित्रं–साधु)क्रियामिति, तथा आरम्भनिवृत्तानां च इहपारभविकान् शुभविपाकान्–प्रशस्तसुखदेवलोकगमनादीनि इति गाथार्थः ॥ १८ ॥

जह चेव उ मोक्खफला आणा आराहिआ जिणिंदाणं। संसारदुक्खफलया तह चेव विराहिआ होइ॥११९॥

प्रश्नः कथा च गा. ११६-१९

विलंवि राहुहयं तु जहिँ गहणं । मज्झेणं जस्स गहो गच्छइ तं होइ गहभिन्नं ॥ २ ॥ संझागयम्मि कलहो आइच्चगते य होइ णिव्वाणि २। विड्डेरे परविजओ ३ सगहम्मि य विग्गहो होई ४ ॥ ३ ॥ दोसो अभंगयत्तं (अभङ्गयात्रा) होइ कुभत्तं विलंविनक्खत्ते ५ । राहुहयम्मि य मरणं ६ गहभिन्ने सोणिउग्गालो ॥ ४ ॥' इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ उपसंहरन्नाह—

एसा जिणाणमाणा खित्ताईआ य कम्मुणो हुंति । उद्याइकारणं जं तम्हा एएसु जइअव्वं ॥ ११४ ॥

कंमित्तिदारं गयं ॥

एषा जिनानामाज्ञा यदुत्तोक्तलक्षणेष्वेव क्षेत्रादिषु दातव्येति, क्षेत्रादयश्च कर्म्मणो भवन्ति उदयादिकारणं 'यद्' यस्मात्, यत उक्तम्—"उदयक्खयक्खओवसमोवसमा जं च कम्मुणो भणिया । दव्वं खित्तं कालं भवं च भावं च संपप्प ॥ १ ॥" यस्मादेवं तस्मात् 'एतेषु' क्षेत्रादिषु यतितव्यं–शुद्धेषु यत्नः कार्य इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ कस्मिन्निति व्याख्यातम्, इदानीं 'कथं वे'ति व्याख्यायते, कथं–केन प्रकारेण दातव्येति, एतदाह—

पुच्छ कहणा परिच्छा सामाइअमाइसुत्तदाणं च । चिइवंदणाइआइ विहीऍ सम्मं पयच्छिज्जा ॥११५॥

'प्रश्नः' प्रव्रज्याभिमुखताविषयः 'कथनं' कथा साधुक्रियायाः परीक्षा सावद्यपरिहारेण सामायिकादिसूत्रदानं च विशुद्धालापकेन ततश्चैत्यवन्दनादिविधिना वक्ष्यमाणलक्षणेन 'सम्यग्' असम्भ्रान्तः सन् प्रयच्छेत्–प्रव्रज्यां दद्यादिति गाथासमुदायार्थः ॥ १५ ॥ अवयवार्थं तु ग्रन्थकार एवाह—

क्षेत्रादियत्नः पृच्छादि च गा. ११४-१५

दिज्ज णउ भग्गझामिअसुसाणसुण्णामणुण्णगेहेसु । छारंगारकयारामेज्झाईदव्वदुट्ठे वा ॥ ११० ॥

एवम्भूते क्षेत्रे दद्यात्, नतु भग्नध्यामितश्मशानशून्यामनोज्ञगृहेषु दद्यात्, ध्यामितं—दग्धं, तथा क्षाराङ्गारावकरामेध्यादिद्रव्यदुष्टे वा क्षेत्रे न दद्यात्, आदिशब्दोऽमेध्यस्वभेदप्रख्यापक इति गाथार्थः ॥१०॥ व्यतिरेकप्राधान्यतः कालमधिकृत्याह—

चाउद्दसिं पण्णरसिं च वज्जए अट्ठमिं च नवमिं च । छट्ठिं च चउत्थिं बारसिं च सेसासु दिज्जाहि ॥१११॥

चतुर्दशीं पञ्चदशीं च वर्ज्जयेत्, अष्टमीं च नवमीं च षष्ठीं च चतुर्थीं द्वादशीं च, शेषासु तिथिषु दद्यात्, अन्यासु दोषरहितास्विति गाथार्थः ॥ ११ ॥ नक्षत्राण्यधिकृत्याह—

तिसु उत्तरासु तह रोहिणीसु कुज्जा उ सेहनिक्खमणं । गणिवायए अणुण्णा महव्वयाणं च आरुहणा ॥११२॥

तिसृषु 'उत्तरासु' आषाढादिलक्षणासु तथा रोहिणीषु कुर्यात् शिष्यकनिष्क्रमणं, दद्यात् प्रव्रज्यामित्यर्थः, तथा गणिवाचकयोरनुज्ञा एतेष्वेव क्रियते, महाव्रतानां चारोपणेति गाथार्थः ॥ १२ ॥ वर्ज्यनक्षत्राण्याह—

संझागयं १ रविगयं २ विड्डेरं ३ सग्गहं ४ विलंबिं च ५ । राहुगयं ६ गहभिन्नं ७ च वज्जए सत्त नक्खत्ते ॥११३॥

सन्ध्यागतं १ रविगतं २ विड्वरं ३ सग्रहं ४ विलंबि ५ च राहुगतं ६ ग्रहभिन्नं ७ च वर्जयेत् सप्त नक्षत्राणि; "अत्थमणे संझागय रविगय जहियं ठिओ उ आइच्चो । विड्डेरसवदारिय सग्गह कूरग्गहहयं तु ॥ १ ॥ आइच्चपिट्ठओ जं

अयोग्य-योग्यक्षेत्र-तिथिनक्षत्राणि गा. ११०-१३

को वा कस्स न सयणो ? किं वा केणं न पाविआ भोगा ? । संतेसुवि पडिबंधो दुट्ठोत्ति तओ चएअव्वो ॥१०७॥

को वा कस्य न स्वजनः किं वा केन न प्राप्ता भोगाः अनादौ संसार इति, तथा सत्स्वपि स्वजनादिषु प्रतिबन्धो दुष्ट इत्यसौ त्यक्तव्यः, असत्स्वपि तत्सम्भवात् इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ उभययुक्तानां तु गुणमाह—

धण्णा य उभयजुत्ता धम्मपवित्तीइ हुंति अन्नेसिं । जं कारणमिह पायं केसिंचि कयं पसंगेणं ॥ १०८ ॥
केसिंति दारं गयं ॥

धन्याश्चोभययुक्ता—बाह्यत्यागाविवेकत्यागद्वयसम्पन्नाः, किमित्यत आह—धर्म्मप्रवृत्तेर्भवन्ति अन्येषां प्राणिनां 'यद्' यस्मात् कारणमिह प्रायेण केषाञ्चिदन्येषामिति कृतं प्रसङ्गेन इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ केभ्य इति व्याख्यातम्, इदानीं कस्मिन्निति व्याख्यायते, कस्मिन् क्षेत्रादौ प्रव्रज्या दातव्येत्येतदाह—

ओसरणे जिणभवणे उच्छुवणे खीररुक्खवणसंडे । गंभीरसाणुणाए एमाइपसत्थखित्तम्मि ॥१०९॥

'समवसरणे' भगवदध्यासिते क्षेत्रे वृत्ते, तदभावे वा 'जिनभवने' अर्हदायतने 'इक्षुवने' प्रतीते 'क्षीरवृक्षवनखण्डे' अश्वत्थादिवृक्षसमूहे 'गम्भीरसानुनादे' महाभोगप्रतिशब्दवति एवमादौ प्रशस्ते क्षेत्रे, आदिशब्दात् प्रदक्षिणावर्त्तजलपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ ९ ॥

उभययुक्तस्य योग्यता प्रव्रज्याक्षेत्रं गा. १०७-९

'चैत्यकुलगणसङ्घेषु' चैत्यानि—अर्हत्प्रतिमाः, कुलं—चान्द्रादि परस्परसापेक्षानेककुलसमुदायो गणः वालिका (चेल्लक)-पर्यन्तः सङ्घः, तथा 'आचार्याणां' प्रसिद्धतत्त्वानां 'प्रवचनश्रुतयोश्च' प्रवचनम्—अर्थः श्रुतं तु सूत्रमेव, एतेषु सर्वेष्वपि 'तेन' साधुना कृतं यत्कर्त्तव्यं, केन ? इत्याह—'तपःसंयमयोरुद्यच्छता' तपसि संयमे चोद्यमं कुर्वतेति गाथार्थः ॥ ३ ॥

एत्थ यऽविवेगचागा पवत्तई जेण ता तओ पवरो । तस्सेव फलं एसो जो सम्मं बज्झचाउत्ति ॥१०४॥

'अत्र च' तपआदौ अविवेकत्यागात् प्रवर्त्तते येन कारणेन तस्मादसौ—अविवेकत्यागः प्रवरः, 'तस्यैव' अविवेकत्यागस्य फलमेष यः सम्यग्बाह्यत्याग इति गाथार्थः ॥ ४ ॥ यतश्चैवम्—

ता थेवमिअं कज्जं सयणाइजुओ नवत्ति सइ तम्मि । एत्तो चेव य दोसा ण हुंति सेसा धुवं तस्स ॥१०५॥

'तत्' तस्मात् स्तोकमिदं कार्यं स्वजनादियुक्तो नवेति सति 'तस्मिन्' अविवेकत्यागे, 'अत एव च' अविवेकत्यागाद् दोषा न भवन्ति शेषा ध्रुवं तस्य अगम्भीरगदादयः इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ यद्येवं तर्हि सूत्र उक्तम्—"जे य कन्ते पिए" इत्यादौ यत् "से हु चाइत्ति वुच्चति" त्ति तत्कथं नीयते ?, इति चेतसि निधायाह—

सुत्तं पुण ववहारे साहीणे वा(णत्ता) तवाइभावेणं । हू अविसद्दत्थम्मी अन्नोऽवि तओ हवइ चाई ॥१०६॥

सूत्रं पुनः "सेहु चाइत्ती" त्यादि व्यवहारनयविषयं, व्यवहारतस्तावदेवं स्वाधीनत्वात्, 'तपआदिभावेन' तपसा—अनिदानेन आदिशब्दात् कोटित्रयोपमपरित्यागेन च, हुः सूत्रोक्तः अपिशब्दार्थे, सोऽप्यन्योऽपि ततो भवति त्यागीति गाथार्थः ॥६॥

सेहुत्तिसूत्रस्य व्यवहारपरता गा.१०४-६

'प्रकृत्या' स्वभावेन 'सावद्यं' सपापं 'सद्' भवत् 'यत्' यस्मात् 'सर्वथा' सर्वैः प्रकारैः 'विरुद्धमेव' दुष्टमेव 'ध्वनि, भेदेऽपि' शब्दभेदेऽपि सति, किंवदित्याह—मधुरकशीतलिकादिवल्लोक इति, नहि विषं मधुरकमित्युक्तं न व्यापादयति- स्फोटिका वा शीतलिकेत्युक्ता न दुनोतीति गाथार्थः ॥ १०० ॥ अत्राह—

ता कीस अणुमओ सो उवएसाइंमि कूवनाएणं। गिहिजोगो उ जइस्स उ साविक्खस्सा परट्ठाए ॥१०१॥

यद्येवं तत्किमित्यनुमतोऽसौ—आरम्भः, क्वेत्याह—'उपदेशादा'विति उपदेशे श्रावकाणाम्, आदिशब्दात् क्वचिदात्मनाऽपि लूताद्यपनयनमायतन इति ?, अत्रोत्तरमाह—'कूपज्ञातेन' प्रवचनप्रसिद्धकूपोदाहरणेन 'गृहियोग्यस्तु' श्रावकयोग्यस्तु, श्रावकयोग्य एवेति मध्यस्थस्य शास्त्रार्थकथने नानुमतिः 'यतेस्तु' प्रव्रजितस्य 'सापेक्षस्य' गच्छवासिनः 'परार्थं' सत्त्वार्हगुणमाश्रित्य, निरीहस्य यतनया विहितानुष्ठानत्वात् नानुमतिरिति गाथार्थः ॥ १०१ ॥ तथा चाह—

अण्णाभावे जयणाएँ मग्गणासो हविज्ज मा तेणं। पुव्वकयाययणाइसु ईसिं गुणसंभवे इहरा ॥१०२॥

'अन्याभावे' श्रावकाद्यभावे 'यतनया' आगमोक्तया क्रियया, 'मार्गनाशः' तीर्थनाशो मा भूदित्यर्थः, तेन कारणेन 'पूर्वकृतायतनादिषु' महति सन्निवेशे सच्चरितलोकाकुले अर्धपतितायतनादिषु ईषद्गुणसम्भवे च कस्यचित्प्रतिपत्त्यादिस्तोकगुणसम्भवे च सति एतदुक्तं, 'इतरथा' अन्यथा ॥ २ ॥

चेइअकुलगुणसंघे आयरिआणं च पवयणसुए अ। सव्वेसुवि तेण कयं तवसंजममुज्जमंतेण ॥१०३॥

दीसंति अ केइ इहं सइ तंमी चज्झचायजुत्ताऽवि । तुच्छपवित्ती अफलं दुहावि जीवं करेमाणा ॥९७॥

दृश्यन्ते च केचिदत्र—लोके सति तस्मिन्—अविवेके 'बाह्यत्यागयुक्ता अपि' स्वजनादित्यागसमन्विता अपि 'तुच्छप्रवृत्त्या' अविवेकात् तथाविधारम्भाद्यसारप्रवृत्त्या अफलं 'द्विधापि' इहलोकपरलोकापेक्षया जीवितं कुर्वन्तः सन्तः इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ तथा च—

चइऊण घरावासं आरंभपरिग्गहेसु वट्टंति । जं सन्नाभेएणं एअं अविवेगसामत्थं ॥ ९८ ॥

त्यक्त्वाऽपि गृहवासं प्रव्रज्याङ्गीकरणेनारम्भपरिग्रहयोः उक्तलक्षणयोः वर्त्तन्ते यत्—यस्मात् 'संज्ञाभेदेन' देवार्थोऽयमित्येवंशब्दभेदेन, 'एतद्' इत्थंभूतम् 'अविवेकसामर्थ्यम्' अज्ञानशक्तिः इति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ एतदेव दृष्टान्तद्वारेणाह—

मंसनिवित्तिं काउं सेवइ दंतिक्कयंति धणिभेआ । इअ चइऊणारंभं परववएसा कुणइ बालो ॥९९॥

मांसनिवृत्तिं कृत्वा कश्चिदविवेकात् सेवते दन्तिफकमिति ध्वनिभेदात्—शब्दभेदात् 'इय' एवं त्यक्त्वाऽऽरम्भम् "एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति" न्यायात् परिग्रहं च 'परव्यपदेशाद्' देवादिव्यपदेशेन करोति 'बालः' अज्ञः इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ किमित्येतदेवमित्यत आह—

पयईए सावज्जं संतं जं सव्वहा विरुद्धं तु । धणिभेओमिवि महुरगसीअलिगाइव्व लोगम्मि ॥१००॥

प्रदानेन, तथा भोगाभावात् कारणान्न त्यागिनश्च तेऽगम्भीराः, त्यागिनश्च प्रव्रज्योक्ता "से हु चाइत्ति वुच्चती"त्यादिवचनात् इति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ एष पूर्वपक्षः, अत्रोत्तरमाह—

एयंपि न जुत्तिखमं विण्णेअं मुद्धविम्हयकरं तु । अविवेगपरिच्चाया चाई जं निच्छयनयस्स ॥९४॥

एतदपि न युक्तिक्षमं विज्ञेयं—न युक्तिसमर्थं ज्ञातव्यं यदुक्तं पूर्वपक्षवादिना, 'मुग्धविस्मयकरं तु' मन्दमतिचेतोहारि त्वेतत्, कथमित्याह—'अविवेकपरित्यागाद्' भावतोऽज्ञानपरित्यागेन त्यागी यद्—यस्मात् निश्चयनयस्याभिप्रेत इति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ किमित्येतदेवमत आह—

संसारहेउभूओ पवत्तगो एस पावपक्खंमि । एअंमि अपरिचत्ते किं कीरइ बज्झचाएणं? ॥९५॥

'संसारहेतुभूतः' संसारकारणभूतः प्रवर्त्तक एषः—अविवेकः 'पापपक्षे' अकुशलव्यापारे, यतश्चैवमत 'एतस्मिन्' अविवेके अपरित्यक्ते किं क्रियते वाह्यत्यागेन—स्वजनादित्यागेन? इति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ किञ्च—

पालेइ साहुकिरिअं सो सम्मं तंमि चेव चत्तंमि । तब्भावंमि अ विहलो इअरस्स कओऽवि चाओत्ति ॥९६॥

पालयति 'साधुक्रियां' यतिसामाचारीं 'स' प्रव्रजितः 'सम्यग्' अविपरीतेन मार्गेण तस्मिन्नेव—अविवेके त्यक्त इति, 'तद्भावे च' अविवेकसत्तायां च सत्यां विफलः परलोकमङ्गीकृत्य 'इतरस्य' स्वजनादेः कुतोऽपि त्यागः, अविवेकात् इति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ एतदेव दर्शयति—

विशुद्धचित्तस्य' रागादिरहितस्य मरण इवेति च सिद्धः परस्य दृष्टान्तः, अन्यथा तत्रापि स्वजनशोकादिभ्यः पापप्रसङ्गः इति गाथार्थः ॥ ९० ॥

अण्णे भणंति धन्ना सयणाइजुआ उ होंति जोग्गत्ति । संतस्स परिच्चागा जम्हा ते चाइणो हुंति ॥९१॥

अन्ये वादिनो 'भणन्ति' अभिदधति—'धन्याः' पुण्यभाजः 'स्वजनादियुक्ता एव' स्वजनहिरण्यादिसमन्विता एव भवन्ति योग्याः प्रव्रज्याया इति गम्यते, उपपत्तिमाह—'सतो' विद्यमानस्य परित्यागात् स्वजनादेः, यस्मात् कारणात्ते—स्वजनादियुक्ताः त्यागिनो भवन्ति, त्यागिनां च प्रव्रज्येष्यते इति गाथार्थः ॥ ९१ ॥

स्वजनर-
हितस्यापि
दीक्षा गा.
९१–९३

जे पुण तप्परिहीणा जाया दिव्वाओं चेव भिक्खागा । तह तुच्छभावओ च्चिअ कहण्णु ते होंति गंभीरा ?९२

ये पुनस्तत्परिहीना जाता 'दैवादेव' कर्म्मपरिणामादेव 'भिक्षाकाः' भिक्षाभोजनाः, ततश्च 'तथा' तेन प्रकारेण 'तुच्छभावत्वादेव' असारचित्तत्वादेव कथं नु ते भवन्ति गम्भीराः?, नैव ते भवन्ति गम्भीराः—नैव ते भवन्त्युदारचित्ताः, अनुदारचित्ताश्चायोग्या इति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ किञ्च—

मज्जंति अ ते पायं अहिअयरं पाविऊण पज्जायं । लोगंमि अ उवघाओ भोगाभावा ण चाई या ॥९३॥

'माद्यन्ति च' मदं गच्छन्ति च 'ते' अगम्भीराः 'प्रायो' बाहुल्येन 'अधिकतरम्' इहलोक एव शोभनतरं 'प्राप्य पर्यायम्' आसाद्यावस्थाविशेषम्, अधिकश्चेहलोकेऽपि तथाविधगृहस्थपर्यायात् प्रव्रज्यापर्यायः, लोके चोपघातः क्षुद्रप्रव्रज्या-

एवंविहा उ अह ते सिट्ठत्ति न तत्थ होइ दोसो उ। इअ सिट्ठिवायपक्खे तच्चाए णणु कहं दोसो ? ॥८७॥

एवंविधा एव—तथामरणधर्म्माणः अथ ते—जलकाष्ठादिगताः प्राणिनः सृष्टा इति न तत्र—स्वजनभरणार्थं तज्जिघांसने भवति दोषस्तु, अत्रोत्तरमाह—'इति' एवं सृष्टिवादपक्षेऽङ्गीक्रियमाणे 'तत्त्यागे' स्वजनत्यागे ननु कथं दोषः?, नैव दोष इति, यतोऽसौ स्वजनस्तथाविध एव सृष्टः येन त्यज्यते इति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ यतश्चैतदित्थं न घटते—

तो पाणवहाईआ गुरुतरया पावहेउणो नेआ। सयणस्स पालणंमि अ नियमा एइत्ति भणियमिणं ॥८८॥

यस्मादेवं तस्मात्प्राणिवधाद्या गुरुतराः पापहेतवो ज्ञेयाः स्वजनत्यागात् सकाशात्, ततः किमिति चेत् उच्यते—स्वजनस्य पालने च नियमादेते—प्राणिवधाद्या इति भणितमिदं पूर्वं इति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ अत्राह—

एवंपि पावहेऊ अप्पयरो णवर तस्स चाउत्ति। सो कह ण होइ तस्सा धम्मत्थं उज्जयमइस्स ? ॥८९॥

एवमपि पापहेतुरेव अल्पतरो नवरं तस्य—स्वजनस्य त्याग इति 'स' पापहेतुः कथं न भवति 'तस्य' प्रविव्रजिषोः धर्म्मार्थमुद्यतमतेः?, भवत्येव इति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ अत्रोत्तरमाह—

अब्भुवगमेण भणिअं णउ विहिचाओऽवि तस्स हेउत्ति। सोगाइंमिवि तेसिं मरणे व विसुद्धचित्तस्स ॥९०॥

अभ्युपगमेन भणितं 'अन्यच्च तस्य त्याग' (८३) इत्यादौ, न तु विधित्यागोऽपि स्वजनस्येति गम्यते 'तस्य हेतुरिति, तस्येति—पापस्य न हेतुः, विधित्यागस्तु कथनादिना अन्यत्र निम्ममस्य, शोकादावपि तेषां—स्वजनानां, 'मरण इव

आह–यदि तावत् तस्य–स्वजनस्य त्यागो गुरुतर इत्यत्राह—'कोऽत्र विशेषहेतु'रिति, यतोऽयमेव इति गाथार्थः ॥ ८३ ॥

अह तस्सेव उ पीडा किं णो अण्णेसि पालणे तस्स ?। अह ते पराइ सोऽविहु सतत्तचिंताइ एमेव ॥८४॥

'अथ' इत्यथैवं मन्यसे 'तस्यैव तु' स्वजनस्य पीडा विशेषहेतुरिति, अत्रोत्तरमाह–किं नो अन्येषां सत्त्वानां पालने तस्य पीडा ?, पीडैवेति भावः। अथ ते परादय इति–अपरं आदिशब्दादेकेन्द्रियादयश्च, अत्रोत्तरम्–'असावपि' स्वजनः 'स्वतत्त्वचिन्तायां' परमार्थचिन्तायां एवमेव–परादिरेव, अनित्यत्वात् संयोगस्य इति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ पक्षान्तरमाह—

सिअ तेण कयं कम्मं एसो नो पालगोत्ति किं ण भवे ? ता नूणमण्णपालगजोग्गं चिअ तं कयं तेण ॥ ८५ ॥

'स्यात्' इत्यथैवं मन्यसे 'तेन' स्वजनेन कृतं कर्म–अदृष्टं, किंफलमित्याह—'एष' प्रविव्रजिषुः 'नः' अस्माकं पालक इत्येवंफलम्, अत्रोत्तरं–किं न भवति?, कर्मणः स्वफलदानात्, न च भवति, तन्नूनम्–अवश्यम् अन्यः पालक इत्येतदुचितमेव 'तत्'कर्म कृतं 'तेन' स्वजनेन इति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ किञ्च—

बहुपीडाए अ कहं थेवसुहं पंडिआणमिट्टंति ?। जलकट्ठाइगयाण य बहूण घाओ तदच्चाए ॥ ८६ ॥

'बहुपीडायां च' अनेकजलाद्युपमर्दने च कथं 'स्तोकसुखं' स्तोकानां स्वजनानां स्तोकं वा स्वल्पकालभावेन सुखं स्तोकसुखं पण्डितानामिष्टमिति?, बहुपीडामाह–जलकाष्ठादिगतानां च प्राणिनामिति गम्यते बहूनां घातः तदत्यागे– स्वजनात्यागे, आरम्भमन्तरेण तत्परिपालनाऽभावात् इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥

स्वजनयुक्तस्यापि दीक्षा गा. ८४-८६

शोकमाक्रन्दनं विलपनं च, चशब्दादन्यच्च ताडनादि, यद्दुःखितः 'तक' इत्यसौ स्वजनः करोति सेवते यच्चाकार्यं शीलखण्डनादि तेन विना, तेनेति–पालकेन प्रव्रज्याभिमुखेन, तस्यासौ दोष इति यः स्वजनं विहाय प्रव्रज्यां प्रतिपद्यते इति गाथार्थः ॥ ८० ॥ एष पूर्वपक्षः, अत्रोत्तरमाह—

इअ पाणवहाईआ ण पावहेउत्ति अह मयं तेऽवि।णणु तस्स पालणे तह ण होंति ते ? चिंतणीअमिणं ॥८१॥

'इति' एवं स्वजनत्यागाद् दोषे सति प्राणवधाद्या न पापहेतव इति, आदिशब्दात् मृषावादादिपरिग्रहः, स्वजनत्यागादेव पापभावादित्यभिप्रायः । अथ मतं–तेऽपि–प्राणवधादयः पापहेतव एव, एतदाशङ्क्याह—ननु तस्य–स्वजनस्य पालने 'तथा' इत्यारम्भयोगेन न भवन्ति ते प्राणवधादयः ?, 'चिन्तनीयमिदं' चिन्त्यमेतद्, भवन्त्येव इति गाथार्थः ॥ ८१ ॥ एतदेव प्रकटयन्नाह—

आरंभमंतरेणं ण पालणं तस्स संभवइ जेणं । तंमि अ पाणवहाई नियमेण हवंति पयडमिणं ॥८२॥

आरम्भमन्तरेण न पालनं तस्य–स्वजनस्य सम्भवति, येन तस्मिंश्च–आरम्भे प्राणवधाद्या नियमेन भवन्ति, प्रकटमिदं लोकेऽपि इति गाथार्थः ॥ ८२ ॥

अण्णं च तस्स चाओ पाणवहाई व गुरुतरा होज्जा ? । जइ ताव तस्स चाओ को एत्थ विसेसहेउत्ति ? ॥८३॥

अन्यच्च–'तस्य' स्वजनस्य त्यागः प्राणवधादयो वा पापचिन्तायां गुरुतरा भवेयुरिति विकल्पौ किं चात इति ।

'ते एव' हलादयः 'तेभ्यो' गृहस्थेभ्यः अधिकाः क्रियया प्रधानाः, करणेनैव, यतस्तेभ्यो धान्यादिलाभतस्ते उपजीव्यन्ते गृहस्थैः, अतो 'मुनितेन' ज्ञातेन किम(किं त)त्र ?, क्रियाया एव प्राधान्ये सति, ज्ञानादिविरहिताः अथ ते—हलादय इति मन्यसे, एतदाशङ्क्याह—'इति' एवं एतेषां ज्ञानादीनां भवति प्राधान्यं, नोपजीव्यत्वस्य इति गाथार्थः ॥ ७७ ॥ ततः किमिति चेत् उच्यते—

ताणि य जईण तम्हा हुंति विसुद्धाणि तेण तेसिं तु । तं जुत्तं आरंभो अ होइ जं पावहेउत्ति ॥ ७८ ॥

'तानि च' ज्ञानादीनि 'यतीनां' प्रव्रजितानां यस्माद् भवन्ति 'विशुद्धानि' निर्मलानि तेन हेतुना 'तेषामेव' यतीनां 'तत्' प्राधान्यं युक्तं, आरम्भश्च भवति 'यद्' यस्मात् पापहेतुः इति—अतोऽपि तन्निवृत्तत्वात्तेषामेव प्राधान्यं युक्तम् इति गाथार्थः ॥ ७८ ॥

अण्णे सयणविरहिआ इमीएँ जोग्गत्ति एत्थ मण्णंति । सो पालणीयगो किल तच्चाए होइ पावं तु ॥ ७९ ॥

अन्ये वादिनः 'स्वजनविरहिताः' भ्रात्रादिवन्धुवर्जिताः 'अस्याः' प्रव्रज्याया योग्या इति—एवं 'अत्र' लोके मन्यन्ते, कया युक्त्येति तां युक्तिं उपन्यस्यति—'स' स्वजनः 'पालनीयो' रक्षणीयः, किल तत्त्यागे—स्वजनत्यागे भवति पापमेव इति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

सोगं अक्कंदण विलवणं च जं दुक्खिओ तओ कुणइ । सेवइ जं च अकज्जं तेण विणा तस्स सो दोसो ॥८०॥

अण्णे गिहासमं चिय बिंति पहाणंति मंदबुद्धीया । जं उवजीवंति तयं नियमा सवेऽवि आसमिणो ॥७४॥

अन्ये वादिनो 'गृहाश्रममेव' गृहस्थत्वमेव ब्रुवते प्रधानमिति—अभिदधति श्लाघ्यतरमिति मन्दबुद्धयः—अल्पमतय इति, उपपत्तिं चाभिदधति—'यद्' यस्मात् उपजीवन्ति तकं—गृहस्थं अन्नलाभादिना 'नियमात्' नियमेन सर्वेऽप्याश्रमिणो—लिङ्गिनः इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ अत्रोत्तरमाह—

उपजीवणाकयं जइ पाहण्णं तो तओ पहाणयरा । हलकरिसगपुढवाई जं उवजीवंति ते तेऽवि ॥ ७५ ॥

'उपजीवनाकृतं यदि प्राधान्यं' उपजीव्यं प्रधानमुपजीवकस्त्वप्रधानमित्याश्रीयते 'तो' इति ततः—तस्मात् 'तत' इति गृहाश्रमात् 'प्रधानतराः' श्लाघ्यतराः हलकर्षकपृथिव्यादयः पदार्था इति, आदिशब्दाज्जलपरिग्रहः, किमित्यत्राह—'यद्' यस्मात् उपजीवंति तेभ्यो धान्यलाभेन 'तान्' हलादीन् 'तेऽपि' गृहस्था अपि इति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

सिअ णो ते उवगारं करेमु एतेसिं धम्मनिरयाणं । एवं मन्नंति तओ कह पाहण्णं हवइ तेसिं ? ॥ ७६ ॥

'स्यात्' इत्याशङ्कायाम्, अथैवं मन्यसे—नो ते हलादय एवं मन्यन्त इति योगः, मन्यन्ते—जानन्ति, कथं न मन्यन्त ? इत्याह—उपकारं कुर्म्मो धान्यप्रदानेन एतेषां धर्म्मनिरतानां गृहस्थानामिति, यतश्चैवं ततः कथं प्राधान्यं भवति तेषां—हलादीनामिति ?, नैव प्राधान्यं, तथा मननाभावात् इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ अत्रोत्तरमाह—

ते चेव तेहिँ अहिआ किरियाए मंनिएण किं तत्थ ? । णाणाइविरहिआ अह इअ तेसिं होइ पाहण्णं ॥७७॥

मोक्खोऽवि तप्फलं चिअ नेओ परमत्थओ तयत्थंपि। धम्मो च्चिअ कायव्वो जिणभणिओ अप्पमत्तेणं॥७०॥

मोक्षश्च तत्फलमेव—धर्म्मफलमेव ज्ञेयः परमार्थतः, यतश्चैवमतः तदर्थमपि—मोक्षार्थमपि धर्म्म एव कर्त्तव्यः, जिनभणितः चारित्रधर्म्मः, अप्रमत्तेन इति गाथार्थः ॥ ७० ॥ अन्यदप्युच्चार्य तिरस्कुर्वन्नाह—

तहऽभुत्तभोगदोसा इच्चाइ जमुत्तमुत्तिमित्तमिदं। इयरेसिं दुट्ठयरा सइमाईया जओ दोसा ॥ ७१ ॥

तथा अभुक्तभोगदोषा इत्यादि यदुक्तं पूर्वपक्षवादिना उक्तिमात्रमिदं—वचनमात्रमिदमित्यर्थः, किमित्यत आह—इतरेषां तु—भुक्तभोगानां दुष्टतराः स्मृत्यादयो यतो दोषाः इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ स्वपक्षोपचयमाह—

इयरेसिं बालभावप्पभिइं जिणवयणभाविअमईणं। अणभिण्णाण य पायं विसएसु न हुंति ते दोसा॥७२॥

इतरेषां—अभुक्तभोगानां बालभावप्रभृति—बाल्यादारभ्य जिनवचनभावितमतीनां सतां वैराग्यसम्भवात् अनभिज्ञानां च विषयसुखस्य प्रायो न भवन्ति ते दोषाः—कौतुकादयः इति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ उपसंहरन्नाह—

तम्हा उ सिद्धमेअं जहण्णओ भणियवयजुआ जोग्गा। उक्कोस अणवगल्लो भयणा संथारसामण्णे॥७३

यस्मादेवं तस्मात्सिद्धमेतत्—जघन्यतो भणितवयोयुक्ताः—अष्टवर्षा योग्या प्रव्रज्यायाः, उत्कृष्टतोऽनवकल्पो योग्यः, अवकल्पमधिकृत्याह—भजना संस्तारकश्रामण्ये—कदाचिद्भावितमतिरवकल्पोऽपि संस्तारकः श्रमणः क्रियते इति गाथार्थः ॥७३॥

अभुक्तभोगानां दीक्षा गा.७०-७३

अब्भासजणिअपसरा पायं कामा य तब्भवब्भासो। असुहपवित्तिणिमित्तो तेसिं नो सुंदरतरा ते ॥६६॥

अभ्यासजनितप्रसराः—आसेवनोद्भूतवेगाः प्रायः कामाश्च—बाहुल्येन कामा एवंविधा वर्त्तन्ते, तद्भवाभ्यासः अशुभप्रवृत्तिनिमित्तस्तेषां न विद्यते, अन्यभवाभ्यासस्तु मनाग् विप्रकृष्ट इति, सुन्दरतरास्ते—शोभनतरास्ते अज्ञातविषयसङ्गाः । इति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ परोपन्यस्तमुपपत्त्यन्तरमुच्चार्य परिहरन्नाह—

धम्मत्थकाममोक्खा जमुत्तमिच्चाइ तुच्छमेअं तु । संसारकारणं जं पयईए अत्थकामाओ ॥ ६७ ॥

धर्मार्थकाममोक्षा यदुक्तमित्यादि पूर्वपक्षवादिना तुच्छमेतदपि, असारमित्यर्थः, कुत इत्याह—संसारकारणं यत्—यस्मात्प्रकृत्या—स्वभावेन अर्थकामौ, ताभ्यां बन्धात्, इति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ ततः किमिति चेदुच्यते—

असुहो अ महापावो संसारो तप्परिक्खयणिमित्तं । बुद्धिमया पुरिसेणं सुद्धो धम्मो अ कायव्वो ॥६८॥

अशुभश्च महापापः संसारस्तत्परिक्षयनिमित्तं—संसारपरिक्षयनिमित्तं बुद्धिमता पुरुषेण शुद्धो धर्म्मस्तु कर्त्तव्यः, शुद्ध एव चारित्रधर्म्मः स्वप्रक्रियया, अप्रवृत्तिरूपस्तु तन्त्रान्तरानुसारेण, इति गाथार्थः ॥ ६८ ॥

अन्नं च जीविअं जं विज्जुलयाडोवचंचलमसारं । पिअजणसंबंधोऽवि अ सया तओ धम्ममाराहे ॥ ६९ ॥

अन्यच्च जीवितं यत्—यस्माद् विद्युल्लताटोपचञ्चलं स्थितितः असारं स्वरूपतः, प्रियजनसम्बन्धोऽपि च एवम्भूत एव, यतश्चैवं सदा ततो धर्म्ममाराधयेत्—धर्म्मं कुर्यात् इति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ किञ्च—

योगः' तुर्विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि ?—स्वप्रक्रियामाश्रित्यैवं, तन्त्रान्तरं त्वाश्रित्य भवाभिनन्दिनी अविद्या परिगृह्यते, सम्भावनीयदोषाः तावत् चरमदेहा अपि—पश्चिमशरीरा अपि, तिष्ठन्तु तावदन्य इति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ यतश्चैवम्—

तम्हा न दिक्खिअव्वा केइ अणिअट्टिबायरादारा। ते न य दिक्खाविअला पायं जं विसममेअंति ॥ ६४ ॥

यस्मादेवं तस्माच्च दीक्षितव्या—न प्रव्राजनीयाः केचिद् अनिवृत्तिबादरेभ्य आरात्—क्षपकश्रेणिप्रक्रमे यावदनिवृत्तिबादरा न संजातास्तावच्च दीक्षितव्या इति स्वप्रक्रियानुसारेण, तन्त्रान्तरपरिभाषया त्वानन्दशक्त्यनुबोधेनावाप्ताणिमादिभावेभ्य आरादिति, ते च—अनिवृत्तिबादराः अवाप्ताणिमादिभावा वा न दीक्षाविकलाः—न प्रव्रज्याशून्याः प्रायः तत्रान्यत्र वा जन्मनि द्रव्यदीक्षामप्याश्रित्य, मरुदेवीकल्पाश्चर्यभावव्यवच्छेदार्थं प्रायोग्रहणम्, एतच्च तन्त्रान्तरेऽपि स्वपरिभाषया गीयत एव 'अत्यन्तमनवाप्तकल्याणोऽपि कल्याणं प्राप्त' इति वचनात्, यद्—यस्मादेवं विषममेतत् ततः—तस्माद् विषमं-सङ्कटमेतत्, किमुक्तं भवति ?—दीक्षाव्यतिरेकेण विशिष्टगुणा न भवन्ति तद्व्यतिरेकेण च न दीक्षेतीतरेतराश्रयविरोधः इति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ अन्यदुद्धार्य समतां दर्शयन्नाह—

विण्णायविसयसंगा जमुत्तमिच्छाइ तंपि णणु तुल्लं। अण्णायविसयसंगावि तग्गुणा केइ जं हुंति ॥ ६५ ॥

विज्ञातविषयसङ्गा यदुक्तमित्यादि पूर्वपक्षवादिना तदपि ननु तुल्यं मत्पक्षेऽपि, कथमित्याह—अज्ञातविषयसङ्गा अपि तद्गुणाः—विज्ञातविषयसङ्गगुणाः केचन प्राणिनो यद्—यस्माद् भवन्ति इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ स्वपक्षोपचयमाह—

‘यौवनमविवेक एव विज्ञेयः, भावतस्तु’ परमार्थत एव ‘तदभाव’ अविवेकाभावो ‘यौवनविगमः,’ स पुनः अविवेका भावो ‘जिनैर्न कदाचित् प्रतिषिद्धः’ सदैव सम्भवात् इति गाथार्थः ॥ ६० ॥ अत्राह–

जइ एवं तो कम्हा वयम्मि निअमो कओ उ नणु भणियं ।
तदहो परिहवखित्ताइ कारणं बहुविहं पुव्वं ॥ ६१ ॥

‘यद्येवं ’यौवनं व्यभिचारि,‘ततः कस्माद्वयसि नियमः कृत एव’? अष्टौ समा इत्येवंभूतः; अत्रोत्तरमाह–‘ननु भणितम्’ अत्र ‘तदधः परिभवक्षेत्रादिकारणं बहुविधम्’ अनेकप्रकारं ‘पूर्वम्’ इति गाथार्थः ॥६१॥ पूर्वपक्षमुल्लिङ्ग्य व्यभिचारयन्नाह–

संभावणिज्जदोसा वयम्मि खुड्डुत्ति जं पि तं भणिअं ।
तंपि न अणहं जम्हा सुभुत्तभोगाण वि समं तं ॥ ६२ ॥

‘सम्भावनीयदोषा वयसि क्षुल्लका इति यद् भणितं’ पूर्वं ‘तदपि तद्भणितमपि’ नानघं “न शोभनं, कुत ? इत्याह–‘यस्मात् सुभुक्तभोगानामपि’ अतीतवयसां ऋषिशृङ्गपितृप्रभृतीनां ‘समं’ तुल्यं ‘तत्’ सम्भावनीयदोषत्वमिति गाथार्थः ॥६२॥ किञ्च–

कम्माण रायभूअं वेअंतं जाव मोहणिज्जं तु । संभावणिज्जदोसा चिट्ठइ ता चरमदेहा वि ॥ ६३ ॥

‘कर्म्मणां राजभूतं’ अशुभतया प्रधानमित्यर्थः, ओघत एव मिथ्यात्वादेरारभ्य ‘वेदान्तं यावन्मोहनीयं तु तिष्ठति

'भण्यते'ऽत्र प्रतिवचनं-'क्षुल्लकभावो'-बालभावः, 'कर्म्मक्षयोपशमभावप्रभवेन' कर्म्मक्षयोपशमभावात् प्रभव-उत्पादो यस्य तेनेत्थम्भूतेन 'चरणेन' सहार्थे तृतीयेति सह 'किं विरुध्यते १ येनायोग्याः' क्षुल्लका 'इत्यसद्ग्राहः,' न विरुद्ध्यते। इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह-

तक्कम्मखओवसमो चित्तनिबंधणसमुब्भवो भणिओ। न उ वयनिबंधणोच्चिय तह्मा एआणमविरोहो ५८

'तत्कर्म्मक्षयोपशमः' चारित्रमोहनीयकर्म्मक्षयोपशमः 'चित्रनिबन्धनसमुद्भवो' नानाप्रकारकारणादुत्पादो यस्य स तथा-विधो 'भणितः,' उक्तोऽर्हदादिभिः 'नतु वयोनिबन्धन एव' न विशिष्टशरीरावस्थाकारण एष, यस्मादेवं 'तस्मादेतयोः वयश्चरणपरिणामयोः 'अविरोधो'ऽबाधा इति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यमिति दर्शयति-

गयजोव्वणा वि पुरिसा बालुव्व समायरंति कम्माणि। दोग्गइ निबंधणाइं जोव्वणवंता वि णय केइ ॥ ५९ ॥

'गतयौवना' अतिक्रान्तवयसोऽपि 'पुरुषाः बाला इव' यौवनोन्मत्ता इव 'समाचरन्ति'-आसेवन्ते कर्म्माणि क्रियारूपाणि, किंविशिष्टानि? इत्याह-'दुर्गतिनिबन्धनानि'-कुगतिकारणानि 'यौवनवन्तोऽपि'-यौवनसमन्विता अपि 'न च केचन' समाचरन्ति, तथाविधानि कर्म्माणि ततो व्यभिचारियौवनम् इति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ ततश्च-

जोव्वणमविवेगो च्चिअ विन्नेओ भावओ उ तयभावो।
जोव्वणविगमो सो उण जिणेहिं न कया वि पडिसिद्धो ॥ ६० ॥

कारणात् 'अनुपालयन्ति' 'प्रव्रज्याम्' इति योगः, कस्माद्धेतोरित्यत्राह–'कौतुकनिवृत्तभावा' इति कृत्वा' 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायो दर्शनम्' इति वचनात् विषयालम्बनकौतुकनिवृत्तभावत्वादित्यर्थः, गुणान्तरमाह–'अशङ्कनीयाश्च' इति अतिक्रान्तवयसः सर्वप्रयोजनेष्वेवाशङ्कनीयाश्च भवन्ति इति गाथार्थः ॥ ५४ ॥ किञ्च–

धम्मत्थकाममोक्खा पुरिसत्था जं चयारिलोगम्मि। एए अ सेविअवा निअ २ कालम्मि सवे वि ॥५५॥

'धर्म्मार्थकाममोक्षाः पुरुषार्थाः यद्' यस्मात् 'चत्वारो लोके' तत्राहिंसादिलक्षणो धर्म्मः, हिरण्यादिरर्थः, इच्छामदनलक्षणः कामः, अनाबाधो मोक्षः, 'एते' चत्वारः पुरुषार्थाः 'सेवितव्याः'। 'निजनिजकाले' आत्मीयात्मीयकाले 'सर्वेऽपि,' अन्यथा अक्षीणकामनिबन्धनकर्म्मणस्तत्परित्यागे दोषोपपत्तेः इति गाथार्थः ॥ ५५ ॥ गुणान्तरमाह–

तहऽभुत्तभोगदोसा कोउगकामग्गहपत्थणाईआ। एएवि होंति विजढा जोग्गाहिगयाण तो दिक्खा ५६

'तथा अभुक्तभोगदोषा' इति न भुक्ता भोगा यैस्ते अभुक्तभोगास्तद्दोषाः 'कौतुककामग्रहप्रार्थनादयः', तत्र कौतुकं–सुरतविषयमौत्सुक्यं, कामग्रहः–तदनासेवनोद्रेकाद्विभ्रमः, प्रार्थना–योषिदभ्यर्थना आदिशब्दाद्बलाग्रहणादिपरिग्रहः, 'एतेऽपि भवन्ति विजढाः' परित्यक्ता अतिक्रान्तवयोभिः प्रव्रज्यां प्रतिपद्यमानैरिति 'योग्याधिकृतानाम्' अतिक्रान्तवयसामेव 'तत्' तस्मात्–'दीक्षा' प्रव्रज्या इतरे त्वयोग्या एवोक्तदोषोपपत्तेः इति गाथार्थः ॥५६॥ एषः पूर्वपक्षः, अत्रोत्तरमाह–

भणइ खुड्डगभावो कम्मखओवसमभावपभवेणं। चरणेण किं विरुज्झइ ? जेणमजोग्गत्ति सग्गाहो ५७

जयं" इत्यादि श्रवणान्नैव चरणपरिणाममन्तरेण भावतः पद्सु यतो भवतीति । अत्रोत्तरमाह–'आहत्यभावकथकं' कादाचित्कभावसूचकं 'सूत्रं पुनः' पाण्मासिकम् इत्यादि 'भवति ज्ञातव्यम्' तच्च प्रायोग्रहणेन व्युदस्तमेव, न सूत्रविरोधः । इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ पराभिप्रायमाह–

केइ भणंति बाला किल एए वयजुआ वि जे भणिया। खुड्डगभावाउ च्चिय न हुंति चरणस्स जुग्गुत्ति ५२

'केचन भणंति' तन्त्रान्तरीयास्त्रैवेद्यवृद्धादयो 'बालाः किल एते' के इत्याह 'वयोयुक्ता अपि ये भणिता' अष्टवर्षा अपि ये उक्ताः, यतश्चैवमतः 'क्षुल्लकभावादेव' बालत्वादेव किमित्याह–न सम्भवन्ति 'चरणस्य योग्या' इति न चारित्रोचिताः । इति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

अन्ने उ भुत्तभोगाणमेव पव्वज्जमणहमिच्छंति । संभावणिज्जदोसा वयम्मि जं खुड्डगा होंति ॥ ५३ ॥

'अन्ये तु' त्रैवेद्यवृद्धाः 'भुक्तभोगानामेव' अतीतयौवनानां 'प्रव्रज्यामनवद्यां' अपापां इच्छन्ति प्रतिपद्यन्ते, किमित्यत्राह–'सम्भावनीयदोषाः' सम्भाव्यमानविपयासेवनापराधा 'वयसि' यौवने 'यद्' यस्मात् 'क्षुल्लका भवन्ति', सम्भवी च दोषः परिहर्त्तव्यो यतिभिः । इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

विण्णायविसयसंगा सुहं च किल ते तओणुपालंति । कोउअनिअत्तभावा पव्वज्जमसंकणिज्जाय ॥५४॥

'विज्ञातविषयसङ्गाः–' अनुभूतविपयसङ्गाः सन्तः 'सुखं च किल ते' अतीतवयसः, 'ततो' विज्ञातविपयसङ्गत्वात्

कर्म्मरोगनाशनाय 'तस्यापि' धर्म्मवैद्यस्य 'उपमा' इयमेव, आत्मानं तांश्च क्लेशे पातयति। इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ चोदक आह–जिनक्रियाया असाध्या नाम न सन्ति; सत्यमित्याह–

जिणकिरिआए असज्झा ण इत्थ लोगम्मि केइ विज्जंति। जे तप्पओगजोगा ,तेसज्झा एस परमत्थो ४९

जिनानां सम्बन्धिनी क्रिया तत्प्रणेतृत्वेन 'जिनक्रिया' तस्या 'असाध्या' अचिकित्स्याः 'नात्र लोके' प्राणिलोके 'केचन' प्राणिनो 'विद्यन्ते' । किन्तु 'ये तत्प्रयोगायोग्या' जिनक्रियायामनुचिताः 'तेऽसाध्याः', कर्म्मव्याधिमाश्रित्य 'एष परमार्थः', इदमत्र हृदयम्। इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

एएसि वयपमाणं अट्ठसमाउत्ति वीअरागेहिं। भणियं जहन्नयं खलु उक्कोसं अणवगल्लोत्ति ॥ ५० ॥

'एतेषां' प्रव्रज्यायोग्यानां 'वयःप्रमाणं' शरीरावस्थाप्रमाणम् 'अष्टौ समा इति' अष्टवर्षाणि 'वीतरागैः' जिनैः 'भणितं' प्रतिपादितं, 'जघन्यकं खलु' सर्वस्तोकमेतदेव द्रव्यलिङ्गप्रतिपत्तेरिति, 'उत्कृष्टं' वयःप्रमाणं 'अनवगल्ल इति' अनत्यन्तवृद्धः। इति गाथार्थः ॥ ५० ॥ अधः को दोष? इति चेत्; उच्यते–

तदहो परिभवखित्तं ण चरणभावो वि पायमेएसिं। आहच्चभावकहगं सुत्तं पुण होइ नायव्वं ॥ ५१ ॥

'तदधः परिभवक्षेत्रम्' इत्यष्टभ्यो वर्षेभ्य आरादसौ परिभवभाजनं भवति 'न चरणपरिणामो(भावो)ऽपि' न चारित्रपरिणामोऽपि 'प्रायो' बाहुल्येन 'एतेषां' तदधोवर्तिनां बालानामिति; आह–एवंसति सूत्रविरोधः, "छम्मासियं छसु

'अविनीत' इति सद्यधन्यः प्रव्रजितः प्रकृत्यैवाविनीतो भवति, 'न च शिक्षति शिक्षां' ग्रहणासेवनारूपां, 'प्रतिषिद्धसेवनं करोति' अविहितानुष्ठाने च प्रवर्त्तते प्रतीतशिक्षणेन 'तस्य इत्थंभूतस्य 'सदा सर्वकालम् आत्मा भवति, परित्यक्तः' अविपयप्रवृत्तेः । इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

तस्स वि य अट्टज्झाणं सद्धाभावम्मि उभयलोगेहिं । जीविअमहलं किरियाणाएणं तस्स चाओत्ति ४६

'तस्यापिच' अधन्यस्याशिक्षायां प्रवर्त्तमानस्य 'आर्त्तध्यानम्' इत्यार्त्तध्यानं भवति । किमित्यत आह 'श्रद्धाभावे' सति श्राद्धस्य हि तथाप्रवर्त्तमानस्य सुखं, नेतरस्य, ततश्च 'उभयलोकयोः' इह लोके परलोके च 'जीवितमफलं' तस्य इह लोके तावद्भिक्षाटनादियोगात्, परलोके च कर्म्मबन्धात्, 'क्रियाज्ञातेन' इति वैद्यक्रियोदाहरणेन 'तस्य त्याग इति' अनेन प्रकारेण परपरित्यागः । इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ क्रियाज्ञातमाह—

जह लोअम्मि वि विज्जो असज्झवाहीण कुणइ जो किरियं । सो अप्पाणं तह वाहिएअ पाडेइ केसम्मि ४७

'यथा लोकेऽपि वैद्य असाध्यव्याधीनाम्' आतुराणां 'करोति यः क्रियां, स आत्मानं तथा व्याधितांश्च पातयति क्लेशे', व्याध्यपगमाभावात् इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

तह चेव धम्मविज्जो एत्थ असज्झाण जो उ पव्वज्जं । भावकिरिअं पउंजइ तस्सवि उवमा इमा चेव ४८

'तथैव धर्म्मवैद्य' आचार्यः 'अत्र' अधिकारे 'असाध्यानां' कर्म्मव्याधिमाश्रित्य 'यस्तु प्रव्रज्यां भावक्रियां प्रयुङ्क्ते',

‘गुरुकर्म्मणां’ प्रचुरकर्म्मणां ‘यस्मात् क्लिष्टचित्तानां’ मलिनचित्तानां ‘तस्य’ जिनवचनस्य ‘भावार्थो’ऽविपरीतार्थो ‘न परिणमति’ न प्रतिभासते ‘सम्यग्’ अविपरीतः, दृष्टान्तमाह–‘कुङ्कुमराग इव मलिने’ वाससीति गम्यते, न चापरिणतोऽसावप्रमादप्रसाधकः । इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ किञ्च—

विट्ठाण सूअरो जह उवएसेण वि न तीरए धरिउं । संसारसूअरो इअ अविरत्तमणो अकज्जम्मि॥४३॥

‘विष्ठायां’ पुरीषलक्षणायां ‘शूकरः’ पशुविशेषः ‘यथा उपदेशेनापि’ निवारणालक्षणेन, अपिशब्दात् प्रायः क्रियया‌पि ‘न शक्यते धर्तुं’, किन्तु बलात्प्रवर्त्तते, एवं ‘संसारशूकरः’ प्राणी इति एवम् ‘अविरक्तमनाः’ संसार एवेति गम्यते ‘अकार्य’ इत्यनासेवनीये न शक्यते धर्तुम् । इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

ता धन्नाणं गीओ उवाहिसुद्धाण देइ पवज्जं । आयपरपरिच्चाओ विवज्जए मा हविज्जत्ति ॥ ४४ ॥

यस्मादेवं ‘तस्माद्धन्येभ्यः’ पुण्यभाग्भ्यो ‘गीत’ इति गीतार्थः, ‘उपाधिशुद्धेभ्यः’ आर्यदेशसमुत्पन्नादिविशेषणशुद्धेभ्यो ‘ददाति प्रव्रज्यां’ प्रयच्छति दीक्षाम्; ‘आत्मपरपरित्यागो विपर्यये माभूदिति’; तथाहि–अधन्येभ्योऽनुपाधिशुद्धेभ्यः प्रव्रज्यादाने आत्मपरपरित्यागो नियमत एव । इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ एतदेव भावयति—

अविणीओ नय सिक्खइ सिक्खं पडिसिद्धसेवणं कुणइ ।
सिक्खावणेण तस्स हु सइ अप्पा होइ परिचत्तो ॥ ४५ ॥

एवंविहाण देया पव्वज्जा भवविरत्तचित्ताणं। अच्चंतदुक्करा जं थिरं च आलंबणमिमेसिं ॥ ३९ ॥

'एवंविधेभ्यो'—बहुगुणसम्पन्नेभ्यो 'देया' दातव्या 'प्रव्रज्या' दीक्षा 'भवविरक्तचित्तेभ्यः'—संसारविरक्तचित्तेभ्यः, किमित्यत्राह—'अत्यन्तदुष्करा यत्' यस्मात् 'स्थिरं चालम्बनममीषां' भवविरक्तचित्तानाममी सदा वैराग्यभावेन कुर्वन्ति। इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ दुष्करत्वनिबन्धनमाह—

अइगुरुओ मोहतरू अणाइभवभावणावियअमूलो । दुक्खं उम्मूलिज्जइ अच्चंतं अप्पमत्तेहिं ॥ ४० ॥

'अतिगुरुः' अतिरौद्रः 'मोहतरुः' मोहस्तरुरिवाशुभपुष्पफलदानभावेन मोहतरुः 'अनादिभवभावनाविततमूलः'—अनादिमत्यो याः संसारभावना विषयस्पृहाद्यास्ताभिर्व्याप्तमूलः, यतश्चैवमतो 'दुःखमुन्मूल्यते' अपनीयते 'अत्यन्तमप्रमत्तैः'। इति गाथार्थः ॥ ४० ॥

संसारविरत्ताण य होइ तओ न उण तयभिनंदीणं। जिणवयणंपि न पायं तेसिं गुणसाहगं होइ ॥ ४१ ॥

'संसारविरक्तानां च भवति तक' इत्यसावप्रमादः, 'न पुनः तदभिनन्दिनां,' जिनवचनाद् भविष्यतीति चेत्; एतदाशङ्क्याह—'जिनवचनमपि' आस्तां! तावदन्यत् 'न प्रायस्तेषां' संसाराभिनन्दिनां 'गुणसाधकं भवति,' शुभनिर्वर्तकं भवति। इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ किमित्यत आह—

गुरुकम्माणं जम्हा किलिट्ठचित्ताण तस्स भावत्थो। नो परिणमेइ सम्मं कुंकुमरागोव्व मलिणम्मि ४२

एवं पयईए च्चिअ अवगयसंसारनिग्गुणसहावा । तत्तो अ तव्विरत्ता पयणुकसायाऽप्पहासाय ॥३५॥

'एवं प्रकृत्यैव' स्वभावेनैव 'अवगतसंसारनिर्गुणस्वभावाः' ५ । 'ततश्च' नैर्गुण्यावगमात्' संसारविरक्ताः ६ । 'प्रतनुकषायाः अल्पहास्याश्च' ७–८ । हास्यग्रहणं रत्याद्युपलक्षणम् । इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

सुकयण्णुआ विणीआ रायाईणमविरुद्धकारी य । कल्लाणंगा सद्धा थिरा तहा समुवसंपण्णा ॥ ३६ ॥

'सुकृतज्ञा ९ विनीताः १० राजादीनामविरुद्धकारिणश्च' ११ । आदिशब्दाद् अमात्यादिपरिग्रहः (१२) 'कल्याणाङ्गाः १३ श्राद्धाः १४ स्थिराः १५ । तथा समुपसम्पन्नाः' १६ इति गाथार्थः ॥३६॥ उत्सर्गत एवंभूता एव, अपवादतस्त्वाह—

कालपरिहाणिदोसा एत्तो एक्कादिगुणविहीणावि । जे बहुगुणसंपन्ना ते जुग्गा हुंति नायव्वा ॥ ३७॥

'कालपरिहाणिदोषात् अतो–'ऽनन्तरादिगुणगणान्वितेभ्यः, एकादिगुणविहीना अपि ये बहुगुणसम्पन्नास्ते योग्या भवन्ति ज्ञातव्याः, प्रव्रज्यायाः । इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

नउ मणुअमाइएहिं धम्मेहिं जुएत्ति एत्तिएणेव । पायं गुणसंपन्ना गुणपगरिससाहगा जेणं ॥ ३८॥

'ननु मनुजादिभिर्धर्म्मैर्युक्ता इत्येतावतैव' योग्या इति आदिशब्दादार्यदेशोत्पन्नग्रहः, किमेतदित्थम्? इत्यत्राह–'प्रायो' बाहुल्येन 'गुणसम्पन्नाः' सन्तः 'गुणप्रकर्षसाधका येन', गुणप्रकर्षश्च प्रव्रजितेन साधनीयः । इति गाथार्थः॥३८॥ निगमयन्नाह—

'गीतार्थो' गृहीतसूत्रार्थः 'कृतयोगी' कृतसाधुव्यापारः 'चारित्री' शीलवान् 'तथा च ग्राहणाकुशलः' क्रियाकलापशिक्षणानिपुणः 'अनुवर्त्तकः' स्वभावानुवर्त्तकः स्वभावानुकूल्येन प्रतिजागरकः 'अविषादी' भावापत्सु 'द्वितीयः' अपवादिकः 'प्रव्राजनाचार्यः' प्रव्रज्याप्रयच्छको गुरुः। इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ केनेति व्याख्यातम्, अधुना, केभ्य इति व्याख्यायते–केभ्यः प्रव्रज्या दातव्या? के पुनस्तदर्हाः? इत्येतदाह—

पव्वजाए अरिहा आरियदेसम्मि जे समुप्पन्ना। जाइकुलेहिं विसुद्धा तह खीणप्पायकम्ममला ॥३२॥

'प्रव्रज्याया अर्हा' योग्याः क? इत्याह–'आर्यदेशे ये समुत्पन्ना' अर्द्धपड्विंशतिजनपदेष्वित्यर्थः १। 'जातिकुलाभ्यां विशिष्टाः,' मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलं २। 'तथा क्षीणप्रायकर्म्ममला' अल्पकर्म्माणः ३। इति गाथार्थः ॥ ३२॥

तत्तो अ विमलवुद्धी दुल्लहमणुअत्तणं भवसमुद्दे। जम्मो मरणनिमित्तं चवलाओ संपयाओ अ ॥३३॥

'ततश्च' कर्म्मक्षयात् 'विमलबुद्धयः ४'। विमलबुद्धित्वादेव च 'दुर्लभं मनुजत्वं भवसमुद्रे' संसारसमुद्रे तथा 'जन्ममरणनिमित्तं चपलाः सम्पदश्च' इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

विसया य दुक्खहेऊ संजोगे निअमओ विओगुत्ति। पइसमयमेव मरणं एत्थ विवागो अ अइरुद्दो ३४

'विषयाश्च दुःखहेतवः' तथा 'संयोगे' सति 'नियमतो वियोग इति'। 'प्रतिसमयमेव मरणम्' आवीचिमाश्रित्य 'अत्र विपाकश्चातिरौद्रः' परभवे। इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

'विधिनानुवर्त्तिताः पुनः कथञ्चित्' कर्म्मपरिणामतः 'सेवन्ते यद्यपि प्रतिषिद्धं' सूत्रे 'आज्ञाकारीति गुरुर्न दोषवान् भवत्यसौ तथापि' भगवदाज्ञानुवर्त्तनासम्पादनात् । इति गाथार्थः ॥ २७ ॥

आहण्णसेवणाए गुरुस्स पावंति नायबज्झमिणं। आणाभंगा उ तयं नय सो अण्णम्मि कह बज्झं ॥२८॥

'आह' परः–'अन्यसेवनया' अनुवर्त्तितशिष्यापराधसेवनया 'गुरोः पापमिति न्यायबाह्यमिदं', ततश्च स खलु तत्प्रत्ययः सर्व इत्याद्ययुक्तमित्यत्रोत्तरमाह–'आज्ञाभङ्गात् तद्' भगवदाज्ञाभङ्गेन पापं, 'न चासावन्यस्मिन्' किन्तु गुरोरेव 'कथं बाह्यं'? नैव न्यायबाह्यम् । इति गाथार्थः ॥ २८ ॥

तम्हाणुवत्तियव्वा सेहा गुरुणा उ सो अ गुणजुत्तो। अणुवत्तणासमत्थो जत्तो एआरिसेणेव ॥ २९ ॥

यस्मादेवं 'तस्मादनुवर्त्तितव्याः शिष्या गुरुणैव स च गुणयुक्तः' सन् 'अनुवर्त्तनासमर्थो, यत् यस्मात्तस्मात्–'ईदृशेनैव' गुरुणा प्रव्रज्या दातव्या । इति गाथार्थः ॥ २९ ॥ अपवादमाह—

कालपरिहाणिदोसा इत्तो एक्काइगुणविहीणेणं। अन्नेण वि पव्वज्जा दायव्वा सीलवंतेण ॥ ३० ॥

'कालपरिहाणिदोषात् अतोऽ'–नन्तरोदितगुणगणगणोपेताद् गुरोः 'एकादिगुणविहीनेनान्येनापि प्रव्रज्या दातव्या, शीलवता' शीलयुक्तेन । इति गाथार्थः ॥ ३० ॥ विशेषतः कालोचितं गुरुमाह—

गीतत्थो कडजोगी चारित्ती तहय गाहणाकुसलो। अणुवत्तगो विसाई बीओ पव्वावणायरिओ ॥ ३१ ॥

शब्दोऽवधारणे, तत एव 'दोषा' रागादयो 'हीयन्ते' त्यज्यन्ते क्षीयन्ते वा। ततो 'वर्द्धते चरणं' चारित्रं, 'इय' एवं 'अभ्यासातिशयात्' अभ्यासातिशयेन तत्रान्यत्र वा जन्मनि कर्म्मक्षयभावात् 'शिष्याणां भवति परमपदं' मोक्षाख्यम्। इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

एआरिसा इहं खलु अण्णेसिं सासणम्मि अणुरायो। बीअं सवणपवित्ती संताणे तेसु वि जहुत्तं ॥२५॥

तान् ज्ञानादियुतान् दृष्ट्वा 'ईदृशा' ज्ञानादियुक्ता 'इहं खलु' इहैव जिनशासने इति, 'अन्येषां' गुणपक्षपातिनां 'शासने अनुरागो' भवति, भावत एव शोभनं भव्यमिदं शासनमिति 'बीजं' इत्येतदेव सम्यक्त्वापवर्गबीजं, केषाञ्चित्त्वनुरागातिशयात् 'श्रवणप्रवृत्तिः' अहो शोभनमेतदिति शृण्वन्त्येवापरेऽङ्गीकुर्वन्ति च 'सन्ताने' इत्येवं कुशलसन्तानप्रवृत्तिः 'तेषामपि' अन्येषां सन्तानिनां 'यथोक्तं'—विज्ञानादिगुणलाभतः परमपदमेव। इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

इय कुसलपक्खहेऊ सपरुवयारम्मि निच्चमुज्जुत्तो। सफलीकयगुरुसद्दो साहेइ जहिच्छिअं कज्जं ॥२६॥

'इय' एवं 'कुशलपक्षहेतुः' पुण्यपक्षकारणं 'स्वपरोपकारे नित्योद्युक्तो' नित्योद्यतः 'सफलीकृतगुरुशब्दो' गुणगुरुत्वेन 'साधयति, यथेप्सितं कार्यं' परमपदम्। इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ विपर्ययमाह—

विहिणाणुवत्तिआ पुण कहिंचि सेवंति जइवि पडिसिद्धं।
आणाकारित्ति गुरु न दोसवं होइ सो तहवि ॥ २७ ॥

अविकोविअपरमत्था विरुद्धमिह परभवे अ सेवंता । जं पावंति अणत्थं सो खलु तप्पच्चओ सव्वो ॥२१॥

'अविकोपितपरमार्थः' अविज्ञापितसमयसद्भावात् 'विरुद्धं सेवमाना' इति योगः, 'इह परभवे च यं प्राप्नुवन्त्यनर्थं स खलु तत्प्रत्ययः सर्वः' अननुवर्त्तकगुरुनिमित्तः । इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

जिणसासणस्सवण्णो मिअंकधवलस्स जो अ ते दट्ठुं । पावं समायरंतो जायइ तप्पच्चओ सो वि ॥२२॥

'जिनशासनस्यावर्णो' अश्लाघा 'मृगाङ्कधवलस्य' चन्द्रधवलस्य 'यश्च तान् दृष्ट्वा पापं समाचरतः' सेवमानान् 'जायते' जनितो भवति । 'तत्प्रत्ययोऽसावपि' अननुवर्त्तकगुरुनिमित्तोऽसावपि । इति गाथार्थः ॥ २२ ॥ अनुवर्त्तकस्य तु गुणमाह—

जो पुण अणुवत्तेई गाहइ निप्फायइ अ विहिणाउ । सो ते अन्ने अप्पाणयं च पावेइ परमपयं ॥२३॥

'यः पुनरनुवर्त्तते' स्वभावानुकूल्येन हिते योजयति 'ग्राहयति' क्रियां 'निष्पादयति च' ज्ञानक्रियाभ्यां 'विधिना' आगमोक्तेन 'स' गुरुः 'तान्' शिष्यान् 'अन्यान्' प्राणिनः 'आत्मानं च प्रापयति परमपदं' नयति मोक्षम् । इति गाथार्थः ॥ २३ ॥ एतदेव दर्शयति—

णाणाइलाभओ खलु दोसा हीयंति वड्ढई चरणं । इअ अब्भासाइसया सीसाणं होइ परमपयं ॥ २४ ॥

'ज्ञानादिलाभतः खलु' अनुवर्त्त्यमाना हि शिष्याः स्थिरा भवन्ति । ततो ज्ञानदर्शने लभन्ते, ततो लाभात् खलु

कान्त्यादिगुणप्रकर्षम् 'उपैति' 'सोहम्मणगुणेण' रत्नशोधकप्रभावेण वैकटिकप्रभावेणेत्यर्थः। एवं सुशिष्या अपि गुरुप्रभावेण। इति गाथार्थः ॥ १७ ॥ किञ्च—

एत्थ य पमायखलिया पुव्वब्भासेण कस्स व न हुंति। जो ते वणेइ सम्मं गुरुत्तणं तस्स सफलंति ॥१८॥

'अत्र च' प्रव्रज्याविधाने 'प्रमादस्खलितानि' इति प्रमादात् सकाशाद्दुश्चेष्टितानि 'पूर्वाभ्यासेन कस्य वा न भवन्ति', अनादिभवाभ्यस्तो हि प्रमादः न झटित्येव त्यक्तुं पार्यते। यस्तानि स्खलितानि 'अपनयति सम्यक्' प्रवचनोक्तेन विधिना 'गुरुत्वं तस्य सफलं' गुणगुरुत्वेन। इति गाथार्थः ॥ १८ ॥ एतदेव लौकिकोदाहरणेन स्पष्टयति—

को णाम सारहीणं स होज्ज जो भद्दवाइणो दमए। दुट्ठे वि अ जो आसे दमेइ तं आसियं बिंति ॥१९॥

'को नाम सारथीनां स भवेत् यो भद्रवाजिनः—' शोभनाश्वान् 'दमयेत्', न कश्चिदसौ असारथिरेवेत्यर्थः। दुष्टानपि तु योऽश्वान् दमयति—' शोभनान् करोति, 'तं सारथिं ब्रुवते' लौकिकाः। पाठान्तरे वा, 'तमाश्विकं ब्रुवते'। इति गाथार्थः ॥ १९ ॥ शिष्याननुपालनेन गुरोर्दोषमाह—

जो आयरेण पढमं पव्वावेऊण नाणुपालेइ। सेहे सुत्तविहीए सो पवयणपच्चणीओ त्ति ॥२०॥

'यो' गुरुः 'आदरेण'—बहुमानेन 'प्रथमं' प्रव्रज्यां ग्राहयित्वा पश्चात् 'नानुपालयति शिष्यकान् सूत्रविधिना', स किमित्याह—'स प्रवचनप्रत्यनीकः'—शासनप्रत्यनीकः। इति गाथार्थः ॥ २० ॥ एतदेवाह—

भत्तिबहुमाणसद्धा थिरया चरणम्मि होइ सेहाणं। एआरिसम्मि निअमा गुरुम्मि गुणरयणजलहिम्मि ॥

'भक्तिबहुमानौ' इति भक्तिर्बाह्यविनयरूपा बहुमानो भावप्रतिबन्धः एतौ भवतः शिक्षकाणामभिनवप्रव्रजितानामिति योगः, क्वेत्याह 'ईदृशि' एवंभूते 'गुरौ' आचार्ये 'नियमात्' नियमेन पुनरपि स एव विशिष्यते–'गुणरत्नजलधौ' गुणरत्नसमुद्र इति । ततः 'श्रद्धा स्थिरता' च 'चरणे भवति' इति; तथाहि–गुरुभक्तिबहुमानभावत एव चारित्रे श्रद्धास्थैर्यं च भवति नान्यथा । इति गाथार्थः ॥ १५ ॥ गुणान्तरमाह—

अणुवत्तगो अ एसो हवइ दढं जाणई जओ सत्ते। चित्ते चित्तसहावे अणुवत्ते तह उवायं च ॥ १६ ॥

'अनुवर्त्तकश्च एषो' ऽनन्तरोदितो गुरुर्भवति, 'दृढं' अत्यर्थं, कुत इत्याह–'जानाति यतः सत्त्वान्' प्राणिनः 'चित्रान्' अनेकरूपान् 'चित्रस्वभावान्' नानास्वभावान् 'अनुवर्त्त्यान्' इत्यनुवर्त्तनीयान् 'तथोपायं च' अनुवर्त्तनोपायं च जानाति । इति गाथार्थः ॥ १६ ॥ अनुवर्त्तनागुणमाह—

अणुवत्तणाए सेहा पायं पावंति जोग्गयं परमं । रयणंपि गुणक्करिसं, उवेइ सोहम्मणगुणेण ॥ १७ ॥

'अनुवर्त्तनया'–करणभूतया 'शिक्षकाः' 'प्रायो' बाहुल्येन कांकदुककल्पं विहाय 'प्राप्नुवन्ति योग्यताम्' अपवर्गं प्रति 'परमां' प्रधानां, स्यादेतत् योग्य एव प्रव्रज्यार्ह इति किं गुरुणेत्येतदाशङ्कयाह–'रत्नमपि' पद्मरागादि 'गुणोत्कर्षं'

१ दुःखाङ्कसत्वम्, इत्यपि पाठः ।

सत्तहिअरओ अ तहा आएओ अणुवत्तगो अ गंभीरो। अविसाई परलोए उवसमलद्धीइकलिओअ १२

'सत्त्वहितरतश्च' सामान्येनैव जीवहिते सक्तश्च 'तथा' न केवलमित्थंविधः किंतु 'आदेयोऽनुवर्त्तकश्च गम्भीरः' तत्रादेयो नाम ग्राह्यवाक्यः, अनुवर्त्तकश्च–भावानुकूल्येन सम्यक्पालकः गम्भीरो–विपुलचित्तः 'अविषादीपरलोके' न परिषहाद्यभिद्रुतः कायसंरक्षणादौ दैन्यमुपयाति, 'उपशमलब्ध्यादिकलितश्च' उपशमलब्ध्यु १ पकरणलब्धि २ स्थिरहस्तलब्धि ३ युक्तश्च । इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

तह पवयणत्थवत्ता सगुरू अणुन्नायगुरुपओ चेव । एआरिसो गुरू खलु भणिओ रागाइरहिएहिं ॥१३॥

'तथा प्रवचनार्थवक्ता'–सूत्रार्थवक्तेत्यर्थः, 'स्वगुर्वनुज्ञातगुरुपदश्चैव' असति तस्मिन् दिगाचार्यादिना स्थापितगुरुपद इत्यर्थः, 'ईदृशो गुरुः' खलुशब्दोऽवधारणार्थः, ईदृश एव कालदोषादन्यतरगुणरहितोऽपि बहुतरगुणयुक्त इति वा विशेषणार्थः, 'भणितो रागादिरहितैः' प्रतिपादितो वीतरागैः । इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

एआरिसेण गुरुणा सम्मं परिसाइकज्जरहिएणं । पव्वज्जा दायव्वा तयणुग्गहनिज्जराहेउं ॥ १४ ॥

'ईदृशेन गुरुणा' एवंविधेनाचार्येण 'सम्यग्' अविपरीतेन विधिना 'पर्षदादिकार्यरहितेन' सम्पूर्णा मे पर्षद् भविष्यति पानकादिवाहको वेत्याद्यैहिककार्यनिरपेक्षेण 'प्रव्रज्या दातव्या' दीक्षा विधेया, किं तदङ्गीकृत्य ? इत्यत्राह–'तदनुग्रहनिर्जराहेतोः' इति विनयानुग्रहार्थे कर्म्मक्षयार्थं च । इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ ईदृशि गुरौ गुणमाह—

पव्वज्जा जोग्गगुणेहिं संगओ विहिपवण्णपव्वज्जो । सेविअगुरुकुलवासो सययं अक्खलिअसीलोअ १०

प्रव्रज्यायोग्यस्य प्राणिनो गुणाः 'प्रव्रज्यायोग्यगुणा' आर्यदेशोत्पन्नादयो वक्ष्यमाणाः; तथाऽन्यत्राप्युक्तम् "अथ प्रव्रज्याऽर्हः–आर्यदेशोत्पन्नः १ विशिष्टजातिकुलान्वितः २ क्षीणप्रायकर्म्ममलः ३ तत एव विमलबुद्धिः ४ दुर्लभं मानुष्यं जन्म मरणनिमित्तं सम्पदश्चपलाः विषया दुःखहेतवः संयोगो वियोगः प्रतिक्षणं मरणं दारुणो विपाक इत्यवगतसंसारनैर्गुण्यः ५ तत एव तद्विरक्तः ६ प्रतनुकषायोऽल्पहास्यादिः ७–८ कृतज्ञो ९ विनीतः १० प्रागपि राजाऽमात्यपौरजनबहुमतो ११ अद्रोहकारी १२ कल्याणाङ्गः १३ श्राद्धः १४ स्थिरः १५ समुपसम्पन्नश्चेति १६" एभिः 'सङ्गतो' युक्तः समेतः सन् किं ? इत्याह–'विधिप्रपन्नप्रव्रज्यो' विधिना वक्ष्यमाणलक्षणेन प्रपन्नाऽङ्गीकृता प्रव्रज्या येन स तथाविधः, तथा 'सेवितगुरुकुलवासः' समुपासितगुरुकुल इत्यर्थः, 'सततं' सर्वकालं प्रवज्याप्रतिपत्तेरारभ्य 'अस्खलितशीलश्च' अखण्डितशीलश्च, चशब्दात् परद्रोहविरतिभावश्च इति गाथार्थः ॥ १० ॥

सम्मं अहीअसुत्तो ततो विमलयरबोहजोगाओ । तत्तण्णू उवसंतो पवयणवच्छल्लजुत्तो अ ॥ ११ ॥

'सम्यग्'–यथोक्तयोगविधानेन 'अधीतसूत्रः,–गृहीतसूत्रः 'ततो विमलतरबोधयोगात्' इति ततः सूत्राध्ययनाद्यः शुद्धतरावगमस्तत्सम्बन्धादित्यर्थः । किमित्याह 'तत्त्वज्ञः' वस्तुतत्त्ववेदी 'उपशान्तः' क्रोधविपाकावगमेन 'प्रवचनवात्सल्ययुक्तश्च'–प्रवचनमिह सङ्घः सूत्रं वा, तद्वत्सलभावयुक्तः । इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

तत्र धर्मोपकरणे बाह्य एव परिग्रह इति । इतरस्त्वान्तरपरिग्रहो मिथ्यात्वादिरेव, आदिशब्दादविरतिदुष्टयोगा गृह्यन्ते, परिगृह्यते तेन कारणभूतेन कर्मणा जीवः । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ त्यागशब्दार्थं व्याचिख्यासुराह—

चाओ इमेसि सम्मं मणवयकाएहिं अप्पवित्तीओ । एसा खलु पव्वज्जा मुक्खफला होइ निअमेणं ॥८॥

'त्यागः' प्रोज्झनम् 'अनयोः' आरम्भपरिग्रहयोः 'सम्यक्' प्रवचनोक्तेन विधिना 'मनोवाक्कायैः' त्रिभिरपि 'अप्रवृत्तिः' एव आरम्भे परिग्रहे च मनसा वाचा कायेनाप्रवर्त्तनमिति भावः । 'एषाखलु' इति एषैव 'प्रव्रज्या' यथोक्तस्वरूपा 'मोक्षफला भवति' इति, मोक्षः फलं यस्याः सा मोक्षफला भवति 'नियमेन' अवश्यंतया, भावमन्तरेणारम्भादौ मनोप्रवृत्त्यसम्भवात् । इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्ता प्रव्रज्या भेदतः, अधुनैतत्पर्यायानाह—

पव्वज्जा निक्खमणं समया चाओ तहेव वेरग्गं । धम्मचरणं अहिंसा दिक्खा एगट्ठियाइं तु ॥ ९ ॥

'प्रव्रज्या' निरूपितशब्दार्था, 'निष्क्रमणं' द्रव्यभावसङ्गात्, 'समता'—सर्वेष्विष्टानिष्टेषु 'त्यागः' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहस्य 'तथैव वैराग्यं' विषयेषु, 'धर्माचरणं' क्षान्त्याद्यासेवनम्, 'अहिंसा'—प्राणिघातवर्जनम्, 'दीक्षा'—सर्वसत्त्वाभयप्रदानेन भावसत्रं, 'एकार्थिकानि तु' एतानि प्रव्रज्याया एकार्थिकानि, तुर्विशेषणार्थः, शब्दनयाभिप्रायेण । समभिरूढनयाभिप्रायेण तु नानार्थान्येव, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् सर्वशब्दानाम् । इति गाथार्थः ॥ ९ ॥ सेति व्याख्यातम्, अधुना केनेत्येतद् व्याख्यायते, तत्र योग्येन गुरुणा, स चेत्थंभूत इत्याह—

इत्थं मोक्षकारणत्वात् शुद्धचरणयोगा एव मोक्ष इति, ततश्च मोक्षं प्रति प्रव्रजनं प्रव्रज्या । इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ एष तावत् प्रव्रज्यातत्त्वार्थोऽधुना भेदत एनां व्याचिख्यासुराह—

नामाइ चउब्भेआ एसा दव्वम्मि चरगमाईणं । भावेण जिणमयम्मि उ आरंभपरिग्गहच्चाओ ॥ ६ ॥

'नामादिचतुर्भेदा एषा' इयं च प्रव्रज्या नामादिचतुर्भेदा भवति; तद्यथा—नामप्रव्रज्या स्थापना—द्रव्य—भाव प्रव्रज्या चेति, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य नोआगमत एव ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तां द्रव्यप्रव्रज्यामाह—'द्रव्ये चरकादीनां' द्रव्य इति द्वारपरामर्शः, द्रव्यप्रव्रज्या चरकादीनां चरकपरिव्राजकभिक्षुभौतादीनां, द्रव्यशब्दश्चेहाप्रधानवाचको न तु भूतभविष्यद्भावयोग्यतावाचक इति । नोआगमत एव भावप्रव्रज्यामाह—'भावेन' इति भावतः परमार्थतः, 'जिनमत एव' रागादिजेतृत्वाज्जिनः, तन्मत एव वीतरागशासन एवेत्यर्थः । 'आरंभपरिग्रहत्यागः' वक्ष्यमाणारम्भपरिग्रहवर्जनं जिनशासन एव अन्यशासनेष्वारम्भपरिग्रहस्वरूपानवगमात् सम्यक्त्यागासम्भवः । इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ आरम्भपरिग्रहस्वरूपप्रतिपादनायाह—

पुढवाइसु आरंभो परिग्गहो धम्मसाहणं मुत्तुं । मुच्छा य तत्थ बज्झो इयरो मिच्छत्तमाईओ ॥७॥

'पृथिव्यादिषु' कायेषु विषयभूतेषु 'आरंभ' इत्यारम्भणमारम्भः सङ्घट्टनादिरूपः, परिग्रहणं 'परिग्रहः,' असौ द्विविधः बाह्योऽभ्यन्तरश्च, तत्र धर्मसाधनं मुखवस्त्रिकादि मुक्त्वा बाह्य इति सम्बन्धः, अन्यपरिग्रहणमिति गम्यते, मूर्च्छा च

प्रव्रज्या-
विधानं
१ द्वारम्.

पव्वज्ज पढमदारं सा केणं केसि कमिव कहं वा । दायव्वत्ति निरुच्चइ समासओ आणुपुव्वीए ॥४॥दारं॥

'प्रव्रज्या' वक्ष्यमाणशब्दार्था 'प्रथमद्वारम्' इह प्रकरणे प्रथमोऽधिकारः, सा नामादिभेदभिन्ना निरुच्यते– तथा 'केन' इति किंविशिष्टेनगुरुणा दातव्यैतन्निरुच्यते, तथा 'केभ्य' इति किंविशिष्टेभ्यः शिष्येभ्यो दातव्येति, तथा 'कस्मिन्' इति कस्मिन् वा क्षेत्रादौ, 'कथं वा' इति केन वा प्रश्नादिप्रकारेण 'दातव्या' इति न्यसनीया, 'निरुच्यते' निराधिक्येन प्रकटार्थतामङ्गीकृत्योच्यते निरुच्यते, 'समासतः' इति सङ्क्षेपेण, न पूर्वाचार्यैरिव विस्तरेणेति 'आनुपूर्व्या' इति आनुपूर्व्या परिपाट्या क्रमेणोच्यते । इति गाथार्थः ॥ ४ ॥ तत्र 'तत्वभेदपर्यायैर्व्याख्या' इति न्यायमङ्गीकृत्य तत्वतः प्रव्रज्यां प्रतिपादयन्नाह—

पव्वयणं पव्वज्जा पावाओ सुद्धचरणजोगेसु । इअ मुक्खं पइवयणं कारणकज्जोवयाराओ ॥ ५ ॥

'प्रव्रजनं प्रव्रज्या' प्र–इति प्रकर्षेण व्रजनं प्रव्रजनं, कुतः क्वेत्यत आह–'पापाच्छुद्धचरणयोगेषु' इह पापशब्देन पापहेतवो गृहस्थानुष्ठानविशेषा उच्यन्ते, कारणे कार्योपचारात्–यथा "दधित्रपुषी प्रत्यक्षो ज्वर" इति, शुद्धचरणयोगास्तु संयतव्यापारा मुखवस्त्रिकादिप्रत्युपेक्षणादय उच्यन्ते 'इय' एवं 'मोक्षं प्रतिव्रजनं' प्रव्रज्या । कथमित्याह 'कारणे कार्योपचारात्' कारणे शुद्धचरणयोगलक्षणे मोक्षाख्यकार्योपचारात्–"यथा आयुर्घृतम्" इत्यायुषः कारणत्वाद् घृतमेवायुः,

विशिष्टैव संलेखनोच्यत इति, 'भो' इति पूरणार्थो निपातः इति, 'पञ्च' इति एवमनेनैव क्रमेण पञ्चवस्तूनि; तथाहि-प्रव्रज्याभिधाने सति सामायिकसंयतो भवति, संयतस्य प्रतिदिनक्रिया, क्रियावतश्च व्रतेषु स्थापना, व्रतस्थस्य चानुयोगगणानुज्ञे, सम्भवतश्चरमकाले च संलेखना । इति गाथार्थः ॥ २ ॥ साम्प्रतममीषामेव वस्तुत्वप्रतिपादनार्थमाह—

एए चेव य वत्थू वसंति एएसु नाणमाईया । जं परमगुणा सेसाणि हेउफलभावओ हुंति ॥ ३ ॥

'एतान्येव' प्रव्रज्याविधानादीनि शिष्याचार्यादिजीवद्रव्याश्रयत्वात् तत्त्वतस्तद्रूपत्वाद्-वस्तूनि, एतेष्वेव भावशब्दार्थोपपत्तेः, तथा चाह-'वसन्ति एतेषु' प्रव्रज्याविधानादिषु 'ज्ञानादयः' ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणाः, 'यत्' यस्मात् 'परमगुणाः' प्रधानगुणाः; एवमप्येतान्येवेत्यवधारणमयुक्तम्, अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिविधानादीनांविशिष्टस्वर्गगमनसुकुलप्रत्यायातिपुनर्बोधिलाभादीनामपि च वस्तुत्वात्, इत्येतदाशङ्क्याह-'शेषाणि अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिविधानादीनि 'हेतुफलभावतो भवन्ति' अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि हेतुभावतः कारणभावेन, विशिष्टस्वर्गगमनादीनि तु फलभावतः कार्यभावेन वस्तूनि भवन्ति; तथाहि-अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिविधानादीनाम् कार्याणि प्रव्रज्याविधानादीनि, अतो वस्तुकारणत्वात् तेषामपि वस्तुत्वमेव । विशिष्टस्वर्गगमनादीनि तु प्रव्रज्याविधानादिकार्याणि, अतो वस्तुकार्यत्वादमीषामपि वस्तुता, परिस्थूरव्यवहारनयदर्शनतः । तत्त्वतस्त्वधिकृतानामेव वस्तुत्वम् । इति गाथार्थः ॥ ३ ॥ आद्यद्वारावयवार्थाभिधित्सयैवाह—

प्रव्रज्याविधानं
१ द्वारम्.

भवतीत्येतदाह च, मनोवाकाययोगैरसम्यगपि नमनं भवतीति सम्यग्ग्रहणं; आह—एवमपि सम्यगित्येतदेवास्तु, अलं मनोवाकाययोगग्रहणेन !, सम्यग्नमनस्य तदव्यभिचारित्वात्, नैतदेवम्, एकपदव्यभिचारेऽपि "अबूद्रव्यं पृथिवीद्रव्यं" इत्यादौ विशेषणविशेष्यभावदर्शनादिति । न केवलं वर्द्धमानं नत्वा, किन्तु सङ्घं च सम्यग्दर्शनादिसमन्वितप्राणिगणं च नत्वा, किम् ? इत्याह—पञ्चवस्तुकं यथाक्रमं कीर्त्तयिष्यामि, प्रव्रज्याविधानादीनि पञ्चवस्तूनि यस्मिन् प्रकरणे तत्पञ्चवस्तु, पञ्चवस्त्वेव पञ्चवस्तुकं ग्रन्थं, यथाक्रममिति यो यः क्रमो यथाक्रमः यथापरिपाटि, कीर्त्तयिष्यामि—संशब्दयिष्यामि । इति गाथार्थः ॥ १ ॥ अधिकृतानि पञ्चवस्तून्युपदर्शयन्नाह—

पव्वज्जाए विहाणं पइदिणकिरिया वएसु ठवणा य । अणुओगगणाणुण्णा संलेहण मो इइ पंच ॥२॥

'प्रव्रज्यायाः' वक्ष्यमाणलक्षणायाः 'विधानम्' इतिविधिः तथा 'प्रतिदिनक्रिया' इति, प्रतिदिनं—प्रत्यहं क्रिया—चेष्टा प्रतिदिनक्रिया, प्रव्रजितानामेव चक्रवालसामाचारीति भावः । तथा 'व्रतेषु स्थापना च' इति, "हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतयः व्रतानि" तेषु स्थापना—सामायिकसंयतस्योपस्थापनेत्यर्थः । ननु व्रतानां स्थापनेति युक्तम्, तत्र तेषामारोप्यमाणत्वात्; उच्यते, सामान्येन व्रतानामनादित्वात् तेषु व्रतेषु तस्योपस्थाप्यमानत्वात्, इत्थमप्यदोष एव । तथा 'अनुयोगगणानुज्ञा' इति अनुयोजनमनुयोगः, सूत्रस्य निजेनाभिधेयेन सम्बन्धनं व्याख्यानमित्यर्थः, गणस्तु गच्छोऽभिधीयते, अनुयोगश्च गणश्चानुयोगगणौ तयोरनुज्ञा प्रवचनोक्तेन विधिना स्वातन्त्र्यानुज्ञानमिति । 'संलेखना' चेति संलिख्यते शरीरकषायादि यया तपःक्रियया सा संलेखना, यद्यपि सर्वैव तपः क्रिये (त्थं) यं तथाऽप्यत्र चरमकालभाविनी

णमिऊण वद्धमाणं सम्मं मणवयणकायजोगेहिं । संघं च पंचवत्थुगमहक्कमं कित्तइस्सामि ॥१॥

तत्र शिष्टानामयं समयः, यदुत–'शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमानाः सन्त इष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं प्रवर्त्तन्ते' इति, अयमपि आचार्यो नहि न शिष्ट ! इत्यतः तत्समयपरिपालनाय, तथा श्रेयांसि वहुविघ्नानि भवन्तीति, उक्तं च–"श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः ॥ १ ॥" इदं च प्रकरणं सम्यग्ज्ञानहेतुत्वाच्छ्रेयोभूतम्, अतो माभूद्विघ्न ! इति विघ्नविनायकोपशान्तये 'नमिऊण वद्धमाणं सम्मं मणवयणकायजोगेहिं संघंच' इत्यनेनेष्टदेवतास्तवमाह, प्रेक्षापूर्वकारिणश्च प्रयोजनादिशून्ये न प्रवर्त्तन्ते इति, उक्तं च–"सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्म्मणो वाऽपि कस्यचित् । यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते ॥ १ ॥" इत्यादि, अतः प्रयोजनादिप्रतिपादनार्थं च 'पंचवत्थुगमहक्कमं कित्तइस्सामि' इत्येतदाह–प्रकरणार्थकथनकालोपस्थितपरसम्भाव्यमानानुपन्यासहेतुनिराकरणार्थं वा; तथाहि–पञ्चवस्तुकाख्यं प्रकरणमारभ्यत इत्युक्ते सम्भावयत्येवं वादी परः–नारब्धव्यमेवेदं प्रकरणं, प्रयोजनरहितत्वात्, उन्मत्तकविरुतवत् । तथा निरभिधेयत्वात्, काकदन्तपरीक्षावत् । तथाऽसम्वन्धत्वात्, दशदाडिमानीत्यादि वाक्यवत् । अतोऽमीषां हेतूनामसिद्धतोद्भिभावयिषयेत्येतदाह 'पंचवत्थुगमहक्कमं कित्तइस्सामि' एष तावद्गाथाप्रस्तावः समुदायार्थश्च ॥ अधुनाऽवयवार्थोऽभिधीयते–नत्वा प्रणम्य, कं ? इत्याह–वर्द्धमानं–वर्त्तमानतीर्थाधिपतिं तीर्थकरं, तस्य हि भगवत एतन्नाम; यथोक्तं–'अम्मापिउसंति वद्धमाणे' इत्यादि, कथं 'नत्वा' इत्यत आह–'सम्यग्मनोवाक्काययोगैः'–सम्यगिति प्रवचनोक्तेन विधिना, मनोवाक्काययोगैर्म्मनोवाक्काय‌व्यापारैः, अनेनैवंभूतमेव भाववन्दनं

श्रेष्ठिदेवचन्द्रलालभातृ-जैनपुस्तकोद्धार-ग्रन्थाङ्के

नेर्दलिताज्ञानसम्भारप्रसरचतुर्दशप्रकरणशतप्रसादसूत्रधारकल्पप्रभुश्रीहरिभद्र-
सूरिविरचितस्वोपज्ञशिष्यहिताव्याख्यासमेतः

श्रीपञ्चवस्तुकग्रन्थः

ॐ नमः श्रीसर्वज्ञाय ।

प्रणिपत्य जिनं वीरं, नृसुरासुरपूजितम् । व्याख्या शिष्यहिता पञ्च-वस्तुकस्य विधीयते ॥ १ ॥

इह हि पञ्चवस्तुकाख्यं प्रकरणमारब्धुकाम आचार्यः शिष्टसमयप्रतिपालनाय विघ्नविनायकोपशान्तये प्रयोजनादि-
प्रतिपादनार्थं चादावेवेदं गाथासूत्रमुपन्यस्तवान्—

श्रीमज्जैनसिध्धान्तवाचनाप्रकाशनकारिका

श्रीमती आगमोदयसमितिः

स्थापनाः—श्रीमल्लीतीर्थे वीर सं० २४४१ माघ शुक्लदशम्याम् ।

प्रति ६०००

सं. ११८२

आगमोदय समितिना ग्रंथो.

ग्रंथ	किंमत
नंदीसूत्र	२-४-०
अनुयोगद्वार...	२-८-०
स्थानांग उत्तरार्ध...	४-०-०
भगवतिसूत्र तृतीयभाग.....	३-४-०
विचारसार प्रकरण...	०-८-०
निरयावली सूत्र...	०-१२-०
विशेपावश्यक गाथा, विपयाकारादि क्रम	०-५-०
गच्छाचार पयन्नो...	०-६-०
धर्मबिंदु प्रकरण....	०-१२-०
विशेपावश्यक भाष्य मूल तथा टिकानुं गुजराती भाषान्तर भा. १ लो.	२-०-०
रायपसेणी....	१-८-०
जैन फीलोसोफी...	१-०-०
योग ,,	०-१४-०
कर्म ,,	०-१२-०

शेठ दे० ला० जै० पु० फंडना ग्रंथो.

ग्रंथ	किंमत
आनंद काव्य म० मौ० ४ थुं	०-१२-०
,, ,, ५ मुं	०-१०-०
,, ,, ६ ठुं	०-१२-०
श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र	२-०-०
सेन प्रश्न (प्रश्नोत्तर रत्नाकर)	१-०-०
आवश्यक टीप्पण	१-१२-०
जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक उत्तरार्ध	२-०-०
श्रीपालचरित्र संस्कृत	०-१४-०
सूक्त मुक्तावली	२-०-०
प्रवचन सारोद्धार सटीक पूर्वार्ध	३-०-०
तंदुल वैयालीय पयन्नो सटीक	१-८-०
विंशति स्थानक चरित पद्यबद्ध	१-०-०
कल्पसूत्र सुबोधिका	२-०-०
सुबोधा समाचारी	०-८-०
श्रीपाल चरित्र प्राकृत सावचूर्णिक	१-४-०

प्राप्तिस्थानः—

मास्तर विजयचंद मोहनलाल.

ठे० दे० ला० धर्मशाळा, गोपीपुरा—सुरत.